दुनिया के मज़दूरो, एक हो!

का० मार्क्स
फ़्रे० एंगेल्स

संकलित रचनाएं

तीन खण्डों में

खण्ड ३

भाग २

प्रगति प्रकाशन - मास्को

प्रकाशक की ग्रोर से

इस संग्रह में जो कृतियां शामिल हैं उनका अनुवाद कार्ल मार्क्स ग्रौर फ़्रेडरिक एंगेल्स की संकलित रचनाग्रों के तीन खण्डों वाले संस्करण (खण्ड ३) के मुताबिक़ किया गया है।

पाठकों की सुविधा के लिए इस खण्ड को दो भागों में बांटा गया है।

К. МАРКС, Ф. ЭНГЕЛЬС

Избранные произведения

в трёх томах

Том III, часть 2

на языке хинди

© हिन्दी अनुवाद • प्रगति प्रकाशन • १९७८

सोवियत संघ में मुद्रित

$МЭ\frac{10101-431}{014(01)-78}$603—78

विषय-सूची

पृष्ठ

फ्रेडरिक एंगेल्स। परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति . . . ६

१८८४ के पहले संस्करण की भूमिका ६

१८६१ के चौथे संस्करण की भूमिका १२

परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति। ल्यूईस मौर्गन की खोज के सम्बन्ध में २८

१. संस्कृति के विकास की प्रागैतिहासिक अवस्थाएं २८

१. जांगल युग २८

२. बर्बर युग ३०

२. परिवार ३५

३. इरोक्वाई गोत्र ६८

४. यूनानी गोत्र ११६

५. एथेनी राज्य का उदय १२७

६. रोम में गोत्र और राज्य १४१

७. केल्ट तथा जर्मन लोगों में गोत्र १५४

८. जर्मनों में राज्य का गठन १७१

९. बर्बरता और सभ्यता १८४

फ्रेडरिक एंगेल्स। लुडविग फ़ायरबाख़ और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अन्त . २१०

१८८८ के संस्करण की भूमिका २१०

लुडविग फ़ायरबाख़ और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अन्त २१३

१ . . . . २१३

२ . . . . २२३

३ . . . . २३४

४ . . . . २४३

फ़्रेडरिक एंगेल्स। इतिहास में बल-प्रयोग की भूमिका २६४

फ़्रेडरिक एंगेल्स। १८९१ के सामाजिक-जनवादी कार्यक्रम के मसौदे की एक समीक्षा ३२६

१. दस अनुच्छेदों में प्रस्तावना ३२६

२. राजनीतिक मांगें ३३४

३. आर्थिक मांगें ३४०

अनुभाग १ का परिशिष्ट ३४१

फ़्रेडरिक एंगेल्स। 'इंगलैंड में मजदूर वर्ग की दशा' पुस्तक की भूमिका . ३४३

फ़्रेडरिक एंगेल्स। भावी इतालवी क्रान्ति तथा समाजवादी पार्टी . . ३६१

फ़्रेडरिक एंगेल्स। फ़्रांस और जर्मनी में किसानों का सवाल ३६५

१ . . . . ३६७

२ . . . . ३८०

कार्ल मार्क्स और फ़्रेडरिक एंगेल्स। चिट्ठी-पत्री ३९०

प० ल० लावरोव को एंगेल्स का पत्र, १२–१७ नवम्बर १८७५ . . . ३९०

विल्हेल्म ब्लास को मार्क्स का पत्र, १० नवम्बर १८७७ . . . . . ३९४

कार्ल काउत्स्की को एंगेल्स का पत्र, १२ सितम्बर १८८२ . . . . . . ३९५

फ्लोरेंस केली-विश्नेवेट्स्की को एंगेल्स का पत्र, २८ दिसम्बर १८८६ ३९६

कोनराद श्मिद्त को एंगेल्स का पत्र, ५ अगस्त १८९० . . . . . . ३९८

ओटो बयोनिग्क को एंगेल्स का पत्र, २१ अगस्त १८९० . . . . . . ४०१
जोजेफ़ ब्लाख़ को एंगेल्स का पत्र, २१[–२२] सितम्बर १८९० . . . ४०२
कोनराद शिमद्त को एंगेल्स का पत्र, २७ अक्तूबर १८९० . . . . . ४०५
फ्रांज़ मेहरिंग को एंगेल्स का पत्र, १४ जूलाई १८९३ . . . . . . ४१३
न० फ़० डेनियलसन को एंगेल्स का पत्र, १७ अक्तूबर १८९३ . . . . ४१९
डब्ल्यू० बोरगियस को एंगेल्स का पत्र, २५ जनवरी १८९४ . . . . . ४२२
व० सोम्बार्ट को एंगेल्स का पत्र, ११ मार्च १८९५ . . . . ४२५
टिप्पणियां ४२९
नाम-निर्देशिका ४६६
साहित्यिक और पौराणिक पात्रों की सूची ४९५

फ़्रेडरिक एंगेल्स

परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति[1]

१८८४ के पहले संस्करण की भूमिका

निम्नलिखित अध्याय कुछ मानों में एक अंतिम अभिलाषा की पूर्त्ति हैं। स्वयं कार्ल मार्क्स की यह योजना थी कि मौर्गन की खोजों के परिणामों को उन निष्कर्षों के साथ सम्बद्ध करते हुए पेश करें जिन पर वह—कुछ सीमाओं के अन्दर मैं कह सकता हूं कि हम दोनों— इतिहास का भौतिकवादी दृष्टिकोण से अध्ययन करने के बाद पहुंचे थे, और इस तरह उनके पूरे महत्त्व को स्पष्ट करें। कारण कि मौर्गन ने अपने ढंग से अमरीका में इतिहास की उस भौतिकवादी धारणा का पुनः आविष्कार किया था, जिसका मार्क्स चालीस साल पहले पता लगा चुके थे, और बर्बर युग तथा सभ्यता के युग का तुलनात्मक अध्ययन करके इस धारणा के आधार पर वह, मुख्य बातों में, उन्हीं नतीजों पर पहुंचे थे जिन पर मार्क्स पहुंचे थे। और जिस तरह जर्मनी के अधिकृत अर्थशास्त्री वर्षों तक मनोयोगपूर्वक 'पूंजी' की नक़ल करने के साथ-साथ उसे अपनी ख़ामोशी द्वारा दबा देने में बराबर लगे रहे, उसी तरह का व्यवहार इंगलैंड के "प्रागैतिहासिक" विज्ञान के प्रवक्ताओं ने मौर्गन की 'प्राचीन समाज'* कृति के साथ किया। जो काम पूरा करना मेरे दिवंगत मित्र को न बदा था, उसकी कमी को मेरी यह रचना कुछ ही हद तक पूरा कर सकती है। परन्तु मौर्गन की पुस्तक से लिये लम्बे-लम्बे उद्धरणों** के साथ

---

* *«Ancient Society, or Researches in the Lines of Human Progress from Savagery through Barbarism to Civilization»*. By Lewis H. Morgan. London. Macmillan & Co., 1877. यह पुस्तक अमरीका में छपी थी और लन्दन में असाधारण कठिनाई से मिलती है। लेखक की, चन्द वर्ष हुए, मृत्यु हो गयी।

** कार्ल मार्क्स, 'ल्यूईस एच० मौर्गन की कृति "प्राचीन समाज" का सार'। —सं०

मार्क्स ने जो आलोचनात्मक टिप्पणियां लिखी थीं, वे मेरे सामने मौजूद हैं और उनको मैंने, जहां भी सम्भव हो सका है, उद्धृत किया है।

भौतिकवादी धारणा के अनुसार, इतिहास में अन्ततोगत्वा निर्णायक तत्व तात्कालिक जीवन का उत्पादन और पुनरुत्पादन है। परन्तु यह ख़ुद दो प्रकार का होता है। एक ओर तो जीवन निर्वाह के – भोजन, परिधान तथा आवास के साधनों तथा इन चीज़ों के लिए आवश्यक औज़ारों का उत्पादन होता है, और दूसरी ओर स्वयं मनुष्यों का उत्पादन, यानी जाति प्रसारण होता है। ऐतिहासिक युग विशेष तथा देश विशेष के लोग जिन सामाजिक व्यवस्थाओं के अन्तर्गत रहते हैं, वे इन दोनों प्रकार के उत्पादनों से, अर्थात् एक ओर श्रम के विकास की अवस्था और दूसरी ओर परिवार के विकास की अवस्था से निर्धारित होती हैं। श्रम का विकास जितना ही कम होता है, तथा उत्पादन की मात्रा जितनी ही कम होती है, और इसलिए समाज की सम्पदा जितनी ही सीमित होती है, समाज व्यवस्था में रक्त-सम्बन्धों का प्रभुत्व उतना ही अधिक जान पड़ता है। लेकिन रक्त-सम्बन्धों पर आधारित इस समाज व्यवस्था के भीतर श्रम की उत्पादन क्षमता अधिकाधिक बढ़ती जाती है, उसके साथ निजी सम्पत्ति और विनिमय बढ़ते हैं, धन का अन्तर बढ़ता है, दूसरों की श्रम शक्ति को इस्तेमाल करने की सम्भावना बढ़ती है, और वर्ग-विरोधों का आधार तैयार होता है। नये सामाजिक तत्व बढ़ते हैं जो कई पीढ़ियों के दौरान समाज की पुरानी व्यवस्था को नयी अवस्थाओं के अनुकूल ढालने की कोशिश करते हैं, यहां तक कि अन्त में दोनों के बेमेल होने के कारण एक पूर्ण क्रान्ति हो जाती है। रक्त-सम्बन्धों पर आधारित पुराना समाज नवविकसित सामाजिक वर्गों की टक्करों में ध्वस्त हो जाता है; उसकी जगह राज्य के रूप में संगठित एक नया समाज ले लेता है, जिसकी नीचे की इकाइयां रक्त-सम्बन्धों पर आधारित जन-समूह नहीं, बल्कि क्षेत्रीय जन-समूह होती हैं जिसमें पारिवारिक व्यवस्था पूरी तरह सम्पत्ति की व्यवस्था के अधीन होती है, और जिसमें वे वर्ग-विरोध तथा वर्ग-संघर्ष अब ख़ूब खुलकर बढ़ते हैं, जो अब तक के समस्त **लिखित** इतिहास की विषयवस्तु हैं।

मौर्गन की महानता इस बात में है कि उन्होंने मोटे रूप में हमारे लिखित इतिहास के इस प्रागैतिहासिक आधार का पता लगाया और उसका पुनर्निर्माण किया। उनकी महानता इस बात में भी है कि उन्होंने उत्तरी अमरीका के आदिवासियों के रक्त-सम्बन्धों पर आधारित जन-समूहों के रूप में वह कुंजी ढूंढ़ निकाली जिससे प्राचीन यूनानी, रोमन तथा जर्मन इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण तथा अभी तक

अनबूझ बनी हुई पहेलियों को सुलझाया जा सकता था। उनकी पुस्तक एक दिन का काम नहीं थी। लगभग चालीस वर्ष तक, जब तक कि वह अपनी सामग्री को पूरी तरह से समझ लेने में कामयाब न हो गये, वह उसके साथ जूझते रहे। यही कारण है कि उनकी पुस्तक हमारे काल की इनी-गिनी युगान्तरकारी रचनाओं में से एक है।

आगे के पृष्ठों में जो व्याख्या दी गयी है उसमें पाठक आम तौर पर आसानी से यह पहचान लेंगे कि कौनसी बातें मौर्गन की पुस्तक से ली गयी हैं और कौनसी मैंने ख़ुद जोड़ी हैं। यूनान और रोम की चर्चा करनेवाले ऐतिहासिक अंशों में मैंने अपने को केवल मौर्गन की सामग्री तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि मेरे पास जो मसाला मौजूद था, उसका भी इस्तेमाल किया है। केल्ट और जर्मन लोगों से संबंधित हिस्से मुख्यतया मेरे अपने हैं; इस विषय में मौर्गन के पास जो सामग्री थी वह प्राय: सभी की सभी मूल रूप में उनकी अपनी न थी, और जहां तक जर्मन परिस्थितियों का सम्बन्ध है, एक तासितुस को छोड़कर, उन्हें मूल सामग्री के रूप में केवल श्री फ़्रीमैन की भ्रष्ट उदारपंथी झुठाइयां ही उपलब्ध थीं। मौर्गन के उद्देश्य के लिए आर्थिक तर्क भले ही पर्याप्त रहे हों, पर मेरे उद्देश्य के लिए वे बिल्कुल अपर्याप्त थे; इसलिए उन्हें मैंने ख़ुद नये सिरे से विशद रूप में प्रस्तुत किया है। और अंतिम बात, उन हिस्सों को छोड़कर जहां मौर्गन को स्पष्ट रूप में उद्धृत किया गया है, जो भी नतीजे निकाले गये हैं, उन सब की ज़िम्मेदारी मेरे ऊपर है।

२६ मई १८८४ के क़रीब लिखित।

Friedrich Engels, *«Der Ursprung der Familie, des Privateigenthums und des Staats»* पुस्तक, Hottingen-Zürich, 1884, में प्रकाशित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

१८९१ के चौथे संस्करण की भूमिका

आदिम परिवार के इतिहास के सम्बन्ध में
(बाख़ोफ़ेन, मैक-लेनन, मौर्गन) [2]

इस रचना के पिछले बड़े संस्करण लगभग छ: महीने से अप्राप्य हैं और प्रकाशक* कुछ समय से चाहते रहे हैं कि मैं इसका एक नया संस्करण तैयार करूं। कुछ ज़्यादा ज़रूरी कामों में फंसा रहने के कारण अभी तक मैं इस काम को न कर सका था। पहला संस्करण निकले सात वर्ष हो गये हैं, और इस काल में परिवार के आदिम रूपों के विषय में हमारे ज्ञान में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है। इसलिए, आवश्यक था कि पुस्तक के मूलपाठ में परिवर्द्धन और सुधार का काम लगन के साथ किया जाये – ख़ास तौर पर इसलिए कि इस नये पाठ के स्टीरियो-मुद्रण का विचार है जिससे आगे कुछ समय के लिए पुस्तक में और परिवर्तन करना मेरे लिए असम्भव हो जायेगा।

अतएव मैंने पूरी किताब को ध्यानपूर्वक संशोधित किया है और उसमें कई जगह नयी बातें जोड़ी हैं, जिनमें, मैं आशा करता हूं, विज्ञान की वर्तमान अवस्था का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। इसके अलावा इस भूमिका में मैंने बाख़ोफ़ेन से लेकर मौर्गन तक, परिवार के इतिहास के विकास पर एक सरसरी नज़र डाली है। यह मुख्यतया इसलिए कि प्रागैतिहासिक काल के अंग्रेज़ इतिहासकार, जिन पर अंधराष्ट्रवाद का असर है, आज भी इस बात की भरसक कोशिश कर रहे हैं कि आदिम समाज के इतिहास की हमारी धारणाओं में मौर्गन की खोजों ने जो क्रान्ति की है, उसकी चुप्पी साधकर हत्या कर डाली जाये, हालांकि मौर्गन की खोजों के परिणामों को हथिया लेने में वे ज़रा भी नहीं हिचकिचाते। अन्य देशों में भी अक्सर अंग्रेज़ों के इस उदाहरण का अनुकरण होता है।

मेरी रचना का कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। सबसे पहले उसका इतालवी भाषा में लेखक द्वारा संशोधित किया गया अनुवाद हुआ, जो

---

* जो० दीत्स। – सं०

«*L'origine della famiglia, della proprietà privata e dello stato*», नाम से १८८५ में बेनेवेन्टो से प्रकाशित हुआ था (अनुवादक पस्क्वाले मार्टिन्येटी)। उसके बाद रूमानियाई अनुवाद «*Origina familiei, proprietatei private și a statului*» नाम से यास्सी से प्रकाशित होनेवाली पत्रिका «*Contemporanul*»[3] में सितंबर १८८५ से मई १८८६ तक निकला (अनुवादक इओन नादेज्दे)। इसके बाद डेनिश भाषा में इसका अनुवाद «*Familjens, Privatejendommens og Statens Oprindelse*» नाम से १८८८ में कोपेनहेगन से प्रकाशित हुआ (अनुवादक गेर्सन ट्रायर)। प्रस्तुत जर्मन संस्करण पर आधारित आंरी रावे का किया हुआ फ़्रांसीसी अनुवाद छप रहा है।

* * *

सातवें दशक के प्रारम्भ तक परिवार का इतिहास नाम की कोई चीज़ थी ही नहीं। इस क्षेत्र में इतिहास विज्ञान उस समय तक पूरी तरह पुरानी इंजील के पांच अध्यायों के असर में था जिनमें मूसा की शरीअत का ज़िक्र है। इन अध्यायों में विस्तार से वर्णित – उसका इतना विस्तृत वर्णन और कहीं नहीं मिलता – परिवार के पितृसत्तात्मक रूप को न केवल परिवार का सबसे प्राचीन रूप मान लिया गया था, बल्कि – बहु-पत्नी प्रथा को छोड़कर – उसे और वर्तमान काल के पूंजीवादी परिवार को एक ही चीज़ समझ लिया गया था, मानो परिवार वास्तव में किसी ऐतिहासिक विकास से गुज़रा ही नहीं है। अधिक से अधिक बस इतना माना जाता था कि सम्भव है कि आदिम काल में यौन-स्वच्छन्दता का कोई युग रहा हो। इसमें शक नहीं कि एकनिष्ठ विवाह के अलावा उस समय भी लोगों को पूर्वीय बहु-पत्नी प्रथा और भारत-तिब्बतीय बहु-पति प्रथा का ज्ञान था। लेकिन इन तीन रूपों को किसी ऐतिहासिक क्रम में नहीं रखा जा सका था और वे साथ-साथ तथा असम्बद्ध रूप में मौजूद दिखाई पड़ते थे। यह तथ्य कि प्राचीन काल की कुछ जातियों में और आजकल के कुछ जांगलियों में भी वंश पिता के नाम से नहीं, बल्कि माता के नाम से चलता है, और इसलिए उनमें केवल स्त्री-परम्परा ही वैध मानी जाती थी; यह तथ्य कि वर्तमान काल की बहुत-सी जातियों में कतिपय निश्चित प्रकार के बड़े-बड़े समूहों में विवाह करने पर बंधन लगा हुआ है, और यह प्रथा संसार के सभी भागों में पायी जाती है, हालांकि उनके विषय में उस वक़्त तक अधिक निकट से खोज नहीं की गयी थी, – इन तथ्यों की उस समय भी लोगों को जानकारी थी और उनके नित नये उदाहरण प्रकाश में आ

रहे थे। पर इन तथ्यों को लेकर क्या किया जाये, यह कोई नहीं जानता था। यहां तक कि ई० बी० टाइलर की पुस्तक «*Researches into the Early History of Mankind, etc.*» (१८६५) में इन बातों को उसी तरह की "विचित्र प्रथाओं" की श्रेणी में डाल दिया गया, जैसे कुछ जांगलियों में जलती लकड़ी को लोहे के औज़ारों से छूने के निषेध की प्रथा या ऐसी ही अन्य अनाप-शनाप धार्मिक बातों को।

परिवार के इतिहास का अध्ययन १८६१ से आरम्भ हुआ जबकि बाख़ोफ़ेन की पुस्तक 'मातृ-सत्ता' प्रकाशित हुई थी। इस रचना में लेखक ने नीचे लिखी प्रस्थापनाओं को पेश किया है: १) आरम्भ में मानवजाति यौन-स्वच्छन्दता की अवस्था में रहती थी जिसे लेखक ने अनुचित ही "हैटेरिज़्म" (hetaerism) का नाम दे दिया है; २) इस स्वच्छन्दता के कारण किसी के भी बारे में निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता था कि उसका पिता कौन था, इसलिये वंश केवल माता के नाम से – मातृ-सत्ता के अनुसार ही – चल सकता था, और शुरू में प्राचीन काल के सभी लोगों में यह बात पायी जाती थी; ३) चूंकि नयी पीढ़ी की केवल माताओं के बारे में ही निश्चय हो सकता था, इसलिये स्त्रियों का बहुत आदर और सम्मान किया जाता था, जो बाख़ोफ़ेन के विचार में इतना बढ़ गया था कि पूरा शासन ही स्त्रियों के हाथ में था (gynaecocracy); ४); एकनिष्ठ विवाह की प्रथा के, जिसमें नारी पर केवल एक पुरुष का अधिकार माना जाता था, जारी होने का अर्थ आदिम धार्मिक आदेश का उल्लंघन था (अर्थात् वास्तव में, एक ही स्त्री पर अन्य पुरुषों के प्राचीन परम्परागत अधिकार का उल्लंघन था), और इसलिये, इस उल्लंघन की क्षतिपूर्त्ति के लिये या उसके प्रति सहिष्णुता का मूल्य चुकाने के लिये पति को स्त्री एक निश्चित समय के लिये पर-पुरुषों के सामने समर्पित करनी पड़ती थी।

इन प्रस्थापनाओं का प्रमाण बाख़ोफ़ेन को प्राचीन काल के साहित्य में मिला था जिसमें से उन्होंने असाधारण अध्यवसाय के साथ ऐसे अनगिनत अंश जमा किये थे। उनके मतानुसार "हैटेरिज़्म" से एकनिष्ठ विवाह में और मातृ-सत्ता से पितृ-सत्ता में जो परिवर्तन हुआ, वह – विशेषकर यूनानी लोगों में – धार्मिक विचारों के विकास, पुराने दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करनेवाले पुराने परम्परागत देवकुल में नये दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करनेवाले नये देवताओं के प्रवेश करने के परिणामस्वरूप हुआ, जिन्होंने पुराने देवताओं को अधिकाधिक पीछे धकेलकर पृष्ठभूमि में पहुंचा दिया। इस प्रकार, बाख़ोफ़ेन के मतानुसार, पुरुष और नारी

की पारस्परिक सामाजिक स्थिति में जो ऐतिहासिक परिवर्तन हुए हैं उनका कारण उन ठोस अवस्थाओं का विकास नहीं है जिनमें मनुष्य रहते हैं, बल्कि उनका कारण मनुष्यों के दिमागों में जीवन की इन परिस्थितियों का धार्मिक प्रतिबिम्ब है। अतः बाखोफ़ेन का कहना है कि ईस्खिलस के नाटक 'ओरेस्टीया' में पतनोन्मुख मातृ-सत्ता और विकासोन्मुख तथा विजयी पितृ-सत्ता के उस संघर्ष का चित्रण किया गया है जो वीर काल में चला था। क्लितेम्नेस्त्रा ने अपने प्रेमी एगीस्थस की खातिर अपने पति एगामेम्नोन की हत्या कर डाली, जो अभी हाल में ट्रोय के युद्ध से लौटा था; लेकिन उसका पुत्र ओरेस्टस, जो एगामेम्नोन से पैदा हुआ था, पिता की हत्या का बदला लेने के लिये अपनी मां को मार डालता है। इस पर मातृ-सत्ता की रक्षिकाएं एरिनी देवियां ओरेस्टस का पीछा करती हैं, क्योंकि मातृ-सत्ता के नियमों के अनुसार मातृ-हत्या सबसे जघन्य अपराध है जिसका कोई प्रायश्चित्त नहीं है। परन्तु एपोलो, जिसने अपनी दिव्यवाणी के द्वारा ओरेस्टस को यह कृत्य करने के लिये उकसाया था, और एथेना, जिसे पंच बनाया जाता है–ये दोनों पितृ-सत्ता पर आधारित नयी व्यवस्था के प्रतिनिधि हैं–ओरेस्टस की रक्षा करते हैं। एथेना दोनों पक्षों की बात सुनती है। ओरेस्टस और एरिनियों में जो बहस होती है, उसमें इस पूरे विवाद का सार संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। ओरेस्टस कहता है कि क्लिटेमनेस्ट्रा ने दोहरा अपराध किया है, क्योंकि **अपने** पति की हत्या करके उसने **मेरे** पिता को भी मार डाला है। इसलिये एरिनी देवियां मेरे पीछे क्यों पड़ी हुई हैं; उन्होंने क्लिटेमनेस्ट्रा का पीछा क्यों नहीं किया, उसने तो कहीं बड़ा अपराध किया है। जवाब बहुत मार्के का है–

"जिस नर की उसने हत्या की,
नहीं रक्त का था उससे सम्बन्ध"।*

जिस पुरुष से उस पुरुष की हत्या करनेवाली नारी का कोई रक्त-सम्बन्ध नहीं है, भले ही वह उसका पति क्यों न हो, उसकी हत्या परिमार्जनीय है और इसलिये एरिनियों का उससे कोई वास्ता नहीं है। उनका काम तो रक्त-सम्बन्धियों की हत्याओं का बदला लेना है, और इनमें सबसे अधिक जघन्य हत्या, मातृ-सत्ता

* ईस्खिलस, 'ओरेस्टीया। यूमेनिदस'।–सं०

के नियमों के अनुसार, माता की हत्या है। अब ओरेस्टस की तरफ़ से एपोलो बहस में कूदता है। एथेना एरियोपेगाइटीज़ नामक एथेंस के जूरियों से मसले के बारे में अपना मत देने को कहती है। अभियुक्त को बरी कर देने के पक्ष में और सज़ा देने के पक्ष में बराबर-बराबर मत पड़ते हैं। अब अदालत की अध्यक्षा होने के नाते एथेना ओरेस्टस के पक्ष में अपना मत देती है और उसे बरी कर देती है। मातृ-सत्ता पर पितृ-सत्ता की विजय होती है। ख़ुद एरिनियों के शब्दों में "छोटे वंश के देवता" एरिनियों पर विजय प्राप्त करते हैं और एरिनी देवियां अन्त में नया पद स्वीकार करके नयी व्यवस्था की सेवा करने के लिये क़ायल की जाती हैं।

'ओरेस्टीया' की यह नयी, लेकिन बिल्कुल सही व्याख्या जिन पृष्ठों में दी गयी है, वे बाख़ोफ़ेन की पूरी पुस्तक का सबसे अच्छा और सबसे सुंदर अंश हैं। परन्तु साथ ही उनसे यह बात भी साफ़ हो जाती है कि ख़ुद बाख़ोफ़ेन को भी एरिनी देवियों, एपोलो और एथेना में कम से कम उतना ही विश्वास है जितना ईस्खिलस को अपने काल में था; लगता है कि बाख़ोफ़ेन को वाक़ई यक़ीन है कि यूनान में वीर काल में इन्हीं देवताओं ने मातृ-सत्ता को हटाने और उसकी जगह पितृ-सत्ता को क़ायम करने का चमत्कारपूर्ण कार्य सम्पन्न किया था। ज़ाहिर है कि धर्म को विश्व इतिहास का निर्णायक प्रेरक तत्त्व समझनेवाले इस दृष्टिकोण की परिणति अन्त में घोर रहस्यवाद में ही हो सकती है। इसलिये बाख़ोफ़ेन का मोटा पोथा पढ़ जाना काफ़ी कठिन काम है और उसे पढ़ना सदैव लाभकर भी नहीं होता। परन्तु इन सब बातों से एक अग्रगामी अनुसंधानकर्त्ता के रूप में बाख़ोफ़ेन की महानता कम नहीं होती। कारण कि वह पहले आदमी थे जिन्होंने आदिम काल की उस अज्ञात अवस्था के विषय में, जिसमें स्वच्छन्द यौन-व्यापार चलता था, मात्र शब्दजाल के बजाय यह साबित कर दिखाया कि प्राचीन क्लासिकीय साहित्य में इस अवस्था के बहुत सारे चिह्न बिखरे पड़े हैं जिनसे पता चलता है कि यूनानी तथा एशियाई लोगों में एकनिष्ठ विवाह प्रथा जारी होने के पहले यह अवस्था वास्तव में पायी जाती थी जिसमें न केवल पुरुष एक से अधिक स्त्रियों के साथ सम्भोग करता था, बल्कि स्त्री भी एक से अधिक पुरुषों के साथ सम्भोग करती थी, और इससे प्रचलित प्रथा का कोई उल्लंघन नहीं होता था। उन्होंने साबित कर दिखाया कि यह प्रथा तो मिट गयी, किन्तु पर-पुरुषों के आगे स्त्रियों के सीमित आत्मसमर्पण के रूप में अपना चिह्न छोड़ गयी, जिसके द्वारा स्त्रियां एकनिष्ठ विवाह करने का अधिकार ख़रीदने को मजबूर होती थीं। उन्होंने साबित कर

दिखाया कि उपरोक्त कारणों से शुरू में केवल स्त्रियों के नाम से ही, एक माता के बाद दूसरी माता के नाम से ही, वंश-परम्परा चल सकती थी, और निश्चित, या कम से कम मान्य पितृत्व के साथ एकनिष्ठ विवाह प्रथा के प्रचलन के बहुत दिन बाद तक भी एकमात्र स्त्री-परम्परा की वैधता मानी जाती रही। उन्होंने साबित कर दिखाया कि शुरू में चूंकि बच्चों की केवल माता के बारे में ही निश्चय हो सकता था, इसलिये माता का, और आम तौर पर स्त्रियों का समाज में इतना ऊंचा स्थान था, जितना कि उनको बाद में कभी नहीं मिला। बाख़ोफ़ेन ने इन तमाम प्रस्थापनाओं को इतनी स्पष्टता के साथ नहीं रखा था, उनका रहस्यवाद ऐसा करने में बाधक हुआ। परन्तु उन्होंने उन्हें साबित कर दिखाया और १८६१ में यह एक पूरी क्रान्ति कर डालने के बराबर था।

बाख़ोफ़ेन का मोटा पोथा जर्मन में, यानी उस जाति की भाषा में लिखा गया था जो उस ज़माने में आधुनिक परिवार के प्रागैतिहासिक काल में सबसे कम दिलचस्पी लेती थी। इसलिये वह अज्ञात ही बना रहा। इस क्षेत्र में उनके एकदम बाद के उत्तराधिकारी ने जो १८६५ में सामने आये, बाख़ोफ़ेन का नाम भी नहीं सुना था।

यह उत्तराधिकारी जी० एफ़० मैक-लेनन थे। अपने पूर्ववर्ती के वह बिल्कुल उल्टे थे। बाख़ोफ़ेन यदि प्रतिभाशाली रहस्यवादी थे, तो मैक-लेनन एकदम नीरस वकील। बाख़ोफ़ेन यदि काव्यमय उर्वर कल्पना से काम लेते थे, तो मैक-लेनन अदालत में बहस करनेवाले वकील की तरह अपने तर्क पेश करते थे। मैक-लेनन ने प्राचीन तथा आधुनिक काल की बहुत-से जांगल, बर्बर और यहां तक कि सभ्य जातियों में भी विवाह के एक ऐसे रूप का पता लगाया था जिसमें वर को, अकेले या अपने मित्रों के साथ, वधू का उसके सम्बन्धियों के यहां से ज़बर्दस्ती अपहरण करने का स्वांग रचना पड़ता था। यह प्रथा अवश्य ही किसी पुरानी प्रथा का अवशेष है, जिसमें एक क़बीले के पुरुष बाहर की, दूसरे क़बीलों की लड़कियों का वास्तव में ज़बर्दस्ती अपहरण करके अपने लिये पत्नियां प्राप्त करते रहे होंगे। तो फिर इस "अपहरण-विवाह" का आरम्भ कैसे हुआ होगा? जब तक पुरुषों को अपने ही क़बीले के अन्दर काफ़ी स्त्रियां मिल सकती थीं, तब तक इस प्रथा को अपनाने का कोई कारण नहीं हो सकता था। लेकिन, साथ ही अक्सर हमें यह भी देखने को मिलता है कि अविकसित जातियों में कुछ ऐसे समूह पाये जाते हैं (१८६५ में इन समूहों को और स्वयं क़बीलों को एक ही चीज़ समझा जाता था), जिनके अन्दर विवाह करने की मनाही है, जिससे कि पुरुषों को अपने लिये

पत्नियां और स्त्रियों को अपने लिये पति इन समूहों के बाहर ढूंढ़ने पड़ते हैं। दूसरी ओर कुछ और जातियों में यह प्रथा पायी जाती है कि एक समूह के पुरुषों को अपने समूह की स्त्रियों से ही विवाह करना पड़ता है। मैक-लेनन ने पहले प्रकार के समूहों को बहिर्विवाही (exogamous) और दूसरे प्रकार के समूहों को अन्तर्विवाही (endogamous) नाम दिये, और लगे हाथ बहिर्विवाही तथा अन्तर्विवाही "क़बीलों" को एक दूसरे का बिल्कुल व्यतिरेकी बना दिया। और यद्यपि बहिर्विवाह प्रथा के बारे में उनकी अपनी खोज से ही ठीक उनकी नाक के नीचे इस बात के अनेक सबूत आकर मौजूद हो जाते हैं कि, यदि सब या अधिकतर स्थानों में नहीं, तो कम से कम बहुत स्थानों में यह व्यतिरेक उनकी कल्पना मात्र है, तब भी वह उसे अपने पूरे सिद्धान्त का आधार बना डालते हैं। चुनांचे वह तय कर देते हैं कि बहिर्विवाही क़बीले केवल दूसरे क़बीलों से ही पत्नियां प्राप्त कर सकते हैं, और चूंकि जांगल युग की विशेषता यह थी कि क़बीलों में सदा युद्ध चलता रहता था, इसलिये मैक-लेनन का विश्वास है कि केवल अपहरण करके ही पत्नियों को प्राप्त किया जा सकता था।

मैक-लेनन फिर प्रश्न करते हैं: बहिर्विवाह प्रथा का जन्म कैसे हुआ? रक्त-सम्बन्ध तथा अगम्यागमन की धारणाओं से इस प्रथा का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि ये चीज़ें तो बहुत बाद की हैं। परन्तु लड़कियों को पैदा होते ही मार डालने की प्रथा से जो बहुत-से जांगलियों में प्रचलित है उसका कोई सम्बन्ध अवश्य हो सकता है। इस प्रथा के फलस्वरूप हर क़बीले में पुरुषों की बहुतायत हो जाती थी और एक स्त्री पर कई-कई पुरुषों का सम्मिलित अधिकार, यानी बहु-पति प्रथा इसका ज़रूरी तथा तात्कालिक परिणाम थी। फिर इसका परिणाम यह होता था कि बच्चे की माता का तो पता रहता था, पर कोई नहीं कह सकता था कि उसका पिता कौन है। इसलिये वंश पुरुष-परम्परा से नहीं स्त्री-परम्परा से ही वंश चलता था। यह थी मातृ-सत्ता। क़बीले के अन्दर औरतों की कमी का, जो बहु-पति प्रथा से केवल कुछ कम होती थी, पर पूरी तरह दूर नहीं होती थी, एक और नतीजा ठीक यही होता था कि दूसरे क़बीलों की स्त्रियों का ज़बर्दस्ती अपहरण किया जाता था।

"चूंकि बहिर्विवाह प्रथा तथा बहु-पति प्रथा का जन्म एक कारण से, यानी स्त्रियों और पुरुषों की संख्या का संतुलन ठीक न होने के कारण से हुआ, इसलिये हमें मजबूर होकर इस नतीजे पर पहुंचना पड़ता है कि **सभी बहिर्विवाही जातियों**

मे शुरू में बहु-पति प्रथा का चलन था... इसलिये हमें इस बात को निर्विवाद रूप से मानना चाहिये कि बहिर्विवाही जातियों में रक्त-सम्बन्ध की पहली व्यवस्था वह थी जो केवल माताओं के जरिये होनेवाले रक्त-सम्बन्ध को मानती थी।" (मैक-लेनन, 'प्राचीन इतिहास का अध्ययन', 1886, 'आदिम विवाह', पृष्ठ 124)।

मैक-लेनन की उपलब्धि इसमें है, कि उन्होंने उस चीज के बड़े महत्त्व और व्यापक प्रचलन की ओर ध्यान आकृष्ट किया जिसे उन्होंने बहिर्विवाह प्रथा का नाम दिया था। परन्तु बहिर्विवाही समूहों के अस्तित्व का पता उन्होंने नहीं लगाया था; और यह कहना तो और बड़ी ग़लती होगी कि उन्होंने उनको समझा था। पहले के उन बहुत-से पर्यवेक्षकों के अलावा, जिनके अलग-अलग विवरणों ने मैक-लेनन के लिये सामग्री का काम दिया था, लेथम ने (1859 में प्रकाशित 'वर्णनात्मक मानवजातिविज्ञान' में) भारत के मगरों[4] में यह प्रथा जिस रूप में थी उसका ठीक ठीक और बिल्कुल सही वर्णन किया था और कहा था कि यह प्रथा संसार के सभी भागों में मौजूद थी और उसका आम तौर पर चलन था। ख़ुद मैक-लेनन ने उनकी पुस्तक के इस अंश को उद्धृत किया है। और हमारे मौर्गन भी, 1847 में ही, इरोक्वा लोगों के बारे में अपने पत्रों में (जोकि *«American Review»* में प्रकाशित हुए थे), और 1851 में 'इरोक्वा संघ' नामक अपनी पुस्तक में बता चुके थे कि इस क़बीले में भी यह प्रथा मौजूद थी, और उन्होंने इस प्रथा का बिल्कुल सही वर्णन दिया था। इसके मुक़ाबले में, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, बाखोफ़ेन की रहस्यवादी कल्पनाओं ने मातृ-सत्ता के मामले में जितनी उलझन पैदा की थी, उससे कहीं अधिक उलझन मैक-लेनन की वकीलों जैसी मनोवृत्ति ने इस प्रथा के विषय में पैदा कर दी। मैक-लेनन को इस बात का भी श्रेय है कि उन्होंने इस बात को पहचाना कि माताओं के ज़रिये वंश का पता चलाने की प्रथा ही मौलिक थी हालांकि, जैसा कि बाद में उन्होंने भी ख़ुद स्वीकार किया, बाख़ोफ़ेन उनसे पहले ही इस बात का पता लगा चुके थे। परन्तु इस मामले में भी उनका मत बहुत अस्पष्ट है। वह बराबर "स्त्रियों के ज़रिये ही रक्त-सम्बन्ध" (kinship through females only) की चर्चा करते रहते हैं और इस शब्दावली का, जो प्रारम्भिक अवस्था के लिये बिल्कुल उपयुक्त थी, वह विकास की बाद की उन अवस्थाओं के लिये प्रयोग करते रहते हैं, जब वंश तथा उत्तराधिकार तो अवश्य केवल स्त्री परम्परा द्वारा निश्चित होता था, परन्तु रक्त-सम्बन्ध पुरुष-परम्परा द्वारा भी

निश्चित होने और माना जाने लगा था। यह वकीलों जैसा एक संकुचित दृष्टिकोण है जो पहले अपने उपयोग के लिये एक बे-लचक क़ानूनी परिभाषा बनाता है, और फिर उसे बिना बदले उन परिस्थितियों पर भी लागू करता जाता है जो इस बीच में बदल गयी हैं, और जिन पर यह परिभाषा लागू नहीं हो सकती।

मैक-लेनन का सिद्धान्त ऊपर से देखने में विश्वास करने योग्य मालूम पड़ने पर भी लगता है कि ख़ुद लेखक को भी वह एकदम पक्के आधार पर खड़ा नहीं जंचता। कम से कम, वह ख़ुद इस बात को देखकर चकित हैं कि

"अपहरण" (दिखावटी) "की प्रथा सबसे अधिक स्पष्ट और प्रभावशाली रूप में उन जातियों में देखी जाती है, जिनमें **पुरुष** के ज़रिये रक्त-सम्बन्ध **निश्चित होता है**" (यानी जिनमें पुरुष-परम्परा क़ायम है) (पृ० १४०)।

एक और जगह उन्होंने लिखा है:

"यह एक अजीब बात है कि जहां तक हमें ज्ञात है किसी भी समाज में, जहां बहिर्विवाह के साथ-साथ रक्त-सम्बन्ध का प्राचीनतम रूप मौजूद है, शिशु-हत्या एक **प्रथा** के रूप में नहीं पायी जाती।" (पृ० १४६)

ये दोनों तथ्य ऐसे हैं जो उनके सिद्धान्त का सीधे-सीधे खंडन करते हैं, और उनके मुक़ाबले में वह यही कर सकते हैं कि नये, और पहले से भी ज़्यादा उलझी हुई प्राक्कल्पनाएं प्रस्तुत करें।

फिर भी, इंगलैंड में उनके सिद्धान्त का बड़े ज़ोरों से स्वागत हुआ और लोगों ने उसकी बड़ी तारीफ़ की। वहां आम तौर पर मैक-लेनन को परिवार के इतिहास का संस्थापक और इस क्षेत्र का सबसे अधिकारी विद्वान मान लिया गया। बहिर्विवाही और अन्तर्विवाही "क़बीलों" के बीच उन्होंने जो वैपरीत्य दिखाया था, वह चन्द अपवादों और संशोधनों के माने जाने के बावजूद प्रचलित मत के स्वीकृत आधार के रूप में क़ायम रहा। यदि इस क्षेत्र में स्वतंत्रतापूर्वक खोज करना और परिणामस्वरूप, कोई निश्चित प्रगति करना असम्भव हो गया, तो इसका कारण यह था कि खोज करनेवालों की आंखों पर यह पर्दा पड़ा हुआ था। चूंकि इंगलैंड में, और उसकी देखादेखी अन्य देशों में भी, मैक-लेनन के महत्त्व को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर आंकना एक फ़ैशन-सा बन गया है, इसलिये हमारा कर्त्तव्य

हो जाता है कि हम इसके मुक़ाबले में पाठकों का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करें कि बहिर्विवाही तथा अन्तर्विवाही "क़बीलों" में एक सर्वथा ग़लत प्रतिपक्षता दिखा करके मैक-लेनन ने जो नुक़सान किया है, वह उनकी खोजों से हुए फ़ायदे को दबा देता है।

इस बीच, बहुत-से ऐसे तथ्य सामने आ गये जो मैक-लेनन के बनाये हुए सुघड़ चौखटे में फ़िट नहीं बैठते थे। मैक-लेनन विवाह के केवल तीन रूपों से परिचित थे: बहु-पत्नी प्रथा, बहु-पति प्रथा और एकनिष्ठ विवाह प्रथा। परन्तु जब एक बार लोगों का ध्यान इस प्रश्न की ओर आकर्षित हो गया तो इस बात के नित नये प्रमाण मिलने लगे कि पिछड़ी हुई जातियों में विवाह के ऐसे रूप भी पाये जाते थे, जिनमें पुरुषों का एक दल स्त्रियों के एक दल का सामूहिक रूप से स्वामी होता था; और **लेब्बोक ने** (१८७० में प्रकाशित अपनी 'सभ्यता की उत्पत्ति' नामक पुस्तक में) इस यूथ-विवाह (Communal marriage) को एक ऐतिहासिक तथ्य के रूप में ग्रहण किया।

इसके तुरन्त बाद ही, १८७१ में, **मौर्गन** नयी, और कई मानों में, निर्णयात्मक सामग्री लेकर सामने आये। उनको यह विश्वास हो गया था कि इरोक्वा लोगों में रक्त-सम्बन्ध की जो अनोखी व्यवस्था मिलती है, वह संयुक्त राज्य अमरीका में रहनेवाले सभी आदिवासियों में समान रूप से पायी जाती है और इसलिये वह एक पूरे महाद्वीप में फैली हुई है, हालांकि वह वहां प्रचलित विवाह-प्रथा से उत्पन्न वंशक्रम के प्रत्यक्षतः प्रतिकूल है। तब उन्होंने अमरीकी फ़ेडरल सरकार को इस बात के लिये राज़ी किया कि वह दूसरी जातियों में पायी जानेवाली रक्त-सम्बन्धों की व्यवस्थाओं के बारे में सूचना संग्रह करे। इस काम के लिये उन्होंने ख़ुद प्रश्नावलियां और तालिकाएं तैयार कीं। उनको जो उत्तर प्राप्त हुए, उनसे मौर्गन को पता चला कि १) अमरीकी इंडियनों में रक्त-सम्बन्धों की जो व्यवस्था मिलती है, वह एशिया के भी अनेक क़बीलों में पायी जाती है, और कुछ संशोधित रूपों में अफ्रीका और आस्ट्रेलिया में भी पायी जाती है; २) हवाई द्वीप समूह में, तथा अन्य आस्ट्रेलियाई द्वीपों में पाये जानेवाले यूथ-विवाह के रूप में, जोकि अब लुप्तप्राय है, इस व्यवस्था का पूरा स्पष्टीकरण हो जाता है, और ३) विवाह के इस रूप के साथ-साथ उन द्वीपों में रक्त-सम्बन्धों की एक ऐसी व्यवस्था पायी जाती है जिसका कारण केवल यही हो सकता है कि इसके भी पहले वहां एक और प्रकार के यूथ-विवाह की प्रथा थी जो अब मिट चुकी है। मौर्गन ने जो सामग्री इकट्ठा की और उससे जो नतीजे निकाले, उनको उन्होंने १८७१ में अपनी पुस्तक

'रक्त-सम्बन्धों और विवाह-सम्बन्धों की व्यवस्थाएं' में प्रकाशित किया और इस प्रकार उन्होंने बहस के क्षेत्र को पहले से कहीं अधिक विस्तृत कर दिया। रक्त-सम्बन्ध की व्यवस्थाओं को आधार मानकर उन्होंने उनके अनुरूप परिवार के रूपों का पुनर्निर्माण किया और इस तरह मानवजाति के प्रागैतिहासिक काल की खोज और अधिक दूरगामी गतानुदर्शन के लिये एक नया मार्ग खोल दिया। यदि यह प्रणाली सही मान ली जाये, तो मैक-लेनन द्वारा जोड़कर खड़ा किया गया सुघड़ सिद्धान्त हवा में उड़ जायेगा।

मैक-लेनन ने अपनी 'आदिम विवाह' के एक नये संस्करण में ('प्राचीन इतिहास का अध्ययन', १८७६) अपने सिद्धान्त की रक्षा की। यद्यपि वह ख़ुद केवल प्राक्कल्पनाओं के आधार पर परिवार का पूरा इतिहास बहुत ही बनावटी ढंग से गढ़ डालते हैं, तथापि लेब्बोक और मौर्गन से वह मांग करते हैं कि वे अपने प्रत्येक वक्तव्य के लिये न सिर्फ़ प्रमाण पेश करें, बल्कि ऐसे अकाट्य और निर्विवाद प्रमाण पेश करें जैसे प्रमाण स्काटलैंड की अदालतों में ही स्वीकार्य हो सकते हैं। और यह मांग वह आदमी करता है जो जर्मनों में मामा-भांजे के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होने से (तासितुस, 'जेर्मनिया', अध्याय २०), सीज़र की इस रिपोर्ट से कि ब्रिटनों में दस-दस बारह-बारह पुरुष सामूहिक पत्नियां रखते थे, और बर्बर लोगों में सामूहिक पत्नियों की प्रथा होने के बारे में प्राचीन लेखकों की अन्य तमाम रिपोर्टों से, बिना किसी हिचकिचाहट के, यह निष्कर्ष निकाल डालता है कि इन तमाम लोगों में बहु-पति प्रथा का नियम था! उनकी बातों को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे कोई सरकारी वकील अपने पक्ष में बहस करते समय तो हर तरह की मनमानी करता है, पर बचाव पक्ष के वकील से मांग करता है कि वह अपने हर शब्द को सिद्ध करने के लिये बिलकुल पक्के और क़ानूनी तौर से एकदम सही सबूत पेश करे।

यूथ-विवाह कल्पना की उड़ान भर है, मैक-लेनन कहते हैं, और इस तरह वह बाख़ोफ़ेन की तुलना में भी बहुत पीछे चले जाते हैं। उनका कहना है कि मौर्गन ने जिन्हें रक्त-सम्बन्धों की व्यवस्थाएं समझा है, वे सामाजिक शिष्टाचार के नियमों से अधिक कुछ नहीं हैं और इसका प्रमाण यह है कि अमरीकी इंडियन अजनबियों, गोरे लोगों, को भी भाई या पिता कहकर पुकारते हैं। यह तो वैसी ही बात हुई जैसे कोई कहे कि चूंकि कैथोलिक पादरियों और भिक्षुणियों को लोग पिता और माता कहते हैं, और चूंकि मठवासी और मठवासिनियां, और यहां तक कि इंगलैंड में अलग-अलग धंधों के शिल्प-संघों के मेम्बर और फ़्रीमेसन

भी सभा सम्मेलनों में एक दूसरे को भाई-बहन कहते हैं, इसलिये पिता, माता, भाई, बहन शब्द सम्बोधन करने के अलग-अलग ढंगों के सूचक मात्र हैं और इससे अधिक उनका कोई अर्थ नहीं है। संक्षेप में यह कि अपने पक्ष की पुष्टि में मैक-लेनन का तर्क बेहद कमज़ोर था।

परन्तु एक बात रह गयी थी जिस पर किसी ने मैक-लेनन को चुनौती नहीं दी थी। बहिर्विवाही और अन्तर्विवाही "क़बीलों" में उन्होंने जो विरोध क़ायम किया था और जिसके आधार पर उनकी पूरी प्रणाली टिकी हुई थी, वह अभी तक ज़रा भी नहीं हिल पायी थी। यही नहीं, बल्कि वह अब भी आम तौर पर परिवार के पूरे इतिहास की धुरी मानी जाती थी। लोग यह स्वीकार करते थे कि इस विरोध का स्पष्टीकरण करने का मैक-लेनन का प्रयास अपर्याप्त था और यहां तक कि उन तथ्यों के भी ख़िलाफ़ जाता था जिन्हें ख़ुद मैक-लेनन ने ही पेश किया था। परन्तु स्वयं इस विरोध को, इस विचार को कि दो परस्पर अपवर्जी प्रकार के क़बीलों का अस्तित्व था, जो एक दूसरे से पृथक तथा स्वतंत्र हैं, और जिनमें से एक प्रकार के क़बीलों के पुरुष अपने क़बीले की ही स्त्रियों से विवाह करते हैं, मगर दूसरी प्रकार के क़बीलों में इस तरह के विवाहों की सख़्त मनाही होती है—इसको लोग अकाट्य ब्रह्मवाक्य मान बैठे थे। मिसाल के लिये, पाठक जिरो-त्यूलों की पुस्तक 'परिवार की उत्पत्ति' (१८७४) और यहां तक कि लेब्बोक की रचना 'सभ्यता की उत्पत्ति' (चौथा संस्करण, १८८२) को भी देख सकते हैं।

ठीक इस बिन्दु पर मौर्गन की मुख्य पुस्तक, 'प्राचीन समाज' (१८७७), जिस पर मेरी यह किताब आधारित है, बहस में दाख़िल होती है। जिन बातों की १८७१ में मौर्गन ने केवल अस्पष्ट कल्पना की थी, उनकी यहां पूरी समझ-बूझ के साथ विशद विवेचना की गयी है। अन्तर्विवाह और बहिर्विवाह में कोई विरोध नहीं है; अभी तक कहीं भी कोई बहिर्विवाही "क़बीला" नहीं मिला है। परन्तु जिस समय यूथ-विवाह का चलन था—और संभवत: किसी न किसी समय यह प्रथा हर जगह प्रचलित थी,—उस समय क़बीले के अन्दर कई समूह, गोत्र हुआ करते थे जिनमें से हरेक में माता की ओर के रक्त-सम्बन्धी शामिल होते थे। उनके अन्दर विवाह करने की सख़्त मनाही थी। इसलिये किसी भी गोत्र के पुरुष, क़बीले के अन्दर ही अपने लिये पत्नियां हासिल कर सकते थे, और आम तौर पर वे यही करते थे, पर उन्हें अपने गोत्र के बाहर ही पत्नियां हासिल करनी पड़ती थीं। इस प्रकार जहां कि गोत्र बहिर्विवाह के नियम का सख़्ती

से पालन करता था, वहीं क़बीला, जिसमें कई गोत्र शामिल होते थे, उतनी ही सख़्ती से अन्तर्विवाह करने के नियम का पालन करता था। इस प्रस्थापना के साथ मैक-लेनन द्वारा निर्मित बनावटी ढांचे की एक ईंट भी बाक़ी न रह गयी।

परन्तु मौर्गन ने इससे ही सन्तोष नहीं किया। अमरीकी इंडियनों का गोत्र, उनके द्वारा अन्वेषण के इस क्षेत्र में दूसरा निर्णायक क़दम उठाने का साधन भी बन गया। उन्होंने पता लगाया कि मातृ-सत्ता के आधार पर संगठित गोत्र वह प्रारम्भिक रूप था, जिससे ही बाद का, प्राचीन काल के सभ्य लोगों में पाया जानेवाला पितृ-सत्ता के आधार पर संगठित गोत्र विकसित हुआ। इस प्रकार यूनान तथा रोम के गोत्र, जो पहले के सभी इतिहासकारों के लिये पहेली बने हुए थे, अमरीकी इंडियनों में पाये जानेवाले गोत्र के प्रकाश में समझ में आ गये, और इस प्रकार आदिम समाज के पूरे इतिहास के लिये एक नया आधार प्रस्तुत हुआ।

सभ्य जातियों के पितृ-सत्तात्मक गोत्र से पहले की अवस्था के रूप में आदिम मातृ-सत्तात्मक गोत्र के आविष्कार का आदिम समाज के इतिहास के लिये वही महत्त्व है जो जीव-विज्ञान के लिये डार्विन के विकास सिद्धान्त का, और राजनीतिक अर्थशास्त्र के लिये मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का है। उसकी बदौलत मौर्गन पहली बार परिवार के इतिहास की एक ऐसी रूपरेखा तैयार करने में सफल हुए जिसमें कम से कम विकास की क्लासिकीय अवस्थाओं को सामान्यतः अस्थायी रूप से ही सही, जहां तक उस समय उपलब्ध सामग्री को देखते हुए यह सम्भव था, निश्चित कर दिया गया है। ज़ाहिर है, इससे आदिम समाज के इतिहास के अध्ययन में एक नये युग का श्रीगणेश हो जाता है। अब मातृ-सत्तात्मक गोत्र वह धुरी बन गया है जिसके चारों ओर यह पूरा विज्ञान घूमता है। इसका पता लगने के बाद से हमें इस बात का ज्ञान हो गया है कि हमें किस दिशा में खोज करनी चाहिये, किस चीज़ की खोज करनी चाहिये और खोज के परिणामों का वर्गीकरण किस प्रकार करना चाहिये। परिणामस्वरूप मौर्गन की पुस्तक के प्रकाशित होने के पहले की तुलना में अब इस क्षेत्र में बहुत तेज़ प्रगति होने लगी है।

मौर्गन ने जिन बातों का पता लगाया है, उन्हें अब प्रागैतिहासिक काल का अध्ययन करनेवाले अंग्रेज़ विद्वान भी मानने लगे हैं, या यों कहिये कि उन्होंने उन्हें अपना लिया है। परन्तु उनमें से शायद ही कोई खुले आम यह माने कि हमारे

दृष्टिकोण में जो क्रान्ति हो गयी है, उसका श्रेय मौर्गन को ही प्राप्त है। इंगलैंड में उनकी पुस्तक के बारे में यथासम्भव चुप्पी ही साधी गयी है, और ख़ुद मौर्गन को बड़े दया भाव के साथ उनकी **पुरानी** कृतियों की प्रशंसा करके निबटा दिया जाता है। उनकी व्याख्या की तफ़सीलों को बड़े चाव से लेकर उनकी समीक्षा की जाती है, पर उनकी जो सचमुच महती खोजें हैं उनके बारे में हठपूर्वक मौन धारण किया जाता है जो कभी टूटता नहीं है। 'प्राचीन समाज' का पहला संस्करण अब अप्राप्य है। अमरीका में इस तरह की किताबों के लिये लाभप्रद बाज़ार ही नहीं है। इंगलैंड में, मालूम पड़ता है कि मौर्गन की किताब को बाक़ायदा दबाया गया है। और इस युगान्तरकारी रचना का एकमात्र संस्करण जो किताबों के बाज़ार में अब भी प्राप्त है, वह जर्मन अनुवाद में है।

इस उपेक्षा भाव को एक मौन षड्यंत्र न समझना बहुत कठिन है—ख़ास तौर पर इसलिये कि प्रागैतिहासिक काल के हमारे जाने-माने अध्ययनकर्त्ता अपनी रचनाओं में केवल शिष्टाचार के नाते अन्य लेखकों के अनगिनत उद्धरण देने के आदी हैं और दूसरे तरीक़ों से भी सहयोगियों के प्रति भाईचारा जताते रहते हैं। क्या इसका कारण सम्भवतः यह है कि मौर्गन अमरीकी हैं, और आदिम इतिहास के अंग्रेज़ अध्ययनकर्त्ताओं के लिये यह कष्टकर है कि उन्हें, बावजूद इसके कि सामग्री इकट्ठा करने में उन्होंने इतना प्रशंसनीय श्रम किया है, इस सामग्री का वर्गीकरण करने तथा उसे व्यवस्थित रूप देने के वास्ते आवश्यक आम दृष्टिकोण के लिये बाख़ोफ़ेन और मौर्गन जैसे दो विदेशी विद्वानों का सहारा लेना पड़ता है? जर्मन तो फिर भी उनके गले से उतर सकता है, पर अमरीकी! किसी अमरीकी का सामना होने पर तो हर अंग्रेज़ देशभक्ति की भावना में बह जाता है। जब मैं संयुक्त राज्य अमरीका में था, तो मुझे इसके कई बड़े मज़ेदार उदाहरण देखने को मिले थे।[5] इसके साथ-साथ एक बात और है। वह यह कि मैक-लेनन को एक तरह से सरकारी तौर पर इंगलैंड में इतिहास की प्रागैतिहासिक शाखा का संस्थापक और नेता मान लिया गया था, और मैक-लेनन ने शिशु-हत्या से लेकर, और बहु-पति प्रथा तथा अपहरण-विवाह से होते हुए, मातृ-सत्तात्मक परिवार तक, परिवार के इतिहास का जो सिद्धान्त बनावटी ढंग से खड़ा किया था, इस क्षेत्र के विद्वानों के बीच उसकी अत्यन्त श्रद्धापूर्ण चर्चा एक तरह का रिवाज बन गयी थी। एक दूसरे से बिल्कुल अलग और भिन्न, दो प्रकार के "क़बीलों", यानी बहिर्विवाही और अन्तर्विवाही "क़बीलों" के अस्तित्व के बारे में ज़रा भी सन्देह प्रगट करना घोर पाप समझा जाता था। इसलिये जब मौर्गन ने इन समस्त पवित्र

जड़सूत्रों को एक चोट से हवा में उड़ा दिया, तो उन्हें एक प्रकार से धर्मोल्लंघन करने का दोषी समझा जाने लगा। और फिर मौर्गन ने इस समस्या को इस तरह सुलझाया कि अपनी बात पेश करते ही पूरी चीज़ फ़ौरन स्पष्ट हो गयी। नतीजा यह हुआ कि मैक-लेनन के वे पुजारी जो अभी तक अंधों की तरह बहिर्विवाह और अन्तर्विवाह के बीच भटक रहे थे, अब अपना सिर पीटने और यह कहने को विवश होने लगे कि हम भी कैसे मूर्ख हैं कि इस ज़रा सी बात का इतने दिनों तक ख़ुद पता न लगा सके!

मौर्गन ने मानो इतना ही अपराध नहीं किया कि उन्होंने अधिकृत शाखा के विद्वानों को अपने प्रति पूर्ण उपेक्षा बरतने से रोक दिया, उन्होंने सभ्यता की, माल उत्पादन करनेवाले समाज की, जो हमारे वर्तमान काल के समाज का बुनियादी रूप है, एक ऐसे अन्दाज़ में आलोचना करके, जिससे फ़ूरिये की याद ताज़ा हो जाती थी, और इतना ही नहीं, बल्कि समाज के भावी रूपान्तरण की भी कुछ ऐसे शब्दों में चर्चा करके जिनका प्रयोग कार्ल मार्क्स कर सकते थे, घड़ा मुंह तक भर लिया। और इसलिये उन्होंने जैसा किया वैसा भुगता! – मैक-लेनन ने रोष के साथ घोषणा की कि मौर्गन "ऐतिहासिक पद्धति से गहरा उपेक्षा भाव रखते हैं" और प्रोफ़ेसर जिरो-त्यूलों ने १८८४ में भी जेनेवा में मैक-लेनन की इस राय का समर्थन किया। क्या यही वह प्रोफ़ेसर जिरो-त्यूलों नहीं थे जो १८७४ में ही ('परिवार की उत्पत्ति') मैक-लेनन के बहिर्विवाह की भूलभुलैयां में असहाय होकर भटक रहे थे, जिसमें से मौर्गन ने ही उनको निकाला?

आदिम समाज के इतिहास ने मौर्गन की खोजों के परिणामस्वरूप और किन-किन बातों में प्रगति की, यह बताना मेरे लिये यहां आवश्यक नहीं है। इस पुस्तक में यथास्थान उसकी चर्चा पाठक को मिलेगी। मौर्गन की मुख्य पुस्तक का प्रकाशन हुए अब चौदह वर्ष हो रहे हैं। इस दौरान आदिम मानव समाज के इतिहास के सम्बन्ध में हमारे पास और बहुत-सी सामग्री इकट्ठा हो गयी है। नृ-विज्ञानियों, यात्रियों तथा पेशेवर पुरातत्त्वविदों के अलावा अब तुल्नात्मक विधिशास्त्र के अध्ययनकर्त्ताओं ने भी इस क्षेत्र में प्रवेश किया है और बहुत-सी नयी सामग्री और नये दृष्टिकोण हमें दिये हैं। इसके परिणामस्वरूप मौर्गन की कुछ प्राक्कल्पनाएं कमज़ोर पड़ गयी हैं या बेबुनियाद सिद्ध हो गयी हैं। परन्तु इकट्ठी हुई नयी सामग्री उनकी मुख्य धारणाओं की जगह दूसरी धारणाएं स्थापित करने में सफल नहीं हुई है। आदिम समाज के इतिहास को मौर्गन ने जो व्यवस्था प्रदान की थी, वह अपने मुख्य रूप में आज भी सत्य है। हम यहां तक कह सकते हैं कि इस

महती प्रगति के जनक के रूप में उनका नाम छिपाने की जितनी ही कोशिश की जा रही है, इस व्यवस्था को लोग उतना ही अधिक मानते जा रहे हैं।*

फ़्रेडरिक एंगेल्स

लन्दन, १६ जून १८९१

अंग्रेज़ी से अनूदित।

«*Die Neue Zeit*» पत्रिका, Bd. 2, No. 41, 1890–1891 तथा Friedrich Engels, «*Der Ursprung der Familie, des Privateigenthums und des Staats*» पुस्तक, Stuttgart, 1891, में प्रकाशित।

---

* सितम्बर १८८८ में न्यूयार्क से वापसी के समय मेरी मुलाक़ात अमरीकी कांग्रेस के एक भूतपूर्व सदस्य से हुई जो रोचेस्टर से चुने गये थे और जो ल्यूईस मौर्गन को जानते थे। दुर्भाग्यवश वह मुझे मौर्गन के बारे में अधिक नहीं बता सके। उन्होंने बताया कि मौर्गन साधारण नागरिक की तरह रोचेस्टर में रहा करते थे, और अपने अध्ययन में व्यस्त रहते थे। उनके भाई सेना में कर्नल थे और वाशिंगटन में युद्ध विभाग में किसी पद पर थे। अपने इस भाई की सहायता से मौर्गन सरकार को इस बात के लिये प्रवृत्त करने में सफल हुए कि वह उनकी खोजों में दिलचस्पी ले और उनकी रचनाओं को सरकारी ख़र्च पर छापे। कांग्रेस के इस भूतपूर्व सदस्य का कहना था कि जब तक वह कांग्रेस में रहे, उन्होंने ख़ुद भी इसमें मौर्गन की सहायता की थी।

परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति

ल्यूईस मौर्गन की खोज के सम्बन्ध में

१

संस्कृति के विकास की प्रागैतिहासिक अवस्थाएं

मौर्गन विशेष ज्ञान रखनेवाले ऐसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने मनुष्य के प्राक् इतिहास को एक निश्चित क्रम प्रदान करने की चेष्टा की थी। आगे मिलनेवाली महत्त्वपूर्ण सामग्री के कारण यदि कुछ परिवर्तन करना आवश्यक न हुआ, तो आशा करनी चाहिये कि मौर्गन का वर्गीकरण क़ायम रहेगा।

जांगल युग, बर्बर युग और सभ्यता का युग, इन तीन मुख्य युगों में से स्वभावतः मौर्गन का सम्बन्ध केवल पहले दो युगों से और उनसे तीसरे में संक्रमण से है। इन दो युगों में से प्रत्येक को वह जीवन निर्वाह के साधनों के उत्पादन में हुई प्रगति के आधार पर निम्न, मध्यम और उन्नत अवस्थाओं में बांटते हैं। कारण कि मौर्गन का कहना है कि

"इस दिशा में मनुष्यों की दक्षता पर ही पृथ्वी पर मनुष्य की प्रभुता क़ायम होने का पूरा सवाल निर्भर था। प्राणियों में केवल मानवजाति ही ऐसी है, जिसके बारे में कहा जा सकता है कि उसने खाद्य के उत्पादन पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित कर लिया है। मानव प्रगति के महान युग, कमोबेश प्रत्यक्ष रूप में जीवन निर्वाह के साधनों के विकास से जुड़े हुए हैं।"

परिवार का विकास इसके साथ-साथ चलता है, पर उससे हमें ऐसे निश्चित मापदण्ड नहीं प्राप्त होते जिनके द्वारा हम इस विकासक्रम को विभिन्न कालों में बांट सकें।

१. जांगल युग

१. निम्न अवस्था। मानवजाति का शैशवकाल। अभी मनुष्य अपने मूल निवास-स्थान में, यानी उष्ण कटिबंध अथवा उपोष्ण कटिबंध के जंगलों में रहता था, और कम से कम, आंशिक रूप में, पेड़ों के ऊपर निवास करता था। केवल यही

कारण है कि बड़े-बड़े हिंसक पशुओं का सामना करते हुए वह जीवित रह सका। कन्द, मूल और फल उसके भोजन थे। इस काल की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि मनुष्य बोलना सीख गया। ऐतिहासिक काल में हमें जिन जनगण का परिचय मिलता है, उनमें से कोई भी इस आदिम अवस्था में नहीं था। यद्यपि यह काल हज़ारों वर्षों तक चला होगा, तथापि उसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष सबूत हमारे पास नहीं है। किन्तु यदि हम यह मान लेते हैं कि मनुष्य का उद्भव पशुलोक से हुआ है तो इस संक्रमणकालीन अवस्था को मानना अनिवार्य हो जाता है।

२. **मध्यम अवस्था**। यह उस समय से आरम्भ होती है जब मनुष्य मछली का (जिसमें हम केकड़े, घोंघे और दूसरे जल-जन्तुओं को भी शामिल करते हैं) अपने भोजन के रूप में उपयोग करने लगा था और आग को इस्तेमाल करना सीख गया था। ये दोनों बातें एक दूसरे की पूरक हैं, क्योंकि मछली का आहार केवल आग के इस्तेमाल से ही पूरी तरह उपलब्ध हो सकता है। परन्तु इस नये आहार ने मनुष्य को जलवायु और स्थान के बंधनों से मुक्त कर दिया। नदियों और समुद्रों के तटों के साथ-साथ चलता हुआ, मनुष्य अपनी जांगल अवस्था में भी पृथ्वी के धरातल के अधिकांश भाग में फैल गया। पुरा पाषाण युग – तथाकथित पालियोलिथिक युग – के पत्थर के बने अनघड़, खुरदरे औज़ार, जो पूरी तरह या अधिकतर इसी काल से सम्बन्ध रखते हैं, सभी महाद्वीपों में बिखरे हुए पाये जाते हैं। उनसे इस काल में मनुष्यों के संसार के विभिन्न भागों में फैल जाने का सबूत मिलता है। नये प्रदेशों में बस जाने और खोज की निरन्तर सक्रिय प्रेरणा के फलस्वरूप और साथ ही रगड़ से आग पैदा करने की कला में निपुण होने के कारण, मनुष्य को अनेक नये खाद्य पदार्थ सुलभ हो गये, जैसे मण्डमय मूल और कन्द जो या तो गर्म राख में या ज़मीन में खुदी आग की भट्ठियों में पका लिये जाते थे। पहले अस्त्रों – गदा और भाले – के आविष्कार के बाद कभी-कभी शिकार किये गये पशुओं का मांस भी भोजन में शामिल हो जाता था। पूर्णतः शिकारी लोग, जिनका वर्णन प्रायः पुस्तकों में मिलता है – यानी वे लोग जो केवल शिकार के सहारे जीते थे, वास्तव में कभी थे ही नहीं। यह सम्भव भी नहीं था क्योंकि शिकार से भोजन पाना बहुत ही अनिश्चित साधन होता है। खाने की चीज़ों का मिलना सदा बड़ा अनिश्चित रहता था, इसलिये, मालूम होता है, इस काल में नरमांस भक्षण भी आरम्भ हो गया और बाद में बहुत समय तक चलता रहा। आस्ट्रेलिया के आदिवासी और पोलिनेशिया के बहुत-से लोग आज भी जांगल युग की इस मध्यम अवस्था में रह रहे हैं।

३. उन्नत अवस्था। यह अवस्था धनुष-बाण के आविष्कार से आरम्भ होती है, जिनके कारण जंगली पशुओं का शिकार एक सामान्य चर्या बन गया और उनका मांस भोजन का नियमित अंग हो गया। धनुष, डोरी और बाण से बना यह अस्त्र अत्यंत संश्लिष्ट प्रकार का है, जिसके आविष्कार के लिये लम्बा संचित अनुभव और अधिक तीक्ष्ण बुद्धि तथा अधिक मानसिक क्षमता पूर्वापेक्षित थी, और इसलिये धनुष-बाण के साथ-साथ इस काल का मनुष्य अन्य अनेक आविष्कारों से भी परिचित रहा होगा। यदि हम इन मनुष्यों की तुलना उनसे करें जो धनुष-बाण से तो परिचित थे, पर मिट्टी के बर्तन-भांडे बनाने की कला अभी नहीं जान पाये थे (मिट्टी के बर्तन बनाने की कला से ही मौर्गन बर्बर युग का प्रारम्भ मानते हैं), तो हम पाते हैं कि इस प्रारम्भिक अवस्था में भी मनुष्य ने गांवों में बसना शुरू कर दिया था, और जीवन निर्वाह के साधनों के उत्पादन पर किसी क़दर क़ाबू पा लिया था। वह लकड़ी के बर्तन-भांडे बनाने लगा था, पेड़ों की कोमल छाल से निकले रेशों को हाथ से (बिना करघे के) बुनना सीख गया था, छाल की और बेंत की टोकरियां बनाने लगा था, और पत्थर के पालिशदार औज़ार (नव पाषाण युग के औज़ार) तैयार करने लगा था। अधिकांशतः, आग और पत्थर की कुल्हाड़ी की बदौलत पेड़ का तना खोखला कर बनायी गयी नाव, और कहीं-कहीं मकान बनाने की लकड़ी के तख़्ते भी सुलभ हो गये थे। उदाहरण के लिये उत्तर-पश्चिमी अमरीका के इंडियनों में, जो धनुष-बाण से तो परिचित हैं, पर मिट्टी के बर्तन बनाने की कला नहीं जानते, ये सारी उपलब्धियां पाई जाती हैं। जिस प्रकार लोहे की तलवार बर्बर युग के लिये और आग्नेयास्त्र सभ्यता के युग के लिये निर्णायक अस्त्र सिद्ध हुए, उसी प्रकार जांगल युग के लिये धनुष-बाण निर्णायक अस्त्र सिद्ध हुआ।

२. बर्बर युग

१. निम्न अवस्था। यह अवस्था मिट्टी के बर्तनों के प्रचलन से आरम्भ होती है। मिट्टी के बर्तन बनाने की कला की शुरूआत अनेक जगहों पर प्रत्यक्षतः इस तरह हुई और शायद सब जगह इसी तरह हुई होगी कि टोकरियों तथा लकड़ी के बर्तनों को अग्नि-सह बनाने के लिये उन पर मिट्टी का लेप चढ़ा दिया जाता था। जल्द

ही यह पता चल गया कि अन्दर का बर्तन निकाल लेने पर भी मिट्टी के सांचे से वही काम चल सकता है।

हम मान सकते हैं कि यहां तक, एक निश्चित काल तक मानव विकास का क्रम सभी लोगों में एक-सा पाया जाता है और प्रदेश चाहे जो भी रहा हो, उससे इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु बर्बर युग में प्रवेश करने के साथ हम एक ऐसी अवस्था में पहुंच जाते हैं जिसमें दोनों बड़े महाद्वीपों की प्राकृतिक देनों का अन्तर अपना प्रभाव दिखाने लगता है। बर्बर युग की विशेषता है पशु-पालन और प्रजनन तथा कृषि। अब पूर्वी महाद्वीप में, जिसे पुरानी दुनिया भी कहा जाता था, पालने योग्य लगभग सभी पशु, और एक को छोड़कर उगाने योग्य बाक़ी सभी अन्न उपलब्ध थे, जबकि पश्चिमी महाद्वीप, यानी अमरीका में, और वह भी केवल दक्षिण के एक हिस्से में पालने योग्य केवल एक पशु था, जिसे लामा कहते हैं, और उगाने योग्य केवल एक अन्न, यानी मक्का था, पर वह अन्नों में सर्वश्रेष्ठ था। इन भिन्न प्राकृतिक परिस्थितियों का यह प्रभाव पड़ा कि इस काल से प्रत्येक गोलार्ध की आबादी अपने अलग-अलग रास्ते चली, और दो गोलार्धों में मानव विकास की विभिन्न अवस्थाओं के बीच सीमा-चिह्नों में भी अन्तर हो गया।

२. **मध्यम अवस्था।** यह अवस्था पूर्व में पशु-पालन से शुरू होती है, और पश्चिम में खाने लायक़ पौधों की सिंचाई के ज़रिये खेती और मकान बनाने के लिये धूप में सुखायी गयी कच्ची ईंटों तथा पत्थर के प्रयोग से शुरू होती है।

पहले हम पश्चिम को लेंगे, क्योंकि यूरोपीय विजय तक अमरीकी लोग कहीं भी इस अवस्था से आगे नहीं बढ़ सके थे।

अमरीकी इंडियनों का जिस समय पता चला, उस समय ये बर्बर युग की निम्न अवस्था में थे (मिसीसिपी नदी के पूर्व में रहनेवाले सभी आदिवासी इसी अवस्था में थे), और कुछ हद तक मक्का की, और शायद कद्दू, ख़रबूज़ों तथा अन्य तरकारियों, आदि की खेती करने लगे थे। इनसे ही उन्हें अपने आहार का मुख्य भाग प्राप्त होता था। ये लोग बाड़ों से घिरे गांवों में लकड़ी के मकानों में रहते थे। उत्तर-पश्चिम के क़बीले, विशेषकर कोलम्बिया नदी के प्रदेश में रहनेवाले क़बीले, अभी जांगल युग की उन्नत अवस्था में ही पड़े हुए थे। वे न तो मिट्टी के बर्तन बनाना जानते थे और न किसी तरह के पौधे उगाना। दूसरी ओर, न्यू-मैक्सिको के तथाकथित पुएब्लो इंडियन लोग,[6] मैक्सिको के निवासी, मध्य अमरीका के और पेरू के निवासी यूरोपीय विजय के समय बर्बर युग की मध्यम

अवस्था में थे। ये लोग कच्ची ईंटों या पत्थरों के बने क़िले जैसे मकानों में रहते थे और बग़ीचे बनाकर और उन्हें ख़ुद सींचकर मक्का की, और स्थान तथा जलवायु के अनुसार, खाने योग्य अन्य पौधों की खेती करते थे, जिनसे ही मुख्यतः उन्हें भोजन मिलता था; उन्होंने कुछ पशुओं तक को पालतू बना लिया था, जैसे मैक्सिको के लोग टर्की और दूसरे पक्षियों को पालते थे, तथा पेरू के लोग लामा को पालते थे। इसके अलावा, ये लोग धातुओं से काम लेना भी जानते थे, लेकिन लोहे से परिचित नहीं हुए थे और इस कारण अभी पत्थर के बने अस्त्रों और औज़ारों को नहीं छोड़ पाये थे। स्पेनियों द्वारा इन लोगों का देश जीते जाने से उनका सारा स्वतंत्र विकास बीच में ही रुक गया।

पूर्व में बर्बर युग की मध्यम अवस्था उस समय आरम्भ हुई जब लोग दूध और मांस देनेवाले पशुओं का पालन करने लगे। पर मालूम होता है कि पौधों की खेती करने का ज्ञान यहां के लोगों को इस काल में बहुत समय तक नहीं हुआ। ऐसा लगता है कि चौपायों को पालने, और उनकी नस्ल बढ़ाने और पशुओं के बड़े-बड़े झुण्ड बनाने के कारण ही आर्य और सामी लोग अन्य बर्बर लोगों से अलग हो गये थे। यूरोप और एशिया के आर्य पालतू पशुओं के समान नामों का उपयोग करते हैं, पर कृषि योग्य पौधों के नाम आपस में प्रायः नहीं मिलते।

उपयुक्त स्थानों में पशुओं के रेवड़ या झुण्ड बनने से पशुचारी जीवन शुरू हो गया। सामी लोगों ने दजला और फ़रात नदियों के घास के मैदानों में यह जीवन आरम्भ किया, आर्यों ने भारत के मैदानों में, ओक्सस और जक्सारटिस नदियों के और दोन तथा द्नेपर नदियों के मैदानों में इस जीवन की शुरूआत की। जानवरों को पालतू बनाने का काम पहले पहल घास के इन मैदानों की सीमाओं पर ही शुरू हुआ होगा। इसलिये बाद में आनेवाली पीढ़ियों को लगा कि पशुचारी लोगों का उद्भव इन्हीं इलाक़ों में हुआ होगा, जबकि वास्तव में ये इलाक़े ऐसे थे कि वहां मानवजाति के शैशवकाल में उसका पालन-पोषण होना तो दूर रहा, ये इन पीढ़ियों के जांगल पूर्वजों के और यहां तक कि बर्बर युग की निम्न अवस्था के लोगों के भी रहने लायक़ नहीं थे। दूसरी ओर, बर्बर युग की मध्यम अवस्था के लोग एक बार पशुचारी जीवन में प्रवेश करने के बाद यह कभी नहीं सोच सकते थे कि पानी से हरे-भरे घास के इन मैदानों को अपनी इच्छा से छोड़कर वे फिर उन जंगली इलाक़ों में चले जायें जहां उनके पूर्वज रहा करते थे। यहां तक कि जब आर्यों और सामी लोगों को और अधिक उत्तर तथा पश्चिम की ओर खदेड़ दिया गया, तो पश्चिमी एशिया तथा यूरोप के जंगली इलाक़ों में बसना

उन्होंने तब तक असम्भव पाया जब तक अनाज की खेती की बदौलत कम अनुकूल मिट्टी के बावजूद, उनके लिये अपने पशुओं को खिलाना, और, विशेषकर, जाड़ों में भी इन इलाक़ों में रहना सम्भव नहीं हुआ। बहुत सम्भव है कि शुरू में अनाज की खेती पशुओं को खिलाने के लिये चारे की आवश्यकता के कारण ही आरम्भ हुई हो, और बाद में चलकर ही अनाज ने मनुष्यों के भोजन के रूप में महत्त्व प्राप्त किया हो।

आर्यों तथा सामी लोगों के पास भोजन के लिये मांस तथा दूध की प्रचुरता थी, और विशेषकर बच्चों के विकास पर इस भोजन का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता था, शायद इसकी बदौलत से ही इन दो नस्लों का विकास औरों से बेहतर हुआ। वस्तुत: न्यू-मैक्सिको के पुएब्लो इंडियनों का, जो प्राय: पूर्णतया शाकाहारी हैं, मस्तिष्क बर्बर युग की निम्न अवस्था में रहनेवाले उन इंडियनों के मस्तिष्क से छोटा होता है जो बहुत मांस-मछली खाते हैं। बहरहाल, इस अवस्था में नरभक्षण धीरे-धीरे लुप्त हो जाता है, और अगर कहीं-कहीं बाक़ी भी रहता है तो केवल एक धार्मिक रीति के रूप में, या फिर जादू-टोने के रूप में, जो इस अवस्था में क़रीब-क़रीब एक ही चीज़ है।

३. **उन्नत अवस्था।** यह अवस्था लौह खनिज को गलाने से शुरू होती है और अक्षर लिखने की कला का आविष्कार होने तथा लेखन में उसका प्रयोग शुरू होने पर सभ्यता में अंतरित हो जाती है। इस अवस्था में, जिसे, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, स्वतंत्र रूप से केवल पूर्वी गोलार्ध के लोग ही पार कर पाये, उत्पादन की जितनी उन्नति हुई, उतनी पहले की तमाम अवस्थाओं में कुल मिलाकर भी नहीं हुई थी। वीर काल के यूनानी, रोम की स्थापना से कुछ समय पहले के इतालवी क़बीले, तासितुस के ज़माने के जर्मन और वाइकिंगों के काल के नोर्मन लोग इसी अवस्था में रहते थे।

सबसे बड़ी बात यह है कि इस अवस्था में हम पहली बार पालतू पशुओं द्वारा खींचे जानेवाले लोहे के हल का इस्तेमाल पाते हैं। इसकी बदौलत बड़े पैमाने पर खेती – **खेतों की जुताई** – और उस समय की परिस्थितियों में जीवन निर्वाह साधनों में एक तरह से असीम वृद्धि सम्भव हो गयी। इसके साथ-साथ हम लोगों को जंगलों को काट-काटकर उन्हें खेती की तथा चरागाह की ज़मीनों में बदलते हुए देखते हैं, और यह काम भी लोहे की कुल्हाड़ी और लोहे के बेलचे की मदद के बिना बड़े पैमाने पर नहीं हो सकता था। इस सब के साथ-साथ जनसंख्या तेज़ी से बढ़ी और छोटे-छोटे इलाक़ों में घनी बस्तियां आबाद हो गयीं।

जब तक खेतों की जुताई नहीं शुरू हुई थी, तब तक केवल बहुत ही असाधारण परिस्थितियों में पांच लाख आदमी एक केन्द्रीय नेतृत्व के नीचे कभी आये होंगे। ऐसा शायद कभी नहीं हुआ होगा।

होमर की कविताओं में, और विशेषकर 'इलियाड' में, हम बर्बर युग की उन्नत अवस्था को अपने विकास के चरम शिखर पर पाते हैं। लोहे के बने हुए उन्नत औज़ार, धोंकनी, हथचक्की, कुम्हार का चाक, तेल और शराब बनाना, धातुओं के काम का एक कला के रूप में विकास, गाड़ियां और युद्ध के रथ, तख़्तों और धरनों से जहाज़ बनाना, स्थापत्य का एक कला के रूप में प्रारम्भिक विकास, मीनारों और प्राचीरों से युक्त चहारदीवारी से घिरे नगर, होमरीय महाकाव्य और समस्त पुराण–इन्हीं विरासतों को लेकर यूनानियों ने बर्बर युग से सभ्यता के युग में प्रवेश किया था। यदि इसकी तुलना सीज़र के और यहां तक कि तासितुस के उन जर्मनों से संबंधित वर्णनों से करें जो संस्कृति की उस अवस्था के द्वार पर खड़े थे, जिसके शिखर पर पहुंचकर होमर के काल के यूनानी अगली अवस्था में प्रवेश करने की तैयारी कर रहे थे, तो हमें पता चलेगा कि बर्बर युग की उन्नत अवस्था में उत्पादन का कितना अधिक विकास हुआ था।

मौर्गन का अनुसरण करते हुए, जांगल युग तथा बर्बर युग से होकर सभ्यता के आरम्भ तक मानवजाति के विकास का जो चित्र मैंने ऊपर खींचा है, वह अनेक नयी विशेषताओं से भरपूर है। इससे भी बड़ी बात यह है कि ये विशेषताएं निर्विवाद रूप से सत्य हैं, क्योंकि वे सीधे उत्पादन से ली गयी हैं। फिर भी यह चित्र उस चित्र की अपेक्षा धुंधला और मामूली लगेगा, जो हमारी यात्रा के अन्त में अनावृत्त होगा। उसी समय हमारे लिये बर्बर युग से सभ्यता के युग में संक्रमण का पूर्ण चित्र देना और यह दिखलाना संभव होगा कि इन दो युगों के बीच कितना मार्के का अन्तर है। फ़िलहाल, मौर्गन के युग-विभाजन को हम सामान्यीकृत रूप में इस तरह पेश कर सकते हैं: जांगल युग–वह काल जिसमें तत्काल उपभोग्य प्राकृतिक पदार्थों के हस्तगतकरण की प्रधानता थी। मनुष्य मुख्यतया वे ही औज़ार तैयार करता था, जिनसे प्राकृतिक उपज को हस्तगत करने में मदद मिलती थी। बर्बर युग–वह काल जिसमें पशु-पालन तथा खेती करने का ज्ञान प्राप्त हुआ और जिसमें मानव क्रियाशीलता के द्वारा प्रकृति की उत्पादन शक्ति को बढ़ाने के तरीक़े सीखे गये। सभ्यता का युग–वह काल जिसमें प्राकृतिक उपज को और भी उपयोग योग्य बनाने का, सही माने में उद्योग का और कला का ज्ञान प्राप्त किया गया।

२

परिवार

मौर्गन ने, जिन्होंने अपने जीवन का अधिकतर भाग इरोक्वा लोगों के बीच बिताया था – ये लोग अभी तक न्यूयार्क राज्य में रहते हैं – और जिन्हें उनके एक क़बीले (सेनेका क़बीले) ने अंगीकार कर लिया था, इन लोगों में रक्त-सम्बद्धता की एक ऐसी व्यवस्था पायी जो उनके वास्तविक पारिवारिक सम्बन्धों से मेल न खाती थी। इन लोगों में यह नियम था कि एक-एक जोड़ा आपस में विवाह करता था, और दोनों पक्षों में से कोई भी आसानी से विवाह को भंग कर सकता था। मौर्गन इस व्यवस्था को "युग्म-परिवार" कहते थे। ऐसे किसी विवाहित जोड़े की सन्तान को सब लोग जानते-मानते थे, इसलिये इसमें तनिक भी सन्देह नहीं हो सकता था कि किसको किसका पिता, माता, पुत्र, पुत्री, भाई या बहन कहना चाहिये। पर वास्तव में इन शब्दों का प्रयोग बिल्कुल उल्टे ढंग से होता था। इरोक्वा पुरुष न सिर्फ़ अपने बच्चों को, बल्कि अपने भाइयों के बच्चों को भी पुत्र और पुत्री कहता है, और वे उसे पिता कहते हैं। दूसरी ओर, वह अपनी बहनों के बच्चों को अपना भांजा और भांजी कहता है और वे उसे मामा कहते हैं। इसी तरह, इरोक्वा स्त्री स्वयं अपने बच्चों के साथ-साथ अपनी बहनों के बच्चों को भी पुत्र और पुत्री कहती है, और वे उसे माता कहते हैं। दूसरी ओर, वह अपने भाइयों के बच्चों को भतीजा और भतीजी कहती है, और वह स्वयं उनकी बुआ कहलाती है। इसी प्रकार, भाइयों के बच्चे एक दूसरे को भाई-बहन कहते हैं, और बहनों के बच्चे भी एक दूसरे को यही कहकर पुकारते हैं। इसके विपरीत एक स्त्री के बच्चे और उसके भाई के बच्चे एक दूसरे को ममेरे-फुफेरे भाई-बहन कहते हैं। ये केवल कोरे नाम नहीं हैं, बल्कि इन नामों से रक्त-सम्बन्ध के नैकट्य, संपार्श्विकता, समानता और असमानता के बारे में जो विचार प्रकट होते हैं, उनका वास्तव में चलन है। और इन विचारों के आधार पर रक्त-सम्बन्ध की एक पूरी विशद व्यवस्था टिकी हुई है जिसके द्वारा एक व्यक्ति के सैकड़ों प्रकार के भिन्न सम्बन्धों को बताया जा सकता है। इसके अलावा, यह व्यवस्था न सिर्फ़ सभी अमरीकी इंडियनों में पूरे तौर पर लागू पायी जाती है (अभी तक इसका कोई अपवाद नहीं मिला है), बल्कि भारत के आदिवासियों में, दक्षिण भारत में रहनेवाले द्रविड क़बीलों

में और हिन्दुस्तान में रहनेवाले गौड़ क़बीलों में भी लगभग अपरिवर्तित रूप में पायी जाती है। दक्षिण भारत के तमिल लोगों में तथा न्यूयार्क राज्य के सेनेका क़बीले के इरोक्वा लोगों में पाये जानेवाले रक्त-सम्बन्धों के रूप आज भी दो सौ से अधिक भिन्न-भिन्न रिश्तों के बारे में बिलकुल एक से हैं। और अमरीकी इंडियनों की ही भांति भारत के इन क़बीलों में भी परिवार के प्रचलित रूप से पैदा होनेवाले सम्बन्ध रक्त-सम्बद्धता की व्यवस्था के उल्टे हैं।

इसका क्या कारण हो सकता है? जांगल युग तथा बर्बर युग में सभी जनगण की समाज व्यवस्था में रक्त-सम्बन्धों का जो निर्णायक महत्त्व होता है, उसको देखते हुए इतनी व्यापक रूप से प्रचलित व्यवस्था के महत्त्व को केवल शब्दजाल रचकर नहीं बताया जा सकता। जो व्यवस्था सामान्यत: सारे अमरीका में फैली हुई है, जो एशिया की एक बिल्कुल दूसरी नस्ल के लोगों में भी पायी जाती है, और जिसके न्यूनाधिक परिवर्तित रूप अफ़्रीका और आस्ट्रेलिया में हर जगह ख़ूब देखने को मिलते हैं, उसका ऐतिहासिक कारण बताना आवश्यक है। उसे इस तरह नहीं बताया जा सकता जिस तरह, मिसाल के लिये, मैक-लेनन ने कोशिश की है। पिता, सन्तान, भाई और बहन कोरे औपचारिक नाम नहीं, वरन् वे बिल्कुल ही निश्चित प्रकार के तथा अत्यन्त गम्भीर पारस्परिक कर्त्तव्यों के द्योतक हैं, जो अपने समग्र रूप में इन जनगण की समाज व्यवस्था के मूलभूत अंग हैं। और यह कारण ढूंढ़ लिया गया। सैंडविच द्वीप (हवाई) में वर्तमान शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही परिवार का एक ऐसा रूप मौजूद था, जिसमें ऐसे ही मां-बाप, भाई-बहन, बेटा-बेटी, चाचा-चाची, भतीजा-भतीजी होते थे जैसे कि रक्त-सम्बद्धता की अमरीकी तथा प्राचीन भारतीय व्यवस्था द्वारा अपेक्षित हैं। लेकिन अजीब बात यह है कि हवाई में प्रचलित रक्त-सम्बद्धता की व्यवस्था वहां मौजूद परिवार के वास्तविक रूप से फिर अनमेल निकली। वहां बहनों और भाइयों के सभी लड़के-लड़कियां निरपवाद रूप से भाई-बहन समझे जाते हैं और वे अपनी मां और उसकी बहनों या अपने बाप और उसके भाइयों की ही नहीं, बल्कि अपने मां-बाप के सभी भाइयों और बहनों की समान रूप से सन्तान समझे जाते हैं। इस प्रकार जहां एक ओर रक्त-सम्बद्धता की अमरीकी व्यवस्था परिवार के एक अधिक प्राचीन रूप की ओर संकेत करती है जिसका अस्तित्व अमरीका में तो अब लुप्त हो गया है परन्तु जो हवाई में दरअसल अब भी क़ायम है, वहीं, दूसरी ओर हवाई में रक्त-सम्बद्धता की व्यवस्था परिवार के एक और भी आदिम रूप की ओर इंगित करती है, जिसके बारे में यद्यपि यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि इस समय भी

उसका कहीं अस्तित्व है, तथापि यह मानना होगा कि उसका अस्तित्व अवश्य ही रहा होगा, अन्यथा उसके अनुरूप रक्त-सम्बद्धता की व्यवस्था का आविर्भाव नहीं हो सकता। इस संबंध में मौर्गन कहते हैं–

"परिवार एक सक्रिय स्रोत है। वह कभी भी स्थिर तथा गतिशून्य नहीं होता, बल्कि निम्न रूप से सदा उच्चतर रूप की ओर अग्रसर होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार पूरा समाज निम्न से उच्चतर अवस्था की ओर बढ़ता है। इसके विपरीत रक्त-सम्बद्धता की व्यवस्थाएं निष्क्रिय हैं–भिन्न-भिन्न कालों में, जिनके बीच समय का लम्बा व्यवधान होता है, परिवार ने जो प्रगति की है, उसे ये व्यवस्थाएं व्यक्त करती हैं और ये मौलिक रूप से तभी बदलती हैं जब परिवार में मौलिक परिवर्तन हो चुका होता है।"

मार्क्स इस पर कहते हैं: "और यही बात राजनीतिक, क़ानूनी, धार्मिक तथा दार्शनिक प्रणालियों पर भी लागू होती है।" परिवार तो जीवित अवस्था में रहता है, पर रक्त-सम्बद्धता की व्यवस्था जड़ीभूत हो जाती है। रक्त-सम्बद्धता की व्यवस्था जबकि रूढ़िबद्ध रूप में विद्यमान रहती है, तब परिवार विकसित होकर उससे बड़ा हो जाता है। लेकिन जिस प्रकार पेरिस के नज़दीक प्राप्त एक पशु-कंकाल की शिशुधानी की हड्डियों से कुविए निश्चयपूर्वक इस निष्कर्ष पर पहुंच सका कि यह कंकाल किसी शिशुधानी पशु का है, और इस प्रकार के पशु जो अब नहीं मिलते, उस क्षेत्र में कभी रहा करते थे, उसी प्रकार इतिहास क्रम में प्राप्त रक्त-सम्बद्धता की व्यवस्था से हम भी उतने ही निश्चयपूर्वक यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इस व्यवस्था के अनुरूप परिवार का रूप जो अब नहीं मिलता, कभी मौजूद था।

रक्त-सम्बद्धता की वे व्यवस्थाएं और परिवार के वे रूप जिनका हमने अभी जिक्र किया, आजकल प्रचलित व्यवस्थाओं और रूपों से इस बात में भिन्न हैं कि उनमें हर बच्चे के कई माता-पिता होते थे। रक्त-सम्बद्धता की अमरीका में पायी जानेवाली व्यवस्था के अनुसार, जिससे मिलता-जुलता परिवार का रूप हवाई में मौजूद है, भाई और बहन एक ही बच्चे के पिता और माता नहीं हो सकते। परन्तु इसके विपरीत, हवाई में पायी जानेवाली रक्त-सम्बद्धता की व्यवस्था के लिये परिवार का ठीक ऐसा ही रूप पूर्वमान्य है जिसमें यह नियम था कि भाई-बहन एक ही बच्चे के पिता-माता हुआ करते थे। अतएव, परिवार के कई ऐसे

रूप हमारे सामने आते हैं जो उन रूपों के बिल्कुल उल्टे हैं जिन्हें अभी तक एकमात्र प्रचलित रूप माना जाता था। परम्परा केवल एकनिष्ठ विवाह प्रथा, साथ ही कुछ पुरुषों में व्यक्तिगत रूप से बहु-पत्नी प्रथा और शायद कुछ स्त्रियों में बहु-पति प्रथा को भी स्वीकार करती है। परन्तु वह इस सच्चाई पर पर्दा डालना चाहती है – जैसा कि सदाचार का उपदेश देनेवाले कूपमण्डूक प्राय: किया करते हैं – कि अधिकृत समाज द्वारा लगाये गये बंधनों को व्यवहार में लोग ख़ामोशी के साथ, पर बिना किसी संकोच के, प्राय: तोड़ते रहते हैं। पर इसके विपरीत, आदिम समाज के इतिहास का अध्ययन हमें ऐसी अवस्थाओं की सूचना देता है जिनमें एक पुरुष अनेक पत्नियों के साथ रहता था और साथ ही उनमें से हर पत्नी के कई-कई पति होते थे। और इसलिये सब की सन्तानों को सब पुरुषों और सब स्त्रियों की समान रूप से सन्तान समझा जाता था। इतिहास का अध्ययन साथ ही हमें यह भी बताता है कि ख़ुद इन अवस्थाओं में बहुत-से परिवर्तन होते हैं, और उस वक़्त तक होते रहते हैं जब तक कि अन्त में ये अवस्थाएं एकनिष्ठ विवाह प्रथा में तिरोहित नहीं हो जातीं। ये परिवर्तन इस प्रकार के होते हैं कि समान विवाह के बंधन से बंधे हुए लोगों का दायरा – जो शुरू में बहुत फैला हुआ था – अधिकाधिक छोटा होता जाता है, यहां तक कि अन्त में सिर्फ़ एक जोड़ा बच रहता है, जिसकी आजकल प्रधानता है।

इस प्रकार परिवार के पिछले इतिहास की पुन:रचना करते हुए मौर्गन अपने अधिकतर सहयोगियों की सहमति से उस आदिम अवस्था पर पहुंचे थे जिसमें एक क़बीले के अन्दर अनियंत्रित यौन-सम्बन्ध होते थे और हर स्त्री पर हर पुरुष का, और उसी प्रकार हर पुरुष पर हर स्त्री का समान रूप से अधिकार होता था। ऐसी आदिम अवस्था की चर्चा पिछली शताब्दी से ही होती आ रही है, परन्तु बहुत ही मोटे तौर पर। पहले पहल बाख़ोफ़ेन ने ही इस अवस्था की संभावना की ओर गम्भीर ध्यान दिया और ऐतिहासिक तथा धार्मिक परम्पराओं में उसके चिह्नों को खोजने की कोशिश की, और यह उनकी एक बड़ी ख़िदमत थी। आज हम जानते हैं कि जिन चिह्नों को उन्होंने ढूंढ़ा था वे उस सामाजिक अवस्था की सूचना बिल्कुल नहीं देते जिसमें अनियंत्रित यौन-सम्बन्ध पाये जाते थे, बल्कि उसके बहुत बाद की उस अवस्था की सूचना देते हैं जिसमें यूथ-विवाह होता था। यह आदिम सामाजिक अवस्था, यदि वह सचमुच कभी थी भी, तो इतने पुराने किसी युग में थी कि अब हम अतीत में उसके अस्तित्व का कोई **प्रत्यक्ष** सबूत सामाजिक पुरावशेषों, पिछड़े हुए जांगल लोगों में, पाने की आशा नहीं कर सकते। इसका

श्रेय बाख़ोफ़ेन को ही है कि उन्होंने इस प्रश्न को अन्वेषण का एक मुख्य प्रश्न बना दिया।*

कुछ दिनों से यह कहना फ़ैशन सा हो गया है कि मानवजाति के यौन-जीवन के इतिहास में इस प्रारम्भिक अवस्था का अस्तित्व ही न था। उद्देश्य यह है कि मानवजाति इस "कलंक" से बच जाये। कहा जाता है कि ऐसी अवस्था का कहीं कोई प्रत्यक्ष सबूत नहीं मिलता। इसके अलावा ख़ास तौर पर बाक़ी पशु-लोक की दुहाई दी जाती है। इसी प्रेरणावश लेतूर्नो ने ('विवाह और परिवार का विकास', १८८८) ऐसे बहुत-से तथ्यों को जमा किया जिनसे सिद्ध होता था कि पशु-लोक में भी नीचे की अवस्था में ही पूर्ण रूप से अनियंत्रित यौन-सम्बन्ध पाये जाते हैं। परन्तु इन तमाम तथ्यों से मैं केवल एक ही परिणाम निकाल सकता हूं। वह यह कि जहां तक मनुष्य का और उसकी आदिम जीवनावस्था का सम्बन्ध है, इन तथ्यों से कुछ भी सिद्ध नहीं होता। यदि कशेरुक पशु लम्बे समय तक युग्म-जीवन व्यतीत करते हैं, तो इसके पर्याप्त शरीरक्रियात्मक कारण हो सकते हैं। उदाहरण के लिये, पक्षियों में मादा को अंडे सेने के दिनों में मदद की ज़रूरत होती है। वैसे भी पक्षियों में दृढ़ एकनिष्ठ परिवार के उदाहरणों से मनुष्य के बारे में कुछ भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि मनुष्य पक्षियों के वंशज नहीं हैं। और यदि एकनिष्ठ यौन-सम्बन्ध को ही नैतिकता की पराकाष्ठा समझा जाये तो हमें टेपवर्म

---

*बाख़ोफ़ेन ने जिस चीज़ की खोज की थी, बल्कि कहना चाहिए जिस चीज़ का अनुमान लगाया था, उसको उन्होंने कितना कम समझा था इसका एक सबूत यह है कि उन्होंने इस आदिम अवस्था को **हैटेरिज़्म** कहा था। यह एक यूनानी शब्द है जिसे यूनानियों ने हैटेराओं के साथ, अविवाहित स्त्रियों के साथ अविवाहित अथवा एकपत्नीत्व की स्थिति में रहनेवाले पुरुषों का यौन-सम्बन्ध व्यंजित करने के लिये प्रयुक्त किया था। इसका सदा यह मतलब होता था कि समाज में विवाह का एक विशेष रूप मौजूद है और यह यौन-सम्बन्ध उसकी सीमाओं के बाहर हो रहा है; और उसमें वेश्यावृत्ति भी, कम से कम एक सम्भावना के रूप में, निहित थी। और किसी अर्थ में इस शब्द का कभी प्रयोग नहीं हुआ। मैं भी, मौर्गन के साथ-साथ, इसी अर्थ में उसका प्रयोग करता हूं। बाख़ोफ़ेन की अति महत्त्वपूर्ण खोजें प्रायः उनके इस अजीबोग़रीब विचार के रहस्यमय आवरण में लिपटी हुई मिलती हैं कि इतिहास की विभिन्न अवस्थाओं में पुरुष और स्त्री के जो सम्बन्ध मिलते हैं, वे मनुष्यों के जीवन की वास्तविक परिस्थितियों से नहीं, बल्कि उनके तत्कालीन धार्मिक विचारों से उत्पन्न हुए थे।

को सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिए, जिसके शरीर के ५० से २०० तक देहखंडों या भागों में से प्रत्येक में नर और मादा दोनों प्रकार का पूरा लैंगिक उपकरण होता है, और जिसका पूरा जीवन, इन भागों में से प्रत्येक में, स्वयं अपने साथ सहवास करने में बीतता है। लेकिन, यदि हम केवल स्तनधारी पशुओं पर विचार करें, तो हमें उनमें हर प्रकार का यौन-जीवन मिलता है। अनियंत्रित यौन-सम्बन्ध, यूथ-सम्बन्ध के चिह्न, एक नर-पशु का अनेक मादा-पशुओं से यौन-सम्बन्ध और एकनिष्ठ यौन-सम्बन्ध – ये सभी रूप उनमें दिखायी देते हैं। केवल एक रूप – एक मादा-पशु का अनेक नर-पशुओं से यौन सम्बन्ध – उनमें नहीं मिलता। इस रूप तक केवल मनुष्य ही पहुंच सके। हमारे निकटतम सम्बन्धी, चतुर्हस्त प्राणियों में भी, नर और मादा के सम्बन्धों में हद दर्जे की विभिन्नता पायी जाती है। और यदि हम अपने दायरे को और भी सीमित करना चाहें और केवल चार तरह के पुरुषाभ वानरों पर विचार करें, तो लेतूर्नो से हमें ज्ञात हो सकता है कि वे कभी एकनिष्ठ यौन-जीवन व्यतीत करते हैं तो कभी बहुनिष्ठ और सोस्सुरे, जिन्हें जिरो-त्यूलों ने उद्धृत किया है, कहते हैं कि वे एकनिष्ठ ही होते हैं। हाल में प्रकाशित 'मानव विवाह का इतिहास' (लंदन, १८९१) में वेस्टरमार्क के इस दावे को भी कि पुरुषाभ वानरों में एकनिष्ठ यौन-जीवन की प्रवृत्ति पायी जाती है, कोई बहुत बड़ा सबूत नहीं माना जा सकता। संक्षेप में, ये सारी रिपोर्टें इस प्रकार की हैं कि ईमानदार लेतूर्नो को स्वीकार करना पड़ता है कि

"स्तनधारी पशुओं में बौद्धिक विकास के स्तर तथा यौन-सम्बन्ध के रूप में कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं पाया जाता।"

और एस्पिनास ने ('पशु समाज', १८७७) तो साफ़-साफ़ कह डाला है कि

"पशुओं में दिखायी पड़नेवाला सर्वोच्च सामाजिक रूप यूथ होता है। लगता है कि यूथ परिवारों को मिलाकर बना है, पर शुरू से ही **परिवार तथा यूथ के बीच एक विरोध बना रहता है**, वे एक दूसरे के उल्टे अनुपात में बढ़ते हैं।"

ऊपर की बातों से स्पष्ट हो जाता है कि हम पुरुषाभ वानरों के परिवार तथा अन्य सामाजिक समूहों के बारे में निश्चित रूप से लगभग कुछ नहीं जानते। रिपोर्टें एक दूसरे की उल्टी हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है।

मानवजाति के जांगल क़बीलों तक के बारे में भी हमें जो रिपोर्टें मिली हैं, वे भी बहुत-सी बातों में एक दूसरे की कितनी उल्टी हैं, और अभी उनका आलोचनात्मक अध्ययन तथा छानबीन करने की कितनी ज़रूरत है! फिर वानर समूहों का अध्ययन करना तो मानव समूहों से कहीं अधिक कठिन है। इसलिये फ़िलहाल, हमें ऐसी एकदम अविश्वसनीय रिपोर्टों से निकाले गये हर परिणाम को नामंज़ूर कर देना चाहिये।

लेकिन, एस्पिनास की पुस्तक का जो अंश हमने ऊपर उद्धृत किया है, उससे हमें एक अच्छा सुराग़ मिलता है। उन्होंने कहा है कि उच्चतर पशुओं में यूथ और परिवार एक दूसरे के पूरक नहीं होते, बल्कि विरोधी होते हैं। एस्पिनास ने बड़े स्पष्ट ढंग से इसका वर्णन किया है कि मैथुन-ऋतु आने पर नर-पशुओं की ईर्ष्या भावना किस प्रकार यूथ एकता को शिथिल कर देती है, या उसे अस्थायी रूप से भंग कर देती है।

"जहां परिवार घनिष्ठ रूप से एकजुट है, वहां यूथ शायद ही कभी अपवादस्वरूप पाया जाता हो। दूसरी ओर, जहां स्वच्छन्द यौन-सम्बन्ध या नर-पशु का अनेक मादा-पशुओं के साथ सम्बन्ध सामान्यतः पाया जाता है, वहां लगभग स्वाभाविक रूप से यूथ का आविर्भाव होता है... यूथ के आविर्भूत होने के लिये आवश्यक होता है कि परिवार के सम्बन्ध ढीले पड़ गये हों और व्यष्टि फिर स्वतंत्र हो गयी हो। इसीलिये पक्षियों में संगठित वृन्द बहुत कम देखने में आते हैं... दूसरी ओर, चूंकि स्तनधारी पशुओं में पशु परिवार में विलीन नहीं हो जाता, इसीलिये उनमें कमोबेश संगठित समूह पाये जाते हैं... अतएव यूथ की सामूहिक भावना (सामूहिक अन्तःकरण) का, उसके जन्म के समय, परिवार की सामूहिक भावना से बड़ा शत्रु और कोई नहीं हो सकता। हमें यह कहने में हिचकिचाना नहीं चाहिए कि यदि परिवार से ऊंचा कोई सामाजिक रूप विकसित हो पाया है, तो उसका केवल एक यही कारण हो सकता है कि उस रूप में ऐसे परिवार समाविष्ट हुए जिनमें बुनियादी परिवर्तन हो चुका था। और इस बात से यह सम्भावना नष्ट नहीं हो जाती कि ठीक इसी कारण ये परिवार, बाद में पहले से कहीं अधिक अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न होने पर, फिर अपनी रचना करने में सफल हुए।" (एस्पिनास, उपरोक्त पुस्तक, जिरो-त्यूलों द्वारा, १८८४ में प्रकाशित 'विवाह और परिवार की उत्पत्ति' में, पृष्ठ ५१८–५२० पर उद्धृत।)

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव समाजों के बारे में निष्कर्ष निकालने के लिये पशु समाजों का निस्संदेह कुछ महत्त्व है, पर वह केवल नकारात्मक

प्रकार का महत्त्व है। जहां तक हम पता लगा सके हैं, उच्चतर कशेरुकदंडियों में केवल दो प्रकार के परिवार होते हैं: अनेक मादा-पशुओं के साथ एक नर का परिवार, अथवा एक-एक युग्म। दोनों सूरतों में नर केवल **एक** हो सकता है, यानी पति सिर्फ़ **एक** हो सकता है। नर की ईर्ष्या भावना, जो परिवार का सम्बन्ध-सूत्र है और उसकी सीमा भी, पशु-परिवार को यूथ का विरोधी बना देती है। यूथ, जो उच्चतर सामाजिक रूप है, कहीं पर बिल्कुल असम्भव हो जाता है, कहीं पर ढीला पड़ जाता है या मैथुन-ऋतु आने पर एकदम टूट जाता है; और अनुकूल परिस्थितियों में नर की ईर्ष्या के कारण उसके आगे के विकास में बाधा पड़ती है। इसी एक बात से सिद्ध हो जाता है कि पशु-परिवार और आदिम मानव समाज, ये दो अनमेल चीज़ें हैं। पशु अवस्था से ऊपर उठते हुए मनुष्य को या तो परिवार का कोई ज्ञान नहीं था, और यदि था भी तो ऐसे परिवार का जो पशुओं में नहीं पाया जाता। वह निहत्था जीव जो मानव अवस्था में प्रवेश कर रहा था, समूहशीलता के उच्चतम रूप--पृथक युग्मों के रूप में भी छोटी संख्या में जीवित रह सकता था जैसे कि वेस्टरमार्क ने शिकारियों की रिपोर्टों के आधार पर गोरिला और चिम्पांज़ी वानरों के बारे में कहा। परन्तु पशु अवस्था से निकलने के लिये, प्रकृति में ज्ञात इस सबसे महान प्रगति के लिये एक और तत्त्व की आवश्यकता थी। उसके लिये आवश्यक था कि व्यष्टि की अपनी रक्षा करने की अपर्याप्त शक्ति का स्थान यूथ की सामूहिक शक्ति और संयुक्त प्रयत्न ले ले। पुरुषाभ वानर आजकल जिन परिस्थितियों में रहते हैं, वैसी ही परिस्थितियों से मानव अवस्था में संक्रमण एकदम असम्भव होता। ये वानर तो विकास के मुख्य क्रम से अलग हो गयी एक ऐसी शाखा प्रतीत होते हैं, जो अब लुप्त हो जाने को है, या जो कम से कम, पतनोन्मुख अवस्था में है। अतएव, उनके परिवारों के रूपों में और आदिम मानव के परिवारों के रूपों में देखी गयी समानता के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं, उन्हें नामंजूर कर देने के लिये यही अकेला कारण पर्याप्त है। केवल बड़े-बड़े और स्थायी यूथों में रहते हुए ही पशु अवस्था से मानव अवस्था में संक्रमण संभव था। और इन यूथों के निर्माण की पहली शर्त यह थी कि वयस्क नरों के बीच पारस्परिक सहनशीलता हो और वे ईर्ष्या भावना से मुक्त हों। और वस्तुतः परिवार का वह सबसे पुराना, सबसे आदिम रूप कौनसा है, जिसका इतिहास में अकाट्य प्रमाण मिलता है और जो आज भी कहीं-कहीं देखने में आता है? वह है यूथ-विवाह का रूप, जिसमें पुरुषों के एक पूरे दल का नारियों के एक पूरे दल के साथ सम्बन्ध होता है, और

जिसमें ईर्ष्या भावना के लिए नहीं के बराबर स्थान होता है। फिर विकास की एक आगे की मंज़िल में हम बहु-पति विवाह की असाधारण प्रथा पाते हैं, जो ईर्ष्या भावना के और भी अधिक विरुद्ध है, और इसलिये जो पशुओं में बिल्कुल ही नहीं पायी जाती। परन्तु यूथ-विवाह के जिन रूपों की हमें जानकारी है, उनके साथ ऐसी पेचीदा परिस्थितियां जुड़ी हुई हैं कि लाजिमी तौर पर उनसे यह प्रकट होता है कि उनके पहले यौन-सम्बन्धों के कुछ अधिक सरल रूप प्रचलित थे। और इस प्रकार अन्ततोगत्वा उनसे अनियंत्रित यौन-सम्बन्धों के एक युग का संकेत मिलता है, जो वही युग था जब पशु अवस्था से मानव अवस्था में संक्रमण हो रहा था। इसलिये, पशुओं में पाये जानेवाले यौन-सम्बन्धों के रूपों का अध्ययन करने पर हम फिर उसी बिन्दु पर लौट आते हैं, जिस बिन्दु से हमें यह अध्ययन अंतिम रूप से हटा देनेवाला था।

अस्तु, अनियंत्रित यौन-सम्बन्ध का क्या अर्थ है? इसका अर्थ यह है कि आजकल यौन-सम्बन्ध पर जो प्रतिबंध लगे हुए हैं, या जो पहले ज़माने में लगे हुए थे, वे तब नहीं थे। ईर्ष्या ने जो प्राचीर खड़ी की थी, उसको ढहते हुए हम देख चुके हैं। यदि कोई बात निश्चित है तो यह कि ईर्ष्या की भावना अपेक्षाकृत विलंब से विकसित हुई। यही बात अगम्यागमन की धारणा पर लागू होती है। शुरू में न केवल भाई-बहन पति-पत्नी के रूप में रहते थे, बल्कि अनेक जनों में आज भी माता-पिता और उनकी सन्तानों के बीच यौन-सम्बन्ध की इजाज़त है। बैंक्रोफ़्ट ने ('उत्तरी अमरीका के प्रशान्त सागरीय राज्यों की आदिवासी नस्लें', १८७५, खंड १) बताया है कि यह बेरिंग जलडमरूमध्य के कावियट लोगों में, अलास्का के नज़दीक रहनेवाले काडियक लोगों में, और ब्रिटिश उत्तरी अमरीका के अन्दरूनी प्रदेश में रहनेवाले टिनेह लोगों में अब भी पाया जाता है। लेतूर्नो ने ऐसे तथ्यों से सम्बन्धित रिपोर्टें चिप्पेवा क़बीले के अमरीकी इंडियनों, चिली के रहनेवाले कूकू लोगों, कैरीबियन लोगों और हिन्दचीन के कारेन लोगों के बारे में जमा की हैं। पार्थवों, फ़ारसियों, शकों और हूणों आदि के बारे में जो वर्णन प्राचीन यूनानियों तथा रोमन लोगों में मिलते हैं, उनका तो ज़िक्र ही क्या। अगम्यागमन का आविष्कार होने के पहले (और है यह एक आविष्कार ही, और वह भी अत्यन्त मूल्यवान) माता-पिता तथा उनकी सन्तान के बीच यौन-सम्बन्ध दो अलग-अलग पीढ़ियों के अन्य व्यक्तियों के यौन-सम्बन्ध से अधिक घृणास्पद नहीं हो सकता था। दो भिन्न पीढ़ियों के व्यक्तियों के बीच ऐसा यौन-सम्बन्ध तो आज दक़ियानूसी देशों में भी पाया जाता है और लोग उस

पर बहुत ज़्यादा नाक-भौं नहीं सिकोड़ते। बल्कि सच तो यह है कि साठ वर्ष से ऊपर की बूढ़ी "कुमारियां" तक कभी-कभी, यदि उनके पास काफ़ी दौलत होती है, तीस वर्ष के क़रीब के नौजवानों से विवाह करती देखी जाती हैं। परिवार के उन सबसे आदिम रूपों से, जिनकी हमें जानकारी है, यदि हम अगम्यागमन की धारणाओं को–जो हमारी अपनी धारणाओं से बिल्कुल भिन्न और प्रायः उनकी उल्टी हैं–अलग कर दें, तो यौन-सम्बन्ध का ऐसा रूप रह जाता है जिसे केवल अनियंत्रित ही कहा जा सकता है–अनियंत्रित इस माने में कि उस पर अभी वे बंधन नहीं लगे थे जो बाद में रीति-रिवाजों ने लगा दिये। इसका अर्थ आवश्यक रूप से यह नहीं होता कि यौन-सम्बन्धों के मामले में रोज़ाना गड़बड़ी रहती थी। अस्थायी काल के लिये पृथक युग्मों का अस्तित्व वर्जित न था, बल्कि सच तो यह है कि यूथ-विवाह में भी अब अधिकतर ऐसे ही युग्म देखने में आते हैं। यदि वेस्टरमार्क की, जो यौन-सम्बन्धों के इस आदिम रूप को मानने से इनकार करनेवालों की जमात में सबसे नये शरीक होनेवालों में हैं, विवाह की परिभाषा यह है कि जहां कहीं पुरुष और नारी बच्चा पैदा होने के समय तक साथ रहते हैं, वही विवाह है, तो कहा जा सकता है कि इस प्रकार का विवाह स्वच्छन्द यौन-सम्बन्धों की परिस्थितियों में भी आसानी से हो सकता था, और उससे स्वच्छन्दता में, अर्थात् यौन-सम्बन्धों पर रीति-रिवाजों के बनाये हुए बंधनों के अभाव की स्थिति में, कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। निस्संदेह वेस्टरमार्क यह दृष्टिकोण लेकर चलते हैं कि

"स्वच्छन्द यौन-सम्बन्धों का अर्थ व्यक्तिगत इच्छाओं का दमन है", और इसलिए "उसका सबसे सच्चा रूप वेश्यावृत्ति है"।

इसके विपरीत मेरा विचार यह है कि जब तक हम आदिम परिस्थितियों को चकलाघर के चश्मों से देखना बन्द नहीं करेंगे, तब तक हम उन्हें ज़रा भी नहीं समझ पायेंगे। यूथ-विवाह पर विचार करते समय हम इस बात का फिर ज़िक्र करेंगे।

मौर्गन के अनुसार, स्वच्छन्द यौन-सम्बन्धों की इस आदिम अवस्था से, शायद बहुत शुरू में ही, परिवार के इन रूपों का विकास हुआ था:

१. रक्त-सम्बद्ध परिवार–यह परिवार की पहली अवस्था है। यहां विवाह पीढ़ियों के अनुसार यूथों में होता है। परिवार की सीमा के अन्दर सभी दादा-

दादियां एक दूसरे के पति-पत्नी होते हैं। उनके बच्चों की, यानी माताओं और पिताओं की भी यही स्थिति होती है। और उनके बच्चों से फिर समान पति-पत्नियों का एक तीसरा दायरा तैयार हो जाता है। इनके बच्चे—पहली पीढ़ी के परपोते और परपोतियां—चौथे दायरे के पति-पत्नी होते हैं। इस प्रकार, परिवार के इस रूप में (हमारी आजकल की भाषा में) केवल पूर्वज और वंशज, यानी माता-पिता और उनके बच्चे एक दूसरे के साथ विवाह के अधिकार तथा ज़िम्मेदारियां ग्रहण नहीं कर सकते। सगे भाई-बहन, पास के और दूर के चचेरे, फुफेरे, ममेरे भाई-बहन, सब एक दूसरे के भाई-बहन होते हैं और **ठीक इसीलिये** वे सब एक दूसरे के पति-पत्नी होते हैं। इस अवस्था में, भाई-बहन के सम्बन्ध में यह बात शामिल है कि वे एक दूसरे के साथ हस्ब मामूल संभोग करते हैं।*

---

*वैगनर के 'निबेलुंग' पाठ में आदिम काल का जो एकदम झूठा वर्णन दिया गया है, उसके बारे में मार्क्स ने एक पत्र में बहुत ही कड़े शब्दों में अपना मत प्रकट किया है। यह पत्र उन्होंने १८८२ के वसन्त में लिखा था।[7] "वधू के रूप में भाई अपनी बहन का आलिंगन करे, यह कथा क्या किसी ने कभी सुनी है?"[8] वैगनर के इन "विलासी देवताओं को", जो काफ़ी आधुनिक ढंग से अपने प्रेम-व्यापार में कौटुम्बिक व्यभिचार का भी थोड़ा-सा पुट दिया करते थे, मार्क्स ने यह उत्तर दिया था: "आदिम काल में बहन ही पत्नी **हुआ करती थी और उस समय यही नैतिक था।" (१८८४ के संस्करण में एंगेल्स की टिप्पणी।)**

एक फ़ांसीसी मित्र (बोन्ये) और वैगनर के प्रशंसक इस टिप्पणी से सहमत नहीं हैं। वह इस बात की ओर संकेत करते हैं कि 'प्राचीन एड्डा'—'ओगिस्द्रेका'[9] में, जिसे वैगनर ने अपने मॉडल के रूप में लिया था, लोकी इन शब्दों में फ़्रिया को उलाहना देता है: "तूने अपने भाई का देवताओं के सामने आलिंगन किया है।" उनका दावा है कि उस वक़्त तक भाई और बहन का विवाह वर्जित हो चुका था। 'ओगिस्द्रेका' काव्य उस काल का प्रतिबिम्ब है जबकि पौराणिक गाथाओं में लोगों को ज़रा भी विश्वास नहीं रह गया था। वह देवताओं पर बिल्कुल लूकियन नुमा व्यंग्य है। यदि लोकी मेफ़िस्टोफ़ीलीस की तरह इस प्रकार फ़्रिया को उलाहना देता है, तो यह बात वैगनर के ख़िलाफ़ पड़ती है। इस काव्य में थोड़ा और आगे न्योर्द्र से लोकी यह भी कहता है कि "अपनी बहन की कोख से तुमने (ऐसा) एक पुत्र पैदा किया" (vidh systur thinni gaztu slikan mög)। पर न्योर्द्र आसा नहीं, बल्कि वाना गण का था और 'इंगलिंग वीर-गाथा' में वह कहता है कि वाना देश में भाइयों और बहनों की शादियों का चलन था, लेकिन आसाओं में ऐसी प्रथा नहीं थी।[10] इससे यह प्रतीत होता है कि वाना आसाओं से अधिक पुराने देवता थे। बहरहाल, न्योर्द्र आसाओं के बीच बराबरी के दर्जे पर रहता था और इसलिये 'ओगिस्द्रेका' से असल में यही सिद्ध होता है कि जिस समय नारवे में

ऐसे एक ठेठ परिवार में एक माता-पिता के वंशज होंगे और फिर उनमें प्रत्येक पीढ़ी के ये वंशज, सब के सब, एक दूसरे के भाई-बहन होंगे और ठीक इसी कारण वे सब एक दूसरे के पति-पत्नी भी होंगे।

रक्त-सम्बद्ध परिवार मिट गया है। सबसे घोर वन्य लोगों में भी, जिनका इतिहास को ज्ञान है, परिवार के इस रूप का कोई ऐसा सबूत नहीं मिलता जिसकी जांच की जा सके। परन्तु हवाई द्वीपसमूह में पायी जानेवाली रक्त-सम्बद्धता की व्यवस्था, जो आज भी पोलिनेशिया के सभी द्वीपों में प्रचलित है, हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचने को बाध्य कर देती है कि परिवार का यह रूप कभी **जरूर रहा होगा।** उसमें रक्त-सम्बद्धता के ऐसे दर्जे मिलते हैं जो परिवार के इस रूप के अन्तर्गत ही उत्पन्न हो सकते हैं। और परिवार का आगे का विकास भी, जोकि इस रूप को एक आवश्यक प्रारम्भिक अवस्था मानकर ही चलता है, हमें इस नतीजे पर पहुंचने को मजबूर करता है।

२. पुनालुआन परिवार। यदि परिवार के संगठन में प्रगति का पहला क़दम यह था कि माता-पिता और सन्तान को पारस्परिक यौन-सम्बन्धों से अलग कर दिया गया तो उसका दूसरा क़दम यह था कि भाइयों और बहनों को भी अलग कर दिया गया। चूंकि भाई-बहन की आयु अधिक समान होती थी, इसलिये उन्हें अलग करना पहले क़दम से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और साथ ही अधिक कठिन भी था। यह क़दम धीरे-धीरे ही उठाया गया था। पहले शायद सगे भाइयों और बहनों (एक ही मां की संतान) के यौन-सम्बन्ध पर रोक लगायी गयी होगी। वह भी शुरू में सिर्फ़ इक्के-दुक्के मामलों में लगी होगी, और बाद में यह नियम बन गया होगा (हवाई में वर्तमान शताब्दी तक इस नियम के अपवाद मौजूद थे)। और अन्त में, बढ़ते-बढ़ते रिश्ते के भाई-बहनों के या, हमारी आजकल की भाषा में, सगे या दूर के मौसेरे, चचेरे या फुफेरे भाई-बहनों के विवाह पर रोक लगा दी गयी होगी। मौर्गन के शब्दों में यह

"नैसर्गिक वरण के सिद्धान्त की कार्य-प्रणाली का एक अच्छा उदाहरण है।"

देवताओं की वीर-गाथाओं की सृष्टि हुई, उस समय भाइयों और बहनों का विवाह, कम से कम देवताओं में, बुरा नहीं माना जाता था। यदि वैगनर के लिये सफ़ाई ही देनी है तो शायद 'एड्डा' काव्य के बजाय गेटे का साक्ष्य देना बेहतर होगा, जिन्होंने देवता और देवदासी की गाथा में स्त्रियों के धार्मिक आत्मसमर्पण के बारे में ऐसी ही ग़लती की है और उसको आधुनिक वेश्यावृत्ति से बहुत ज्यादा मिला दिया है। **(१८९१ के संस्करण में एंगेल्स की टिप्पणी)**

इस बात में तनिक भी संदेह नहीं है कि जिन क़बीलों में इस क़दम के द्वारा कुटुम्ब में अगम्यागमन पर रोक लग गयी थी, उन्होंने अनिवार्यतः उन क़बीलों के मुक़ाबले में कहीं जल्दी और अधिक पूर्ण विकास किया, जिनमें भाई-बहनों के बीच अन्तर्विवाह एक नियम था, और आवश्यक कर्त्तव्य भी। और इस क़दम का कितना ज़बर्दस्त असर पड़ा, यह **गोत्र** की संस्थापना से सिद्ध होता है जो सीधे-सीधे इसी क़दम से पैदा हुआ और उसके कहीं आगे निकल गया। गोत्र बर्बर युग में संसार के यदि सभी नहीं तो अधिकतर लोगों के सामाजिक संगठन का आधार था, और यूनान तथा रोम में तो हम इससे सीधे सभ्यता के युग में प्रवेश कर जाते हैं।

प्रत्येक आदिम परिवार अधिक से अधिक दो-चार पीढ़ियों तक चलकर बंट जाता था। बर्बर युग की मध्यम अवस्था के उत्तर काल तक, हर जगह बिना किसी अपवाद के, आदिम कुटुम्ब-समुदायों में ही रहने का चलन था। और उसके कारण कुटुम्ब-समुदाय के आकार और विस्तार की एक विशेष दीर्घतम सीमा निश्चित हो जाती थी, जो परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती थी, परन्तु प्रत्येक स्थान में बहुत कुछ निश्चित रहती थी। जब एक मां के बच्चों के बीच सम्भोग बुरा समझा जाने लगा, तो लाज़िमी था कि इस नये विचार का पुराने कुटम्ब-समुदायों के विभाजन पर तथा नये कुटुम्ब-समुदायों की स्थापना पर असर पड़े (यह ज़रूरी नहीं था कि ये नये समुदाय यूथ-परिवार के एकरूप हों)। बहनों का एक अथवा अनेक समूह एक कुटुम्ब का मूल-केन्द्र बन जाते थे, जबकि उनके सगे भाई दूसरे कुटुम्ब का मूल-केन्द्र बन जाते थे। रक्त-सम्बद्ध यूथ परिवार से, इस ढंग से या इससे मिलते-जुलते किसी और ढंग से, परिवार का वह रूप उत्पन्न होता है जिसे मौर्गन पुनालुआन परिवार कहते हैं। हवाई की प्रथा के अनुसार कई बहनों के—वे सगी बहनें हों या रिश्ते की (यानी प्रथम या द्वितीय कोटि के संबंध से या और दूर के संबंध से चचेरी, ममेरी, फुफेरी बहनें)—कुछ समान पति होते थे, जिनकी वे समान रूप से पत्नियां हुआ करती थीं। परन्तु उनके भाइयों को इस सम्बन्ध से अलग रखा जाता था, यानी वे उनके पति नहीं हो सकते थे। पति अब एक दूसरे को भाई न कहकर—और वास्तव में अब उनका भाई होना आवश्यक भी नहीं था—"पुनालुआ" कहते थे, जिसका अर्थ है अन्तरंग सखा, सहभागी। इसी प्रकार, भाइयों का एक दल—वे सगे भाई हों या रिश्ते के—कुछ स्त्रियों के साथ विवाह-सम्बन्ध में बंधा होता था। पर ये स्त्रियां उनकी अपनी बहनें **नहीं** होती थीं; और ये स्त्रियां भी एक दूसरे को "पुनालुआ" कहती थीं। परिवार के ढांचे का यह क्लासिकीय रूप था; बाद में

इसमें कई परिवर्तन हुए। इस संगठन की बुनियादी विशेषता यह थी कि परिवार के एक निश्चित दायरे में पतियों और पत्नियों का एक पारस्परिक समुदाय होता था, पर पत्नियों के भाई—पहले सगे भाई और बाद में रिश्ते के भाई भी—इस दायरे से अलग रखे जाते थे, और उसी प्रकार दूसरी ओर पतियों की बहनें भी इस दायरे से अलग रखी जाती थीं।

परिवार का यह रूप सगोत्रता की अमरीकी रक्त-सम्बद्धता की व्यवस्था में अभिव्यक्ति पानेवाली मात्राओं को पूर्ण शुद्धता के साथ हमारे सामने प्रस्तुत करता है। मेरी मां की बहनों के बच्चे उसके भी बच्चे रहते हैं, मेरे पिता के भाइयों के बच्चे उसी प्रकार मेरे पिता के बच्चे भी रहते हैं; और वे सब मेरे भाई-बहन होते हैं। परन्तु मेरी मां के भाइयों के बच्चे अब उसके भतीजे-भतीजियां कहलाते हैं, मेरे पिता की बहनों के बच्चे उसके भांजे-भांजियां कहलाते हैं। और ये सब मेरे ममेरे या फुफेरे भाई-बहन हैं। मेरी मां की बहनों के पति उसके भी पति होते हैं और उसी प्रकार मेरे पिता के भाइयों की पत्नियां उसकी भी पत्नियां होती हैं। वास्तव में ऐसा हमेशा नहीं भी होता, तो भी सिद्धान्त में तो ये सम्बन्ध माने ही जाते हैं। परन्तु भाइयों और बहनों के यौन-सम्बन्ध पर सामाजिक प्रतिबंध लग जाने के फलस्वरूप अब रिश्ते के भाई-बहन, जो पहले बिना भेदभाव के भाई-बहन ही समझे जाते थे, अब दो दर्जों में बंट गये: कुछ पहले की ही तरह (दूर के रिश्ते के) भाई-बहन ही रहे; बाक़ी को, एक ओर भाइयों के बच्चों को और दूसरी ओर बहनों के बच्चों को, अब एक दूसरे के भाई-बहन **नहीं** समझा जा सकता था, उनकी समान माता, समान पिता, अथवा समान माता-पिता नहीं हो सकते थे। इसलिये अब पहली बार भतीजों-भतीजियों का, ममेरे और फुफेरे भाई-बहनों का, एक नया दर्जा बनाना आवश्यक हुआ—जो परिवार की पुरानी व्यवस्था में बिल्कुल बेमानी होता। रक्त-सम्बन्ध की अमरीका में पायी गयी व्यवस्था, जो किसी भी प्रकार के व्यक्तिगत विवाह पर आधारित परिवार की दृष्टि से बिल्कुल बेतुकी मालूम पड़ती है, उसकी एक-एक बात पुनालुआन परिवार के आधार पर स्वाभाविक और विवेकपूर्ण सिद्ध हो जाती है। जिस हद तक रक्त-सम्बद्धता की यह व्यवस्था प्रचलित थी, कम से कम ठीक उसी हद तक पुनालुआन परिवार या उससे मिलता-जुलता कोई रूप प्रचलित रहा होगा।

यह सिद्ध हो चुका है कि परिवार का यह रूप हवाई द्वीपसमूह में मौजूद था; और यदि अमरीका में स्पेन से आये हुए ईश्वर के विशेष कृपापात्र मिशनरी लोग

इन ग़ैर-ईसाई यौन-सम्बन्धों को केवल "पापाचार"* न समझते, तो शायद सारे पोलिनेशिया में परिवार के इस रूप का अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता था। सीज़र के काल में ब्रिटन बर्बर युग की मध्यम अवस्था में थे। अतएव जब हम सीज़र के लिखे हुए वर्णन में पढ़ते हैं कि "दस-दस और बारह-बारह के दलों में वे लोग सामूहिक रूप से पत्नियां रखते थे, और इनमें भाई-भाई और मां-बाप और उनकी औलाद होते थे," तो स्पष्ट है कि हम इसे यूथ-विवाह के रूप में ही ग्रहण करके समझ सकते हैं। बर्बर युग की माताओं के दस या बारह पुत्र इतने बड़े नहीं हो सकते थे कि वे सामूहिक रूप से पत्नियां रख सकते, परन्तु अमरीका में पायी गयी रक्त-सम्बन्ध व्यवस्था में, जो पुनालुआन परिवार के अनरूप है, भाइयों की संख्या बहुत बड़ी होती है, क्योंकि हर पुरुष के पास के या दूर के भाई भी उसके सगे भाई की तरह ही माने जाते हैं। "मां-बाप और उनकी औलाद साथ रहते थे",—यह कथन शायद सीज़र की गलतफ़हमी का परिणाम है। हां, इस व्यवस्था में यह असम्भव नहीं है कि पिता और पुत्र या माता और पुत्री एक ही यूथ-विवाह में हों, गोकि बाप और बेटी, या मां और बेटा उसमें नहीं रह सकते थे। इसी प्रकार हेरोडोटस और अन्य प्राचीन लेखकों ने जांगल तथा बर्बर लोगों में सामूहिक पत्नियों का जो वर्णन किया है, वह भी परिवार के इसी या इससे मिलते-जुलते यूथ-विवाह के रूप के आधार पर ही सुगमतापूर्वक समझ में आता है। वाटसन और के ने अपनी पुस्तक *«The People of India»* में अवध में (गंगा के उत्तर में) रहनेवाले ठाकुरों का जो वर्णन दिया है, उस पर भी यही बात लागू होती है—

"वे बड़े-बड़े समुदायों में (यौन-सम्बन्धों की दृष्टि से) बिना किसी भेदभाव के रहते थे और जब दो व्यक्ति विवाहित माने जाते थे, उनका विवाह-सम्बन्ध नाममात्र के लिये ही होता था।"

---

*अब इसमें तनिक भी सन्देह नहीं हो सकता कि स्वच्छन्द यौन-सम्भोग, तथाकथित «Sumpfzeugung» के वे चिह्न, जिन्हें बाख़ोफ़ेन अपना आविष्कार समझते थे, यूथ-विवाह की ओर संकेत करते हैं। "यदि बाख़ोफ़ेन इन 'पुनालुआन' विवाहों को 'अवैध' समझते हैं, तो उस युग का आदमी आजकल के, पास के या दूर के चचेरे और मौसेरे भाई-बहनों के बीच होनेवाले अधिकतर विवाहों को पापाचार, यानी रक्त-सम्बद्ध भाइयों और बहनों के बीच विवाह समझेगा।" (मार्क्स)

अधिकतर स्थानों में मालूम होता है कि **गोत्र** प्रथा सीधे पुनालुआन परिवार से उत्पन्न हुई। हां, वैसे आस्ट्रेलिया की वर्ग-विवाह-व्यवस्था[11] भी इसका प्रस्थान बिन्दु हो सकता था। आस्ट्रेलियावासियों में गोत्र तो होते हैं, पर उनमें पुनालुआन परिवार नहीं होता, उनमें यूथ-विवाह का और भी अधिक कुघड़ रूप पाया जाता है।

यूथ-विवाह के सभी रूपों में इस बात का निश्चय नहीं होता कि बच्चे का पिता कौन है। पर इसका निश्चय जरूर होता है कि बच्चे की माता कौन है। यद्यपि मां इस कुल परिवार के **सभी** बच्चों को अपनी सन्तान कहती है, और उन सभी के प्रति उसे माता के कर्त्तव्य का पालन करना पड़ता है, तथापि वह यह तो जानती ही है कि उसकी सगी सन्तान कौनसी है। अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि जहां कहीं यूथ-विवाह का चलन होता है, वहां केवल **मां** के वंशजों का ही पता चल सकता है, और **मां ही के नाम से वंश चलता है**। सभी जांगल लोगों में तथा बर्बर युग की निम्न अवस्था में पाये जानेवाले लोगों में वास्तव में यही बात देखी जाती है। बाख़ोफ़ेन की दूसरी बड़ी उपलब्धि यह थी कि उन्होंने सबसे पहले इसका पता लगाया था। केवल माता के द्वारा वंश का पता लगने तथा इससे कालान्तर में उत्पन्न होनेवाले उत्तराधिकार-सम्बन्धों को बाख़ोफ़ेन मातृ-सत्ता के नाम से पुकारते हैं। संक्षिप्तता की दृष्टि से मैं भी इसी नाम का प्रयोग करूंगा। परन्तु यह नाम बहुत उपयुक्त नहीं है, क्योंकि समाज के विकास की इस अवस्था में अभी क़ाननी अर्थ में सत्ता जैसी कोई चीज़ उत्पन्न नहीं हुई है।...

अब यदि पुनालुआन परिवार के दो ठेठ समूहों में से हम किसी एक को लें, जिसमें सगी तथा रिश्ते की बहनें (एक पीढ़ी के अन्तर से, दो या और भी अधिक पीढ़ियों के अन्तर से वंशजायें) शामिल हैं और उनके साथ-साथ उनके बच्चे और उनके सगे या मौसेरे भाई (जो हमारी मान्यता के अनुसार उनके पति **नहीं** होते) भी शामिल हैं, तो हम पायेंगे कि ठीक ये ही वे लोग हैं जो बाद में चलकर, अपने प्रारम्भिक रूप में गोत्र के सदस्य होते हैं। इन सब लोगों की एक समान पूर्वजा होती है, जिसकी वंशजायें पीढ़ी-दर-पीढ़ी आपस में बहनें होती हैं, इसी नाते होती हैं कि वे उसकी वंशजायें हैं। परन्तु इन बहनों के पति लोग अब उनके भाई नहीं हो सकते, यानी वे उसी एक पूर्वजा के वंशज नहीं हो सकते, और इसलिये वे उस रक्त-सम्बद्ध समूह के, जो बाद में गोत्र कहलाने लगा, सदस्य भी नहीं हो सकते। परन्तु उनके बच्चे इस समूह में शामिल हैं, क्योंकि मातृ-परम्परा ही असन्दिग्ध होने के कारण निर्णायक महत्त्व रखती है।

जब एक बार ज़्यादा से ज़्यादा दूर के रिश्ते के मौसेरे भाई-बहनों समेत तमाम भाई-बहनों के यौन-सम्बन्ध पर प्रतिबंध स्थापित हो जाता है तो उपरोक्त समूह गोत्र में बदल जाता है—यानी, तब वह मातृ-वंशी ऐसे रक्त-सम्बन्धियों का एक बहुत सख़्ती के साथ सीमित दायरा बन जाता है, जिन्हें आपस में विवाह करने की इजाज़त नहीं होती। और इस समय से ही यह गोत्र सामाजिक एवं धार्मिक चरित्र रखनेवाली अन्य सामान्य संस्थाओं के द्वारा अपने को अधिकाधिक शक्तिशाली और दृढ़ बनाता जाता है और उसी क़बीले के दूसरे गोत्रों से अपने को अलग करता जाता है। बाद में हम इसकी अधिक विस्तार से चर्चा करेंगे। परन्तु जब हम पाते हैं कि गोत्र न केवल अनिवार्यतः, बल्कि प्रत्यक्षतः भी पुनालुआन परिवार में से विकसित होकर निकले हैं, तो इस बात को भी लगभग पक्का मानने के लिए आधार मिल जाता है कि जिन लोगों में गोत्रीय संस्थाओं के चिह्न मिलते हैं, उन सब में, यानी लगभग सभी बर्बर तथा सभ्य लोगों में परिवार का यह रूप पहले मौजूद था।

जिस समय मौर्गन ने अपनी पुस्तक लिखी थी, उस समय तक भी यूथ-विवाह का हमारा ज्ञान बहुत सीमित था। उस समय आस्ट्रेलिया के निवासियों में—जो वर्गों में संगठित थे—पाये जानेवाले यूथ-विवाहों के बारे में थोड़ी-सी जानकारी थी। इसके अलावा मौर्गन ने १८७१ में ही वह सामग्री प्रकाशित कर दी थी जो उन्हें हवाई के पुनालुआन परिवार के बारे में उपलब्ध हुई थी। पुनालुआन परिवार से, एक ओर तो अमरीकी इंडियनों में पायी गयी रक्त-सम्बन्ध व्यवस्था पूरी तरह समझ में आ जाती थी—ध्यान रहे कि मौर्गन की सारी खोज इसी व्यवस्था से आरम्भ हुई थी; दूसरी ओर, उसमें मातृसत्तात्मक गोत्रों के विकास-क्रम का प्रारम्भिक बिन्दु मिल जाता था; और अन्त में, वह आस्ट्रेलिया के वर्गों से कहीं अधिक ऊंचे दर्जे के विकास का प्रतिनिधित्व करता था। इसलिये यह समझ में आनेवाली बात है कि मौर्गन ने पुनालुआन परिवार को युग्म-परिवार के पहले आनेवाली विकास की एक आवश्यक मंज़िल समझा और यह मान लिया कि पूर्ववर्ती समय में परिवार का यह रूप आम तौर पर प्रचलित था। तब से हमें यूथ-विवाह के और भी कई रूपों की जानकारी हो गयी है, और अब हम जानते हैं कि मौर्गन इस दिशा में बहुत दूर तक चले थे। फिर भी, यह उनका सौभाग्य था कि पुनालुआन परिवार के रूप में उन्हें यूथ-विवाह का एक सर्वोच्च, क्लासिकीय रूप मिल गया था, जिससे उच्चतर अवस्था में संक्रमण सबसे अधिक आसानी से समझ में आ सकता है।

यूथ-विवाह के विषय में अपने ज्ञान-भंडार की अत्यन्त मौलिक वृद्धि के लिये हम लौरिमेर फ़ाइसन नामक अंग्रेज़ मिशनरी के आभारी हैं, जिन्होंने परिवार के इस रूप का उसके मूल स्थान, आस्ट्रेलिया में वर्षों तक अध्ययन किया था। दक्षिणी आस्ट्रेलिया में माउंट गैम्बियर के इलाक़े के नीग्रो लोगों में उन्होंने विकास की सबसे निम्न अवस्था पायी थी। यहां पूरा क़बीला क्रोकी और कुमाइट नामक दो बड़े वर्गों में बंटा हुआ है। प्रत्येक वर्ग के अन्दर यौन-सम्भोग पर सख़्त प्रतिबंध है। दूसरी ओर, एक वर्ग का हरेक पुरुष दूसरे वर्ग की हरेक नारी का जन्म से पति होता है और वह उसकी जन्म से पत्नी होती है। व्यक्तियों का नहीं, बल्कि पूरे समूहों का आपस में विवाह होता है; एक वर्ग दूसरे वर्ग से विवाहित होता है। और ध्यान रहे, यहां आयु में अन्तर से, अथवा विशेष प्रकार के रक्त-सम्बन्ध से कोई पाबंदियां नहीं लगतीं। एकमात्र पाबंदी वही है जो दो बहिर्विवाही वर्गों में विभाजन से निर्धारित होती है। क्रोकी वर्ग का प्रत्येक पुरुष कुमाइट वर्ग की प्रत्येक नारी का वैध पति है, परन्तु चूंकि उसकी अपनी पुत्री भी, एक कुमाइट नारी की सन्तान होने के नाते, मातृ-सत्ता के अनुसार कुमाइट होती है, इसलिये वह जन्म से क्रोकी वर्ग के प्रत्येक पुरुष की, और इसलिए अपने पिता की भी, पत्नी होती है। जो भी हो यह वर्ग-संगठन, जैसा कि हम उसे जानते हैं, इस संबंध पर प्रतिबंध नहीं लगाता। अतएव या तो वह संगठन उस समय उत्पन्न हुआ होगा, जब अगम्यागमन पर रोक लगाने की अस्पष्ट प्रेरणाओं के बावजूद, माता-पिता और सन्तान के बीच यौन-सम्बन्ध को अभी विशेष घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था—और ऐसी सूरत में यह वर्ग-व्यवस्था सीधे स्वच्छन्द यौन-सम्बन्धों की अवस्था से उत्पन्न हुई होगी; और या फिर वर्गों के आविर्भाव के पहले ही माता-पिता तथा सन्तान के यौन-सम्बन्ध पर रीति-रिवाजों ने प्रतिबंध लगा दिया होगा—और ऐसी सूरत में वर्तमान स्थिति रक्त-सम्बद्ध परिवार की ओर संकेत करती है और उसके आगे के विकास की पहली मंज़िल के रूप में सामने आती है। ज़्यादा मुमकिन है कि यह दूसरी सूरत ही रही होगी, क्योंकि जहां तक मुझे मालूम है, आस्ट्रेलिया में माता-पिता तथा सन्तान के बीच यौन-सम्बन्ध का कोई उदाहरण नहीं मिला है, और बहिर्विवाह प्रथा का बाद में आनेवाला रूप, यानी मातृसत्तात्मक गोत्र भी, आम तौर पर ऐसे सम्बन्धों पर लगे हुए प्रतिबंधों को मानकर चलता है, क्योंकि वे उसकी स्थापना के पहले से लगे हुए थे।

दक्षिणी आस्ट्रेलिया के माउंट गैम्बियर के अलावा, यह द्विवर्गीय व्यवस्था उसके भी पूर्व, डार्लिंग नदी के प्रदेश में, और उत्तर-पूर्व, क्वीन्सलैंड में भी पायी जाती

है, अर्थात् यह व्यवस्था बहुत दूर-दूर तक फैली हुई है। इस व्यवस्था में केवल भाइयों और बहनों के बीच, भाइयों के बच्चों के बीच और मौसेरी बहनों के बच्चों के बीच विवाह नहीं हो सकता, क्योंकि ये सब एक वर्ग के सदस्य होते हैं। दूसरी ओर, भाई और बहन के बच्चों को विवाह करने की इजाज़त होती है। अगम्यागमन पर एक और प्रतिबंध हम न्यू साउथ वेल्स में डार्लिंग नदी के तट पर रहनेवाले कामिलारोई लोगों में पाते हैं। यहां पुराने दो वर्ग चार में बंट गये और इन चारों में से प्रत्येक वर्ग एक अन्य वर्ग से सामूहिक रूप से विवाहित होता है। पहले दो वर्ग जन्म से एक दूसरे के पति-पत्नी होते हैं। उनके बच्चे तीसरे या चौथे वर्ग के सदस्य हो जाते हैं, जो इस पर निर्भर करता है कि उनकी मां पहले वर्ग की है या दूसरे वर्ग की। इसी प्रकार तीसरे और चौथे वर्ग के बच्चे आपस में विवाहित होते हैं और फिर पहले या दूसरे वर्ग के सदस्य हो जाते हैं। इस प्रकार एक पीढ़ी के लोग सदा पहले और दूसरे वर्गों के सदस्य होते हैं; दूसरी पीढ़ी के लोग सदा तीसरे और चौथे वर्गों के सदस्य होते हैं। और उसके बाद आनेवाली पीढ़ी के लोग फिर पहले और दूसरे वर्गों के सदस्य हो जाते हैं। इस व्यवस्था के अनुसार (मौसेरे) भाइयों और बहनों के बच्चे आपस में विवाह नहीं कर सकते, पर उनके पोते-पोतियां कर सकते हैं। यह विचित्र रूप से जटिल व्यवस्था उस समय और भी जटिल हो जाती है जब उस पर ऊपर से मातृसत्तात्मक गोत्रों की क़लम लगा दी जाती है, तो भी वह काफ़ी बाद में होता है। पर उसकी चर्चा करना यहां संभव नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अगम्यागमन पर प्रतिबंध लगाने की प्रवृत्ति किस प्रकार बार-बार ज़ोर मारती है, पर उद्देश्य की साफ़ समझ न होने की वजह से, वह सदा स्वयंस्फूर्त्त ढंग से रास्ता टटोलती हुई आगे बढ़ती है।

यूथ-विवाह को, जो आस्ट्रेलिया में अभी वर्ग-विवाह का – यानी एक पूरे महाद्वीप के विभिन्न भागों में बिखरे हुए पुरुषों के एक पूरे वर्ग का, इसी तरह दूर-दूर तक बिखरी हुई नारियों के एक पूरे वर्ग के साथ विवाह का – ही रूप धारण किये हुए है, ज्यादा नज़दीक से देखने पर वह उतना भयानक नहीं लगता, जितना हमारे कूपमंडूकों ने चकलाघर के रंग में रंगी हुई अपनी कल्पना में उसे समझ रखा है। इसके विपरीत, बरसों बीत गये पर किसी को शक तक न हुआ कि यूथ-विवाह जैसी कोई प्रथा अस्तित्व रखती है; और सचमुच अभी हाल में फिर लोगों ने उसके अस्तित्व के बारे में मतभेद प्रकट किया है। महज़ ऊपर की सतही चीज़ों को देखनेवालों को यह एक प्रकार की ढीली-ढाली एकनिष्ठ विवाह

प्रथा मालूम पड़ती थी, जिसमें कहीं-कहीं बहु-पत्नी विवाह भी पाया जाता था और यदा-कदा पति-पत्नी एक दूसरे के साथ बेवफ़ाई करते रहते थे। विवाह की ऐसी अवस्थाओं के नियम का पता लगाने के लिए बरसों तक अध्ययन करने की आवश्यकता थी, जैसा कि फ़ाइसन और हौविट ने किया था। व्यवहार में यह नियम औसत यूरोपवासी को उसके अपने वैवाहिक रीति-रिवाजों की याद दिलाता है। इसी नियम के अनुसार आस्ट्रेलियाई नीग्रो एक कैम्प से दूसरे कैम्प, एक क़बीले से दूसरे क़बीले में चक्कर लगाता हुआ, अपने घर से हज़ारों मील दूर ऐसे लोगों के बीच पहुंच जाता है जिनकी भाषा तक वह नहीं समझता, पर वहां भी उसे ऐसी स्त्रियां मिल जाती हैं जो मासूमियत के साथ और बिना किसी विरोध के उसके सामने आत्मसमर्पण करती हैं। इसी नियम के अनुसार वह पुरुष जिसके पास कई पत्नियां हैं, अपनी एक पत्नी रात भर के लिये अपने मेहमान को सौंप देता है। यूरोपवासी को जहां केवल अनैतिकता और अराजकता का दौर-दौरा दिखायी देता है, वहां वास्तव में बड़े सख़्त नियम का पालन होता है। स्त्रियां आगन्तुक के विवाह-वर्ग की हैं और इसलिये वे जन्म से ही उसकी पत्नियां हैं। नैतिकता के जिस नियम ने एक को दूसरे के हाथ सौंप रखा है, उसी ने निर्वासन की व्यवस्था कर एक दूसरे से सम्बन्धित विवाह-वर्गों के बाहर हर प्रकार के यौन-व्यापार पर प्रतिबंध लगा रखा है। यहां तक कि जहां स्त्रियों का अपहरण भी होता है, जो अक्सर देखने में आता है और जिसका कहीं-कहीं तो नियम है, वहां भी विवाह-वर्ग-विधान का कड़ाई के साथ पालन किया जाता है।

स्त्रियों के अपहरण में हमें एकनिष्ठ विवाह प्रथा में संक्रमण का चिह्न दिखायी देता है। कम से कम युग्म-विवाह के रूप में तो उसकी एक झलक यहां दिखायी ही पड़ती है। जब युवा पुरुष अपने मित्रों की सहायता से लड़की का अपहरण कर लेता है, या उसे भगा लाता है, तो वह और उसके मित्र सब बारी-बारी से लड़की के साथ सम्भोग करते हैं, परन्तु उसके बाद वह उसी युवक की पत्नी मानी जाती है जिसने उसके अपहरण में पहल की थी। और यदि भगायी हुई स्त्री इस पुरुष के पास से भी भाग जाती है और कोई दूसरा पुरुष उस पर अधिकार कर लेता है, तो वह उसकी पत्नी हो जाती है, और पहले पुरुष का विशेषाधिकार ख़त्म हो जाता है। इस प्रकार यूथ-विवाह की प्रथा के—जो आम तौर पर क़ायम रहती है—साथ-साथ और उसके भीतर, एकांतिक सम्बन्ध, न्यूनाधिक समय के लिए युग्म-जीवन और बहु-पत्नी विवाह भी पाये जाते हैं।

अतएव यूथ-विवाह की प्रथा यहां भी धीरे-धीरे मिट रही है। प्रश्न केवल यह है कि यूरोपीय प्रभाव के फलस्वरूप पहले कौन मिटेगा—यूथ-विवाह या इस प्रथा को माननेवाले आस्ट्रेलियाई नीग्रो।

कुछ भी हो, पूरे वर्गों के बीच विवाह, जैसा कि आस्ट्रेलिया में प्रचलित है, यूथ-विवाह का बहुत निम्न और आदिम रूप है, जबकि पुनालुआन परिवार, जहां तक हम जानते हैं, यूथ-विवाह का सबसे विकसित स्वरूप है। मालूम पड़ता है कि पहला स्वरूप घुमन्तू जांगलियों की सामाजिक अवस्था के अनुकूल था, जबकि दूसरे स्वरूप के लिए आदिम कुटुम्ब-समुदायों की अपेक्षाकृत स्थायी बस्तियां पूर्वमान्य हैं, और उससे सीधे अगली और उच्चतर मंज़िल में अन्तरण होता है। इन दोनों अवस्थाओं के बीच में निस्संदेह कुछ दरमियानी अवस्थाएं भी मिलेंगी। इस तरह यहां हमारे सामने खोज का एक विशाल क्षेत्र मौजूद है, जो अभी-अभी खुला है और प्रायः अछूता पड़ा है।

३. **युग्म-परिवार।** न्यूनाधिक समय के लिये युग्म-जीवन यूथ-विवाह के अन्तर्गत, या उसके भी पहले शुरू हो गया था। पुरुष की अनेक पत्नियों में से एक उसकी मुख्य पत्नी (उसे अभी सबसे अधिक चहेती पत्नी नहीं कहा जा सकता) होती थी, और उसके अनेक पतियों में वह स्वयं उसका मुख्य पति हुआ करता था। बहुत हद तक इसी परिस्थिति के कारण मिशनरी लोग यूथ-विवाह को देखकर उलझन में पड़ गये थे, और उसे कभी सामूहिक पत्नियों के साथ अनियंत्रित यौन-सम्बन्ध, और कभी-कभी उच्छृंखल व्यभिचार समझते थे। बहरहाल, जैसे-जैसे गोत्र का विकास हुआ और उन "भाइयों" और "बहनों" के वर्गों की संख्या बढ़ती गयी जिनमें विवाह होना असम्भव बना दिया गया था, वैसे-वैसे लोगों की जोड़े में रहने की आदत भी आवश्यक रूप से बढ़ती गयी। रक्त-सम्बन्धियों के बीच विवाह पर प्रतिबन्ध की प्रवृत्ति को गोत्र से जो बढ़ावा मिला, उससे इस चीज़ में और तेज़ी आयी। इस प्रकार हम पाते हैं कि इरोक्वा और अधिकतर अन्य अमरीकी इंडियन क़बीलों में, जो बर्बर युग की निम्न अवस्था में हैं, उनकी व्यवस्था के अन्तर्गत मान्य **सभी** सम्बन्धियों—और उनकी संख्या कई सौ क़िस्म तक पहुंचती है—के बीच विवाह पर प्रतिबंध लगा हुआ है। विवाह के प्रतिबंधों की यह बढ़ती हुई पेचीदगी यूथ-विवाहों को अधिकाधिक असम्भव बनाती गयी और उनका स्थान **युग्म-परिवार** ने ले लिया। इस अवस्था में एक पुरुष एक नारी के साथ तो रहता है, लेकिन इस तरह कि एक से अधिक पत्नियां रखने और कभी-कभी पत्नी के सिवा और स्त्रियों से भी सम्भोग करने का पुरुषों

का अधिकार बना रहता है; यद्यपि वास्तव में, आर्थिक कारणों से पुरुष बहुधा अनेक पत्नियां नहीं रख पाता। साथ ही सहवास काल में नारी से कठोरतम पातिव्रत्य की अपेक्षा की जाती है और उसका उल्लंघन करनेवाली स्त्री को निर्ममतापूर्वक दण्ड दिया जाता है। परन्तु दोनों पक्षों में से कोई भी आसानी से विवाह-सम्बन्ध को तोड़ सकता है, और बच्चों पर अब भी पहले की तरह माता का ही अधिकार होता है।

निरंतर अधिकाधिक रक्त-सम्बन्धियों के बीच विवाह पर प्रतिबंध लगाने में नैसर्गिक वरण का भी हाथ बना रहता है। मौर्गन के शब्दों में

"जो गोत्र रक्त-सम्बद्ध न थे उनके बीच होनेवाले विवाहों से जो सन्तानें पैदा होती थीं वे शरीर और मस्तिष्क दोनों से अधिक बलवान होती थीं। जब दो विकासशील क़बीले मिलकर एक जन-समूह बन जाते ... तो एक नयी खोपड़ी और मस्तिष्क की उत्पत्ति होती थी जिसकी लम्बाई-चौड़ाई दोनों की योग्यताओं के योग के बराबर होती।"

अतएव, गोत्रों के आधार पर संघटित क़बीले अधिक पिछड़े हुए क़बीलों पर हावी हो जाते थे, या अपने उदाहरण के द्वारा उनको भी अपने साथ-साथ खींच ले चलते थे।

इस प्रकार प्रागैतिहासिक काल में परिवार का विकास इसी बात में निहित था कि वह दायरा अधिकाधिक सीमित होता जाता था – शुरू में पूरा क़बीला इस दायरे में आ जाता था – जिसमें पुरुष और नारी के बीच वैवाहिक सम्बन्ध की स्वतंत्रता थी। लेकिन बाद में, पहले इस दायरे से नज़दीकी सम्बन्धी धीरे-धीरे निकाल दिये गये, फिर दूर के सम्बन्धी अलग कर दिये गये, और अन्त में तो उन तमाम सम्बन्धियों को भी निकाल दिया गया जिनका केवल विवाह का सम्बन्ध था। इस तरह अन्त में, हर प्रकार का यूथ-विवाह व्यवहार में असंभव बन गया। आख़िर में केवल एक, फ़िलहाल बहुत ढीले बंधनों से जुड़ा जोड़ा ही बचा, जो एक अणु की भांति होता है, और जिसके भंग हो जाने पर स्वयं विवाह ही पूरी तरह नष्ट हो जाता है। इसी एक बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि एकनिष्ठ विवाह प्रथा की उत्पत्ति में, व्यक्तिगत यौन-सम्बन्ध का, इस शब्द के आधुनिक अर्थ में, कितना कम हाथ रहा है। इस अवस्था में लोगों के व्यवहार से इसका एक और सबूत मिल जाता है। परिवार के पुराने रूपों के अन्तर्गत पुरुषों को कभी स्त्रियों की कमी नहीं होती थी, बल्कि सदा बाहुल्य ही रहता

था, लेकिन अब इसके विपरीत, स्त्रियों की कमी होने लगी और उनकी तलाश की जाने लगी। अतएव युग्म-विवाह के साथ-साथ स्त्रियों को भगाना और ख़रीदना शुरू होता है—ये बातें कहीं अधिक गम्भीर परिवर्तन के **आसार मात्र** हैं, जो बहुत व्यापक रूप में दिखायी पड़ते हैं, पर इससे अधिक उनका महत्त्व नहीं है। परन्तु उस पंडिताऊ स्काटलैंडवासी मैक-लेनन ने, इन आसार को, स्त्रियों को प्राप्त करने के इन तरीक़ों को ही, परिवार के अलग-अलग तरह के रूप बना डाला और उन में से कुछ को "अपहरण-विवाह" और कुछ "क्रय-विवाह" बताया। इसके अलावा, अमरीकी इंडियनों में और (विकास की इसी मंज़िल के) कुछ अन्य क़बीलों में भी विवाह का प्रबंध उन दो व्यक्तियों के हाथ में नहीं होता जिनकी शादी होती है, बल्कि उनकी तो बहुधा राय तक नहीं पूछी जाती। विवाह का प्रबंध दोनों व्यक्तियों की माताओं के हाथ में रहता है। इस प्रकार अक्सर दो बिल्कुल अजनबी व्यक्तियों की सगाई कर दी जाती है, और उन्हें इस सौदे का ज्ञान केवल विवाह का दिन नज़दीक आने पर ही होता है। विवाह के पहले, वधू के गोत्रीय सम्बन्धियों को (यानी उसकी माता की तरफ़ के सम्बन्धियों को, उसके पिता को या पिता के रिश्तेदारों को नहीं) वर तरह-तरह की भेंट देता है। ये वस्तुएं कन्या-दान के प्रतिदान स्वरूप होती हैं। पति या पत्नी कभी भी अपनी इच्छा से विवाह भंग कर सकते हैं। फिर भी बहुत-से क़बीलों में, उदाहरण के लिये इरोक्वा क़बीले में, लोक-मत ऐसे सम्बन्ध-विच्छेद के धीरे-धीरे ख़िलाफ़ होता गया। जब कोई झगड़ा खड़ा होता है, तो दोनों पक्षों के गोत्र-सम्बन्धी बीच-बिचाव करने और फिर से मेल करा देने की कोशिश करते हैं, और इन कोशिशों के बेकार हो जाने पर ही सम्बन्ध-विच्छेद हो पाता है। ऐसा होने पर, बच्चे मां के साथ रहते हैं और दोनों पक्षों को फिर विवाह करने की आज़ादी होती है।

युग्म-परिवार स्वयं बहुत कमज़ोर और अस्थायी होता था, और इसलिये उसके कारण अलग कुटुम्ब की कोई विशेष आवश्यकता नहीं पैदा हुई थी, और न ही उसे वांछनीय समझा गया। अतएव पहले से चला आता हुआ सामुदायिक कुटुम्ब युग्म-परिवार के कारण टूटा नहीं। किन्तु सामुदायिक कुटुम्ब का मतलब यह है कि घर के भीतर नारी की सत्ता सर्वोच्च होती है—उसी प्रकार जैसे सगे पिता का निश्चयपूर्वक पता लगाना असम्भव होने के कारण सगी मां की एकान्तिक मान्यता का अर्थ है स्त्रियों का, अर्थात् माताओं का प्रबल सम्मान। समाज के आदिकाल में नारी पुरुष की दासी थी, यह उन बिल्कुल बेतुकी धारणाओं

में से एक है जो हमें अठारहवीं सदी के जागरण काल से विरासत में मिली हैं। सभी जांगल लोगों में, और निम्न तथा मध्यम अवस्था की, यहां तक कि आंशिक रूप से उन्नत अवस्था के बर्बर लोगों में भी, नारी को स्वतंत्र ही नहीं, बल्कि बड़े आदर और सम्मान का भी स्थान प्राप्त था। आर्थर राइट ने सेनेका इरोक्वाओं के बीच बहुत वर्ष तक मिशनरी का काम किया था। युग्म-परिवार तक में नारी का क्या स्थान था, इस विषय में वह कहते हैं—

"जहां तक उनकी पारिवारिक व्यवस्था का सम्बन्ध है, जब ये लोग पुराने लम्बे घरों में रहते थे" (सामुदायिक कुटुम्बों में, जिनमें कई परिवार साथ-साथ रहते थे), "...तो सम्भवत: उनमें एक कुल" (गोत्र) "की प्रधानता रहती थी, और स्त्रियां दूसरे कुलों" (गोत्रों) "के पुरुषों को अपना पति बनाती थीं... घर में प्राय: नारी पक्ष शासन करता था। घर का भण्डार सब का सामूहिक होता था परन्तु यदि कोई अभागा पति या प्रेमी इतना नालायक़ होता था कि वह अपने हिस्से का सामान न जुटा पाये, तो उसकी मुसीबत आ जाती थी। फिर चाहे उसके कितने ही बच्चे हों और घर में चाहे उसका कितना ही सामान हो, उसे किसी भी समय बोरिया-बिस्तर उठाने का नोटिस मिल सकता था। और उसकी ख़ैरियत इसी में थी कि एक बार ऐसा आदेश मिल जाने पर उसका उल्लंघन करने की कोशिश न करे। उसके लिये घर में ठहरना अपनी शामत बुलाना होता और उसे अपने कुल" (गोत्र) "में लौट जाना पड़ता था, या जैसा कि अक्सर होता था, किसी और गोत्र में जाकर उसे एक नया वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश करनी पड़ती थी। अन्य सब स्थानों की भांति कुलों" (गोत्रों) "में भी मुख्य शक्ति स्त्रियों की होती थी। ज़रूरत होती थी, तो वे गोत्र के मुखिया तक को उसके पद से हटाकर साधारण योद्धाओं की पांत में वापस भेज देने में नहीं हिचकिचाती थीं।"

आदिम काल में आम तौर पर पाये जानेवाले स्त्रियों के प्राधान्य का भौतिक आधार वह सामुदायिक कुटुम्ब था, जिसकी अधिकतर स्त्रियां और यहां तक कि सभी स्त्रियां, एक ही गोत्र की होती थीं और पुरुष दूसरे विभिन्न गोत्रों से आते थे। और बाख़ोफ़ेन ने इस सामुदायिक कुटुम्ब का पता लगाकर तीसरी महान सेवा अर्पित की है। साथ ही मैं यह भी जोड़ दूं कि यात्रियों तथा मिशनरियों की ये रिपोर्टें कि जांगल तथा बर्बर लोगों में स्त्रियों को कठोर परिश्रम करना पड़ता है, उपरोक्त तथ्य का खण्डन नहीं करतीं। जिन कारणों से स्त्रियों और पुरुषों के बीच श्रम-विभाजन होता है, वे समाज में स्त्रियों की स्थिति से निर्धारित नहीं होते हैं, वे बिल्कुल भिन्न हैं। वे लोग, जिनकी स्त्रियों को उससे कहीं ज़्यादा

मेहनत करनी पड़ती है, जितनी हम उचित समझते हैं, अक्सर स्त्रियों का यूरोपवासियों से कहीं अधिक सच्चा आदर करते हैं। सभ्यता के युग की भद्र महिला की, जिसका कि झूठा आदर-सत्कार तो बहुत होता है, और वास्तविक श्रम से जिसका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता है, सामाजिक स्थिति बर्बर युग की मेहनत-मशक़्क़त करनेवाली नारी की सामाजिक स्थिति से कहीं नीचे होती है। बर्बर युग की नारियों को उनके अपने लोग सचमुच भद्र महिला (lady, frowa, Frau = मालकिन) समझते थे और उनकी सचमुच समाज में वैसी ही स्थिति थी।

अमरीका में अब युग्म-परिवार ने पूरी तरह यूथ-विवाह का स्थान ले लिया है या नहीं, इसका निर्णय करने के लिये उत्तरी-पश्चिमी अमरीका के, और विशेषकर दक्षिणी अमरीका के उन लोगों का ज़्यादा नज़दीक से अध्ययन करना होगा, जो अभी तक जांगल युग की उन्नत अवस्था में ही हैं। इन उत्तरोक्त लोगों में यौन-स्वच्छन्दता के इतने अधिक उदाहरण मिलते हैं कि उन्हें ध्यान में रखते हुए हम यह नहीं मान सकते कि इनमें यूथ-विवाह की पुरानी प्रथा पूरी तरह मिटा दी गयी है। बहरहाल अभी तक उसके सारे चिह्नों का लोप तो नहीं हो पाया है। उत्तरी अमरीका के कम से कम चालीस क़बीले ऐसे हैं, जिनमें किसी भी परिवार की सबसे बड़ी लड़की से विवाह करनेवाले पुरुष को यह अधिकार होता है कि वह उसकी सभी बहनों को, जैसे ही वे पर्याप्त आयु प्राप्त कर लें, अपनी पत्नी बना ले – यह बहनों के एक पूरे दल के सामूहिक पति होने की प्रथा का अवशेष है। और बैंक्रोफ़्ट बताते हैं कि कैलिफ़ोर्निया प्रायद्वीप के क़बीलों में (जोकि जांगल युग की उन्नत अवस्था में हैं) कुछ ऐसे त्योहार प्रचलित हैं, जिनमें कई "क़बीले" स्वच्छन्द यौन-सम्बन्ध के लिए एक जगह जमा होते हैं। ज़ाहिर है कि वास्तव में वे ऐसे गोत्र हैं जिन्हें ये त्योहार उन दिनों की धुंधली-सी याद दिलाते हैं, जबकि एक गोत्र के सभी पुरुष दूसरे गोत्र की सभी स्त्रियों के समान पति हुआ करते थे और इसी प्रकार एक गोत्र की सभी स्त्रियां दूसरे गोत्र के पुरुषों की समान पत्नियां हुआ करती थीं। यह प्रथा आस्ट्रेलिया में अभी तक चली आती है। कुछ लोगों में ऐसा होता है कि बड़े-बूढ़े, मुखिया और ओझा-पुरोहित, आदि सामूहिक पत्नियों की प्रथा को अपने मतलब के लिये इस्तेमाल करते हैं, और अधिकतर स्त्रियों पर अपना एकाधिकार क़ायम कर लेते हैं। परन्तु इन लोगों को भी कुछ विशेष उत्सव या बड़े मेलों के समय पुराने सामूहिक अधिकार की पुनःस्थापना की और अपनी पत्नियों को नौजवानों के साथ मौज करने की इजाज़त देनी पड़ती है। वेस्टरमार्क ने (अपनी पुस्तक के पृष्ठ २८–२९ पर) समय-समय

पर होनेवाले ऐसे Saturnalia महोत्सवों[12] के अनेक उदाहरण दिये हैं, जिनमें प्राचीन काल के स्वच्छन्द यौन-सम्बन्ध की थोड़े समय के लिये फिर स्वतंत्रता हो जाती थी। मिसाल के लिये, उन्होंने बताया है कि ऐसे उत्सव भारत के भी हो, संथाल, पंजा और कौतार क़बीलों में और अफ़्रीका के कुछ लोगों, आदि में भी होते हैं। अजीब बात यह है कि वेस्टरमार्क इन उत्सवों को यूथ-विवाहों का नहीं—वेस्टरमार्क यूथ-विवाह को नहीं मानते—बल्कि उस मैथुन-ऋतु का अवशेष मानते हैं जो आदिम मानव तथा अन्य पशुओं, दोनों के लिये समान है।

अब हम बाख़ोफ़ेन की चौथी बड़ी खोज पर आते हैं। हमारा मतलब यूथ-विवाह से युग्म-विवाह में संक्रमण के व्यापक रूप से प्रचलित रूप से है। जिस चीज़ को बाख़ोफ़ेन ने देवताओं के प्राचीन आदेशों का उल्लंघन करने के अपराध का प्रायश्चित्त समझा—जिसके द्वारा स्त्री सतीत्व के अधिकार का मूल्य चुकाती है—वह वास्तव में उस प्रायश्चित्त के रहस्यवादी स्वरूप से अधिक कुछ नहीं है, जिसकी क़ीमत देकर नारी बहुत-से पतियों की एकसाथ पत्नी होने के प्राचीन नियम से मुक्ति प्राप्त करती है, और अपने को केवल **एक** पुरुष को समर्पित करने का अधिकार पाती है। यह प्रायश्चित्त सीमित आत्मसमर्पण के रूप में होता है। बैबिलोनिया की स्त्रियों को साल में एक बार मिलिटा के मंदिर में जाकर पुरुषों के आगे आत्मसमर्पण करना पड़ता था। मध्य पूर्व के दूसरे लोग अपनी लड़कियों को कई साल के लिए अनाइतिस के मंदिर में भेज देते थे, जहां उन्हें अपनी पसन्द के पुरुषों के साथ स्वच्छन्द प्रणय-व्यापार करना पड़ता था और उसके बाद ही उन्हें विवाह करने की इजाज़त मिलती थी। भूमध्य सागर और गंगा नदी के बीच के इलाक़े में रहनेवाले लगभग सभी एशियाई लोगों में धार्मिक आवरण से ढंके इसी प्रकार के रीति-रिवाज पाये जाते हैं। प्रायश्चित स्वरूप किया जानेवाला यह बलिदान कालांतर में धीरे-धीरे कम कठिन होता जाता है, जैसा कि बाख़ोफ़ेन ने कहा है—

"पहले हर साल आत्मसमर्पण करना पड़ता था, अब एक बार आत्मसमर्पण करके काम चल जाता है। पहले विवाहिताओं को हैटेरा होना पड़ता था, अब केवल कुमारियों को। पहले यह विवाह के दौरान होता था, अब विवाह के पहले। पहले बिना किसी भेदभाव के हर किसी के सामने आत्मसमर्पण करना पड़ता था, अब कुछ ख़ास-ख़ास व्यक्तियों के सामने।" ('मातृ-सत्ता', पृष्ठ १९)।

अन्य लोगों में धार्मिक आवरण भी नहीं है। प्राचीन काल के थ्रेसियाइयों, केल्ट, आदि लोगों में, भारत के बहुत-से आदिवासियों में, मलय लोगों में, प्रशान्त

महासागर के द्वीपों में रहनेवालों में और बहुत-से अमरीकी इंडियनों में तो आज भी विवाह के समय तक लड़कियों को अधिक से अधिक यौन-स्वतंत्रता रहती है। विशेष रूप से, पूरे दक्षिणी अमरीका में यह बात पायी जाती है। यदि कोई आदमी थोड़ा भी इस देश के अन्दरूनी हिस्सों में गया है, तो वह ज़रूर इस बात की पुष्टि कर सकता है। उदाहरण के लिये, वहां के एक धनी इंडियन परिवार के बारे में आगासिज ने (१८८६ में बोस्टन और न्यूयार्क से प्रकाशित अपनी पुस्तक 'ब्राज़ील की यात्रा' में पृष्ठ २६६ पर) यह लिखा है कि जब परिवार की पुत्री से उसका परिचय कराया गया और उसने लड़की के पिता के विषय में पूछा, जो उसकी समझ में लड़की की मां का पति था, और पैरागुए के ख़िलाफ़ युद्ध में एक अफ़सर की हैसियत से सक्रिय भाग ले रहा था, तो मां ने मुस्कराते हुए जवाब दिया: naõ tem pai, é filha da fortuna, अर्थात् "इसका पिता नहीं है, यह तो संयोग की संतान है।"

"अमरीकी इंडियन या दोगली नस्ल की स्त्रियां अपनी जारज संतान के बारे में यहां सदा इसी ढंग से ज़िक्र करती हैं। इसमें कोई दोष-पाप या लज्जा की बात है, इसकी उनमें तनिक भी चेतना नहीं दिखायी देती। यह इतनी साधारण बात है कि इसकी उल्टी बात ही अपवाद मालूम पड़ती है। प्रायः बच्चे... अपनी मां के बारे में ही जानते हैं, क्योंकि उनकी परवरिश की पूरी ज़िम्मेदारी मां पर ही होती है। बच्चों को अपने पिता का कोई ज्ञान नहीं होता, और न ही शायद स्त्री को कभी यह ख़याल होता है कि उसका या उसके बच्चों का उस पुरुष पर कोई दावा है।"

सभ्य मानव को यहां जो कुछ इतना अजीब लग रहा है, वह वास्तव में केवल मातृ-सत्ता तथा यूथ-विवाह के नियमों का परिणाम है।

कुछ और लोगों में वर के मित्र और सम्बन्धी, या विवाह में आये हुए अतिथि, विवाह के समय ही वधू पर अपने परम्परागत पुराने अधिकार का इस्तेमाल करते हैं, और वर की बारी सब के अन्त में आती है। मिसाल के लिये, प्राचीन काल में बलियारिक द्वीपों में, अफ़्रीका के औजिलों में, और एबीसीनिया के बारियाओं में आजकल भी यही चलन है। कुछ और लोगों में एक अधिकारी व्यक्ति – क़बीले या गोत्र का प्रमुख, कासिक, शमन, पुरोहित, राजा या उसकी जो भी उपाधि हो, ऐसा कोई एक व्यक्ति – समुदाय के प्रतिनिधि के रूप में वधू के साथ सुहागरात के अधिकार का प्रयोग करता है। इस प्रथा को नव-

रोमांचक रंगों में रंगने की चाहे जितनी कोशिश की जाये, पर इसमें संदेह नहीं कि अलास्का प्रदेश के अधिकतर आदिवासियों में (बैंक्रोफ़्ट, 'आदिवासी नस्लें', भाग १, पृष्ठ ८१), उत्तरी मैक्सिको के ताहू लोगों में (वही, पृष्ठ ५८४) और कुछ अन्य लोगों में यह jus primae noctis* यूथ-विवाह के अवशेष के रूप में आज भी पाया जाता है। और पूरे मध्य युग में, कम से कम उन देशों में, जहां शुरू में केल्ट लोग रहते थे, यह प्रथा, जो वहां सीधे-सीधे यूथ-विवाह से निकली थी, प्रचलित थी। इसका एक उदाहरण आरागों प्रदेश है। जबकि कैस्टील में किसान कभी भूदास नहीं रहा, आरागों में एक अत्यन्त गर्हित भूदास-प्रथा प्रचलित थी, और वह उस समय तक क़ायम रही जब तक कि १४८६ में फ़र्दीनांद कैथोलिक ने एक फ़रमान जारी कर उसे ख़तम नहीं कर दिया। इस फ़रमान में कहा गया है—

"हम फ़ैसला देते हैं और ऐलान करते हैं कि यदि कोई किसान किसी औरत से विवाह करता है तो ऊपर जिन लार्डों" (señyors, बैरनों) "का ज़िक्र किया गया है... वे पहली रात उसके साथ नहीं सोयेंगे, न वे शादी की रात को औरत के सोने चले जाने के बाद अपने अधिकार के प्रतीकस्वरूप उसके बिस्तर पर और उसके ऊपर आसन जमायेंगे। न ही ये लार्ड किसान के बेटे-बेटियों से, मजूरी देकर या बिना मजूरी के, उनकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ काम लेंगे।" (ज़ुगेनहाइम की पुस्तक 'भूदास-प्रथा', पीटर्सबर्ग, १८६१, के मूल कैटेलोनियन संस्करण में उद्धृत, पृष्ठ ३५५)

बाख़ोफ़ेन का यह तर्क भी बिल्कुल सही है कि जिस अवस्था को उन्होंने "हैटेरिज़्म" अथवा Sumpfzeugung का नाम दिया है, उससे एकनिष्ठ विवाह में संक्रमण मुख्यत: नारी के ही हाथों सम्पन्न हुआ था। जीवन की आर्थिक परिस्थितियों के विकास के फलस्वरूप, अर्थात आदिम सामुदायिक व्यवस्था के ध्वंस के साथ-साथ तथा आबादी के अधिकाधिक घनी होते जाने के साथ-साथ, पुराने परम्परागत यौन-सम्बन्धों का भोलेपन से भरा हुआ आदिम स्वरूप जितना ही नष्ट होता गया, उतना ही ये सम्बन्ध नारियों को अपमानजनक और उत्पीड़क प्रतीत हुए होंगे, और इस अवस्था से मुक्ति के रूप में सतीत्व के, एक पुरुष से ही अस्थायी अथवा स्थायी विवाह के अधिकार के लिये उतनी ही उनकी आकांक्षा

---

* सुहागरात का अधिकार। — सं०

बढ़ी होगी। पुरुषों की ओर से यह क़दम कभी नहीं उठाया जा सकता था—और कुछ नहीं तो केवल इसलिये कि पुरुषों ने आज तक कभी भी वास्तविक यूथ-विवाह के आनन्द को व्यवहार में त्यागने की बात सपने में भी नहीं सोची है। स्त्रियों द्वारा युग्म-विवाह की प्रथा में संक्रमण सम्पन्न किये जाने के बाद ही पुरुष कड़ाई से एकनिष्ठ विवाह लागू कर सके—पर जाहिर है कि यह बंधन भी उन्होंने केवल स्त्रियों पर ही लगाया।

युग्म-परिवार ने जांगल युग तथा बर्बर युग के सीमांत पर जन्म लिया था। वह मख्यतः जांगल युग की उन्नत अवस्था में, और कहीं-कहीं बर्बर युग की निम्न अवस्था में ही उत्पन्न हुआ था। जिस प्रकार यूथ-विवाह जांगल युग की विशेषता है और एकनिष्ठ विवाह सभ्यता के युग की, इसी प्रकार परिवार का यह रूप—युग्म-विवाह—बर्बर युग की विशेषता है। उसके विकसित होकर स्थायी एकनिष्ठ विवाह में बदल जाने के लिये आवश्यक था कि अभी तक हमने जिन कारणों को काम करते देखा है, उनसे कुछ भिन्न कारण मैदान में आये। युग्म-परिवार में यूथ घटते-घटते अपनी अन्तिम इकाई में बदल गया था और नारी तथा पुरुष इन दो परमाणुओं से बना एक अणु रह गया था। नैसर्गिक वरण ने सामूहिक विवाह के दायरे को घटाते-घटाते अपना काम पूरा कर दिया था; अब इस दिशा में उसे और कुछ करना बाक़ी न था। अब यदि कोई नयी, **सामाजिक** प्रेरक शक्तियां हरकत में न आतीं, तो कोई कारण न था कि युग्म-परिवार से परिवार का कोई नया रूप उत्पन्न होता। मगर ये नयी प्रेरक शक्तियां हरकत में आने लगीं।

अब हम युग्म-परिवार की क्लासिकीय भूमि अमरीका से विदा लेते हैं। हमारे पास इस नतीजे पर पहुंचने के लिये कोई सबूत नहीं है कि अमरीका में परिवार का कोई और उन्नत रूप विकसित हुआ था, या कि अमरीका की खोज तथा उस पर क़ब्ज़ा होने से पहले उसके किसी भी भाग में नियमित एकनिष्ठ विवाह की प्रथा पायी जाती थी। परन्तु पुरानी दुनिया में इसकी उल्टी हालत थी।

यहां पशु-पालन तथा प्रजनन ने सम्पदा का एक ऐसा स्रोत उन्मुक्त कर दिया था, जिसकी पहले कल्पना भी नहीं की गयी थी, और सर्वथा नये सामाजिक सम्बन्धों को जन्म दिया था। बर्बर युग की निम्न अवस्था तक मकान, कपड़े, फूहड़ ज़ेवर और आहार उपलब्ध तथा तैयार करने के औज़ार: नाव, हथियार, बहुत मामूली ढंग के घरेलू बर्तन-भांडे मात्र ही, स्थायी सम्पत्ति में गिने जाते थे। आहार हर रोज़ नये सिरे से प्राप्त करना पड़ता था। परन्तु अब घोड़ों,

ऊंटों, गधों, गाय-बैलों, भेड़-बकरियों और सुअरों के रेवड़ों के रूप में, गड़रियों का जीवन बितानेवाले उन्नत लोगों को—भारत के पंचनद प्रदेश में तथा गंगा नदी के क्षेत्र में तथा ओक्सस और जक्सारतीस नदियों के पानी से ख़ूब हरे-भरे, आज से कहीं ज्यादा हरे-भरे घास के मैदानों में रहनेवाले आर्यों को, और फ़रात तथा दजला नदियों के किनारे रहनेवाले सामी लोगों को—एक ऐसी सम्पदा मिल गयी थी जिसकी केवल देख-रेख और अत्यंत साधारण निगरानी करने से ही काम चल जाता था। यह सम्पदा दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती जाती थी और इससे लोगों को दूध तथा मांस के रूप में अत्यधिक स्वास्थ्यकर भोजन मिल जाता था। आहार प्राप्त करने के पुराने सब तरीक़े अब पीछे छूट गये। शिकार करना, जो पहले जीवन के लिये आवश्यक था, अब शौक़ की चीज़ बन गया।

पर इस नयी सम्पदा पर अधिकार किसका था? शुरू में निस्संदेह उस पर गोत्र का अधिकार था। परन्तु पशुओं के रेवड़ों पर बहुत प्राचीन काल में ही निजी स्वामित्व क़ायम हो गया होगा। यह कहना मुश्किल है कि तथाकथित मूसा की प्रथम पुस्तक के लेखक को पिता इब्राहीम गाय-बैलों और भेड़-बकरियों के रेवड़ों के, एक कुटुम्ब-समुदाय के मुखिया होने के नाते स्वामी प्रतीत हुए थे या किसी गोत्र के वंशपरम्परागत प्रमुख होने के नाते। परन्तु एक बात निश्चित है और वह यह कि हम इब्राहीम को आधुनिक अर्थ में सम्पदा का स्वामी नहीं कह सकते। साथ ही यह बात भी निश्चित है कि प्रामाणिक इतिहास के आरम्भ में ही हम यह पाते हैं कि पशुओं के रेवड़ परिवार के मुखियाओं की अलग सम्पदा उसी तरह होते थे, जिस तरह बर्बर युग की कला-कृतियां, धातु के बर्तन-भांडे, ऐश-आराम के सामान और अन्त में मानव-पशु यानी दास मुखियाओं की सम्पदा होते थे।

कारण कि अब दास-प्रथा का भी आविष्कार हो चुका था। बर्बर युग की निम्न अवस्था के लोगों के लिए दास व्यर्थ थे। यही कारण था कि अमरीकी इंडियन युद्ध में पराजित अपने शत्रुओं के साथ जो व्यवहार करते थे, वह इस युग की उन्नत अवस्था के व्यवहार से बिल्कुल भिन्न था। पराजित पुरुषों को या तो मार डाला जाता था, या विजयी क़बीला उन्हें अपने भाइयों के रूप में स्वीकार कर लेता था। स्त्रियों से या तो विवाह कर लिया जाता था या उन्हें भी, मय उनके बचे हुए बच्चों के, क़बीले का सदस्य बना लिया जाता था। अभी मानव श्रम से इतना नहीं पैदा होता था कि श्रम करनेवाले के जीवन निर्वाह के ख़र्चे के बाद थोड़ा-बहुत बच भी रहे। परन्तु जब पशु-पालन होने लगा, धातुओं

का इस्तेमाल होने लगा, बनाई शुरू हो गयी और अन्त में जब खेती होने लगी, तब स्थिति बदल गयी। जिस प्रकार पहले पत्नियां बड़ी आसानी से मिल जाती थीं, पर बाद में उनको विनिमय-मूल्य प्राप्त हो गया था और वे ख़रीदी जाती थीं, उसी प्रकार बाद में, विशेषकर पशुओं के रेवड़ों के पारिवारिक सम्पदा बनाये जाने के बाद, श्रम-शक्ति भी ख़रीदी जाने लगी। परिवार उतनी तेज़ी से नहीं बढ़ता था जितनी तेज़ी से रेवड़ बढ़ते थे। रेवड़ की देख-रेख करने के लिये और आदमियों की ज़रूरत होती थी। युद्ध में बंदी बनाये गये लोग इस काम के लिये उपयोगी थे। इसके अलावा पशुओं की तरह उनकी भी नस्ल बढ़ायी जा सकती थी।

इस प्रकार की सम्पदा जब एक बार अलग-अलग परिवारों की निजी सम्पत्ति बन गयी और उसकी वहां खूब बढ़ती हुई, तो उसने युग्म-विवाह तथा मातृ-सत्तात्मक गोत्र पर आधारित समाज पर कठोर प्रहार किया। युग्म-विवाह के कारण परिवार में एक नये तत्त्व का प्रवेश हो गया था। सगी मां के साथ-साथ अब प्रमाणित सगा बाप भी मौजूद था, जो शायद आजकल के बहुत-से "बापों" से अधिक प्रमाणित था। परिवार के अन्दर उस ज़माने में जिस श्रम-विभाजन का चलन था, उसके अनुसार आहार जुटाने और उसके लिये आवश्यक औज़ार तैयार करने का काम पुरुष का था, और इसलिये इन औज़ारों पर उसी का अधिकार होता था। पति-पत्नी अलग होते थे तो जिस प्रकार घर का सामान स्त्री के पास रहता था, उसी प्रकार पुरुष इन औज़ारों को अपने साथ ले जाता था। अतएव उस ज़माने की सामाजिक रीति के अनुसार, आहार-संग्रह के इन नये स्रोतों का – यानी पशुओं का, और बाद में श्रम के नये औज़ारों का, यानी दासों का भी – मालिक पुरुष हुआ। परन्तु, उसी समाज की रीति के अनुसार, पुरुष की संतान उसकी सम्पत्ति को उत्तराधिकार में नहीं पाती थी। इस मामले में स्थिति इस प्रकार थी।

मातृ-सत्ता के अनुसार, यानी जब तक कि वंश केवल स्त्री-परंपरा के अनुसार चलता रहा, और गोत्र की मूल उत्तराधिकार प्रथा के अनुसार, गोत्र के किसी सदस्य के मर जाने पर उसकी सम्पत्ति उसके गोत्र के सम्बन्धियों को मिलती थी। यह आवश्यक था कि सम्पत्ति गोत्र के भीतर ही रहे। शुरू में चूंकि सम्पत्ति साधारण होती थी, इसलिये सम्भव है कि व्यवहार में वह सबसे नज़दीकी गोत्र-सम्बन्धियों को, यानी मां की तरफ़ के रक्त-सम्बन्धियों को मिलती रही हो। परन्तु मृत पुरुष के बच्चे उसके गोत्र के नहीं, बल्कि अपनी मां के गोत्र के होते

थे। शुरू में अपनी मां के दूसरे रक्त-सम्बन्धियों के साथ-साथ बच्चों को भी मां की सम्पत्ति का एक भाग मिलता था, और शायद बाद में, उस पर उनका प्रथम अधिकार मान लिया गया हो। परन्तु उन्हें अपने पिता की सम्पत्ति नहीं मिल सकती थी, क्योंकि वे उसके गोत्र के सदस्य नहीं होते थे और उसकी सम्पत्ति का उसके गोत्र के अन्दर रहना आवश्यक था। अतएव पशुओं के रेवड़ के मालिक के मर जाने पर, उसके रेवड़ पहले उसके भाइयों और बहनों को और बहनों के बच्चों को, या उसकी मौसियों के वंशजों को मिलते थे। परन्तु उसके अपने बच्चे उत्तराधिकार से वंचित थे।

इस प्रकार जैसे-जैसे सम्पत्ति बढ़ती गयी, वैसे-वैसे इसके कारण एक ओर तो परिवार के अन्दर नारी की तुलना में पुरुष का दर्जा ज्यादा महत्त्वपूर्ण होता गया, और दूसरी ओर पुरुष के मन में यह इच्छा ज़ोर पकड़ती गयी कि अपनी पहले से मज़बूत स्थिति का फ़ायदा उठाकर उत्तराधिकार की पुरानी प्रथा को उलट दिया जाये, ताकि उसके अपने बच्चे हक़दार हो सकें। परन्तु जब तक मातृ-सत्ता के अनुसार वंश चल रहा था, तब तक ऐसा करना असम्भव था। इसलिये आवश्यक था कि मातृ-सत्ता को उलट दिया जाये, और ऐसा किया भी गया। और यह करने में उतनी कठिनाई नहीं हुई जितनी आज मालूम पड़ती है। कारण कि यह क्रान्ति, जो मानवजाति द्वारा अब तक अनुभूत सबसे निर्णायक क्रांतियों में थी, गोत्र के एक भी जीवित सदस्य के जीवन में किसी तरह का ख़लल डाले बिना सम्पन्न हो सकती थी। सभी सदस्य जैसे पहले थे, वैसे ही अब भी रह सकते थे। बस यह एक सीधा-सादा फ़ैसला काफ़ी था कि आगे चलकर गोत्र के पुरुष सदस्यों के वंशज गोत्र में ही रहेंगे और स्त्रियों के वंशज गोत्र से अलग किये जायेंगे, और उनके पिताओं के गोत्रों में शामिल कर दिये जायेंगे। इस प्रकार मातृक वंशानुक्रम तथा मातृक दायाधिकार की प्रथा उलट दी गयी और उसके स्थान पर पैतृक वंशानुक्रम तथा पैतृक दायाधिकार स्थापित हुआ। यह क्रांति सभ्य जनगण में कब और कैसे हुई, इसके बारे में हम कुछ नहीं जानते। यह पूर्णतः प्रागैतिहासिक काल की बात है। पर यह क्रांति **वास्तव में हुई थी**, यह इस बात से एकदम सिद्ध हो जाता है कि मातृ-सत्ता के जगह-जगह अनेक अवशेष मिले हैं, जिन्हें ख़ास तौर पर बाख़ोफ़ेन ने जमा किया है। यह क्रांति कितनी आसानी से हो जाती है, यह इस बात से प्रकट होता है कि अनेक अमरीकी इंडियन क़बीलों में यह परिवर्तन अभी हाल में हुआ है और अब भी हो रहा है। यहां यह क्रांति कुछ हद तक बढ़ती हुई दौलत और जीवन की परिवर्तित प्रणालियों (जंगलों से

वृक्षविहीन घास के मैदानों में स्थानान्तरण) के प्रभाव के कारण और कुछ हद तक सभ्यता तथा मिशनरियों के नैतिक प्रभाव के कारण हुई है। मिसौरी के आठ क़बीलों में से छः में पैतृक और दो में अब भी मातृक वंशानुक्रम तथा मातृक दायाधिकार क़ायम हैं। शौनी, मियामी और डेलावेयर क़बीलों में यह रीति बन गयी है कि बच्चों को पिता के गोत्र के नामों में से कोई एक नाम देकर उस गोत्र में शामिल कर दिया जाता है, ताकि वे अपने पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी बन सकें। "मनुष्य की अन्तर्जात वाक्छल प्रवृत्ति, जिसके द्वारा वह वस्तुओं के नाम बदलकर स्वयं उन वस्तुओं को बदलने की चेष्टा करता है! जब भी कोई प्रत्यक्ष हित पर्याप्त प्रेरणा प्रदान करता है, वह परम्परा को तोड़ने के लिये परम्परा के अन्दर छिद्र ढूंढ़ निकालता है" (मार्क्स)। इसका परिणाम यह हुआ कि बेहद गड़बड़ी मच गयी और उसे ठीक करने का सिर्फ़ यह रास्ता रह गया कि मातृ-सत्ता की जगह पितृ-सत्ता क़ायम की जाये। ऐसा ही करके कुछ हद तक यह गड़बड़ी दूर भी की गयी। "कुल मिलाकर यह बहुत ही स्वाभाविक संक्रमण मालूम पड़ता है" (मार्क्स)। जहां तक इस बात का सम्बन्ध है कि पुरानी दुनिया के सभ्य जनगण में यह परिवर्तन जिन तरीक़ों और उपायों से किया गया, उनके बारे में तुलनात्मक विधिशास्त्र के विशेषज्ञों का क्या कहना है—ज़ाहिर है कि उनके मत प्रमेय मात्र हैं—पाठक म० कोवालेव्स्की की 'परिवार और सम्पत्ति की उत्पत्ति और विकास की रूपरेखा' नामक पुस्तक को देखें, जो स्टॉकहोम से १८६० में प्रकाशित हुई थी।

मातृ-सत्ता का विनाश **नारी जाति की विश्व ऐतिहासिक महत्त्व की पराजय थी।** अब घर के अन्दर भी पुरुष ने अपना आधिपत्य जमा लिया। नारी पदच्युत कर दी गयी। वह जकड़ दी गयी। वह पुरुष की वासना की दासी, संतान उत्पन्न करने का एक यंत्र मात्र बनकर रह गयी। वीर-काल के, और उससे भी अधिक क्लासिकीय काल के यूनानियों में नारी की यह गिरी हुई हैसियत ख़ास तौर पर देखी गयी। बाद में धीरे-धीरे तरह-तरह के आवरणों से ढंककर और सजाकर, और आंशिक रूप में थोड़ी नरम शक्ल देकर, उसे पेश किया जाने लगा, पर वह कभी दूर नहीं हुई।

अब पुरुषों की जो एकच्छत्र सत्ता स्थापित हुई उसका पहला प्रभाव परिवार के एक अन्तरकालीन रूप—पितृसत्तात्मक परिवार की शक्ल—में प्रगट हुआ, जिसका उस काल में आविर्भाव हुआ। इस रूप की मुख्य विशेषता बहु-पत्नी विवाह नहीं थी—उसका तो हम आगे ज़िक्र करेंगे। उसकी मुख्य विशेषता यह थी कि

"कई स्वतन्त्र तथा अधीन लोग परिवार के मुखिया की पैतृक शक्ति के अधीन एक परिवार में संगठित होते थे। सामी लोगों में इस परिवार के मुखिया के पास कई पत्नियां होती थीं, अधीन लोगों के पास पत्नी और बच्चे होते थे, और पूरे संगठन का उद्देश्य एक सीमित क्षेत्र के अन्दर पशुओं के रेवड़ों और ढोरों की देख-रेख करना होता था।"[13]

परिवार के इस रूप की सारभूत विशेषताएं अधीन लोगों का परिवार में समावेश और पैतृक शक्ति थीं। अतएव परिवार के इस रूप का सबसे विकसित रूप रोमन परिवार है। शुरू में familia शब्द का अर्थ वह नहीं था जो हमारे आधुनिक कूपमंडूक का आदर्श है और जिसमें भावुकता और घरेलू कलह का सम्मिश्रण होता है। प्रारम्भ काल में रोमन लोगों के बीच इस शब्द में विवाहित दम्पत्ति और उसके बच्चों का संकेत भी न था, वह केवल दासों का ही सूचक था। Famulus शब्द का अर्थ है घरेलू दास, और familia शब्द का अर्थ—एक व्यक्ति के सारे दासों का समूह। यहां तक कि गायस के समय में भी familia, id est patrimonium (अर्थात् उत्तराधिकार) को लोग एक वसीयतनामे के द्वारा अपने वंशजों के लिये छोड़ जाते थे। रोमन लोगों ने एक नये सामाजिक संगठन का वर्णन करने के लिये इस नाम का आविष्कार किया था। उसमें उसके मुखिया के अधीन उसकी पत्नी, उसके बच्चे और कुछ दास होते थे, और रोमन पैतक शक्ति के अन्तर्गत उसके हाथ में इन लोगों की ज़िन्दगी और मौत का अधिकार होता था।

"अतएव यह नाम लैटिन क़बीलों की उस लौहावृत पारिवारिक व्यवस्था से अधिक पुराना नहीं था, जिसने खेत बनाकर खेती करने की प्रथा के शुरू होने, दास-प्रथा के क़ानूनी बन जाने और साथ ही यूनानियों तथा (आर्यों के) लैटिन लोगों के अलग हो जाने के बाद जन्म लिया था।"[14]

मार्क्स ने इस वर्णन में ये शब्द और जोड़े हैं कि "आधुनिक परिवार में न केवल दास-प्रथा (servitus), बल्कि भूदास-प्रथा भी बीज-रूप में निहित है, क्योंकि परिवार का सम्बन्ध शुरू से ही खेती के काम-धंधे से रहा है। लघु रूप में इसमें वे तमाम विरोध मौजूद रहते हैं जो आगे चलकर समाज में और उसके राज्य में बड़े व्यापक रूप से विकसित होते हैं"।

परिवार के इस रूप से पता चलता है कि युग्म-परिवार का किस तरह एकनिष्ठ विवाह में संक्रमण हुआ। पत्नी के सतीत्व की रक्षा करने के लिये,

यानी बच्चों के पितृत्व की रक्षा करने के लिये नारी को पुरुष की निरंकुश सत्ता के अधीन बना दिया जाता है। वह यदि उसे मार भी डालता है, तो वह अपने अधिकार का ही प्रयोग करता है।

पितृसत्तात्मक परिवार के साथ हम लिखित इतिहास के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, और यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें तुलनात्मक विधिशास्त्र हमारी बड़ी सहायता कर सकता है। और सचमुच इस क्षेत्र में हम उसकी बदौलत काफ़ी प्रगति करने में सफल हुए हैं। हम मक्सिम कोवालेव्स्की ('परिवार और सम्पत्ति की उत्पत्ति और विकास की रूपरेखा', स्टॉकहोम, १८९०, पृष्ठ ६०–१००) के आभारी हैं कि उन्होंने यह बात साबित कर दी कि पितसत्तात्मक कुटम्ब-समुदाय (Hausgenossenschaft), जैसा कि उसे हम सर्बिया और बुल्गारिया के लोगों में आज भी zádruga (जिसका मतलब बिरादरी जैसी चीज़ है) या bratstvo (भ्रातृत्व) के नामों से चलता हुआ पाते हैं, और जो थोड़े बदले हुए रूप में पूरब के लोगों में भी मिलता है, यूथ-विवाह से विकसित होनेवाले मातृसत्तात्मक परिवार के और आधुनिक संसार के व्यक्तिगत परिवार के बीच की संक्रमणकालीन अवस्था है। कम से कम जहां तक पुरानी दुनिया के सभ्य जनगण का—आर्यों तथा सामी लोगों का—सम्बन्ध है, यह बात साबित हो गयी मालूम पड़ती है।

इस प्रकार के कुटुम्ब-समुदाय का सबसे अच्छा उदाहरण आजकल हमें दक्षिणी स्लाव लोगों के zádruga के रूप में मिलता है। इसमें एक पिता के कई पीढ़ियों के वंशज और उनकी पत्नियां शामिल होती हैं। ये सब लोग साथ-साथ रहते हैं, मिलकर अपने खेतों को जोतते हैं, एक समान भंडार से भोजन और वस्त्र प्राप्त करते हैं और इस्तेमाल के बाद जो चीज़ें बच रहती हैं, वे सब की सामूहिक सम्पत्ति होती हैं। इस समदाय का प्रबंध घर के मुखिया (domàčin) के हाथ में रहता है। वह बाहरी मामलों में समुदाय का प्रतिनिधित्व करता है, छोटी-मोटी चीज़ों को दे-ले सकता है, घर का हिसाब-किताब रखता है, और इन बातों तथा घर के कामकाज का नियमित रूप से संचालन करने के लिये ज़िम्मेदार समझा जाता है। घर के मुखिया का चुनाव होता है और यह भी ज़रूरी नहीं है कि वह कुटुम्ब का सबसे बूढ़ा सदस्य हो। घर की औरतों और उनके काम का संचालन घर की मुखिया (domàčica) करती है, जो प्राय: domáčin की पत्नी होती है। लड़कियों के लिये वर चुनने में उसका मत महत्त्वपूर्ण और प्राय: निर्णायक होता है। फिर भी सर्वोच्च सत्ता कुटुम्ब-परिषद् के हाथ में रहती है। कुटुम्ब के सभी बालिग़ लोग—पुरुष और नारी—इस परिषद् के सदस्य होते

हैं। घर का मुखिया इसी परिषद् के सामने काम का ब्यौरा पेश करता है। यह परिषद् ही तमाम महत्त्वपूर्ण सवालों को तय करती है, कुटुम्ब के सदस्यों के बीच अदालत का काम करती है, और महत्त्वपूर्ण वस्तुओं, विशेषकर ज़मीन-जायदाद की ख़रीद-बिक्री, आदि का निर्णय करती है।

क़रीब दस बरस पहले की ही बात है जब रूस में भी ऐसे बड़े-बड़े कुटुम्ब-समुदायों के अस्तित्व का प्रमाण मिला था।[15] अब तो यह बात आम तौर पर मानी जाती है कि रूस की लोक-परम्परा में इन समुदायों की जड़ें भी उतनी ही गहरी जमी हुई हैं जितनी ग्राम-समुदाय की। रूसियों की सबसे प्राचीन विधि-संहिता में—यारोस्लाव के 'प्राव्दा' में—इन समुदायों का उसी नाम (vervj) से ज़िक्र आता है, जिस नाम से डाल्मेशियन क़ानूनों में[16] आता है। और पोल तथा चेक लोगों की ऐतिहासिक दस्तावेज़ों में भी उनकी चर्चा मिलती है।

ह्यूज़लर के मतानुसार ('जर्मन अधिकार-प्रथाएं') जर्मन लोगों में भी आर्थिक इकाई शुरू में आधुनिक ढंग का व्यक्तिगत परिवार नहीं थी, बल्कि "कुटुम्ब-समुदाय" (Hausgenossenschaft) थी, जिसमें अपने-अपने परिवारों सहित कई पीढ़ियां और अक्सर बहुत-से अधीन लोग भी शामिल होते थे। रोमन परिवार के इतिहास को देखने से उसका भी पूर्व रूप यही कुटुम्ब-समुदाय ठहरता है, और इसके परिणामस्वरूप अभी हाल में रोमन परिवार में घर के मुखिया की निरंकुश सत्ता और परिवार के बाक़ी सदस्यों की मुखिया की तुलना में अधिकारहीन स्थिति के विषय में प्रबल शंका प्रगट की गयी है। यह माना जाता है कि इस प्रकार के कुटुम्ब-समुदाय आयरलैंड के केल्ट लोगों में भी रहे हैं। फ़्रांस के निवेर्न प्रदेश में वे parçonneries के नाम से फ़्रांसीसी क्रांति के समय तक मौजूद थे, और फ़्रांश-कोम्ते में तो वे आज भी नहीं मिटे हैं। लूहां (साओन तथा ल्वार) के इलाक़े में अब भी ऐसे अनेक बड़े-बड़े किसान घर देखने को मिलेंगे जिनके बीचों-बीच एक ऊंची छत वाला सामुदायिक हॉल होता है और उसके चारों ओर सोने के कमरे होते हैं जिनमें जाने के लिये छः-आठ सीढ़ियों के ज़ीने बने होते हैं और जिनमें एक ही परिवार की कई पीढ़ियां निवास करती हैं।

भारत में सामूहिक ढंग से खेती करनेवाले कुटुम्ब-समुदाय के अस्तित्व के बारे में नियार्कस ने सिकन्दर महान के समय में ही ज़िक्र किया था, और उसी इलाक़े में, पंजाब में और देश के पूरे उत्तर-पश्चिमी भाग में इस प्रकार के समुदाय आज भी पाये जाते हैं। काकेशिया में कोवालेव्स्की ख़ुद ऐसे समुदाय के अस्तित्व के साक्षी हैं। अल्जीरिया के क़बीलों में वह आज तक मौजूद है। कहा जाता

है कि अमरीका में भी किसी समय इस प्रकार के समुदाय का अस्तित्व था। यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है कि सुरीता ने प्राचीन मैक्सिको के जिस «calpullis»[17] का वर्णन किया है, वह इसी ढंग का कुटुम्ब-समुदाय था। दूसरी ओर कूनोव ने (*«Ausland»*[18], १८६०, अंक ४२–४४) काफ़ी साफ़ तौर पर साबित कर दिया है कि विजय के समय पेरू में "मार्क" जैसा कोई संगठन था (और अजीब बात यह है कि इसे भी marca कहते थे), जिसमें खेती की ज़मीन के समय-समय पर बंटवारे की व्यवस्था थी, यानी जोत वैयक्तिक प्रकार की ही थी।

कुछ भी हो, भूमि पर सामूहिक स्वामित्व तथा सामूहिक जोत वाला पितृसत्तात्मक कुटुम्ब-समुदाय का अब एक नया ही अर्थ प्रगट होता है जो पहले नहीं समझा गया था। अब इसमें कोई सन्देह नहीं रह गया है कि पुरानी दुनिया के सभ्य तथा अन्य जनगण में इस समुदाय ने मातृसत्तात्मक परिवार और व्यक्तिगत परिवार के बीच संक्रमणकालीन रूप में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। कोवालेव्स्की ने इससे भी आगे जाकर यह कहा है कि इसी संक्रमणकालीन अवस्था में से ग्राम-समुदाय, अथवा मार्क-समुदाय भी निकला है, जिसमें लोग खेती अलग-अलग करते थे और खेती की और चरागाह की ज़मीन इनके बीच शुरू में थोड़े-थोड़े निश्चित काल के लिये और बाद में स्थायी रूप से बांट दी गयी थी। लेकिन इसकी हम बाद में चर्चा करेंगे।

जहां तक इन कुटुम्ब-समुदायों के भीतर के पारिवारिक जीवन का सम्बन्ध है, हमें यह ध्यान में रखना चाहिये कि कम से कम रूस में घर के मुखिया के बारे में यह सर्वविदित है कि वह घर की जवान औरतों के बारे में, ख़ासकर अपनी बहुओं के बारे में अपनी हैसियत का बेजा फ़ायदा उठाता है और घर को अक्सर हरम बना डालता है। रूसी लोक-गीतों में इस अवस्था की स्पष्ट झलक मिलती है।

मातृ-सत्ता के विनाश के बाद बहुत तेज़ी से एकनिष्ठ विवाह का विकास हुआ। पर उसकी चर्चा करने के पहले हम बहु-पत्नी प्रथा तथा बहु-पति प्रथा के बारे में कुछ और शब्द कहना चाहेंगे। यदि ये दोनों प्रथाएं किसी देश में साथ-साथ नहीं मिलतीं – और सर्वविदित है कि वे साथ-साथ नहीं मिलती हैं – तो ज़ाहिर है कि विवाह के ये दोनों रूप केवल अपवाद के रूप में ही, इतिहास की विलास वस्तुओं के रूप में ही, पाये गये हैं। सामाजिक संस्थाएं जो भी रही हों, पुरुषों और स्त्रियों की संख्या अभी तक, मोटे तौर पर, सदा बराबर रही है और

चूंकि यह सम्भव नहीं है कि बहु-पत्नी प्रथा से बाहर रह गये पुरुष बहु-पति प्रथा से बाहर रह गयी स्त्रियों से संतोष कर लें, इसलिये ज़ाहिर है कि इन दोनों प्रथाओं में से कोई भी समाज में आम तौर पर प्रचलित नहीं हो सकती थी। वास्तव में तो पुरुषों द्वारा कई-कई पत्नियों को रखने की प्रथा स्पष्टतः दास-प्रथा से उत्पन्न हुई थी और केवल अपवादस्वरूप ही पायी जाती थी। सामी लोगों के पितृसत्तात्मक परिवार में, केवल कुलपति या अधिक से अधिक उसके दो-एक पुत्रों के पास, एक से अधिक पत्नियां होती थीं; परिवार के अन्य सदस्यों को एक-एक पत्नी से ही संतोष करना पड़ता था। समूचे पूरब में आज भी यही हालत है। बहु-पत्नी विवाह केवल धनिकों तथा अभिजात लोगों का विशेषाधिकार है, और ये पत्नियां मुख्यतः दासियों के रूप में ख़रीदी जाती हैं। आम लोगों के पास एक-एक पत्नी होती है। इसी प्रकार भारत और तिब्बत में बहु-पति प्रथा अपवादस्वरूप ही मिलती है, जिसकी यूथ-विवाह से उत्पत्ति सिद्ध करने के लिये, जो सचमुच बड़ी दिलचस्प चीज़ होगी, अभी और निकट से खोज करने की आवश्यकता है। इसमें शक नहीं कि व्यवहार में यह प्रथा मुसलमानों के हरमों की प्रथा से, जहां ईर्ष्या का राज रहता है, अधिक सह्य है। कम से कम भारत के नायर लोगों में तो निश्चय ही तीन-तीन, चार-चार, या उससे भी अधिक संख्या में पुरुषों के पास केवल एक पत्नी होती है, परन्तु उनमें प्रत्येक पुरुष को यह अधिकार होता है कि चाहे तो तीन-चार अन्य पुरुषों के साथ एक दूसरी पत्नी रखे, और इसी प्रकार तीसरी या चौथी पत्नी रखे। आश्चर्य की बात है कि मैक-लेनन ने इन विवाह-क्लबों को, जिनमें से पुरुष कई का एकसाथ सदस्य बन सकता था और जिनका मैक-लेनन ने ख़ुद वर्णन किया है, विवाह का एक नया रूप – **क्लब-विवाह** – नहीं समझा। परन्तु क्लब-विवाह की यह प्रथा वास्तविक बहु-पति प्रथा नहीं है, बल्कि इसके विपरीत, जैसा कि जिरो-त्यूलों ने लक्ष्य किया है, यह यूथ-विवाह का एक विशेष रूप है, जिसमें पुरुषों की अनेक पत्नियां होती हैं और स्त्रियों के अनेक पति होते हैं।

४. **एकनिष्ठ परिवार**। पहले बताया जा चुका है कि परिवार का यह रूप, बर्बर युग की मध्यम तथा उन्नत अवस्थाओं के बीच के युग में, युग्म-परिवार से उत्पन्न होता है; उसकी अंतिम विजय सभ्यता के युग के आरम्भ होने का सूचक थी। एकनिष्ठ परिवार पुरुष की सर्वोच्च सत्ता पर आधारित होता है। उसका स्पष्ट उद्देश्य ऐसे बच्चे पैदा करना होता है जिनके पितृत्व के बारे में कोई विवाद न हो। यह इसलिये ज़रूरी होता है कि समय आने पर ये बच्चे

अपने पिता के सीधे उत्तराधिकारियों के रूप में उसकी दौलत विरासत में पा सकें। युग्म-विवाह से एकनिष्ठ परिवार इस माने में भिन्न होता है कि इसमें विवाह का सम्बन्ध कहीं ज़्यादा दृढ़ होता है और दोनों में से कोई भी पक्ष उसे जब चाहे तब नहीं तोड़ सकता। अब तो नियम यह बन जाता है कि केवल पुरुष को ही विवाह के सम्बन्ध को तोड़ देने और अपनी पत्नी को त्याग देने का अधिकार होता है। अपनी पत्नी के प्रति वफ़ादार न रहने का उसका अधिकार अब भी क़ायम रहता है, कम से कम रीति-रिवाज इस अधिकार को मान्यता प्रदान करते हैं (Code Napoléon में तो साफ़ तौर पर पति को यह अधिकार दिया गया है बशर्ते कि वह अपनी रखैल को अपने घर के अन्दर न लाये[10]) और समाज के विकास के साथ-साथ पुरुष इस अधिकार का अधिकाधिक प्रयोग करता है। परन्तु यदि पत्नी प्राचीन यौन-सम्बन्धों की याद करके उन्हें फिर से लागू करना चाहे, तो उसे पहले से भी अधिक सख़्त सज़ा दी जाती है।

परिवार के इस नये रूप को, ऐसी हालत में जब उसमें ज़रा भी नर्मी नहीं रह गयी है, हम यूनानियों के बीच देखते हैं। जैसा कि मार्क्स ने कहा था, यूनानियों की पुराण-कथाओं में देवियों का जो स्थान है, वह उस पूर्व काल का प्रतिनिधित्व करता है, जब स्त्रियों की स्थिति अधिक सम्मानप्रद और स्वतन्त्र थी। परन्तु वीर-काल में ही हम यूनानी स्त्रियों को, पुरुष की प्रधानता और दासियों की होड़ के कारण, निरादृत पाते हैं। 'ओडीसी' में आप पढ़ेंगे कि टेलेमाकस किस प्रकार अपनी मां को डांटकर चुप कर देता है*। होमर की रचनाओं में यह वर्णन मिलता है कि जब कभी युवतियां युद्ध में पकड़ी जाती हैं तो वे विजेताओं की काम-लिप्सा का शिकार बनती हैं। विजयी सेना के नायक अपने पदों के क्रमानुसार सबसे सुन्दर युवतियों को अपने लिये छांट लेते हैं। यह सुविदित है कि 'इलियाड' महाकाव्य की पूरी कथा-वस्तु का केन्द्रीय तत्त्व ऐसी ही एक दासी के बारे में एकिलीज़ और एगामेम्नोन का झगड़ा है। होमर की रचनाओं में प्रत्येक महत्त्वपूर्ण नायक के सम्बन्ध में एक ऐसी बंदिनी युवती का ज़िक्र आता है, जो उसकी हमबिस्तर है और हमसफ़र भी। इन युवतियों को उनके मालिक अपने घर ले जाते हैं, जहां उनकी विवाहिता पत्नियां होती हैं, जैसे कि ईस्खिलस का एगामेम्नोन कसांड्रा को अपने घर ले गया था**। इन दासियों

*होमर, 'ओडीसी', प्रथम गीत।—सं०

**ईस्खिलस, 'ओरेस्टीया। एगामेम्नोन'—सं०

से जो पुत्र पैदा होते हैं, उनको पिता की जायदाद में से एक छोटा-सा हिस्सा मिल जाता है और वे स्वतन्त्र नागरिक समझे जाते हैं। तेलामोन का एक ऐसा ही जारज पुत्र त्यूक्रोस है, जिसे अपने पिता का नाम ग्रहण करने की इजाज़त दी गयी। विवाहिता पत्नी से उम्मीद की जाती थी कि वह इन सारी बातों को चुपचाप सहन करेगी और ख़ुद कठोर पातिव्रत्य धर्म का पालन करेगी तथा पतिपरायण रहेगी। यह सच है कि वीर-काल में यूनानी पत्नी का सभ्यता के युग की पत्नी से अधिक आदर होता था, परन्तु पति के लिये उसका केवल यही महत्त्व था कि वह उसके वैध उत्तराधिकारियों की मां है, उसके घर की प्रमुख प्रबंधकर्त्री है और उसकी उन दासियों की दारोग़ा है जिनको वह जब चाहे, अपनी रखैल बना सकता है, और बनाता भी है। एकनिष्ठ विवाह के साथ-साथ चूंकि समाज में दासता भी प्रचलित थी, और सुन्दर दासियां पूर्णतः **पुरुष** की सम्पत्ति होती थीं, इसलिये एकनिष्ठ विवाह पर शुरू से ही यह छाप लग गयी कि वह **केवल नारी के लिये** एकनिष्ठ है, पुरुष के लिये नहीं। और आज तक उसका यही स्वरूप चला आया है।

जहां तक वीर-काल के बाद के यूनानियों का सवाल है, हमें डोरियनों और आयोनियनों में भेद करना चाहिए। कई बातों में डोरियन लोगों में, जिनकी क्लासिकीय मिसाल स्पार्टा है, होमर द्वारा वर्णित वैवाहिक सम्बन्धों से भी अधिक प्राचीन सम्बन्ध मिलते हैं। स्पार्टा में हम एक ढंग का युग्म-विवाह पाते हैं, जिसे वहां के राज्य ने प्रचलित विचारों के अनुसार थोड़ा परिवर्तित कर दिया था। युग्म-विवाह का वह एक ऐसा रूप है जिसमें यूथ-विवाह के भी अनेक अवशेष मिलते हैं। जिस विवाह से सन्तान नहीं होती थी, उसे भंग कर दिया जाता था। राजा अनेक्सांद्रिदास ने (५६० ई० पू० के लगभग) एक दूसरा विवाह किया क्योंकि उसकी पहली पत्नी से सन्तान नहीं हुई थी और इस प्रकार दो गृहस्थियां क़ायम रखीं। इसी काल के एक और राजा एरिस्तोनस ने अपनी पहली दो बांझ पत्नियों के अलावा एक तीसरी स्त्री से विवाह किया था, परन्तु उसने पहली दो पत्नियों में से एक को अपने यहां से चले जाने दिया था। दूसरी ओर, कई भाई मिलकर एक सामूहिक पत्नी भी रख सकते थे। यदि किसी को अपने मित्र की पत्नी पसन्द आ जाती थी तो वह भी हिस्सेदार हो सकता था। और बिस्मार्क के शब्दों में, किसी कामुक "सांड़" के आ जाने पर, यदि वह सह-नागरिक नहीं हो तो भी, अपनी पत्नी को उसके उपभोग के लिये प्रस्तुत करना उचित समझा जाता था। शेमान के अनुसार प्लुटार्क की वह कथा जिसमें स्पार्टा

की एक स्त्री अपने एक प्रेमी को, जो उसके पीछे पड़ा हुआ था, अपने पति से बात करने को भेज देती है, और भी अधिक यौन-स्वच्छंदता की ओर इंगित करती है। इस प्रकार वास्तविक व्यभिचार, यानी पति की पीठ पीछे पत्नी का किसी और पुरुष के साथ यौन-सम्बन्ध उन दिनों सुनने में भी नहीं आता था। दूसरी ओर, स्पार्टा में, कम से कम उसके उत्कर्ष काल में, घरेलू दास-प्रथा नहीं थी। स्पार्टियेटों को हीलोटों की[20] स्त्रियों के साथ सम्भोग करने का कम प्रलोभन होता था, क्योंकि वे अलग बस्तियों में रहते थे। और यदि इन सब परिस्थितियों में स्पार्टा की नारियां यूनान की और सब नारियों से अधिक सम्मान और आदर की पात्र समझी जाती थीं, तो यह स्वाभाविक था। प्राचीन युग के लेखक, यूनानी स्त्रियों में केवल स्पार्टा की नारियों और एथेंस की विशिष्ट हैटेराओं को ही इस क़ाबिल समझते थे कि उनका ज़िक्र आदर के साथ करें और उनकी उक्तियों को अपनी रचनाओं में स्थान दें।

आयोनियन लोगों में – जिनका लाक्षणिक उदाहरण एथेंस था – हालत बिल्कुल भिन्न थी। वहां लड़कियों को केवल कातना-बुनना और सीना-पिरोना सिखाया जाता था। बहुत हुआ तो वे थोड़ा पढ़ना-लिखना भी सीख लेती थीं। उन्हें क़रीब-क़रीब पर्दे में रखा जाता था और वे केवल दूसरी स्त्रियों से ही मिल-जुल सकती थीं। ज़नानख़ाना घर का एक ख़ास और अलग हिस्सा होता था, जो आम तौर पर ऊपर की मंज़िल पर या मकान के पिछले हिस्से में होता था, जहां पुरुषों की, ख़ास तौर पर अजनबियों की, आसानी से पहुंच नहीं हो सकती थी। जब मेहमान आते, औरतें वहां चली जाती थीं। स्त्रियां अकेले और बिना एक दासी को साथ लिये] बाहर नहीं जाती थीं। घर में उन पर पहरा-सा रहता था। एरिस्तोफ़ेनस कहता है कि व्यभिचारियों को पास न फटकने देने के लिये मोलोस्सियन कुत्ते घर में रखे जाते थे[21], और कम से कम एशिया के शहरों में औरतों पर पहरा देने के लिये ख़ोजे रखे जाते थे। हेरोडोटस के काल से ही कियोस द्वीप में बेचने के लिये ख़ोजे बनाये जाते थे। वाक्समुथ का कहना है कि वे केवल बर्बर लोगों के लिये ही नहीं बनाये जाते थे। यूरिपिडीज़ में पत्नी को oikurema* यानी गृह-प्रबंध के लिये एक वस्तु (यह शब्द नपुंसक लिंग का है) कहा गया है, और बच्चे पैदा करने के सिवा, एक एथेंसवासी की दृष्टि में पत्नी का महत्त्व प्रमुख नौकरानी से अधिक कुछ नहीं था। पति अखाड़े में जाकर कसरत

* यूरिपिडीज़, 'ओरेस्तस'। – सं०

करता था, सार्वजनिक जीवन में भाग लेता था, पर इस सब से पत्नी को अलग रखा जाता था; इसके अलावा उसके पास दासियां भी होती थीं, और एथेंस के उत्कर्ष काल में तो वहां बड़े व्यापक रूप में वेश्यावृत्ति भी होती थी। कम से कम यह तो कहा ही जा सकता है कि इसे राज्य की तरफ़ से बढ़ावा मिलता था। इस वेश्यावृत्ति के आधार पर ही यूनान का वह एकमात्र प्रसिद्ध नारी वर्ग विकसित हुआ था जो अपने बुद्धि-बल और कला-प्रेम के कारण प्राचीन काल की नारियों के साधारण स्तर से उतना ही ऊपर उठ गया था, जितना ऊपर स्पार्टा की नारियां अपने चरित्र के कारण उठ गयी थीं। एथेंस की पारिवारिक व्यवस्था पर इससे भयंकर इलज़ाम और क्या लगाया जा सकता है कि नारी बनने के लिये पहले हैटेरा बनना पड़ता था।

कालान्तर में एथेंस की यह पारिवारिक व्यवस्था न केवल दूसरे आयोनियनों के लिये, बल्कि ख़ास यूनान में रहनेवाले सभी यूनानियों के लिये और यूनान के उपनिवेशों के लिये आदर्श बन गयी, और वे अपने घरेलू सम्बन्धों को भी उसी सांचे में अधिकाधिक ढालने लगे। लेकिन तमाम पर्दे और निगरानी के बावजूद यूनानी स्त्रियां अपने पतियों को धोखा देने के काफ़ी मौक़े ढूंढ़ ही निकालती थीं। पति लोग – जिन्हें अपनी पत्नियों के प्रति ज़रा-सा भी प्रेम प्रकट करने में शर्म आती थी – हैटेराओं के साथ विभिन्न प्रकार की प्रेमलीलाएं किया करते थे। परन्तु नारी के पतन का ख़ुद पुरुष को बदला मिला और वह भी पतन के गर्त में जा पड़ा। यहां तक कि वह लड़कों के साथ अप्राकृतिक व्यभिचार करने की ओर प्रवृत्त हुआ और गैनीमीड की पुराण-कथा द्वारा उसने स्वयं अपने और अपने देवताओं को पतित किया।

प्राचीन काल के सर्वाधिक सभ्य और विकसित लोगों में, जहां तक हम उनकी खोज कर पाये हैं, एकनिष्ठ विवाह की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई थी। यह किसी भी हालत में व्यक्तिगत यौन-प्रेम का परिणाम नहीं था, उसके साथ तो एकनिष्ठ विवाह की तनिक भी समानता नहीं है, क्योंकि इस प्रथा के प्रचलित होने के बाद भी विवाह पहले की ही तरह अपना लाभ देखकर किये जाते रहे। यह परिवार का वह पहला रूप था जो प्राकृतिक कारणों पर नहीं, बल्कि आर्थिक कारणों पर आधारित था – यानी जो प्राचीन काल की प्राकृतिक ढंग से विकसित सामूहिक सम्पत्ति के ऊपर व्यक्तिगत सम्पत्ति की विजय के आधार पर खड़ा हुआ था। यूनानी लोग तो खुलेआम स्वीकार करते थे कि एकनिष्ठ विवाह का उद्देश्य केवल यह था कि परिवार में पुरुष का शासन रहे और ऐसे बच्चे पैदा हों जो केवल

उसकी अपनी सन्तान हों और जो उसकी सम्पत्ति के उत्तराधिकारी बन सकें। इन बातों के अलावा एकनिष्ठ विवाह केवल एक भार था जिसे ढोना पड़ता था देवताओं के प्रति, राज्य के प्रति और पूर्वजों के प्रति एक कर्त्तव्य था जिसका पालन करना आवश्यक था। एथेंस में क़ानून के अनुसार न सिर्फ़ विवाह करना जरूरी था, बल्कि पुरुष द्वारा कुछ तथाकथित वैवाहिक कर्त्तव्यों का पालन करना भी आवश्यक था।

अतएव, एकनिष्ठ विवाह इतिहास में पुरुष और नारी के बीच सहमति पर आधारित जोड़े के रूप में कदापि प्रगट नहीं हुआ। उसे पुरुष और नारी के जोड़े का उच्चतम रूप समझना तो और भी ग़लत है। इसके विपरीत एकनिष्ठ विवाह, नारी पर पुरुष के आधिपत्य के रूप में प्रगट होता है। एकनिष्ठ विवाह के रूप में पुरुषों और नारियों के एक ऐसे विरोध की घोषणा की गयी थी जिसकी मिसाल प्रागैतिहासिक काल में कहीं नहीं मिलती। मार्क्स की और मेरी एक पुरानी पांडुलिपि में, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है और जिसे हम लोगों ने १८४६ में लिखा था, मैं नीचे लिखा वाक्य पाता हूं: "सन्तानोत्पत्ति के लिये पुरुष और नारी के बीच श्रम-विभाजन ही पहला श्रम-विभाजन है।"* और आज मैं इसमें ये शब्द और जोड़ सकता हूं: इतिहास में पहला वर्ग-विरोध, एकनिष्ठ विवाह के अन्तर्गत पुरुष और नारी के विरोध के विकास के साथ-साथ और इतिहास का पहला वर्ग-उत्पीड़न पुरुष द्वारा नारी के उत्पीड़न के साथ-साथ प्रगट होता है। इतिहास की दृष्टि से एकनिष्ठ विवाह आगे की ओर एक बहुत बड़ा क़दम था, परन्तु इसके साथ-साथ वह एक ऐसा क़दम भी था जिसने दास-प्रथा और व्यक्तिगत धन-सम्पदा के साथ मिलकर उस युग का श्रीगणेश किया, जो आज तक चला आ रहा है और जिसमें प्रत्येक अग्रगति साथ ही सापेक्ष रूप से पश्चाद्गति भी होती है, जिसमें एक समूह की भलाई और विकास दूसरे समूह को दुख देकर और कुचलकर सम्पन्न होते हैं। एकनिष्ठ विवाह सभ्य समाज का वह कोशिका-रूप है जिसमें हम उन तमाम विरोधों और द्वन्द्वों का अध्ययन कर सकते हैं जो सभ्य समाज में पूर्ण विकास प्राप्त करते हैं।

युग्म-परिवार की विजय से, या यहां तक कि एकनिष्ठ विवाह की विजय से भी, उनके पहले पायी जानेवाली यौन-सम्बन्धों की अपेक्षाकृत स्वतंत्रता नष्ट नहीं हुई।

---

* देखें प्रस्तुत संस्करण, खण्ड १, भाग १। — **सं०**

"प्रगति करते हुए परिवार को अब भी वह पुरानी विवाह-व्यवस्था घेरे रहती है, जो अब पुनालुआन यूथों के धीरे-धीरे मिट जाने के कारण अधिक संकुचित परिधि के अन्दर सीमित हो गयी है, और वह विवाह-व्यवस्था परिवार के साथ-साथ सभ्यता के युग के द्वार तक पहुंच जाती है ... अन्त में वह हैटेरिज़्म के एक नये रूप में तिरोहित हो जाती है, जो परिवार के साथ लगी हुई एक काली छाया के रूप में सभ्यता के युग में भी मानवजाति के पीछे-पीछे चलती है।"

यहां हैटेरिज़्म से मौर्गन का मतलब विवाह के बंधन के बाहर पुरुषों और अविवाहिता स्त्रियों के बीच होनेवाले उस यौन-व्यापार से है, जो **एकनिष्ठ विवाह के साथ-साथ** चलता है, और जो जैसा कि सभी जानते हैं, सभ्यता के पूरे युग में भिन्न-भिन्न रूपों में फूलता-फलता रहा है और खुली वेश्यावृत्ति के रूप में निरन्तर विकसित होता रहा है। इस हैटेरिज़्म का यूथ-विवाह से सीधा सम्बन्ध है, अनुष्ठानात्मक आत्मसमर्पण की उस प्रथा से है जिसके द्वारा वे सतीत्व का अधिकार प्राप्त करने का मूल्य चुकाती थीं। रुपया लेकर आत्मसमर्पण करना—यह शुरू में एक धार्मिक कृत्य था जो प्रेम की देवी के मन्दिर में किया जाता था और जिससे मिलनेवाला रुपया मन्दिर के कोष में चला जाता था। आर्मीनिया में अनाइतिस और कोरिन्थ में एफ़्रोडाइट की हायरोड्यूलें[22] और भारत के मन्दिरों की देवदासियां जिन्हें Bayader भी कहते हैं (यह पुर्तगाली भाषा के bailadeira शब्द का बिगड़ा हुआ रूप है, जिसका अर्थ नर्तकी है) इतिहास की पहली वेश्यायें थीं। यह अनुष्ठानात्मक आत्मसमर्पण पहले सभी स्त्रियों के लिए अनिवार्य था। बाद में मन्दिरों की ये पुजारिनें ही, सभी स्त्रियों की तरफ़ से, आत्मसमर्पण करने लगीं। दूसरे लोगों में हैटेरिज़्म विवाह के पहले लड़कियों को दी गयी यौन-स्वतंत्रता से उत्पन्न होता है। इस प्रकार वह भी यूथ-विवाह का ही एक अवशेष है, बस अन्तर इतना है कि वह एक भिन्न मार्ग से हमारे पास तक आया है। सम्पत्ति को लेकर समाज में भेदों के उत्पन्न होने के साथ-साथ—यानी बर्बर युग की उन्नत अवस्था में ही—दास-श्रम के साथ-साथ कहीं-कहीं मजूरी पर किया जानेवाला श्रम भी दिखायी देने लगा था। और इससे अनिवार्यतः सहसम्बद्ध रूप में, दासियों के समर्पण के साथ-साथ, जिसमें उनकी मर्ज़ी का सवाल न था, कहीं-कहीं स्वतंत्र नारियों द्वारा वेश्यावृत्ति भी दिखायी देने लगी। अतएव, जिस प्रकार सभ्यता से उत्पन्न प्रत्येक वस्तु दोमुंही, दोरुख़ी, अन्तर्विरोधी और स्वयं अपने अन्दर मुख़ालिफ़ तत्त्वों को लेकर चलनेवाली वस्तु होती है, उसी प्रकार

यूथ-विवाह से सभ्यता को मिली विरासत के भी दो पहलू हैं: एक ओर एकनिष्ठ विवाह, दूसरी ओर हैटेरिज़्म, और उसका चरम रूप–वेश्यावृत्ति। अन्य सभी सामाजिक प्रथाओं की तरह हैटेरिज़्म भी एक विशिष्ट सामाजिक प्रथा है। वह पुरानी यौन-स्वतंत्रता का ही एक सिलसिला है, लेकिन पुरुषों के लिए ही। हालांकि असल में इस रूप को सहन ही नहीं किया जाता, बल्कि उसका विशेषकर शासक वर्गों द्वारा बड़े शौक़ और मज़े से इस्तेमाल किया जाता है, ताहम शब्दों में सदा उसकी निन्दा ही की जाती है। दरअसल इस निन्दा से इस प्रथा का व्यवहार करनेवाले पुरुषों को कोई नुक़सान नहीं होता है, उससे तो केवल नारियों को चोट पहुंचती है। वे समाज से बहिष्कृत की जाती हैं ताकि एक बार फिर समाज के बनियादी नियम के रूप में नारी पर पुरुष के पूर्ण प्रभुत्व की घोषणा की जाये।

लेकिन इससे स्वयं एकनिष्ठ विवाह के भीतर एक दूसरा अन्तर्विरोध पैदा हो जाता है। पति के साथ-साथ जिसके जीवन में हैटेरिज़्म की प्रथा रंगीनी लाती थी, उपेक्षित पत्नी भी तो खड़ी है। जिस प्रकार आधा सेब खाने के बाद पूरा सेब हाथ में रखना असम्भव है, उसी प्रकार विरोध के दूसरे पहलू के बिना पहले पहलू का होना भी नामुमकिन है। परन्तु यह मालूम होता है कि जब तक उनकी पत्नियों ने उन्हें सबक़ नहीं सिखाया, तब तक पुरुष ऐसा नहीं सोचते थे। एकनिष्ठ विवाह के साथ-साथ दो नये पात्र समाज के रंगमंच पर स्थायी रूप से उतर आये: एक–पत्नी का प्रेमी, यानी ज़ार, दूसरा–ज़ारिणी का पति। इसके पहले ये पात्र इतिहास में नहीं देखे गये थे। पुरुषों ने नारियों पर विजय प्राप्त की थी, किन्तु विजेता के माथे पर टीका लगाने का काम पराजित ने बड़ी उदारतापूर्वक अपने हाथ में लिया था। व्यभिचार, परस्त्रीगमन पर प्रतिबंध था, उसके लिये सख़्त सज़ा मिलती थी, फिर भी वह दबाया नहीं जा सकता था। वह एकनिष्ठ विवाह और हैटेरिज़्म के साथ-साथ एक लाज़िमी सामाजिक रिवाज बन गया था। पहले की तरह अब भी बच्चों के पितृत्व का निश्चित होना केवल नैतिक विश्वास पर आधारित था, और किसी भी तरह हल न होनेवाले इस अन्तर्विरोध को हल करने के लिये Code Napoléon की धारा ३१२ में यह विधान किया गया था:

«L'enfant conçu pendant le mariage a pour père le mari»–
"विवाह काल में गर्भ-धारण होने पर पति को बच्चे का पिता समझा जायेगा।"

एकनिष्ठ विवाह-प्रथा के तीन हज़ार वर्ष तक चलने का अन्तिम परिणाम यही निकला था।

इस प्रकार एकनिष्ठ परिवार के वे उदाहरण, जिनके द्वारा उसकी ऐतिहासिक उत्पत्ति सच्चे रूप में प्रतिबिम्बित होती है और जिनके द्वारा पुरुष के एकच्छत्र आधिपत्य से उत्पन्न पुरुष और नारी का तीखा विरोध साफ़ ज़ाहिर होता है, हमारे सामने उन विरोधों और द्वंद्वों का चित्र लघु रूप में पेश करते हैं, जिनमें से होकर सभ्यता के युग के प्रारम्भ से वर्गों में बंटा हुआ समाज बढ़ रहा है, और जिन्हें वह कभी न तो हल कर पाता है और न दूर कर पाता है। ज़ाहिर है कि मैं यहां एकनिष्ठ विवाह के केवल उन उदाहरणों का ज़िक्र कर रहा हूं जिनमें वैवाहिक जीवन सही माने में इस पूरी प्रथा के प्रारम्भिक स्वरूप के नियमों के अनुसार चलता है, पर जिनमें पति के आधिपत्य के ख़िलाफ़ पत्नी विद्रोह करती है। लेकिन सब विवाहों में ऐसा नहीं होता, यह जर्मन कूपमंडूक से अधिक और कौन जानता है, जो न राज्य में शासन करने के योग्य है और न अपने घर में, और इसलिये जिसकी पत्नी पूर्ण औचित्य के साथ शासन करती है जिसकी योग्यता पति में नहीं होती। परन्तु अपने को सान्त्वना देने के लिये वह यह कल्पना कर लेता है कि वह अपनी तरह के अभागे फ़्रांसीसी साथी से, जिसकी अधिकांश मामलों में और भी अधिक दुर्गति होती है, फिर भी अच्छा है।

लेकिन एकनिष्ठ परिवार, हर जगह और हमेशा अपने उस क्लासिकीय कठोर रूप में नहीं प्रगट हुआ, जिस रूप में वह यूनानियों में प्रगट हुआ था। संसार के भावी विजेताओं की हैसियत से, यूनानियों से कम परिष्कृत, पर कहीं अधिक दूरदर्शी दृष्टिकोण से काम लेनेवाले रोमन लोगों की स्त्रियां अधिक स्वतंत्र थीं और उनका आदर भी अधिक होता था। रोमन पुरुष समझता था कि उसे चूंकि अपनी पत्नी पर ज़िन्दगी और मौत का अधिकार प्राप्त है, इसलिये वैवाहिक पवित्रता भली-भांति सुरक्षित है। इसके अलावा, पति के समान पत्नी को भी यह अधिकार था कि वह जब चाहे विवाह भंग कर दे। लेकिन एकनिष्ठ विवाह ने सबसे बड़ी उन्नति निश्चय ही उस समय की जब जर्मनों ने इतिहास में प्रवेश किया, क्योंकि लगता है कि उनमें, शायद उनकी ग़रीबी की वजह से, एकनिष्ठ विवाह अभी तक युग्म-विवाह की अवस्था से पूरी तरह नहीं निकल पाया था। तासितुस द्वारा बतायी हुई तीन बातों से हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं। एक तो यह कि विवाह की पवित्रता में दृढ़ विश्वास के बावजूद – "प्रत्येक पुरुष केवल एक पत्नी से संतुष्ट है और स्त्रियां सतीत्व की दीवार के अन्दर रहती हैं" – क़बीले के बड़े लोग और सरदार कई-कई पत्नियां रखते थे, अर्थात् जर्मनों में भी अमरीकियों जैसी हालत थी, जिनमें युग्म-विवाह का चलन था। दूसरे, इन

लोगों में मातृ-सत्ता से पितृ-सत्ता में अंतरण थोड़े दिन ही पहले सम्पन्न हुआ होगा, क्योंकि उनमें मामा – मातृ-सत्ता के अनुसार सबसे निकट का पुरुष गोत्र-सम्बन्धी – अब भी स्वयं पिता से अधिक निकट का सम्बन्धी माना जाता था। यह बात भी अमरीकी इंडियनों के दृष्टिकोण से मिलती है, जिनमें मार्क्स ने, जैसा कि वह अक्सर कहा करते थे, हमारे अपने प्रागैतिहासिक भूत-काल को समझने की कुंजी पायी थी। और तीसरे, जर्मनों में स्त्रियों का बड़ा आदर होता था और वे सार्वजनिक जीवन में भी प्रभावशाली होती थीं। यह बात पुरुष के आधिपत्य से, जोकि एकनिष्ठ विवाह की विशेषता है, सीधे टकराती थी। इन सारी बातों में जर्मन लोग स्पार्टावासियों से मिलते हैं, क्योंकि जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, स्पार्टावासियों में भी युग्म-विवाह पूरी तरह नहीं मिटा था। अतएव जर्मनों के इतिहास के रंगमंच पर उतरने के साथ-साथ इस मामले में भी एक बिल्कुल नये तत्त्व का संसार में प्राधान्य स्थापित हो गया। रोमन संसार के ध्वंसावशेषों पर नस्लों के सम्मिश्रण से एकनिष्ठ विवाह का जो नया रूप विकसित हुआ, उसने पुरुष के आधिपत्य को कुछ कम कठोर रूप दिया और स्त्रियों को, कम से कम बाह्य जीवन में, प्राचीन क्लासिकीय युग से कहीं अधिक स्वतंत्र और सम्मानित स्थान प्रदान किया। इससे इतिहास में पहली बार नैतिक प्रगति का वह सबसे बड़ा क़दम उठाया जा सका, जो एकनिष्ठ विवाह के आधार पर और उसके कारण अभी तक उठाया जा सका है। हमारा मतलब आधुनिक व्यक्तिगत यौन-प्रेम से है, जो इसके पहले संसार में कहीं नहीं देखा गया था। यह विकास कहीं पर एकनिष्ठ विवाह के भीतर हुआ, कहीं पर उसके समानान्तर हुआ और कहीं पर उसका विरोध करके हुआ।

परन्तु, इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस विकास का उद्भव इस स्थिति से हुआ कि जर्मन लोग अब भी युग्म-परिवारों में रहते थे और जहां तक सम्भव था, उन्होंने नारी की तदनुरूप स्थिति को एकनिष्ठ विवाह पर आरोपित कर दिया। इसकी उत्पत्ति कदापि जर्मन मनोवृत्ति की अद्भुत नैतिक शुद्धता के कारण नहीं हुई, जो वास्तव में इस बात तक सीमित थी कि व्यवहार में युग्म-परिवार के अन्दर वैसे भीषण नैतिक विरोध नहीं प्रगट होते थे, जैसे कि एकनिष्ठ विवाह में होते हैं। इसके विपरीत, सच तो यह है कि जर्मन लोग देश से बाहर निकलने पर – विशेष रूप से दक्षिण-पूर्व में काले सागर की तटवर्त्ती स्तेपियों में रहनेवाले बंजारों के बीच पहुंचकर – नैतिक दृष्टि से काफ़ी पतित हो गये थे और बंजारों से जर्मनों ने घुड़सवारी सीखने के अलावा भयंकर अप्राकृतिक व्यभिचार भी सीख

लिया था। इसकी बहुत साफ़ गवाही एम्मियानस ने ताइफ़ालों के बारे में और प्रोकोपियस ने हेरुलों के बारे में दी है।

यद्यपि एकनिष्ठ परिवार ही परिवार का वह एकमात्र ज्ञात रूप है जिससे आधुनिक यौन-प्रेम का विकास हो सकता था, तथापि इसका यह मतलब नहीं है कि इस प्रकार के परिवार के भीतर पति-पत्नी के पारस्परिक प्रेम के रूप में, एकमात्र इस रूप में या अधिकतर इस रूप में ही इस यौन-प्रेम का विकास हुआ। पुरुष के आधिपत्य के अंतर्गत कठोर एकनिष्ठ विवाह का पूरा स्वरूप ही ऐसा था कि यह बात असम्भव थी। उन सभी वर्गों में, जो ऐतिहासिक रूप से सक्रिय थे, यानी जो शासन करते थे, विवाह का सदा वही रूप रहा, जो युग्म-विवाह के समय से चला आ रहा था, यानी यह कि माता-पिता अपनी सुविधा से बच्चों का विवाह कर देते थे। इतिहास में यौन-प्रेम का जो पहला रूप प्रगट हुआ, अर्थात् आवेग का रूप, ऐसे आवेग का, जिसका (कम से कम शासक वर्ग का) प्रत्येक व्यक्ति अधिकारी समझा जाता था, और जो यौन-भावना का सर्वोच्च रूप समझा जाता था – और यही उसकी ख़ास विशेषता होती है – वह पहला रूप मध्य युग के नाइटों का प्रेम था, जो किसी भी हालत में वैवाहिक प्रेम नहीं था। इसके विपरीत प्रोवेंस प्रांत के लोगों में, जहां यह नाइटों का प्रेम अपने क्लासिकीय रूप में विद्यमान था, उसने खुल्लमखुल्ला विवाहेतर प्रेम का रूप धारण किया। उनके कविगण इसके गीत गाते थे। «Albas» – जर्मन में Tagelieder (उषा के गीत) – प्रोवेंसीय प्रेम-काव्य के उत्कृष्ट रूप हैं। इन गीतों में हमें इसका बड़ा रंगीन वर्णन मिलता है कि नाइट किस प्रकार अपनी प्रेमिका के साथ, जो सदा किसी दूसरे पुरुष की पत्नी होती है, विहार करता है, और पहरेदार बाहर खड़ा पहरा देता रहता है और उषा (alba) की पहली धुंधली किरणों के फूटने पर उसे आवाज़ देता है ताकि किसी के देखने से पहले ही वह निकल जाये। फिर विदाई के क्षण के वर्णन में कविता अपने चरम शिखर पर पहुंच जाती है। उत्तरी फ़्रांस के निवासियों ने और उनके साथ-साथ हमारे योग्य जर्मनों ने भी नाइटों के प्रेम के तौर-तरीक़ों के साथ-साथ उनके अनुकूल इस काव्य-शैली को भी अपना लिया, और हमारे अपने बुज़ुर्ग वोल्फ़ाम फ़ोन एशनबाख़ ठीक इसी विषय पर तीन अत्यन्त सुन्दर उषा के गीत छोड़ गये, जो मुझे उनकी वीर रस की तीन लम्बी कविताओं से कहीं ज़्यादा पसन्द हैं।

हमारे ज़माने के पूंजीवादी समाज में विवाह दो तरह का होता है। कैथोलिक देशों में पहले की तरह आज भी माता-पिता अपने युवा बुर्जुआ पुत्र के लिये उप-

युक्त पत्नी ढूंढ़ लेते हैं और उसका परिणाम स्वभावतः यह होता है कि एकनिष्ठ विवाह में निहित अन्तर्विरोध पूरी तरह उभर आता है–पति जमकर हैटेरिज़्म करता है और पत्नी जमकर व्यभिचार करती है। कैथोलिक चर्च ने निस्संदेह तलाक़ की प्रथा को केवल इसलिये ख़तम कर दिया कि उसे विश्वास हो गया था कि जैसे मृत्यु का दुनिया में कोई इलाज नहीं है, वैसे ही व्यभिचार का भी नहीं है। दूसरी ओर, प्रोटेस्टेंट देशों में यह नियम है कि बुर्जुआ पुत्र को अपने वर्ग में से, कमोबेश आज़ादी के साथ, ख़ुद अपने लिये पत्नी तलाश कर लेने की इजाज़त रहती है। अतएव, इन देशों में विवाह का आधार कुछ हद तक थोड़ा-बहुत प्रेम हो सकता है, गो प्रेम हो या न हो, प्रोटेस्टेंटों के बगुलाभगती लोकाचार में माना यही जाता है कि पति-पत्नी में प्रेम है। यहां पुरुष उतने सक्रिय रूप से गणिका-गमन नहीं करते, और स्त्री का परपुरुष से प्रेम करना भी उतना प्रचलित नहीं है। विवाह का चाहे जो भी रूप हो, पर चूंकि वह किसी की प्रकृति नहीं बदल देता, और चूंकि प्रोटेस्टेंट देशों के बुर्जुआ अधिकतर कूपमंडूक होते हैं, इसलिये यदि हम सबसे अच्छे उदाहरणों का औसत निकालें, तो यह पायेंगे कि इस प्रोटेस्टेंट एकनिष्ठ विवाह में पति-पत्नी ऊबा हुआ निरानन्द जीवन, जिसे गृहस्थ-जीवन का परमानन्द कहकर पुकारते हैं, बिताते हैं। विवाह के इन दो रूपों की सबसे अच्छी झलक उपन्यासों में मिलती है–कैथोलिक विवाह को समझना हो, तो फ़्रांसीसी उपन्यास पढ़िये और प्रोटेस्टेंट विवाह का असली स्वरूप देखना हो, तो जर्मन उपन्यास पढ़िये। दोनों में पुरुष को "प्राप्ति हो जाती है"–जर्मन उपन्यास में युवक को लड़की प्राप्त होती है, फ़्रांसीसी उपन्यास में पति को जारिणी-पति का पद प्राप्त होता है। दोनों में से किसका हाल ज़्यादा बुरा है यह कहना हमेशा आसान नहीं होता। जर्मन उपन्यास की नीरसता फ़्रांसीसी बुर्जुआ को उतनी ही भयावनी लगती है, जितनी कि जर्मन कूपमंडूक को फ़्रांसीसी उपन्यास की "अनैतिकता"। हां, हाल में, जब से "बर्लिन भी एक महानगर बन रहा है", तब से हैटेरिज़्म और व्यभिचार के बारे में, जो बरसों से जर्मनी में होते आये हैं, जर्मन उपन्यास पहले से कुछ कम भीरुता के साथ वर्णन करने लगे हैं।

परन्तु इन दोनों प्रकार के विवाहों में वर और वधू की वर्ग स्थिति से ही विवाह का निश्चय होता है और इस हद तक वह सुविधा की चीज़ ही रहता है। और दोनों ही सूरतों में सुविधा के विवाह की यह प्रथा अक्सर घोर वेश्या-प्रथा में बदल जाती है। कभी-कभी दोनों ही पक्ष इस प्रथा में शरीक होते हैं,

पर आम तौर पर पत्नी कहीं ज़्यादा शरीक होती है। साधारण वेश्या और उसमें केवल यह अन्तर है कि मजूरी पर काम करनेवाले मज़दूर की तरह, वह कार्यानुसार दर पर अपनी देह किराये पर नहीं उठाती, बल्कि एक ही बार में सदा के लिये उसे बेचकर दासी बन जाती है। और फ़ूरिये के ये शब्द भौतिक लाभार्थ सभी विवाहों के लिये सत्य हैं—

"व्याकरण में जैसे दो नकारों के मिल जाने से एक सकार बन जाता है, ठीक उसी प्रकार विवाह की नैतिकता में वेश्याकर्म और वेश्यागमन के योग का फल सदाचार है।"

पति-पत्नी के बीच यौन-प्रेम एक नियम के रूप में केवल उत्पीड़ित वर्गों में, अर्थात् आजकल केवल सर्वहारा वर्ग में ही, सम्भव हो सकता है, और होता भी है—चाहे इस सम्बन्ध को अधिकृत रूप से मान्यता प्राप्त हो या न हो। परन्तु यहां क्लासिकीय एकनिष्ठ विवाह की सारी बुनियाद ही ढह जाती है। जिस सम्पत्ति की रक्षा करने के लिये और उसे अपने पुत्रों को विरासत में सौंपने के लिये एकनिष्ठ विवाह और पुरुष के आधिपत्य की स्थापना की गयी थी, उसका यहां पूर्ण अभाव है। इसलिये पुरुष का आधिपत्य स्थापित करने के लिये यहां कोई प्रेरणा नहीं रहती। इससे भी बड़ी बात यह है कि इसके लिये साधन भी नहीं रहते। इस आधिपत्य की रक्षा करते हैं पूंजीवादी क़ानून—परन्तु वे तो केवल मिल्की वर्गों के लिये और सर्वहाराओं के साथ उनके कारबार तय करने के लिये होते हैं। क़ानून की शरण लेने में पैसा लगता है और पैसा मज़दूर के पास नहीं होता। इसलिये अपनी पत्नी के साथ जहां तक उसके सम्बन्ध का सवाल है, मज़दूर के लिये क़ानून का कोई महत्त्व नहीं होता। यहां बिल्कुल दूसरे ढंग के निजी और सामाजिक सम्बन्धों का निर्णायक महत्त्व होता है। इसके अतिरिक्त, बड़े पैमाने के उद्योग ने चूंकि नारी को घर से श्रम के बाज़ार में और कारख़ाने में पहुंचा दिया है, और अक्सर उसे कुनबा-परवर बना दिया है, इसलिये सर्वहारा के घर में पुरुष के आधिपत्य के आख़िरी अवशेषों का आधार भी पूरी तरह ख़तम हो जाता है। यदि कुछ बच रहता है तो वह है स्त्रियों के प्रति क्रूरता, जो एकनिष्ठ विवाह की स्थापना के बाद से पुरुष की प्रकृति का एक अंग है। इस प्रकार, सर्वहारा परिवार शुद्धतः एकनिष्ठ परिवार नहीं रह जाता, यहां तक कि उन सूरतों में भी, जहां पति-पत्नी में उत्कट प्रेम होता है और दोनों पक्ष एक दूसरे के प्रति बिल्कुल वफ़ादार होते हैं, और जहां चाहे उन्हें सारे सांसारिक

तथा आध्यात्मिक वरदान प्राप्त हों, वहां भी एकनिष्ठ विवाह का शुद्ध रूप नहीं मिलता। इसलिये एकनिष्ठ विवाह के सदा-सर्वदा साथ चलनेवाली उन दो प्रथाओं की—हैटेरिज़्म और व्यभिचार की—यहां लगभग नगण्य भूमिका रह जाती है। यहां नारी ने वास्तव में पति से अलग हो जाने का अधिकार फिर से प्राप्त कर लिया है, और जब पुरुष और स्त्री साथ-साथ नहीं रह सकते, तो वे अलग हो जाना बेहतर समझते हैं। सारांश यह कि सर्वहारा विवाह व्युत्पत्तिमूलक अर्थ में एकनिष्ठ होता है, परन्तु ऐतिहासिक अर्थ में नहीं।

निस्संदेह हमारे न्यायशास्त्रियों का यह मत है कि क़ानून बनाने में जो प्रगति हुई है, उससे नारी के लिये शिकायत करने के कारण अधिकाधिक ख़तम होते गये हैं। क़ानून की आधुनिक सभ्य प्रणालियां इस बात को अधिकाधिक मानती जा रही हैं कि पहले तो, यदि विवाह को सफल होना है, आवश्यक है कि दोनों पक्ष स्वेच्छा से आपस में विवाह करने के लिए राज़ी हों, और दूसरे यह कि विवाह काल में दोनों पक्षों के समान अधिकार और समान कर्त्तव्य होने चाहिए। परन्तु यदि इन दोनों सिद्धान्तों पर सचमुच पूरी तरह अमल किया जाता, तो नारियां जो कुछ चाहती हैं, वह सब उन्हें मिल जाता।

यह विशुद्ध वकीलों जैसी दलील ठीक उसी प्रकार की है जिस प्रकार की दलील समय-समय पर उग्रवादी जनतन्त्रवादी पूंजीपति सर्वहारा को मर्यादा के अन्दर रहने का आह्वान करते हुए देता है। यह माना जाता है कि दोनों पक्षों के बीच श्रम-संविदा स्वेच्छा से की जाती है। परन्तु इस संविदा को स्वेच्छापूर्वक किया गया इसलिये समझा जाता है कि क़ानून की निगाह में **काग़ज़ पर** दोनों पक्ष समान हैं। एक पक्ष को अपनी भिन्न वर्ग स्थिति के कारण जो शक्ति प्राप्त है, जो दबाव वह दूसरे पक्ष पर डाल सकता है, उससे, दोनों पक्षों की असली आर्थिक स्थिति से, क़ानून को कोई वास्ता नहीं है। और क़ानून की निगाह में तो जब तक श्रम-संविदा बरक़रार है, और जब तक दोनों में से कोई एक पक्ष ख़ुद अपने अधिकारों को नहीं त्याग देता, तब तक दोनों पक्षों के समान अधिकार रहते हैं। यदि वास्तविक आर्थिक परिस्थिति मज़दूर को अपने अन्तिम प्रतीयमान समानाधिकारों को त्याग देने को विवश कर देती है तो भी इसमें क़ानून कुछ भी नहीं कर सकता है।

जहां तक विवाह का सम्बन्ध है, प्रगतिशील से प्रगतिशील क़ानून भी बस इतनी सी बात से पूरी तरह संतुष्ट हो जाता है कि दोनों पक्ष जाकर सरकारी दफ़्तर में यह दर्ज करा दें कि उन्होंने स्वेच्छा से विवाह किया है। क़ानून के

पर्दे के पीछे जहां असली जीवन चलता है, वहां क्या होता है, यह स्वैच्छिक संविदा किस प्रकार सम्पन्न होती है, इससे क़ानून को और क़ानूनविदों को कोई ग़रज़ नहीं। फिर भी क़ानूनविद यदि विभिन्न क़ानूनों की थोड़ी-सी भी तुलना करके देखें, तो उन्हें तुरन्त मालूम हो जायेगा कि इस स्वैच्छिक संविदा का वास्तविक अर्थ क्या है। उन देशों में जहां क़ानून के अनुसार बच्चों को अपने माता-पिता की जायदाद का एक हिस्सा मिलता है, और जहां माता-पिता उनको यह हिस्सा देने से इनकार नहीं कर सकते – यानी जर्मनी में, उन देशों में, जहां फ़्रांसीसी क़ानून चलता है, आदि में – वहां सन्तान को विवाह के मामले में माता-पिता की मंज़ूरी लेनी पड़ती है। जो देश अंग्रेज़ी क़ानून के मातहत हैं, उनमें क़ानून की दृष्टि से माता-पिता की रज़ामंदी तो ज़रूरी नहीं है, परन्तु वहां माता-पिता को वसीयत के ज़रिये अपनी सम्पत्ति किसी के भी नाम लिख देने का, और अपनी सन्तान को एक भी पैसा न देने का पूर्ण अधिकार होता है। अतएव यह स्पष्ट है कि जहां तक उन वर्गों का सम्बन्ध है, जिनके सदस्यों को अपने मां-बाप से कुछ सम्पत्ति मिलने को होती है उनमें, इसके बावजूद – बल्कि कहना चाहिए कि इसी कारण से – इंगलैंड और अमरीका में, विवाह की स्वतंत्रता फ़्रांस या जर्मनी से ज़रा भी अधिक नहीं है।

विवाहित अवस्था में, पुरुष और नारी की क़ानूनी समानता के बारे में भी स्थिति इससे अच्छी नहीं है। पुरानी सामाजिक परिस्थितियों की विरासत के रूप में स्त्री और पुरुष के बीच क़ानून की नज़र में जो असमानता है, वह स्त्रियों के आर्थिक उत्पीड़न का कारण नहीं, बल्कि परिणाम है। पुराने सामुदायिक कुटुम्ब में, जिसमें अनेक दम्पत्ति और उनकी संतानें शामिल होती थीं, स्त्रियां घर का प्रबंध किया करती थीं, और यह काम उतना ही महत्त्वपूर्ण, सार्वजनिक और सामाजिक दृष्टि से आवश्यक धंधा माना जाता था, जितना कि भोजन जुटाने का वह काम जो पुरुषों को करना पड़ता था। पितृसत्तात्मक परिवार की स्थापना से यह परिस्थिति बदल गयी, और एकनिष्ठ वैयक्तिक परिवार की स्थापना के बाद तो और भी बड़ा परिवर्तन हो गया। घर का प्रबंध करने के काम का सार्वजनिक रूप जाता रहा। अब वह समाज की चिन्ता का विषय न रह गया। यह एक **निजी काम** बन गया। पत्नी को सार्वजनिक उत्पादन के क्षेत्र से निकाल दिया गया, वह घर की मुख्य दासी बन गयी। केवल बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योग ने ही उसके लिए – पर अब भी केवल सर्वहारा स्त्री के ही लिए – सार्वजनिक उत्पादन के दरवाज़े फिर खोले हैं, पर इस रूप में कि जब नारी अपने

परिवार की निजी सेवा के अपने कर्त्तव्य का पालन करती है, तब उसे सार्वजनिक उत्पादन के बाहर रहना पड़ता है और वह कुछ कमा नहीं सकती, और जब वह सार्वजनिक उत्पादन में भाग लेना और स्वतंत्र रूप से अपनी जीविका कमाना चाहती है, तब वह अपने परिवार के प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा करने की स्थिति में नहीं होती। और जो बात कारख़ाने में काम करनेवाली स्त्री के लिए सत्य है, वह डाक्टरी या वकालत करनेवाली स्त्री के लिए भी, यानी सभी तरह के पेशों में काम करनेवाली स्त्रियों के लिए सत्य है। आधुनिक वैयक्तिक परिवार नारी की खुली या छिपी हुई घरेलू दासता पर आधारित है। और आधुनिक समाज वह समवाय है जो वैयक्तिक परिवारों के अणुओं से मिलकर बना है। आज अधिकतर परिवारों में, कम से कम मिल्की वर्गों में, पुरुष को जीविका कमानी पड़ती है और परिवार का पेट पालना पड़ता है, और इससे परिवार के अन्दर उसका आधिपत्य क़ायम हो जाता है और उसके लिए किसी क़ानूनी विशेषाधिकार की आवश्यकता नहीं पड़ती। परिवार में पति बुर्जुआ होता है, पत्नी सर्वहारा की स्थिति में होती है। परन्तु उद्योग-धंधों के संसार में सर्वहारा जिस आर्थिक उत्पीड़न के बोझ के नीचे दबा हुआ है, उसका विशिष्ट रूप केवल तब स्पष्ट होता है, जब पूंजीपति वर्ग के तमाम क़ानूनी विशेषाधिकार हटाकर अलग कर दिये जाते हैं और क़ानून की नज़रों में दोनों वर्गों की पूर्ण समानता स्थापित हो जाती है। जनवादी जनतंत्र दोनों वर्गों के विरोध को मिटाता नहीं है, इसके विपरीत, वह तो उनके लिए लड़कर फ़ैसला कर लेने के वास्ते मैदान साफ़ कर देता है। इसी प्रकार आधुनिक परिवार में नारी पर पुरुष के आधिपत्य का विशिष्ट रूप, और उन दोनों के बीच वास्तविक सामाजिक समानता स्थापित करने की आवश्यकता तथा उसका ढंग केवल उसी समय पूरी स्पष्टता के साथ हमारे सामने आयेंगे, जब पुरुष और नारी क़ानून की नज़र में बिल्कुल समान हो जायेंगे। तभी जाकर यह बात साफ़ होगी कि स्त्रियों की मुक्ति की पहली शर्त यह है कि पूरी नारी जाति फिर से सार्वजनिक उत्पादन में प्रवेश करे, और इसके लिये यह आवश्यक है कि समाज की आर्थिक इकाई होने का वैयक्तिक परिवार का गुण नष्ट कर दिया जाये।

* * *

इस प्रकार, मोटे तौर पर मानव विकास के तीन मुख्य युगों के अनुरूप, हमें विवाह के भी तीन मुख्य रूप मिलते हैं: जांगल युग में यूथ-विवाह, बर्बर

युग में युग्म-विवाह और सभ्यता के युग में एकनिष्ठ विवाह और उसके साथ जुड़ा हुआ व्यभिचार तथा वेश्यावृत्ति। बर्बर युग की उन्नत अवस्था में, युग्म-परिवार तथा एकनिष्ठ विवाह के बीच के दौर में, हम दासियों पर पुरुषों का आधिपत्य और बहु-पत्नी प्रथा पाते हैं।

जैसा कि हमारे पूरे वर्णन से प्रकट होता है, इस क्रम में दिखाई देनेवाली प्रगति के साथ यह ख़ास बात जुड़ी हुई है कि स्त्रियों से तो यूथ-विवाह के काल की यौन-स्वतंत्रता अधिकाधिक छिनती जाती है, पर पुरुषों से नहीं छिनती। पुरुषों के लिए तो, वास्तव में, आज भी यूथ-विवाह प्रचलित है। नारी के लिए जो बात एक ऐसा अपराध समझी जाती है जिसका भयानक सामाजिक और क़ानूनी परिणाम होता है, वही पुरुष के लिए एक सम्मानप्रद बात, या अधिक से अधिक एक मामूली-सा नैतिक धब्बा समझा जाता है जिसे वह ख़ुशी से सहन करता है। पुराने परम्परागत हैटेरिज़्म को माल का वर्तमान पूंजीवादी उत्पादन जितना ही बदलता और अपने रंग में ढालता जाता है, यानी जितना ही वह खुली वेश्यावृत्ति में परिणत होता जाता है, उतना ही समाज पर उसका अधिक ख़राब असर पड़ता है। और वह स्त्रियों से ज़्यादा पुरुषों पर ख़राब असर डालता है। स्त्रियों में वेश्यावृत्ति केवल उन्हीं अभागिनों को पतन के गढ़े में धकेलती है जो उसके चंगुल में फंस जाती हैं, और इन स्त्रियों का भी उतना पतन नहीं होता जितना आम तौर पर समझा जाता है। परन्तु दूसरी ओर, वेश्यावृत्ति सारे पुरुष संसार के चरित्र को बिगाड़ देती है। और इस प्रकार दस में से नौ उदाहरणों में विवाह के पहले सगाई की लंबी अवधि कार्यतः दाम्पत्य बेवफ़ाई की ट्रेनिंग की अवधि बन जाती है।

अब हम एक ऐसी सामाजिक क्रांति की ओर अग्रसर हो रहे हैं जिसके परिणामस्वरूप एकनिष्ठ विवाह का वर्तमान आर्थिक आधार उतने ही निश्चित रूप से मिट जायेगा, जितने निश्चित रूप से एकनिष्ठ विवाह के अनुपूरक का, वेश्यावृत्ति का आर्थिक आधार मिट जायेगा। एकनिष्ठ विवाह की प्रथा एक व्यक्ति के—और वह भी एक पुरुष के—हाथों में बहुत-सा धन एकत्रित हो जाने के कारण और इस इच्छा के फलस्वरूप उत्पन्न हुई थी कि वह यह धन किसी दूसरे की सन्तान के लिये नहीं, केवल अपनी सन्तान के लिये छोड़ जाये। इस उद्देश्य के लिए स्त्री की एकनिष्ठता आवश्यक थी, पुरुष की नहीं। इसलिए नारी की एकनिष्ठता से पुरुष के खुले या छिपे बहुपत्नीत्व में कोई बाधा नहीं पड़ती थी। परंतु आनेवाली सामाजिक क्रांति स्थायी दायाद्य धन-सम्पदा के अधिकतर भाग

को—यानी उत्पादन के साधनों को—सामाजिक सम्पत्ति बना देगी और ऐसा करके सम्पत्ति की विरासत के बारे में इस सारी चिन्ता को अल्पतम कर देगी। पर एकनिष्ठ विवाह चूंकि आर्थिक कारणों से उत्पन्न हुआ था, इसलिये क्या इन कारणों के मिट जाने पर वह भी मिट जायेगा?

इस प्रश्न का यह उत्तर शायद ग़लत नहीं होगा: मिटना तो दूर, एकनिष्ठ विवाह तब जाकर ही पूर्णता प्राप्त करने की ओर बढ़ेगा। कारण कि उत्पादन साधनों के सामाजिक स्वामित्व में रूपान्तरण के फलस्वरूप उजरती श्रम, सर्वहारा वर्ग भी मिट जायेगा, और उसके साथ-साथ यह आवश्यकता भी जाती रहेगी कि एक निश्चित संख्या में—जिस संख्या को हिसाब लगाकर बताया जा सकता है—स्त्रियां पैसे लेकर अपनी देह को पुरुषों के हाथों में सौंप दें। तब वेश्यावृत्ति का अन्त हो जायेगा, और एकनिष्ठ विवाह प्रथा मिटने के बजाय, पहली बार पुरुषों के लिए भी वास्तविकता बन जायेगी।

बहरहाल, तब पुरुषों की स्थिति में बहुत बड़ा परिवर्तन हो जायेगा। परन्तु स्त्रियों की, **सभी** स्त्रियों की स्थिति में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होगा। उत्पादन साधनों पर सामाजिक स्वामित्व हो जाने से वैयक्तिक परिवार समाज की आर्थिक इकाई नहीं रह जायेगा। घर का निजी प्रबंध एक सामाजिक धंधा बन जायेगा। बच्चों का लालन-पालन और शिक्षा एक सार्वजनिक विषय हो जायेगा। समाज सब बच्चों का समान रूप से पालन करेगा, चाहे वे विवाहित की सन्तान हों या अविवाहित की। इस प्रकार, आजकल सबसे ज़्यादा जो बात किसी लड़की को उस पुरुष के सामने स्वतंत्रतापूर्वक आत्मसमर्पण करने से रोकती है, जिसे वह प्यार करती है, यानी यह चिन्ता कि "इसका परिणाम क्या होगा" और जो ऐसे मामलों के लिये वर्तमान समाज में सबसे महत्त्वपूर्ण सामाजिक बात—नैतिक व आर्थिक दोनों ही—बन जाती है, वह चिन्ता तब बिल्कुल नहीं रहेगी। प्रश्न उठ सकता है कि तब क्या इस बात के लिये काफ़ी आधार नहीं तैयार हो जायेगा कि धीरे-धीरे अनियंत्रित यौन-व्यापार बढ़ने लगे और उसके साथ-साथ कौमार्य-रक्षा, नारी-कलंक, आदि के बारे में जनमत अधिक उदार हो जाये? और अन्तिम बात यह कि क्या हम यह नहीं देख चुके हैं कि आधुनिक संसार में एकनिष्ठ विवाह और वेश्यावृत्ति दो विपरीत वस्तुएं होते हुए भी, एक ही सामाजिक व्यवस्था के दो छोर मात्र हैं और इसलिये एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते? क्या यह सम्भव है कि वेश्यावृत्ति तो मिट जाये, पर वह अपने साथ एकनिष्ठ विवाह को न लेती जाये?

यहां एक नया तत्त्व काम करने लगता है। यह एक ऐसा तत्त्व है जो एकनिष्ठ विवाह के विकसित होने के समय यदि था तो केवल बीज-रूप में ही था। हमारा मतलब व्यक्तिगत यौन-प्रेम से है।

मध्य-युग के पहले व्यक्तिगत यौन-प्रेम जैसी कोई चीज़ थी ही नहीं। ज़ाहिर है कि तब भी व्यक्तिगत सौन्दर्य, अंतरंग साहचर्य, समान रुचि, आदि से नारी और पुरुष में परस्पर सम्भोग की इच्छा उत्पन्न होती थी, और उस वक़्त भी नर-नारी इस प्रश्न की ओर से बिल्कुल उदासीन नहीं थे कि वे किस व्यक्ति के साथ यह सबसे अंतरंग सम्बन्ध स्थापित करते हैं। परन्तु उसमें और हमारे काल के यौन-प्रेम में बहुत अन्तर है। प्राचीन काल में शादियां बराबर माता-पिता की इच्छा से होती थीं; लड़के-लड़कियां चुपचाप उन्हें मान लेती थीं। प्राचीन काल में पति-पत्नी के बीच जो प्रेम थोड़ा-बहुत देखने में आता भी था, वह मनोगत प्रवृत्ति नहीं, वरन् वस्तुगत कर्त्तव्य था, वह विवाह का कारण नहीं, उसका पूरक था। आधुनिक अर्थ में प्रेम-व्यापार प्राचीन काल में केवल अधिकृत समाज से बाहर ही घटित होता था। थियोक्रिटस और मोसकस ने, या 'डाफ़निस और क्लोए' में लांगस ने जिन गड़रियों के प्रेम के गीत गाये हैं और जिनके विरह-मिलन के दुख-सुख का वर्णन किया है, वे दास मात्र थे, उनका राज-काज में कोई भाग नहीं था, क्योंकि वह केवल स्वतंत्र नागरिकों का क्षेत्र था। दासों के सिवा, यदि कहीं प्रेम-व्यापार घटित होता था तो केवल प्राचीन काल के पतनोन्मुख संसार के विघटन के फलस्वरूप ही होता था, और वह भी उन स्त्रियों के साथ होता था जो अधिकृत समाज के बाहर समझी जाती थीं—यानी हैटेराओं, अर्थात् विदेशी या स्वतंत्र कर दी गयी स्त्रियों के साथ होता था। एथेंस में यह बात उसके पतन के आरम्भ में देखी गयी थी और रोम में उसके सम्राटों के काल में। स्वतंत्र नागरिकों में यदि कभी पुरुष और नारी के बीच सचमुच प्रेम होता था, तो केवल विवाह का बंधन तोड़कर व्यभिचार के रूप में। प्राचीन काल में प्रेम के उस प्रसिद्ध कवि, वृद्ध एनाक्रियोन को ही लीजिये। हमारे अर्थ में यौन-प्रेम का उसके लिये इतना कम महत्त्व था कि वह इस बात तक से उदासीन था कि माशूक़ औरत है या मर्द।

प्राचीनकालीन सरल यौन-इच्छा, eros से, हमारा यौन-प्रेम बहुत भिन्न है। एक तो, हमारा यौन-प्रेम यह मानकर चलता है कि यह प्रेम दोतरफ़ा है; जिससे प्रेम किया जाये उससे प्रेम मिलता भी है। इस तरह औरत का दर्जा मर्द के बराबर होता है, जबकि प्राचीनकालीन eros में औरत की हमेशा राय भी नहीं ली जाती थी। दूसरे, यौन-प्रेम इतना तीव्र और स्थायी रूप धारण कर लेता

है कि दोनों पक्षों को लगता है कि यदि उन्होंने एक दूसरे को न पाया, या वे एक दूसरे से अलग रहे, तो यह यदि सबसे बड़ा नहीं, तो बहुत बड़ा दुर्भाग्य अवश्य होगा। एक दूसरे को पाने के लिये वे भारी ख़तरों का सामना करते हैं, यहां तक कि अपने जीवन को भी संकट में डालने में नहीं हिचकिचाते। प्राचीन काल में यह सब, अधिक से अधिक, केवल विवाहेतर यौन-व्यापार में होता था। और अन्तिम बात यह है कि अब सम्भोग का औचित्य अथवा अनौचित्य एक नये नैतिक मानदंड से निश्चित होने लगता है। अब केवल यही सवाल नहीं किया जाता कि सम्भोग वैध है अथवा अवैध, बल्कि यह भी किया जाता है कि वह पारस्परिक प्रेम का परिणाम है या नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि सामन्ती या पूंजीवादी व्यवहार में दूसरे नैतिक मानदंडों का जो हाल हुआ उससे बेहतर इस नये नैतिक मानदंड का नहीं हुआ—अर्थात् इसकी भी उपेक्षा कर दी गयी। परन्तु अगर उसका हाल बेहतर नहीं हुआ तो बदतर भी नहीं हुआ: अन्य मानदंडों के समान यह मानदंड भी सिद्धांत रूप में, यानी काग़ज़ी तौर पर मान्य है। और इससे अधिक फ़िलहाल आशा भी नहीं की जा सकती।

जिस बिन्दु पर प्राचीन काल में यौन-प्रेम की ओर प्रगति बीच में रुक गयी थी, मध्य काल में उस बिन्दु से वह प्रारम्भ हुई। हमारा मतलब विवाहेतर प्रेम-व्यापार से है। नाइटों के प्रेम का हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं जिसने "उषा के गीतों" को जन्म दिया था। प्रेम के इस रूप का उद्देश्य था विवाह-सम्बन्ध को तोड़ डालना। इसलिये, ऐसे प्रेम के और उस प्रेम के बीच बहुत चौड़ी खाई थी, जो विवाह-सम्बन्ध की नींव बननेवाला था। नाइटों के प्रेम के काल में यह खाई कभी नहीं पाटी जा सकी। उच्छृंखल लैटिन लोगों को छोड़कर सदाचारी जर्मनों को लीजिये, तो भी हम पाते हैं कि 'नीबेलंगेनलीड' में क्राइमहिल्ड यद्यपि गुप्त रूप से सिगफ़्राइड से उतना ही प्रेम करती थी, जितना वह ख़ुद उससे करता था, फिर भी जब गुंथर ने उसे बताया कि उसने क्राइमहिल्ड का विवाह एक नाइट के साथ करने का वचन दे दिया है और उसका नाम तक नहीं बताया, तो क्राइमहिल्ड ने केवल यह उत्तर दिया—

"आपको मुझसे पूछने की आवश्यकता नहीं है, आप जैसा आदेश देंगे, मैं सदा वैसा ही करूंगी। मेरे प्रभु, आप जिसे भी मेरे लिये चुनेंगे, उसी को मैं सहर्ष अपना पति स्वीकार करूंगी।"*

---

*'नीबेलुंगेनलीड', दसवां गीत।—सं०

इस बात का क्राइमहिल्ड को कभी ख़याल तक नहीं आया कि इस मामले में उसके प्रेम का भी कोई महत्त्व हो सकता है। गुंथर ने ब्रुनहिल्ड को देखा तक नहीं था, तब भी वह उसे विवाह में मांग बैठा। इसी प्रकार, एटज़ेल ने क्राइमहिल्ड को बिना देखे ही उससे विवाह करना चाहा। और 'गुडरुन'[23] नामक महाकाव्य में भी यही होता है। उसमें आयरलैंड का सिगबांट नार्वेवासिनी ऊटा से विवाह करना चाहता है, हेगेलिंग हेटेल आयरलैंड की हिल्डा को विवाह में मांगता है, और अन्त में, मोरलैंड का सिगफ़्राइड, ओर्मनी का हार्टमुट तथा ज़ीलैंड का हेरविग, तीनों ही गुडरुन को विवाह में मांगते हैं; यहां पहली बार ही यह होता है कि गुडरुन अपनी इच्छा से हेरविग को वर चुन लेती है। सामान्यतः प्रत्येक युवा राजकुमार के लिये उसके माता-पिता वधू चुनते हैं। यदि वे जीवित नहीं हैं तो राजकुमार ख़ुद अपने सबसे बड़े सरदारों की राय से वधू चुन लेता है, जिनकी राय का सभी मामलों में बहुत महत्त्व होता है। अन्यथा हो भी नहीं सकता क्योंकि नाइट अथवा सामन्त के लिये और ख़ुद राजा या राजकुमार के लिये विवाह एक राजनीतिक मामला होता है। उनके लिये विवाह नये गठबंधन करके अपनी शक्ति बढ़ाने का एक अवसर होता है। इसलिये विवाह में **राजकुल** अथवा **सामन्तकुल** के हित निर्णायक होते हैं, न कि व्यक्तिगत इच्छा या प्रवृत्ति। भला ऐसी परिस्थितियों में विवाह का निर्णय प्रेम पर निर्भर होने की आशा कैसे की जा सकती थी ?

मध्य युग के नागरिक के लिये भी यही बात सत्य थी। उसे ऐसे विशेषाधिकार प्राप्त थे जो उसकी रक्षा करते थे—जैसे कि शिल्प-संघों के अधिकारपत्र और उनकी विशेष शर्तें, दूसरे शिल्प-संघों से और स्वयं अपने संघ के दूसरे सदस्यों से, तथा अपने मज़दूर कारीगरों और शागिर्दों से, उसे क़ानूनी तौर पर अलग रखने के लिये बनायी गयी बनावटी सीमाएं। पर ये ही विशेषाधिकार उस दायरे को बहुत सीमित कर देते थे जिसमें वह अपने लिये पत्नी तलाश करने की उम्मीद कर सकता था। और यह प्रश्न कि कौनसी लड़की उसके लिये सबसे उपयुक्त है, इस पेचीदा प्रणाली में निश्चय ही व्यक्तिगत इच्छा से नहीं, बल्कि परिवार के हित से तय होता था।

अतएव मध्य काल के अन्त तक, विवाह का अधिकांशतः वही रूप रहा जो शुरू से चला आया था—यानी वह एक ऐसा मामला बना रहा जिसका फ़ैसला दोनों प्रमुख पक्ष—वर और वधू—नहीं करते थे। शुरू में व्यक्ति जन्म से विवाहित

होता था—पुरुष स्त्रियों के एक पूरे समूह के साथ, और स्त्री पुरुषों के। यूथ-विवाह के बाद के रूपों में भी शायद इसी तरह की हालत चलती रही, बस केवल यूथ अधिकाधिक छोटा होता गया। युग्म-परिवार में सामान्यतः माताएं अपनी सन्तान का विवाह तय करती हैं; और यहां भी निर्णायक महत्त्व इसी बात का होता है कि नये संबंध से गोत्र में और क़बीले के अन्दर विवाहित जोड़े की स्थिति कितनी मजबूत होती है। और जब सामाजिक स्वामित्व के ऊपर निजी स्वामित्व की प्रधानता क़ायम होने और सम्पत्ति को अपनी सन्तान के लिये छोड़ने का सवाल पैदा होने पर पितृसत्ता और एकनिष्ठ विवाह की प्रधानता क़ायम हो जाती है, तब विवाह पूर्ण रूप से आर्थिक कारणों से निश्चित होने लगता है। क्रय-विवाह का रूप तो ग़ायब हो जाता है, पर विवाह का निश्चय अधिकाधिक इस ढंग से होता है कि न केवल स्त्री का, बल्कि पुरुष का भी, उसके व्यक्तिगत गुणों के आधार पर नहीं, बल्कि उसकी सम्पत्ति के आधार पर मूल्यांकन किया जाता है। शुरू से ही शासक वर्गों का ऐसा व्यवहार रहा है कि उनमें यह बात कभी सुनी तक नहीं जा सकती थी कि विवाह के मामले में दोनों प्रमुख पक्षों की पारस्परिक प्रवृत्तियों का निर्णायक महत्त्व हो सकता है। ऐसी बातें तो ज़्यादा से ज़्यादा क़िस्से-कहानियों में होती थीं, या फिर वे होती थीं उत्पीड़ित वर्गों में, जिनका कोई महत्त्व न था।

जिस समय, भौगोलिक खोजों के युग के बाद पूंजीवादी उत्पादन विश्व-व्यापार तथा मैनुफ़ेक्चर के ज़रिये दुनिया को जीतने निकला था, उस समय यही परिस्थिति थी। यह माना जा सकता था कि विवाह का यह रूप पूंजीवादी उत्पादन के सर्वथा उपयुक्त था, और वास्तव में बात भी ऐसी ही थी। परन्तु विश्व इतिहास का व्यंग्य देखिये—उसकी गहराई तक कौन पहुंच सकता है—विवाह के इस रूप में सबसे बड़ी दरार पूंजीवादी उत्पादन ने ही डाली। उसने सब कुछ बाज़ार में बिकनेवाले मालों में बदलकर सारे प्राचीन एवं परम्परागत सम्बन्धों को भंग कर दिया, और पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते आये रीति-रिवाजों तथा ऐतिहासिक अधिकारों की जगह क्रय-विक्रय और "स्वतंत्र" क़रार की स्थापना की। और अंग्रेज़ विधिवेत्ता एच० एस० मेन को लगा कि मानो उन्होंने बड़ा भारी आविष्कार कर डाला है जब उन्होंने यह कहा कि पिछले युगों की तुलना में हमारी पूरी प्रगति इस बात में निहित है कि अब हम हैसियत की जगह क़रार को—बाप-दादों से विरासत में मिली स्थिति की जगह स्वेच्छापूर्वक किये क़रार के द्वारा

स्थापित स्थिति को – मानने लगे हैं। यह बात, जहां तक वह सही भी है, बहुत दिन पहले ही 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र'* में कह दी गयी थी।

परन्तु क़रार करने के लिये ज़रूरी है कि ऐसे लोग हों, जो अपने व्यक्तित्व, अपनी क्रिया-शक्ति और सम्पत्ति का स्वतंत्रतापूर्वक जिस प्रकार चाहें उस प्रकार उपयोग कर सकें, और साथ ही जो समानता के आधार पर मिलें। ठीक ऐसे ही "स्वतंत्र" और "समान" लोगों को प्रस्तुत करना पूंजीवादी उत्पादन का एक मुख्य काम था। यद्यपि शुरू में यह बात अर्द्ध-चेतन ढंग से, और वह भी धार्मिक वेश में हुई, फिर भी लूथर और काल्विन के सुधारों के समय से ही यह पक्का सिद्धान्त बन गया कि कोई व्यक्ति केवल तभी अपने कामों के लिये पूरी तरह ज़िम्मेदार माना जायेगा, जब इन कामों को करते समय उसे अपनी इच्छा-नुसार कार्य करने की पूरी स्वतंत्रता रही हो; और यह हर आदमी का नैतिक कर्त्तव्य है कि वह अनैतिक कार्य करने के लिये दबाव का विरोध करे। परन्तु विवाह की पुरानी प्रथा से यह बात कैसे मेल खाती है? पूंजीवादी विचारों के अनुसार विवाह भी एक क़रार होता है, क़ानूनी क़रार होता है, बल्कि कहना चाहिए कि सबसे महत्त्वपूर्ण क़रार होता है, क्योंकि उसके द्वारा दो व्यक्तियों के तन और मन का जीवन भर के लिये फ़ैसला कर दिया जाता है। यह सच है कि रस्मी तौर पर विवाह का क़रार दोनों पक्ष स्वेच्छा से करते थे – दोनों पक्षों की सहमति के बिना विवाह का क़रार नहीं किया जाता था। परन्तु हम यह भी अच्छी तरह जानते हैं कि यह सहमति किस प्रकार ली जाती थी और वास्तव में विवाह कौन तय करता था। परन्तु यदि दूसरे सभी क़रारों का पूर्ण स्वतंत्रता के साथ निश्चय किया जाना आवश्यक था तो फिर विवाह के क़रार के लिये यह क्यों आवश्यक नहीं था? दो युवा व्यक्ति, जो युगल दम्पति बनाये जानेवाले थे, क्या यह अधिकार नहीं रखते कि वे स्वतंत्रतापूर्वक अपने आप का, अपने शरीर का, और अपनी इन्द्रियों का जिस प्रकार चाहें उस प्रकार उपयोग करें? क्या यह बात सच नहीं है कि यौन-प्रेम नाइटों के प्रेम-व्यापार के कारण प्रचलित हुआ था, और क्या नाइटों के विवाहेतर प्रेम के विपरीत इसका सही पूंजीवादी रूप पति-पत्नी का प्रेम नहीं है? और यदि विवाहित लोगों का कर्त्तव्य है कि वे एक दूसरे से प्रेम करें, तो क्या प्रेमियों का यह कर्त्तव्य नहीं था कि वे केवल एक दूसरे से ही विवाह करें और किसी दूसरे से नहीं? और क्या इन प्रेमियों का

*देखें प्रस्तुत संस्करण, खण्ड १, भाग १ – सं०।

एक दूसरे से विवाह करने का अधिकार माता-पिता, सगे-सम्बन्धियों और विवाह तय करानेवाले अन्य परम्परागत दलालों के अधिकार से ऊंचा नहीं था? स्वतंत्रतापूर्वक व्यक्तिगत रूप से चयन करने का अधिकार यदि बेतकल्लुफ़ी के साथ धर्म तथा गिरजाघर में भी पहुंच गया है, तो वह पुरानी पीढ़ी के इस असहनीय दावे के सामने ही कैसे रुक सकता था कि उसे नयी पीढ़ी के तन-मन, सम्पत्ति और सुख-दुख का फ़ैसला करने का अधिकार है?

ऐसे युग में, जिसने पुराने सारे सामाजिक बंधनों को ढीला कर दिया था और सभी परम्परागत विचारों की नींव हिला दी थी, इन प्रश्नों का उठना स्वाभाविक ही था। एक ही वार में दुनिया पहले से क़रीब-क़रीब दस गुनी बड़ी हो गयी थी। एक गोलार्द्ध के चतुर्थांश के बजाय, अब पूरा भू-मंडल पश्चिमी यूरोप के निवासियों की नज़रों के सामने खुल गया था, और वे बाक़ी बचे सात भागों पर जल्दी-जल्दी क़ब्ज़ा करने लगे। और जिस प्रकार स्वदेश की पुरानी संकुचित दीवारें गिर गयी थीं, उसी प्रकार हज़ारों वर्ष पुरानी वे दिमाग़ी दीवारें भी ढह गयीं जिन्हें मध्य-काल की परंपरागत विचार-प्रणाली ने खड़ा कर रखा था। मनुष्य के बाह्य-चक्षुओं और ज्ञान-चक्षुओं, दोनों के सामने एक नया, असीम क्षेत्र खुल गया था। जिस युवक को भारत की धन-सम्पदा, मैक्सिको तथा पोतोसी की सोने-चांदी की खानों का आकर्षण निमंत्रण दे रहा था, उसे भला समाज की प्रतिष्ठा और शिल्प-संघों के परम्परागत विशेषाधिकार कैसे रोककर रख सकते थे? यह पूंजीपति वर्ग का वीर-युग था। इसमें भी रोमांस था, इसके भी अपने प्रेम के सपने थे, परन्तु उनका आधार पूंजीवादी था, और अन्तिम विश्लेषण में, उनका उद्देश्य और लक्ष्य भी पूंजीवादी होता था।

इस प्रकार यह बात देखने में आयी कि उठते हुए पूंजीपति वर्ग ने – विशेषकर प्रोटेस्टेंट देशों में, जहां तत्कालीन व्यवस्था की जड़ें सबसे ज़्यादा हिली थीं – विवाह के मामले में भी क़रार की स्वतंत्रता को अधिकाधिक माना और उसे उपरोक्त ढंग से लागू किया। विवाह वर्ग-विवाह ही रहा, पर वर्ग की सीमाओं के भीतर दोनों पक्षों को अपना जीवन-साथी चुनने की स्वतंत्रता कुछ हद तक मिल गयी। और काग़ज़ पर, नैतिक सिद्धान्तों में और कवियों की कविताओं में भी, इस सिद्धान्त से अधिक सर्वमान्य और कोई सिद्धान्त नहीं रहा कि जो विवाह पारस्परिक यौन-प्रेम पर तथा पति-पत्नी के सचमुच स्वैच्छिक क़रार पर आधारित नहीं है, वह अनैतिक है। सारांश यह कि प्रेम-विवाह मनुष्य का अधिकार घोषित कर

दिया गया, और वह भी droit de l'homme* ही न रहकर कभी-कभी अपवादस्वरूप droit de la femme** भी माना जाने लगा।

परन्तु एक बात में यह मानव अधिकार दूसरे सभी तथाकथित मानव अधिकारों से भिन्न था। दूसरे तमाम अधिकार, व्यवहार में शासक वर्ग तक – यानी पूंजीपति वर्ग तक – ही सीमित बने रहे और उत्पीड़ित वर्ग से – सर्वहारा वर्ग से – प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष ढंग से ये अधिकार छीने जाते रहे। पर इतिहास का व्यंग्य एक बार फिर सामने आया। शासक वर्ग अब भी कुछ निश्चित आर्थिक प्रभावों के वश में रहता है और इसलिये कुछ अपवादस्वरूप उदाहरणों में ही उसके यहां सचमुच स्वेच्छा से विवाह होते हैं; परन्तु उत्पीड़ित वर्ग में, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, आम तौर पर विवाह स्वेच्छा से होते हैं।

अतएव, विवाह में पूर्ण स्वतंत्रता केवल उसी समय आम तौर पर कार्यरूप ले सकेगी जब पूंजीवादी उत्पादन तथा उससे उत्पन्न स्वामित्व सम्बन्ध मिट जायेंगे और उसके परिणामस्वरूप वे सब गौण आर्थिक कारण भी मिट जायेंगे जो आज भी जीवन साथी के चुनाव पर इतना भारी प्रभाव डालते हैं। तब जाकर ही आपस में प्रेम के सिवा और कोई कारण विवाह के मामले में काम नहीं करेगा।

यौन-प्रेम चूंकि स्वभाव से एकांतिक होता है – यद्यपि यह एकांतिकता आज अपने पूर्ण रूप में केवल नारी के लिये ही होती है – इसलिये, यौन-प्रेम पर आधारित विवाह स्वभाव से ही एकनिष्ठ होता है। हम यह देख चुके हैं कि बाख़ोफ़ेन तब कितने सही नतीजे पर पहुंचे थे जब उन्होंने कहा था कि यूथ-विवाह से व्यक्तिगत विवाह तक की प्रगति का श्रेय मुख्यतः स्त्रियों को है। हां, युग्म-विवाह से एकनिष्ठ विवाह में प्रवेश करने का श्रेय पुरुष को दिया जा सकता है। इतिहास की दृष्टि से इस परिवर्तन का सार यह था कि स्त्रियों की स्थिति और गिर गयी और पुरुषों के लिये बेवफ़ाई और आसान हो गयी। जब वे आर्थिक कारण मिट जायेंगे जिनसे स्त्रियां पुरुषों की हस्ब मामूल बेवफ़ाई को सहन करने के लिये विवश हो जाती थीं – अर्थात् जब स्त्री को अपनी जीविका की और इससे भी अधिक, अपने बच्चों के भविष्य की चिन्ता न रह जायेगी – और इस प्रकार जब स्त्रियों और पुरुषों के बीच सचमुच समानता स्थापित हो जायेगी, तब पहले का सारा अनुभव यही बताता है कि इस समानता का परिणाम उतना यह नहीं

* «droit de l'homme» के दो अर्थ हैं: "मानव अधिकार" तथा "पुरुष का अधिकार"। – सं०

** "नारी का अधिकार"। – सं०

होगा कि स्त्री बहुपतिका हो जायेगी, बल्कि कहीं अधिक प्रभावपूर्ण रूप से यह होगा कि पुरुष सही माने में एकपत्नीक बन जायेगा।

परन्तु एकनिष्ठ विवाह से वे सारी विशेषताएं निश्चित रूप में मिट जायेंगी, जो स्वामित्व सम्बन्धों से उसके उत्पन्न होने के कारण पैदा हो गयी हैं। ये विशेषताएं हैं: एक तो पुरुष का आधिपत्य, और दूसरे विवाह सम्बन्ध का अविच्छेद्य रूप। दाम्पत्य जीवन में पुरुष का आधिपत्य केवल उसके आर्थिक प्रभुत्व का एक परिणाम है और उस प्रभुत्व के मिटने पर वह अपने आप ख़तम हो जायेगा। विवाह सम्बन्ध का अविच्छेद्य रूप कुछ हद तक उन आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम है जिनमें एकनिष्ठ विवाह की उत्पत्ति हुई थी और कुछ हद तक वह उस समय से चली आती हुई एक परम्परा है जबकि इन आर्थिक परिस्थितियों तथा एकनिष्ठ विवाह के सम्बन्ध को ठीक-ठीक नहीं समझा जाता था और धर्म ने उसे अतिरंजित कर दिया था। आज इस परम्परा में हज़ारों दरारें पड़ चुकी हैं। यदि प्रेम पर आधारित विवाह ही नैतिक होते हैं तो ज़ाहिर है कि केवल वे विवाह ही नैतिक माने जायेंगे जिनमें प्रेम क़ायम रहता है। व्यक्तिगत यौन-प्रेम के आवेग की अवधि प्रत्येक व्यक्ति के लिये भिन्न होती है। विशेषकर पुरुषों में तो इस मामले में बहुत ही अन्तर होता है। और प्रेम के निश्चित रूप से नष्ट हो जाने पर या किसी और व्यक्ति से उत्कट प्रेम हो जाने पर पति-पत्नी का अलग हो जाना दोनों पक्ष के लिये और समाज के लिये भी हितकारक बन जाता है। अलबत्ता, लोग तलाक़ की कार्रवाइयों के व्यर्थ के झंझटों से बच जायें।

अतएव, पूंजीवादी उत्पादन के आसन्न विनाश के बाद यौन-सम्बन्धों का स्वरूप क्या होगा, उसके बारे में आज हम केवल नकारात्मक अनुमान कर सकते हैं, – अभी हम केवल इतना कह सकते हैं कि क्या चीज़ें तब नहीं रहेंगी। परन्तु उसमें कौनसी नयी चीज़ें जुड़ जायेंगी? यह उस समय निश्चित होगा जब एक नयी पीढ़ी पनपेगी – ऐसे पुरुषों की पीढ़ी जिसे जीवन भर कभी किसी नारी की देह को पैसा देकर या सामाजिक शक्ति के किसी अन्य साधन के द्वारा ख़रीदने का मौक़ा नहीं मिलेगा, और ऐसी नारियों की पीढ़ी जिसे कभी सच्चे प्रेम के सिवा और किसी कारण से किसी पुरुष के सामने आत्मसमर्पण करने के लिये विवश नहीं होना पड़ेगा, और न ही जिसे आर्थिक परिणामों के भय से अपने को अपने प्रेमी के सामने आत्मसमर्पण करने से कभी रोकना पड़ेगा। और जब एक बार ऐसे स्त्री-पुरुष इस दुनिया में जन्म ले लेंगे, तब वे इस बात की तनिक

भी चिन्ता नहीं करेंगे कि आज हमारी राय में उन्हें क्या करना चाहिए। वे स्वयं तय करेंगे कि उन्हें क्या करना चाहिए और उसके अनुसार वे स्वयं ही प्रत्येक व्यक्ति के आचरण के बारे में जनमत का निर्माण करेंगे—और बस, मामला ख़तम हो जायेगा।

इस बीच, चलिये, हम लोग फिर मौर्गन के पास लौट चलें जिनसे हम बहुत दूर भटक गये हैं। सभ्यता के युग में जो सामाजिक संस्थाएं विकसित हुई हैं, उनका ऐतिहासिक अन्वेषण मौर्गन की पुस्तक के अध्ययन क्षेत्र के बाहर है। इसलिये, इस काल में एकनिष्ठ विवाह का क्या होगा, इस विषय की उन्होंने बहुत संक्षेप में चर्चा की है। मौर्गन भी एकनिष्ठ परिवार के विकास को एक प्रगतिशील क़दम मानते हैं। उनकी राय में भी यह नारी और पुरुष की समानता के लक्ष्य की ओर एक क़दम है, पर वह यह नहीं मानते कि इसके द्वारा मानव-जाति उस लक्ष्य पर पूरी हद तक पहुंच गयी है। परन्तु मौर्गन के शब्दों में,

"जब यह सत्य स्वीकार कर लिया जाता है कि परिवार एक के बाद एक, चार अलग-अलग रूपों से गुज़र चुका है और अब वह अपने पांचवें रूप में है, तब फ़ौरन यह सवाल उठता है कि क्या भविष्य में यह रूप स्थायी बना रहेगा? इस सवाल का सिर्फ़ यही जवाब दिया जा सकता है कि जैसा कि भूतकाल में हुआ, समाज की प्रगति के साथ-साथ परिवार का रूप भी प्रगति करेगा और समाज के बदलने के साथ-साथ परिवार का रूप भी बदलेगा। सामाजिक व्यवस्था विशेष की उपज होते हुए वह उसके विकास को प्रतिबिम्बित करेगा। सभ्यता के प्रारंभ से लेकर अब तक चूंकि एकनिष्ठ परिवार में बड़ा सुधार हुआ है और आधुनिक काल में अत्यधिक सुधार हुआ है, इसलिये कम से कम इतना तो माना ही जा सकता है कि उसमें अभी और सुधार हो सकता है और वह उस समय तक होता रहेगा जब तक कि नारी और पुरुष की समानता स्थापित नहीं हो जायेगी। और यदि सुदूर भविष्य में एकनिष्ठ परिवार समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ सिद्ध होता है, तो आज यह भविष्यवाणी करना असम्भव है कि उसका स्थान विवाह का कौनसा रूप लेगा।"

३

इरोक्वाई गोत्र

अब हम मौर्गन की एक और खोज पर आते हैं, जो कम से कम उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी महत्त्वपूर्ण रक्त-सम्बद्धता की व्यवस्थाओं के आधार पर परिवार

के आदिम रूप की पुनर्रचना थी। मौर्गन ने साबित कर दिया है कि अमरीकी इंडियन क़बीलों में रक्त-सम्बन्धियों के जो समूह थे, और जिनके नाम पशुओं के नामों पर रखे जाते थे, वे बुनियादी तौर पर यूनानियों के genea और रोमन लोगों के gentes से अभिन्न थे; कि गोत्र का प्रारम्भिक रूप वह है जो अमरीका में मिलता है और बाद के रूप वे हैं जो यूनानियों में और रोमन लोगों में पाये गये हैं; कि प्राचीनतम काल के यूनानियों तथा रोमन लोगों में गोत्र, बिरादरियों और क़बीलों के रूप में समाज का जो संगठन मिलता था, हूबहू वैसा ही संगठन अमरीकी इंडियनों में मिलता है; और (जहां तक आज उपलब्ध तथ्य-सामग्री से हम जान सके हैं) गोत्र एक ऐसा संगठन है जो सभ्यता के युग में प्रवेश करने के पहले तक, और यहां तक कि उसके बाद, संसार के सभी बर्बर लोगों में भी पाया जाता रहा है। यह साबित हो जाने से प्राचीनतम काल के यूनानी तथा रोमन इतिहास की सबसे कठिन गुत्थियां एक ही वार में सुलझ गयीं। साथ ही इस खोज ने आदिम काल के, – अर्थात् **राज्य** के आविर्भाव के पहले के – सामाजिक गठन की बुनियादी विशेषताओं पर अप्रत्याशित प्रकाश डाला है। एक बार जानकारी हो जाने पर यह चीज़ भले ही सरल और सीधी मालूम पड़ती हो, पर मौर्गन ने इसका बिल्कुल हाल में ही पता लगाया। १८७१ में उनकी जो रचना* प्रकाशित हुई थी, उसमें वह इस भेद का पता नहीं लगा पाये थे। और जब मौर्गन ने इस रहस्य का पता लगाया तो इंगलैंड के पुरातत्त्वविदों की, जिन्हें अमूमन् अपने में बहुत विश्वास रहता था, कुछ समय के लिये ज़बान बंद हो गयी।

मौर्गन ने रक्त-सम्बन्धियों के इस समूह के लिये जिस लैटिन शब्द gens का प्रयोग किया है, वह अपने यूनानी पर्याय genos की ही तरह, समान आर्य धातु gan (जो जर्मन भाषा में, आर्य भाषा के g के k बन जाने के नियम के अनुसार kan हो जाता है) से व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है "जन्म देना"। Gens, genos, संस्कृत भाषा का **जन**, गौथिक भाषा का kuni (यह शब्द भी उपरोक्त नियम के अनुसार बना है), प्राचीन नौर्दिक और एंग्लो-सैक्सन भाषा का kyn, अंग्रेज़ी भाषा का kin और मध्योत्तर जर्मन भाषा का künne – इन सब शब्दों का एक ही अर्थ है, और वह है: रक्त-सम्बन्ध, वंश। परन्तु लैटिन भाषा में gens और यूनानी भाषा में genos विशेष रूप से रक्त-संबंधियों के उन समूहों

---

*देखें प्रस्तुत खण्ड, पृ० २१–२२। – सं०

के लिये प्रयुक्त होते हैं जो एक वंश के होने का (यहां एक ही पुरुष के वंशज होने का) दावा करते हैं, और जो कुछ विशेष सामाजिक तथा धार्मिक रीतियों से बंधकर एक विशिष्ट जन-समुदाय बन गये हैं, परन्तु जिनकी उत्पत्ति और प्रकृति के विषय में अभी तक सभी इतिहासकार अंधकार में भटक रहे थे।

हम ऊपर पुनालुआन परिवार के सम्बन्ध में देख चुके हैं कि शुरू में gens, अर्थात् गोत्र कैसे बनता था। उसमें वे तमाम लोग शामिल होते थे जो पुनालुआन विवाह की बदौलत और उसके साथ अनिवार्यतः प्रचलित विचारों के अनुसार, एक निश्चित पूर्वजा के, यानी इस गोत्र की स्थापना करनेवाली नारी के वंशज माने जाते थे। परिवार के इस रूप में चूंकि यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता था कि बच्चे का पिता कौन है, इसलिये वंश केवल नारी के नाम से चलता था। और भाई-बहन में चूंकि विवाह वर्जित था, और पुरुष केवल किसी और वंश की स्त्रियों से ही विवाह कर सकता था, इसलिये इन स्त्रियों से पैदा होनेवाले बच्चे मातृ-सत्ता के नियम के अनुसार गोत्र विशेष के बाहर होते थे। अतएव हर एक पीढ़ी की केवल **पुत्रियों** की संतान ही गोत्र में रह पाती थी और पुत्रों की संतान अपनी माताओं के गोत्रों की मानी जाती थी। अस्तु, इस रक्त-सम्बद्ध समदाय का उस समय क्या होता है जब वह क़बीले के अन्दर, ऐसे ही अन्य समुदायों से पृथक् रूप में गठित होता है?

मौर्गन ने इरोक्वा लोगों के, विशेषकर सेनेका क़बीले के गोत्रों को प्रारम्भिक गोत्रों का क्लासिकीय रूप माना है। इस क़बीले में आठ गोत्र होते हैं जिनके नाम नीचे लिखे पशुओं के नामों पर रखे गये हैं: १) भेड़िया, २) भालू, ३) कछुआ, ४) ऊदबिलाव, ५) हिरन, ६) टिटिहरी, ७) बगुला, ८) बाज़। प्रत्येक गोत्र में नीचे लिखी प्रथाएं प्रचलित हैं:

१. गोत्र अपना "साखेम" (अर्थात् शान्ति-काल का नेता) और अपना मखिया (युद्ध-काल का नेता) चुनता है। साखेम गोत्र में से ही चुना जाता था और यह पदवी गोत्र में वंशगत होती थी क्योंकि उसका स्थान ख़ाली होते ही उसे तुरन्त भरना पड़ता था। युद्ध-काल का नेता गोत्र के बाहर से भी चुना जा सकता था और यह पद कुछ समय तक ख़ाली भी रह सकता था। एक साखेम का पुत्र कभी उसका स्थान नहीं ले सकता था, क्योंकि इरोक्वा लोगों में मातृ-सत्ता प्रचलित थी, और इसलिये पुत्र एक भिन्न गोत्र का सदस्य होता था। परन्तु साखेम का भाई या उसका भांजा अक्सर उसके स्थान पर चुन लिया जाता था। चुनाव में सभी नारी व पुरुष दोनों ही भाग लेते थे, परन्तु यह ज़रूरी था कि

इस प्रकार जो व्यक्ति चुना जाता था, उसे बाक़ी सातों गोत्र मंजूर करें। इसके बाद ही कहीं उसे बाक़ायदा साख़ेम के पद पर बैठाया जाता था—यह काम पूरे इरोक्वा महासंघ की आम परिषद करती थी। इसका महत्त्व बाद में स्पष्ट हो जायेगा। गोत्र के भीतर साख़ेम का अधिकार पितातुल्य, केवल नैतिक प्रकार का होता था। उसके पास दमन के कोई साधन नहीं थे। साख़ेम होने के नाते वह सेनेका लोगों की क़बीला परिषद का भी सदस्य होता था, और साथ ही इरोक्वा महासंघ की आम परिषद का भी। युद्ध-काल का नेता केवल सैनिक अभियान के समय आदेश दे सकता था।

२. गोत्र साख़ेम को और युद्धकालीन नेता को जब चाहे हटा सकता था। यह फ़ैसला भी स्त्री-पुरुष मिलकर करते थे। पद से हटाये जाने पर ये व्यक्ति गोत्र के बाक़ी सदस्यों की भांति साधारण योद्धा और साधारण व्यक्ति बन जाते थे। क़बीले की परिषद गोत्र की इच्छा के ख़िलाफ़ भी साख़ेमों को उनके पदों से हटा सकती थी।

३. किसी गोत्र के सदस्य को उस गोत्र के भीतर विवाह करने की इजाज़त नहीं थी। यह गोत्र का बुनियादी नियम था। यह वह बंधन था जो गोत्र को एकसाथ बांधे रखता था। इस नकारात्मक रूप में वास्तव में वह अत्यन्त सकारात्मक रक्त-सम्बन्ध प्रगट हुआ था जिसके कारण इस जन-समुदाय में एकत्रित व्यक्ति एक गोत्र के रूप में गठित थे। इस साधारण सत्य की खोज करके मौर्गन ने पहली बार गोत्र के असली स्वरूप को प्रगट किया था। तब तक गोत्र को लोगों ने कितना कम समझा था, यह जांगल तथा बर्बर लोगों के इसके पहले के उन वर्णनों को पढ़ने पर मालूम हो जाता है, जिनमें विभिन्न समुदायों को, जो सभी गोत्रीय संगठन के अन्तर्गत थे, बिना सोचे-समझे क़बीला, कुल और "थुम", आदि नामों से पुकारा गया था। कभी-कभी कहा जाता है कि ऐसे किसी समदाय के अन्दर विवाह करना मना है। इस प्रकार वह घोर अव्यवस्था पैदा कर दी गयी थी जिसमें मि० मैक-लेनन नेपोलियन की भांति मैदान में आये और उन्होंने यह फ़तवा देकर व्यवस्था स्थापित की कि सभी क़बीले दो श्रेणियों में बंटे होते हैं—एक वे क़बीले होते हैं जिनके भीतर विवाह करना मना है (बहिर्विवाही), और दूसरे वे, जिनके अन्दर विवाह करने की इजाज़त है (अन्तर्विवाही)। और इस तरह गड़बड़ी को और भी बढ़ाने के बाद मैक-लेनन साहब इस बात की गहरी खोजबीन में व्यस्त हो गये थे कि इन दो बेतुकी श्रेणियों में अधिक पुरानी कौनसी है—अन्तर्विवाही श्रेणी या बहिर्विवाही। रक्त-सम्बन्ध पर आधारित गोत्र का तथा फलतः

उसके सदस्यों में विवाह के असम्भव होने का पता लगते ही इस सारी मूर्खता का अपने आप ख़ात्मा हो गया। स्पष्ट है कि इरोक्वा लोग विकास की जिस अवस्था में हैं, उस अवस्था में गोत्र के भीतर विवाह करने पर लगा हुआ प्रतिबंध पूरी सख़्ती के साथ लागू किया जाता है।

४. मृत व्यक्तियों की सम्पत्ति गोत्र के बाक़ी सदस्यों में बांट दी जाती थी क्योंकि हर हालत में सम्पत्ति को गोत्र के भीतर ही रहना था। चूंकि इरोक्वाओं का कोई भी सदस्य मरने पर नगण्य सम्पत्ति ही छोड़ जा सकता था, इसलिये वह गोत्र के भीतर उसके सबसे निकट के सम्बन्धियों में बांट दी जाती थी। जब कोई पुरुष मरता था तो उसकी सम्पत्ति उसके सगे भाई-बहनों और उसके मामा के बीच बांट दी जाती थी और जब कोई स्त्री मर जाती थी तो उसकी सम्पत्ति उसके बच्चों और उसकी सगी बहनों के बीच बांट दी जाती थी, पर उसके भाइयों को उसमें कोई हिस्सा नहीं मिलता था। ठीक यही कारण था कि पति-पत्नी के लिये एक दूसरे की सम्पत्ति उत्तराधिकार में पाना असम्भव था और बच्चे पिता की सम्पत्ति नहीं पा सकते थे।

५. गोत्र के सदस्यों का कर्त्तव्य था कि वे एक दूसरे की मदद और हिफ़ाज़त करें, और यदि कोई बाहर का आदमी गोत्र के किसी सदस्य को चोट पहुंचा गया हो, तो उसका बदला लेने में ख़ास तौर पर मदद करें। व्यक्ति अपनी सुरक्षा के लिये गोत्र की शक्ति पर निर्भर कर सकता था और करता भी था। जो कोई गोत्र के किसी सदस्य को चोट पहुंचाता था, वह पूरे गोत्र पर चोट करता था। गोत्र के इस रक्त-सम्बन्ध से रक्त-प्रतिशोध के कर्त्तव्य की उत्पत्ति हुई, जिसे इरोक्वा लोग बिला शर्त मानते थे। गोत्र के किसी सदस्य को यदि बाहर का कोई आदमी मार डालता था, तो हत व्यक्ति का पूरा गोत्र ख़ून का बदला ख़ून से लेने के लिये कर्त्तव्यबद्ध होता था। पहले मध्यस्थता की कोशिश की जाती थी। मारनेवाले गोत्र की परिषद बैठती थी और हत व्यक्ति के गोत्र की परिषद के पास झगड़ा निपटाने के लिये विभिन्न प्रस्ताव भेजती थी। इसका तरीक़ा प्रायः यह होता था कि जो कुछ हो गया, उस पर दुख प्रकट किया जाता था और काफ़ी मूल्यवान भेंट भेजी जाती थी। यदि भेंट स्वीकार कर ली गयी तो समझा जाता था कि झगड़ा निपट गया। नहीं, तो हत व्यक्ति का गोत्र अपने एक या एक से अधिक सदस्यों को बदला लेने के लिये नियुक्त करता था, और उनका कर्त्तव्य होता था कि वे क़ातिल का पीछा करें और उसे जान से मार डालें। यदि यह काम पूरा कर लिया जाता था तो क़ातिल के गोत्र को शिकायत करने

का कोई अधिकार नहीं होता था ; यह समझा जाता था कि हिसाब पूरा हो गया।

६. गोत्र के पास निश्चित नाम या नामों की निश्चित माला होती है, जिन्हें पूरे क़बीले के अन्दर केवल गोत्र विशेष ही इस्तेमाल कर सकता है। इस प्रकार, किसी व्यक्ति का नाम लेने पर यह भी ज्ञात हो जाता है कि वह किस गोत्र का सदस्य है। जो गोत्र के नाम का प्रयोग करता है, उसे स्वभावतः गोत्र के अधिकार भी प्राप्त होते हैं।

७. गोत्र अजनबियों को अंगीकार कर सकता है, और इस प्रकार उन्हें पूरे क़बीले में शामिल कर सकता है। जो युद्धबंदी जान से नहीं मारे जाते थे, वे एक गोत्र द्वारा अपनाये जाकर सेनेका क़बीले के सदस्य बन जाते थे और इस प्रकार वे गोत्र के और क़बीले के पूरे अधिकार प्राप्त कर लेते थे। अजनबियों को गोत्र के सदस्यों की व्यक्तिगत सिफ़ारिश पर अंगीकार किया जाता था — पुरुष अजनबी को भाई या बहन और स्त्रियां अपनी सन्तान मान लेती थीं। सम्बन्ध के पक्का होने के लिये आवश्यक था कि गोत्र बाक़ायदा रस्मी तौर पर अजनबी को अपना सदस्य स्वीकार करे। जिन गोत्रों के सदस्यों की संख्या बहुत ज़्यादा घट जाती थी, वे अक्सर दूसरे गोत्रों में से, उनकी सहमति से, सामूहिक भर्ती करके फिर भरे-पूरे बन जाते थे। इरोक्वा लोगों में बाहरी आदमियों को गोत्र के सदस्य के रूप में अंगीकार करने का अनुष्ठान क़बीले की परिषद की एक आम सभा में सम्पन्न किया जाता था। इससे व्यवहार में यह एक धार्मिक अनष्ठान बन गया था।

८. अमरीकी इंडियन गोत्रों में विशेष धार्मिक अनुष्ठानों का अस्तित्व सिद्ध करना कठिन है ; फिर भी इसमें शक नहीं कि इन लोगों के धार्मिक अनुष्ठान न्यूनाधिक गोत्रों से ही सम्बन्धित होते थे। इरोक्वा लोगों के छः वार्षिक धार्मिक अनुष्ठानों में अलग-अलग गोत्रों के साख़ेमों और युद्धकालीन नेताओं को, उनके पदों के कारण, "धर्म पालक" माना जाता था और वे पुरोहितों का काम करते थे।

९. हर गोत्र का एक सामूहिक क़ब्रिस्तान होता था। न्यूयार्क राज्य के इरोक्वा लोगों के चारों ओर से गोरों से घिर जाने के कारण उनका क़ब्रिस्तान अब नहीं मिलता, पर पहले वह था। दूसरे इंडियन क़बीलों में वह अब भी मिलता है। उदाहरण के लिये टस्कारोरा क़बीले में, जिसका कि इरोक्वा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह यद्यपि ईसाई हो गया है, फिर भी उसके क़ब्रिस्तान में अभी तक हर गोत्र के लिये क़ब्रों की एक अलग पंक्ति है, यानी मां तो उसी पंक्ति में दफ़नायी

जाती है जिसमें उसके बच्चे दफ़नाये जाते हैं, पर पिता को उस पंक्ति में स्थान नहीं मिलता। और इरोक्वा लोगों में भी, गोत्र के सभी सदस्य अंतिम क्रिया के समय मातम में शामिल होते हैं, क़ब्र तैयार करते हैं, दफ़नाने के समय भाषण देते हैं, इत्यादि।

१०. गोत्र की एक परिषद होती है जो गोत्र के सभी बालिग सदस्यों—स्त्री और पुरुष दोनों—की जनसभा है। उसमें सभी सदस्यों की आवाज़ बराबर होती है। यह परिषद साखेमों और युद्ध-काल के नेताओं को चुनती थी और इनको अपदस्थ करती थी और इसी प्रकार शेष "धर्म-पालकों" को भी चुनती और बर्ख़ास्त करती थी। गोत्र के किसी सदस्य के मारे जाने पर वह प्रायश्चित के रूप में भेंट लेने या रक्त-प्रतिशोध का निर्णय करती थी। वह अजनबियों को गोत्र का सदस्य बनाती थी। सारांश यह कि वह गोत्र की सार्वभौम सत्ता थी।

एक ठेठ इंडियन गोत्र के ये ही अधिकार थे।

"इरोक्वाई गोत्र के सभी सदस्य व्यक्तिगत रूप से स्वतंत्र होते थे, और एक दूसरे की स्वतंत्रता की रक्षा करना उनका कर्त्तव्य समझा जाता था। उनके समान व्यक्तिगत अधिकार होते थे। साखेम या युद्ध-काल के नेता को कोई विशेष अधिकार नहीं प्राप्त थे। ये लोग रक्त-सम्बन्ध के बंधन में जुड़े एक भ्रातृसंघ के समान थे। स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व—ये गोत्र के मुख्य सिद्धान्त होते थे, यद्यपि किसी ने उनकी इस रूप में स्थापना नहीं की थी। गोत्र पूरी समाज व्यवस्था की एक इकाई था, वह बुनियाद था जिस पर इंडियन समाज खड़ा था। आत्मसम्मान और स्वतंत्रता की वह भावना, जो सर्वत्र इंडियनों के चरित्र की विशेषता थी, इसी की उपज थी।"

अमरीका की खोज के समय इंडियन उत्तरी अमरीका में हर जगह मातृसत्तात्मक गोत्रों में संगठित थे। डैकोटा जैसे चन्द क़बीले ही ऐसे थे जिनमें गोत्र-व्यवस्था जर्जर हो गयी थी। ओजिब्वे और ओमाहा जैसे कुछ दूसरे क़बीले पितृ-सत्ता के अनुसार गठित थे।

इंडियनों के जिन बहुत-से क़बीलों में हर एक के पांच-पांच, छः-छः से अधिक गोत्र थे, उनमें तीन-चार या उससे अधिक संख्या में गोत्र एक विशेष समूह में संयुक्त होते हैं। उसे मौर्गन ने—इंडियन नाम को हूबहू यूनानी भाषा में अनुवाद करके—phratry, अर्थात् बिरादरी कहा है। इस प्रकार सेनेका क़बीले में दो बिरादरियां हैं, पहली में एक से चार नम्बर तक के गोत्र शामिल हैं और दूसरी

में पांच से आठ नम्बर तक के। अधिक निकट से खोज करने पर पता चलता है कि ये बिरादरियां, मुख्यतः शुरू के उन गोत्रों का प्रतिनिधित्व करती हैं जिनमें क़बीला सबसे पहले विभाजित हुआ था। गोत्रों के भीतर विवाह करने की मनाही कर दिये जाने के कारण, हर क़बीले के लिये आवश्यक हो गया कि उसमें कम से कम दो गोत्र हों ताकि क़बीला अपना स्वतंत्र अस्तित्व क़ायम रख सके। जैसे-जैसे क़बीला बढ़ता गया, हर एक गोत्र फिर दो या दो से अधिक गोत्रों में विभाजित होता गया। और अब इनमें से प्रत्येक एक अलग गोत्र हो जाता है, और पुराना गोत्र, जिसमें सभी पुत्री-गोत्र शामिल होते हैं, बिरादरी के रूप में क़ायम है। सेनेका क़बीले में, और इंडियनों के दूसरे अधिकतर क़बीलों में एक बिरादरी में शामिल गोत्र आपस में सगे भ्रातृ-गोत्र होते हैं, और दूसरी बिरादरी के गोत्र उनके रिश्ते के भ्रातृ-गोत्र समझे जाते हैं। हम ऊपर देख चुके हैं कि रक्त-सम्बद्धता की अमरीकी व्यवस्था में इन नामों का बहुत यथार्थ और स्पष्ट अर्थ होता है। शुरू में तो सेनेका क़बीले का कोई व्यक्ति अपनी बिरादरी के भीतर विवाह नहीं कर सकता था, पर अब बहुत अरसे से यह प्रतिबंध नहीं रह गया है और वह केवल गोत्र तक ही सीमित है। सेनेका क़बीले के लोगों में परम्परानुसार शुरू में "भालू" और "हिरन" नाम के वे दो गोत्र थे, जिनसे दूसरे गोत्र निकले थे। एक बार जब इस नयी प्रथा ने जड़ पकड़ ली तो आवश्यकता के अनुसार उसमें परिवर्तन कर दिया गया। संतुलन बनाये रखने के लिये कभी-कभी तो दूसरी बिरादरियों के पूरे के पूरे गोत्र उन बिरादरियों में शामिल किये जाते थे जिनके गोत्र नष्ट हो गये थे। यही कारण है कि विभिन्न क़बीलों की बिरादरियों में हम एक ही नाम के अनेक गोत्रों को विभिन्न समूहों में संगठित पाते हैं।

इरोक्वा लोगों में बिरादरी के काम कुछ हद तक सामाजिक और कुछ हद तक धार्मिक हैं। १) गेंद का खेल खेलते समय एक बिरादरी दूसरी बिरादरी के खिलाफ़ होती है। हर एक अपने सबसे अच्छे खिलाड़ियों को मैदान में उतारती है। बिरादरी के बाक़ी सदस्य दर्शक होते हैं। ये दर्शक, जो अपनी-अपनी बिरादरी के अनुसार समूहबद्ध होते हैं, अपने-अपने पक्ष की जीत के बारे में एक दूसरे से शर्त लगाते हैं। २) क़बीले की परिषद में प्रत्येक बिरादरी के साख़ेम और युद्ध-काल के नेता एकसाथ आमने-सामने बैठते हैं, और प्रत्येक वक्ता हर एक बिरादरी के प्रतिनिधियों को एक अलग निकाय मानकर सम्बोधित करता है। ३) यदि क़बीले के अंदर कोई क़त्ल हो जाता था, और मारनेवाला तथा मृत

व्यक्ति एक बिरादरी के नहीं होते थे, तो जिस गोत्र का सदस्य मारा गया, वह अक्सर अपने भ्रातृ-गोत्रों से अपील करता था। वे बिरादरी की परिषद बुलाते थे और फिर मिलकर दूसरी बिरादरी से एक निकाय के रूप में अपील करते थे कि मामले को निपटाने के लिये वह भी अपनी परिषद बुलाये। यहां भी बिरादरी मूल गोत्र के रूप में सामने आती है, और उसके लिए पृथक-पृथक निर्बल गोत्रों की, जो उससे निकलते थे, तुलना में सफलता की अधिक सम्भावनाएं होती हैं। ४) किसी बिरादरी के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के मर जाने पर दूसरी बिरादरी अंतिम क्रिया और दफ़नाने, आदि की व्यवस्था करती थी और मृत व्यक्ति की बिरादरी के लोग मातम मनानेवाले समझे जाते थे। यदि कोई साख़ेम मर जाता था तो उसकी बिरादरी नहीं, दूसरी बिरादरी इरोक्वा महासंघ परिषद को सूचना देती थी कि अमुक पद ख़ाली हो गया है। ५) साख़ेम के चुनाव के समय बिरादरी की परिषद फिर सामने आती थी। भ्रात-गोत्रों द्वारा चनाव की मंजूरी मानी हुई बात समझी जाती थी पर दूसरी बिरादरी के गोत्र विरोध कर सकते थे। ऐसी सूरत में इस बिरादरी की परिषद बैठती थी और यदि वह भी चुनाव को अस्वीकार करती, तो चुनाव रद्द घोषित कर दिया जाता था। ६) पहले इरोक्वा लोगों में कुछ विशेष गुप्त धार्मिक अनुष्ठान हुआ करते थे जिन्हें गोरे लोग medicine-lodges कहते थे। सेनेका क़बीले में ये अनुष्ठान दो धार्मिक बिरादरियां किया करती थीं; प्रत्येक बिरादरी में एक धार्मिक बिरादरी होती थी, और इनमें नये सदस्यों की भर्ती के लिये विशेष नियम थे। ७) यदि, जैसा कि लगभग निश्चित है, विजय के समय[24] त्लासकाला की चार बस्तियों में जो चार वंश (रक्त-सम्बद्ध समुदाय) रहते थे, वे चार बिरादरियां थे, तो इससे साबित हो जाता है कि यूनानियों की तरह और जर्मनों के बीच रक्त-सम्बन्धियों के समान समुदायों की भांति यहां भी बिरादरियां सैनिक इकाइयों के रूप में भी काम करती थीं। ये चारों वंश जब लड़ने जाते थे, तो हर एक अलग टुकड़ी के रूप में चलता था और उसकी अपनी अलग वर्दी, अलग झंडा और अलग नेता होता था।

जिस प्रकार कई गोत्रों से मिलकर एक बिरादरी बनती है, उसी प्रकार ठेठ रूप में कई बिरादरियों से मिलकर एक क़बीला बनता है। कई क़बीलों में, जो बहुत कमज़ोर हो गये हैं, बीच की कड़ी – बिरादरी – नहीं होती। अमरीका के इंडियन क़बीलों की मुख्य विशेषताएं क्या हैं?

१. हर क़बीले का अपना इलाक़ा और अपना नाम होता था। इस इलाक़े के अलावा, जहां बस्ती होती थी, हर क़बीले के पास काफ़ी क्षेत्र शिकार करने

और मछली मारने के लिये होता था। इसके भी आगे बहुत लम्बी-चौड़ी तटस्थ भूमि होती थी जो दूसरे क़बीले के इलाक़े तक चली जाती थी। यदि दो क़बीलों की भाषाएं मिलती-जुलती होती थीं तो उनके बीच की यह तटस्थ भूमि विस्तार में अपेक्षाकृत कम होती थी। जहां दो क़बीलों की भाषाओं में कोई सम्बन्ध नहीं होता था, वहां इस भमि का विस्तार अपेक्षाकृत अधिक होता था। ऐसी तटस्थ भूमि के उदाहरण हैं: जर्मनों का सरहदी जंगल; वह वीरान इलाक़ा जो सीज़र के सुएवी लोगों ने अपने क्षेत्र के चारों ओर बना लिया था; डेनों तथा जर्मनों के बीच का îsarnholt (डेन भाषा में jarnved, limes Danicus); जर्मन तथा स्लाव लोगों के बीच का सैक्सन जंगल और branibor (स्लाव भाषा में "रक्षा-जंगल"), जिससे ब्रनदनबर्ग (Brandenburg) नाम निकला है। इन अधूरी और अस्पष्ट सीमाओं से घिरा हुआ यह क्षेत्र क़बीले का सामूहिक क्षेत्र होता था जिसे पड़ोस के क़बीले मानते थे। यदि कोई उसमें घुसने की कोशिश करता था तो क़बीला इस इलाक़े की रक्षा करता था। सीमाओं की अस्पष्टता से प्रायः केवल उसी समय व्यावहारिक कठिनाई पैदा होती थी जब आबादी बहुत बढ़ जाती थी। क़बीलों के नाम, मालूम पड़ता है, इतना सोच-समझकर नहीं चुने जाते थे जितना कि संयोग से पड़ गये थे। समय बीतने के साथ-साथ अक्सर यह होता था कि कोई क़बीला ख़ुद अपने लिये जिस नाम का प्रयोग करता था, पड़ोस के क़बीले उससे भिन्न कोई नाम उसे दे देते थे। उदाहरण के लिये, जर्मन लोगों (die Deutschen) का पहला ऐतिहासिक सामान्य नाम – "जर्मन" (Germanen) – केल्ट लोगों का दिया हुआ है।

२. हर क़बीले की अपनी एक ख़ास **बोली** होती है। सच तो यह है कि क़बीला और बोली सारतः समवर्ती होते हैं। अमरीका में उपविभाजन के द्वारा नये क़बीलों और बोलियों का बनना अभी हाल तक जारी था, और अब भी वह एकदम बंद नहीं हो गया होगा। जब दो कमज़ोर क़बीले मिलकर एक हो जाते हैं, तब अपवादस्वरूप कभी-कभी यह देखने को भी मिलता है कि एक क़बीले में दो बहुत घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित बोलियां बोली जाती हैं। अमरीकी क़बीलों में औसतन २,००० से कम लोग होते हैं। परन्तु चिरोकियों की संख्या लगभग २६,००० है। अमरीका के एक बोली बोलनेवाले इंडियनों में उनकी संख्या सबसे अधिक है।

३. क़बीलों को गोत्रों द्वारा चुने गये साख़ेमों और युद्ध-काल के नेताओं का अभिषेक करने का अधिकार होता है।

४. उन्हें गोत्र की इच्छा के विरुद्ध भी पद से हटा देने का अधिकार क़बीले को प्राप्त है। साख़ेम और युद्ध-काल के नेता चूंकि क़बीले की परिषद के सदस्य होते हैं, इसलिये उनके बारे में क़बीले के इन अधिकारों के लिये किसी स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है। जहां कुछ क़बीलों का महासंघ क़ायम हो जाता है और इन क़बीलों के प्रतिनिधि एक संघीय परिषद में जमा होते हैं, वहां उपरोक्त अधिकार इस परिषद को सौंप दिये जाते हैं।

५. हर क़बीले की समान धार्मिक धारणाएं (पौराणिक कथाएं) और पूजा-पाठ की रीति होती है।

"अमरीकी इंडियन भी बर्बर लोगों के ढंग पर धार्मिक लोग थे।"[25]

उनकी पौराणिक कथाओं की अभी तक कोई भी समीक्षात्मक खोज नहीं हुई है। उन्होंने अपनी धार्मिक धारणाओं को व्यक्ति-रूप – तरह-तरह के भूतप्रेत या देवी-देवताओं का रूप – दिया था, परन्तु बर्बर युग की निम्न अवस्था में, जिसमें वे रह रहे थे, उन्होंने अभी उन्हें आकार, यानी मूर्त्तियों का रूप नहीं दिया था। यह प्रकृति और महाभूतों की पूजा थी, जो धीरे-धीरे बहुदेववाद का रूप धारण कर रही थी। अलग-अलग क़बीलों के अपने नियमित त्योहार होते थे जिनमें विशेष ढंग से, ख़ासकर नृत्य और खेलों के द्वारा, पूजा की जाती थी। विशेष रूप से नृत्य सभी धार्मिक अनुष्ठानों के आवश्यक अंग होते थे; हर क़बीला अपने नृत्य अलग करता था।

६. हर क़बीले की अपनी क़बायली परिषद होती थी जो क़बीले के आम मामलों का निर्णय करती थी। इस परिषद में अलग-अलग गोत्रों के सभी साख़ेम और युद्ध-काल के नेता शामिल होते थे। ये गोत्रों के सच्चे प्रतिनिधि होते थे, क्योंकि इन्हें कभी भी अपने पद से अलग किया जा सकता था। परिषद की बैठक खुले रूप से होती थी। बीच में परिषद बैठती थी, उसके चारों ओर क़बीले के बाक़ी सदस्य बैठते थे और उन्हें बहस में भाग लेने और अपनी राय देने का हक़ होता था। फ़ैसला परिषद करती थी। आम तौर पर बैठक के समय मौजूद हर पुरुष को परिषद के सामने अपनी बात कहने का अधिकार होता था। यहां तक कि स्त्रियां भी किसी को अपना प्रवक्ता बनाकर उसके ज़रिये अपनी बात परिषद के सामने रख सकती थीं। इरोक्वा लोगों में परिषद को अपना अंतिम फ़ैसला एकमत से करना पड़ता था। जर्मन लोगों के बहुत-से मार्क-समुदायों के फ़ैसले

भी इसी प्रकार होते थे। दूसरे क़बीलों के साथ सम्बन्ध रखने की ज़िम्मेदारी क़बायली परिषद की ही होती थी। वह दूसरे क़बीलों के दूतों का स्वागत करती थी और उनके पास अपने दूत भेजती थी। वह युद्ध की घोषणा करती थी और शांति-संधि करती थी। युद्ध छिड़ जाने पर आम तौर पर वे ही लोग लड़ने के लिये भेजे जाते थे जो स्वेच्छा से इसके लिये तैयार होते थे। सिद्धान्ततः एक क़बीले की उन तमाम क़बीलों के साथ युद्ध की स्थिति होती थी जिनसे उसकी बाक़ायदा शांति-संधि नहीं हो गयी हो। ऐसे शत्रुओं के ख़िलाफ़ प्रायः कुछ विशिष्ट योद्धा सैनिक अभियान संगठित करते थे। वे युद्ध-नृत्य करते थे; जो कोई भी नृत्य में शामिल हो जाता था, उसके बारे में समझा जाता था कि उसने अभियान में भाग लेने के अपने निश्चय की घोषणा कर दी है। तब तुरन्त एक दस्ता तैयार करके रवाना कर दिया जाता था। क़बायली इलाक़े पर कोई हमला होता था तो उस वक़्त भी इसी प्रकार मुख्यतः स्वयंसेवक उसकी रक्षा करते थे। ऐसे दस्तों के कूच करने और लौटने के समय सार्वजनिक उत्सव किया जाता था। ऐसे अभियानों के लिये क़बायली परिषद से इजाज़त लेना ज़रूरी नहीं होता था। न कोई इजाज़त लेता था, न परिषद कोई इजाज़त ही देती थी। ये हूबहू जर्मन ख़िदमतगार सैनिकों के उन निजी युद्ध-अभियानों के समान होते थे जिनका तासितुस ने वर्णन किया है। अन्तर केवल यह था कि जर्मनों में ख़िदमतगार सैनिकों की जमात कुछ अधिक स्थायी रूप धारण कर चुकी थी; वह शान्ति-काल में संगठित उस केन्द्र-बिन्दु का काम करती थी जिसके चारों ओर युद्ध-काल में और बहुत-से स्वयंसेवक आकर संगठित हो जाते थे। इन फ़ौजी दस्तों में लोगों की संख्या कभी बहुत ज़्यादा नहीं होती थी। इंडियनों के अत्यंत महत्त्वपूर्ण अभियानों में भी, उनमें भी, जिनमें काफ़ी बड़ी दूरियां तय की जाती थीं, सैनिकों की संख्या नगण्य ही होती थी। किसी महत्त्वपूर्ण मुहिम के लिये जब ऐसे कई दस्ते इकट्ठा होते थे, तो हर दस्ता सिर्फ़ अपने नेता का हुक्म मानता था। युद्ध योजना की एकसूत्रता कमोबेश इन नेताओं की परिषद द्वारा सुनिश्चित होती थी। चौथी शताब्दी में ऊपरी राइन क्षेत्र के निवासी एलामान्न लोग भी इसी तरह अपने युद्ध का संचालन करते थे, जैसा कि एम्मियानस मार्सेलिनस के वर्णन से स्पष्ट है।

७. कुछ क़बीलों में एक प्रधान मुखिया भी होता है, परन्तु उसे बहुत कम अधिकार प्राप्त होते हैं। वह साख़ेमों में से ही एक होता है। जब कोई ऐसी समस्या उठ खड़ी होती है जिसका तुरन्त कोई फ़ैसला करना जरूरी होता है, तब आरज़ी तौर से प्रधान मुखिया फ़ैसला कर देता है, जो तब तक लागू रहता

है जब तक कि क़बायली परिषद बैठकर कोई अन्तिम फ़ैसला नहीं कर देती। यह कार्यकारी अधिकारी नियुक्त करने की ढीली-ढाली और जैसा कि बाद में मालूम हुआ, आम तौर पर निष्फल और अधूरी कोशिश थी। वास्तव में, जैसा कि पाठक आगे देखेंगे, यदि हमेशा नहीं तो प्रायः क़बीले का सर्वोच्च सेनानायक ही कार्यकारी अधिकारी बन बैठा।

अधिकतर अमरीकी इंडियन कभी क़बायली संगठन की अवस्था से आगे नहीं बढ़ पाये। थोड़े-थोड़े लोगों के अनेक क़बीले, जिनके बीच बड़े-बड़े सीमान्त प्रदेश होते थे, एक दूसरे से कटे हुए रहते थे। उनमें सदा लड़ाइयां चलती रहती थीं, जिनसे वे कमज़ोर बने रहते थे। परिणाम यह था कि थोड़े-से लोग एक बहुत विशाल इलाक़े में बिखरे हुए थे। कहीं कोई अस्थायी संकट आ जाता था तो उसका सामना करने के लिये रक्त-सम्बन्धी क़बीलों में सहयोग हो जाता था, पर संकट के दूर होते ही यह मोर्चा फिर बिखर जाता था। परन्तु कुछ ख़ास इलाक़ों में ऐसे क़बीलों ने, जो शुरू में रक्त-सम्बन्धी थे पर बाद में अलग हो गये थे, स्थायी संघ बनाकर अपनी एकता फिर से क़ायम कर ली। इस प्रकार इन क़बीलों ने राष्ट्र गठन की ओर पहला क़दम उठाया। अमरीका में ऐसे संघ का सबसे विकसित रूप हमें इरोक्वा लोगों में मिलता है। उनका आदिदेश मिसीसिपी नदी के पश्चिम में था। वहां वे शायद महान डैकोटा परिवार की एक शाखा के रूप में रहते थे। अपने आदिदेश को छोड़ने के बाद और बहुत समय तक इधर-उधर भटकने के बाद ये लोग उस इलाक़े में बस गये जो आजकल न्यूयार्क राज्य कहलाता है। ये लोग पांच क़बीलों में बंटे हुए थे: सेनेका, कैयूगा, ओनोनडेगा, ओनीडा और मोहौक। इन लोगों का भोजन था: मछली, शिकार में मारे गये जानवरों का मांस और पिछड़े ढंग की बाग़बानी की उपज। ये लोग प्रायः बाड़ों से घिरे गांवों में रहते थे। उनकी संख्या कभी २०,००० से ज़्यादा नहीं हुई। उनके पांचों क़बीलों में कई मिले-जुले गोत्र पाये जाते थे। वे एक ही भाषा की कई बोलियां बोलते थे जिनका आपस में निकट का सम्बन्ध होता था। वे साथ लगे हुए इलाक़े में रहते थे जो पांच क़बीलों के बीच बंटा हुआ था। चूंकि इस इलाक़े पर उन्होंने हाल में ही क़ब्ज़ा किया था, इसलिये जिन लोगों को उन्होंने वहां से हटाया था, उनके मुक़ाबले में इन क़बीलों का आपस में हस्ब मामूल सहयोग स्वाभाविक था। अधिक से अधिक पन्द्रहवीं सदी के शरू तक इस सहयोग ने बाक़ायदा एक "स्थायी महासंघ", एक महासंघ का रूप धारण कर लिया था। इस महासंघ ने अपनी नव-प्राप्त शक्ति को महसूस करते ही तुरंत

आक्रमणकारी रुख़ अपना लिया। अपनी शक्ति के शिखर पर—अर्थात् १६७५ के लगभग—उसने आसपास के काफ़ी बड़े इलाक़ों को जीत लिया था, और वहां के निवासियों को या तो भगा दिया था, या उन्हें ख़िराज देने पर मजबूर कर दिया था। अमरीका के आदिवासियों में, जो बर्बर युग की निम्न अवस्था से नहीं निकल पाये थे (यानी मैक्सिको, न्यू-मैक्सिको और पेरू के आदिवासियों को छोड़कर), सामाजिक संगठन का सबसे उन्नत स्वरूप इरोक्वा महासंघ के रूप में मिलता था। इस महासंघ की बुनियादी विशेषताएं ये थीं:

१. पूर्ण समानता और सभी अन्दरूनी क़बायली मामलों में पूर्ण स्वाधीनता के आधार पर पांच रक्तसम्बद्ध क़बीलों का सदा के लिये स्थायी संश्रय। यह रक्त-सम्बन्ध ही महासंघ का असली आधार था। पांच क़बीलों में से तीन पिता क़बीले कहलाते थे और एक दूसरे के भाई समझे जाते थे; बाक़ी दो पुत्र क़बीले कहलाते थे तथा इसी प्रकार वे भी आपस में भाई समझे जाते थे। पांचों क़बीलों में सबसे पुराने तीन गोत्रों के लोग अभी भी पाये जाते थे। अन्य तीन गोत्रों के सदस्य तीन क़बीलों में पाये जाते थे। इन गोत्रों में से प्रत्येक के सदस्य पांचों क़बीलों में भाई-भाई समझे जाते थे। हर क़बीले में केवल बोली का थोड़ा भेद पाया जाता था और उनकी एक सी भाषा इस बात की सूचक और सबूत थी कि पांचों क़बीले एक ही वंश के हैं।

२. महासंघ के निकाय के रूप में एक संघ-परिषद होती थी जिसके सदस्य पचास साख़ेम थे। इन पचासों का पद और प्रतिष्ठा समान थी। महासंघ से सम्बन्धित सभी मामलों में अन्तिम फ़ैसला यह परिषद करती थी।

३. महासंघ के उद्देश्यों को ध्यान में रखकर बनाये गये साख़ेमों के इन पचास पदों को क़बीलों और गोत्रों में बांट दिया गया। जब किसी पदाधिकारी का स्थान ख़ाली हो जाता था, तो सम्बन्धित गोत्र फिर से उसके लिये चुनाव कर लेता था; गोत्र उसे किसी भी समय पद से हटा सकता था। परन्तु उसका अभिषेक करने का अधिकार संघ-परिषद के हाथ में रहता था।

४. ये संघीय साख़ेम अपने-अपने क़बीलों में भी साख़ेम थे, और उनमें से हर एक को अपने क़बीले की परिषद में भाग लेने और वोट देने का अधिकार था।

५. संघ-परिषद के लिये आवश्यक था कि वह सभी फ़ैसले सर्वसम्मति से करे।

६. वोट क़बीलेवार लिये जाते थे, यानी हर क़बीले को और हर क़बीले

के हर परिषद सदस्य को एकमत होना था, तब कहीं जाकर ऐसा फ़ैसला होता था जिसको मानना सब के लिये ज़रूरी होता था।

७. पांचों क़बीलों की परिषदों में से कोई भी संघ-परिषद की बैठक बुलवा सकती थी, परन्तु संघ-परिषद को स्वयं अपनी बैठक बुलाने का कोई अधिकार न था।

८. संघ-परिषद की बैठक जनता की ग्राम सभा के समक्ष होती थी। प्रत्येक इरोक्वा को बोलने का अधिकार था; फ़ैसला सिर्फ़ परिषद करती थी।

९. महासंघ का कोई अधिकृत अध्यक्ष, कोई प्रमुख कार्याधिकारी नहीं होता था।

१०. महासंघ के दो सर्वोच्च युद्धकालीन नेता अवश्य होते थे, जिनकी समान शक्ति और समान अधिकार होते थे (स्पार्टावासियों के दो "राजा" और रोम में दो कौंसिल)।

यही वह समाज-विधान था जिसके मातहत रहते हुए इरोक्वा लोगों को चार सौ साल से अधिक हो गये थे और आज भी वे उसी के मातहत रहते हैं। मौर्गन ने इस समाज-विधान का जो वर्णन किया है, उसे मैंने यहां काफ़ी विस्तार के साथ दिया है, क्योंकि हमें उससे एक ऐसे समाज संगठन का अध्ययन करने का अवसर मिलता है, जिसमें अभी तक **राज्य** का अस्तित्व न था। राज्य सम्बन्धित तमाम लोगों से अलग एक विशेष सार्वजनिक सत्ता की पूर्वापेक्षा करता है। इसलिये मारेर ने तब, बड़ी सही समझ का परिचय दिया था, जब उन्होंने जर्मनों के मार्क-विधान को राज्य से बुनियादी तौर पर भिन्न एक विशुद्ध सामाजिक संस्था माना था गोकि आगे चलकर यही मोटे तौर पर उसका आधार बना। अतएव अपनी सभी रचनाओं में मारेर ने इस बात की खोज की है कि मार्कों, गांवों, जागीरों और क़सबों के पुराने विधानों में से और उनके साथ-साथ, धीरे-धीरे कैसे सार्वजनिक सत्ता का विकास हुआ है। उत्तरी अमरीकी इंडियनों से हमें पता चलता है कि एक क़बीला, जो शुरू में संयुक्त था, धीरे-धीरे किस तरह एक विशाल महाद्वीप में फैल गया; किस प्रकार क़बीले विभाजन के परिणामस्वरूप जनगण, क़बीलों के पूरे समूह बन गये; किस प्रकार भाषाएं इतनी बदल गयीं कि न सिर्फ़ एक भाषा बोलनेवाला दूसरी भाषा को नहीं समझता था, बल्कि उनकी प्राचीन एकता का प्रत्येक चिह्न तक ग़ायब हो गया; किस प्रकार इसके साथ-साथ क़बीलों के गोत्र भी कई गोत्रों में बंट गये; किस प्रकार पुराने मातृ गोत्र बिरादरियों के रूप में क़ायम रहे और किस प्रकार इन सबसे प्राचीन गोत्रों के नाम बहुत दिनों

से अलग-अलग बड़ी दूरी पर रहनेवाले क़बीलों में अब भी पाये जाते हैं – मिसाल के लिये "भालू" और "भेड़िया" के गोत्र नाम अब भी अमरीकी आदिवासियों के अधिकतर क़बीलों में मिलते हैं। ऊपर हमने जिस समाज-विधान का वर्णन किया है, वह आम तौर पर इन सभी क़बीलों पर लागू होता है। अन्तर केवल इतना है कि उनमें से बहुत-से क़बीले सजातीय क़बीलों के महासंघ बनाने की अवस्था तक नहीं पहुंच सके।

परन्तु साथ ही हमने यह भी देखा कि जहां एक बार गोत्र को समाज की इकाई मान लिया गया, वहां उस इकाई से गोत्रों, बिरादरियों और क़बीलों की पूरी व्यवस्था लगभग अप्रतिरोध्य आवश्यकता के साथ – इसलिए कि वह सर्वथा नैसर्गिक है – विकसित हुई। ये तीनों समूह रक्त-सम्बन्ध के विभिन्न स्तरों का प्रतिनिधित्व करते हैं; उनमें से हर एक अपने में पूर्ण होता है और स्वयं अपनी व्यवस्था और प्रबंध करता है, परन्तु साथ ही अन्य सब संगठनों का अनुपूरक भी होता है। इनके हाथों में जो मामले होते हैं, उनमें बर्बर युग की निम्न अवस्था के लोगों के सभी सार्वजनिक मामले आ जाते हैं। इसलिये, जहां कहीं भी किसी जनगण की सामाजिक इकाई के रूप में गोत्र दिखायी पड़े, वहां हम क़बीले के उपरोक्त ढंग का संगठन पाने की भी आशा कर सकते हैं। और जहां कहीं काफ़ी मूल सामग्री मौजूद है, जैसा कि, मिसाल के लिये, यूनानियों और रोमन लोगों के विषय में मौजूद है, वहां हम ऐसा ही संगठन पायेंगे। यही नहीं, जहां कहीं सामग्री कम पड़ जाती है, वहां भी हम यह विश्वास कर सकते हैं कि अमरीकी समाज-विधान से तुलना करने पर हम अपनी बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को हल कर सकेंगे और बड़े से बड़े सन्देहों और उलझनों को दूर कर सकेंगे।

और शिशुवत सीधा-सादा यह गोत्र-संगठन सचमुच एक विलक्षण चीज़ है! न फ़ौज है, न जेन्दार्म और न पुलिस; न सामन्त हैं और न राजा, न गवर्नर हैं, न प्रीफ़ेक्ट और न न्यायाधीश; न अदालतें हैं और न जेलख़ाने, और तब भी सब काम बड़े मज़े से चलता रहता है। कोई झगड़ा उठ खड़ा होता है तो, उससे सम्बन्धित सभी लोग – गोत्र या क़बीले या कई अलग-अलग गोत्रों के लोग – मिलकर उसे निपटा देते हैं। रक्त-प्रतिशोध भी केवल उस समय लिया जाता है जब और किसी तरह झगड़ा नहीं निपटता, इसलिये उसकी नौबत बहुत कम आती है। हमारा मृत्यु-दंड इसी चीज़ का सभ्य रूप मात्र है – जिसमें सभ्यता की अच्छाइयां भी हैं और बुराइयां भी। उस समय लोगों को आज से कहीं अधिक मामलों को मिलकर तय करना पड़ता था – कई-कई परिवार एकसाथ मिलकर और सामुदायिक

ढंग से घर चलाते थे, ज़मीन पूरे क़बीले की सम्पत्ति होती थी, अलग-अलग घरों को केवल छोटे-छोटे बग़ीचे अस्थायी रूप से मिलते थे, फिर आजकल के जैसे लम्बे-चौड़े और जटिल प्रशासन-मशीनरी की रत्ती बराबर आवश्यकता नहीं होती थी। जिनका जिस मामले से सम्बन्ध होता था, वे ही उसका फ़ैसला कर देते थे और अधिकतर मामले तो सदियों पुराने रीति-रिवाजों के अनुसार अपने आप निपट जाते थे। किसी का ग़रीब या ज़रूरतमन्द होना असम्भव था – सामुदायिक कुटुम्ब और गोत्र को भली-भांति मालूम था कि बूढ़ों, बीमार लोगों और युद्ध में अपंग हो गये व्यक्तियों के प्रति उनका क्या कर्त्तव्य है। सब स्वतंत्र और समान थे – स्त्रियां भी। अभी समाज में न दासों के लिये स्थान था, न ही आम तौर पर, दूसरे क़बीलों को अपने अधीन रखने की गुंजाइश थी। जब १६५१ के लगभग इरोक्वा लोगों ने एरी लोगों को और "तटस्थ जातियों"[26] को जीता, तो उन्होंने उन्हें अपने महासंघ में समान सदस्य की हैसियत से शामिल हो जाने के लिये आमंत्रित किया। जब पराजित क़बीलों ने इस प्रस्ताव को मानने से इनकार किया, सिर्फ़ तभी उन्हें अपने इलाक़ों से खदेड़ दिया गया। और यह समाज कैसे नर-नारी पैदा करता था, यह इस बात से प्रगट होता है कि जो गोरे लोग इंडियनों के सम्पर्क में आये थे, जो अभी भ्रष्ट नहीं हुए थे, उन सभी ने इन बर्बर लोगों की आत्म-गरिमा, सीधे और सरल स्वभाव, चरित्र-बल और वीरता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

इस वीरता की अनेक मिसालें अभी हाल में हमने अफ़्रीका में देखी हैं। कुछ साल पहले जूलू काफ़िरों ने और दो-एक महीने पहले नूबियनों ने – इन दोनों क़बीलों में गोत्र-संगठन अभी लुप्त नहीं हुआ है, – वह काम करके दिखाया जो कोई यूरोपीय सेना नहीं कर सकती।[27] उनके पास हथियारों के नाम पर केवल बल्लम और भाले थे। तोप-बन्दूक़ को वे जानते तक न थे। फिर भी ब्रीचलोडर बन्दूक़ों द्वारा गोलियां बरसाये जाने के बीच ये बहादुर बराबर बढ़ते गये, यहां तक कि वे ठीक अंग्रेज़ पैदल सेना की, जो व्यूह बनाकर लड़ने में दुनिया में अपना सानी नहीं रखती थी, संगीनों के पास पहुंच गये; उन्होंने इसे अस्त-व्यस्त भी कर दिया और कई बार तो पीछे हटने पर भी मजबूर किया, बावजूद इस बात के कि दुश्मन की तुलना में उनके पास मामूली हथियार भी नहीं थे, न उनके यहां सैनिक सेवा नाम की कोई चीज़ कभी रही थी, और न ही उन्होंने कभी फ़ौजी ट्रेनिंग ली थी। उनकी क्षमता और सहनशीलता अंग्रेज़ों की इस शिकायत से प्रगट होती है कि काफ़िर घोड़े से भी ज़्यादा तेज़ चल सकता है और चौबीस

घंटे में इससे ज़्यादा फ़ासला तय कर सकता है। जैसा कि एक अंग्रेज़ चित्रकार ने कहा है, इन लोगों की छोटी सी छोटी मांस-पेशियां इस तरह तनी रहती हैं मानो इस्पात की कसी हुई डोरियां हों।

वर्ग-भेदों के पैदा होने से पहले ऐसी थी मानवजाति और मानव समाज। और यदि हम उनकी हालत की आज के अधिकतर सभ्य लोगों की हालत से तुलना करें, तो हम पायेंगे कि वर्त्तमान सर्वहारा तथा छोटे किसान और प्राचीन काल के किसी गोत्र के स्वतंत्र सदस्य के बीच एक बहुत चौड़ी और गहरी खाई है।

यह रहा तसवीर का एक पहलू। परन्तु इसको देखने के साथ-साथ हमें यह भी न भूलना चाहिए कि इस संगठन का मिट जाना अवश्यम्भावी था। उसने कभी क़बीले से आगे विकास नहीं किया। क़बीलों का महासंघ बनने का मतलब—जैसा हम आगे चलकर देखेंगे और जैसा दूसरों को जीतने और अपने अधीन बनाने के इरोक्वा लोगों के प्रयत्नों से भी प्रकट होता है—यह था कि इस संगठन का पतन आरम्भ हो गया। क़बीले के बाहर जो कुछ था, वह क़ानून के बाहर था। जहां बाक़ायदा शान्ति-संधि नहीं हो गयी थी, वहां क़बीलों के बीच जंग चलती रहती थी और यह जंग उस बेरहमी के साथ चलायी जाती थी जो मनुष्य को दूसरे सब पशुओं से अलग करती है, और जो बाद में केवल स्वार्थवश ही कुछ कम की गयी। गोत्र-संगठन जब ख़ूब पनप और फूल-फल रहा था, जैसा कि हमने उसे अमरीका में पनपते देखा है, तब उसका लाज़िमी तौर पर यह मतलब था कि उत्पादन प्रणाली बहुत ही पिछड़ी हुई थी, एक लम्बे-चौड़े इलाक़े में बहुत थोड़ी आबादी फैली हुई थी, और इसलिये मनुष्य पर बाह्य प्रकृति का लगभग पूर्ण आधिपत्य था जो उसे परायी, विरोधी और अज्ञेय प्रतीत होती है। प्रकृति का यह आधिपत्य उसके बचकाने धार्मिक विचारों में प्रतिबिम्बित था। अपने से और बाहरी लोगों से मनुष्य के सम्बन्ध पूरी तरह क़बीले तक ही सीमित थे। क़बीला, गोत्र और उनकी प्रथाएं पवित्र और अनुल्लंघनीय थीं; वे सर्वोच्च शक्ति थीं जिन्हें स्वयं प्रकृति ने प्रतिष्ठित किया था। व्यक्ति की भावनाएं, विचार और कर्म—सब पूरी तरह इस शक्ति के अधीन थे। इस युग के लोग हमें भले ही बड़े प्रभावशाली लगते हों, पर वे सारे एक जैसे थे। मार्क्स के शब्दों में वे अभी आदिम समुदाय की नाभिरज्जु से बंधे हुए थे। इस आदिम समुदाय की शक्ति को तोड़ना आवश्यक था, और वह टूटी थी। परन्तु वह ऐसे कारणों से टूटी जो हमें शुरू से ही पतन के चिह्न प्रतीत होते हैं और प्राचीन गोत्र-समाज की नैतिक

महानता के नष्ट होने की सूचना देते हैं। घृणित लोभ, पाशविक काम-वासना, ओछी लोलुपता, सामूहिक सम्पत्ति की स्वार्थपूर्ण लूट-खसोट–ऐसी ही निकृष्ट भावनाएं नये, सभ्य समाज, वर्ग-समाज को रंगमंच पर लाती हैं। चोरी, बलात्कार, छल-कपट और विश्वासघात जैसे घृणित से घृणित तरीक़ों से पुराने, वर्ग-विहीन गोत्र-समाज की जड़ खोदी जाती है और उसे ढहाया जाता है। पिछले ढाई हज़ार वर्षों से जो नया समाज क़ायम है, उसमें शोषित तथा उत्पीड़ित विशाल बहुसंख्या की क़ीमत पर एक मामूली अल्पसंख्या के फूलते-फलते रहने के अलावा और कुछ नहीं हुआ है। और आज तो ऐसा पहले से कहीं ज़्यादा हो रहा है।

४

यूनानी गोत्र

यूनानी, और पेलासजियन तथा उसी क़बीले से उत्पन्न अन्य जनगण प्रागैतिहासिक काल से उसी क्रम में संगठित थे जिसमें अमरीकी इंडियन संगठित थे: वे भी गोत्र, बिरादरी, क़बीले और क़बीलों के महासंघ में संगठित थे। सम्भव था कि कहीं बिरादरी न रही हो, जैसे डोरियनों में नहीं थी, या क़बीलों का महासंघ हर जगह पूरी तरह विकसित न हुआ हो, परन्तु समाज की इकाई हर जगह गोत्र थी। जिस समय यूनानियों ने इतिहास में प्रवेश किया, उस समय वे सभ्यता के द्वार पर खड़े थे। यूनानियों और उपरोक्त अमरीकी क़बीलों के बीच विकास के लगभग दो पूरे बड़े युग पड़ते थे, क्योंकि वीर-काल के यूनानी इरोक्वा लोगों से इतने ही आगे थे। इस कारण यूनानी गोत्रों का वह आदिम रूप नहीं रह गया था जो हम इरोक्वा गोत्रों में देखते हैं। यूथ-विवाह की छाप काफ़ी धुंधली पड़ती जा रही थी। मातृ-सत्ता की जगह पितृ-सत्ता स्थापित हो गयी थी; बढ़ती हुई निजी धन-सम्पदा ने गोत्र-व्यवस्था में पहली दरार डाल दी थी। पहली दरार के बाद स्वभावतः दूसरी दरार पड़ी: पितृ-सत्ता के क़ायम हो जाने के बाद प्रचुर धन की उत्तराधिकारिणी की सम्पदा, उसके विवाह-सम्बन्ध के कारण, उसके पति को ही मिलती, अर्थात् वह अन्य गोत्र में चली जाती। इस तरह समस्त गोत्रीय क़ानून का आधार भंग कर दिया गया और ऐसी सूरत में लड़की को न सिर्फ़ अपने गोत्र के भीतर विवाह करने की इजाज़त दे दी गयी, बल्कि

उसके लिये ऐसा करना **अनिवार्य** बना दिया गया, ताकि यह सम्पदा गोत्र के भीतर ही रहे।

ग्रोट के 'यूनानी इतिहास' के अनुसार, एथेंस के गोत्र को विशेष रूप से निम्नलिखित तत्त्वों ने एकता के सूत्र में बांध रखा था :

१. समान धार्मिक अनुष्ठान, और एक विशेष देवता के सम्मान में पुनीत अनुष्ठान करने के लिए पुरोहितों को मिले हुए विशेषाधिकार। यह देवता गोत्र का आदि-पुरुष समझा जाता था और इस हैसियत से उसका एक विशेष गोत्र नाम होता था।

२. गोत्र का एक क़ब्रिस्तान (इस सम्बन्ध में डेमोस्थनीज़ का 'इयुबुलिडीज़' भी देखिये)।

३. विरासत के पारस्परिक अधिकार।

४. गोत्र के किसी सदस्य के विरुद्ध बल-प्रयोग होने पर एक दूसरे की सहायता, रक्षा और समर्थन करने का सब का कर्त्तव्य।

५. कुछ सूरतों में, विशेषकर अनाथ लड़कियों और उत्तराधिकारिणियों के मामले में, गोत्र के भीतर विवाह करने का पारस्परिक अधिकार और कर्त्तव्य।

६. कम से कम कुछ मामलों में तो अवश्य ही सामूहिक मिल्कियत तथा अपने एक आर्कोन (मजिस्ट्रेट) और कोषाध्यक्ष का होना।

बिरादरी में, जिसमें कई गोत्र शामिल होते थे, इतने घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं थे। पर यहां भी हम इसी प्रकार के पारस्परिक अधिकार और कर्त्तव्य पाते हैं। विशेष रूप से यहां भी पूरी बिरादरी सामूहिक रूप से कुछ विशेष धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लेती थी और किसी बिरादर के मारे जाने पर उसे उसकी मौत का बदला लेने का अधिकार होता था। एक क़बीले की सभी बिरादरियां समय-समय पर फ़ीलोबेसिलियस (क़बीले का मुखिया) की अध्यक्षता में कुछ सामूहिक पवित्र अनुष्ठान किया करती थीं जिसे कुलीनों (इयपैट्रिडीज़) में से चुना जाता था।

यह ग्रोट ने लिखा है। मार्क्स ने इसमें इतना जोड़ दिया है : "यूनानी गोत्र में हम साफ़-साफ़ जांगल लोगों को (मिसाल के लिये इरोक्वा लोगों को) देख सकते हैं।" कुछ और खोज करने पर यह मूल जांगल रूप और भी स्पष्ट दिखायी पड़ने लगता है।

कारण कि यूनानी गोत्र में ये विशेषताएं और होती हैं :

७. पितृ-सत्ता के अनुसार वंश का चलना।

८. उत्तराधिकारिणियों को छोड़कर, बाक़ी सब के लिये गोत्र के भीतर विवाह करने की मनाही। यह अपवाद, और ऐसी सूरत में गोत्र के भीतर ही विवाह करने का आदेश, स्पष्ट रूप में सिद्ध करते हैं कि पुराना नियम अब भी क़ायम है। यह बात इस सर्वमान्य नियम से और स्पष्ट हो जाती है कि स्त्री विवाह करने पर अपने गोत्र की धार्मिक रीतियों को त्याग देती थी और अपने पति के गोत्र की धार्मिक रीतियों को स्वीकार कर लेती थी। साथ ही पत्नी पति की बिरादरी की सदस्या हो जाती थी। इस नियम से तथा डिकिआरकीज़ के एक प्रसिद्ध उद्धरण से सिद्ध हो जाता है कि नियम गोत्र के बाहर ही विवाह करने का था। 'चैरीक्लीज़' में बेकर सीधे-सीधे यह मानकर चलते हैं कि किसी को भी अपने गोत्र के भीतर विवाह करने की इजाज़त नहीं थी।

९. गोत्र को किसी को अंगीकार करने का अधिकार था। यह कार्य उसे किसी परिवार का सदस्य बनाकर, परन्तु सार्वजनिक रस्में पूरी करके किया जाता था। लेकिन ऐसा अपवादस्वरूप ही होता था।

१०. गोत्रों को अपने मुखियाओं को चुनने और बर्खास्त करने का अधिकार था। हम यह जानते हैं कि हर गोत्र का एक आर्कोन होता था; परन्तु यह कहीं नहीं लिखा गया है कि यह पद कुछ विशेष परिवारों के लोगों को ही वंशानुक्रम से मिलता था। इसी बात की सदैव अधिक सम्भावना है कि बर्बर युग के अन्त तक आनुवंशिक पद न रहे होंगे, क्योंकि वे उन अवस्थाओं से मेल नहीं खाते थे जिनके अंतर्गत गोत्र में अमीर और ग़रीब के बिल्कुल बराबर अधिकार होते थे।

ग्रोट ही नहीं, निबूहर, मोम्मसेन और प्राचीन काल के अन्य इतिहासकार भी गोत्र की समस्या को सुलझाने में असमर्थ रहे। इन इतिहासकारों ने गोत्र की बहुत-सी लाक्षणिकताओं को सही देखा, परन्तु उन्होंने गोत्र को सदा **परिवारों का समूह** समझा, और इसलिये उसकी प्रकृति और उत्पत्ति को समझना उनके लिये असम्भव हो गया। गोत्र-व्यवस्था में परिवार संगठन की इकाई न तो कभी था और न हो सकता था, क्योंकि पति-पत्नी आवश्यक रूप से दो भिन्न गोत्रों के सदस्य होते थे। पूरा गोत्र एक बिरादरी का अंश होता था। बिरादरी क़बीले का हिस्सा होती थी। परन्तु परिवार का आधा भाग पति के गोत्र का होता था और आधा पत्नी के। राज्य भी सार्वजनिक क़ानून में परिवार को नहीं मानता था, आज भी परिवार को केवल दीवानी क़ानून में मान्यता मिली हुई है। फिर भी, आज तक का समस्त लिखित इतिहास इसी बेतुकी धारणा को मानकर

चलता है—और अठारहवीं सदी में तो इसे एक अनुल्लंघनीय सिद्धान्त मान लिया गया—कि एकनिष्ठ व्यक्तिगत परिवार ही, जो सभ्यता के युग से शायद ही पुरानी संस्था हो, वह केन्द्र-बिन्दु है, जिसके चारों ओर समाज और राज्य ने धीरे-धीरे स्थायी रूप धारण किया है।

मार्क्स ने इस विषय में लिखा है: "श्री ग्रोट को इतना और इंगित करना चाहिए कि यूनानियों का विचार गोकि यह था कि उनके गोत्रों का देवी-देवताओं की पुराण-कथाओं से जन्म हुआ है, परन्तु वास्तव में, गोत्र पुराण-कथाओं से, और उनके देवी-देवताओं और अर्ध-देवताओं से अधिक पुराने थे, जिन्हें **स्वयं गोत्रों ने ही** जन्म दिया था।"

मौर्गन ग्रोट को एक विख्यात और असन्दिग्ध गवाह के रूप में उद्धृत करना पसन्द करते हैं। ग्रोट आगे बताते हैं कि एथेंस के प्रत्येक गोत्र का एक नाम होता था, जो उसके प्रतिष्ठित पूर्वज के नाम से प्राप्त होता था। वह यह भी बताते हैं कि सामान्य नियम के अनुसार सोलन के काल के पहले और उसके बाद किसी आदमी के बिन वसीयत किये मर जाने पर उसकी सम्पत्ति उसके गोत्र के सदस्यों (gennêtes) को मिलती थी। यदि किसी आदमी की हत्या हो जाती थी तो पहले उसके रिश्तेदारों का, फिर उसके गोत्र के सदस्यों का और अन्त में, उसकी बिरादरी के सदस्यों का यह अधिकार और कर्त्तव्य होता था कि वे अपराधी पर अदालत में मुक़दमा चलायें:

"एथेंस के अति-प्राचीन क़ानूनों के बारे में हम जो कुछ जानते हैं, वह सब गोत्रों और बिरादरियों के विभाजन पर आधारित है।"

"तोतारटंत में पूरे पर ज्ञान में अधूरे कूपमंडूकों" (मार्क्स) के लिये समान पूर्वजों से गोत्रों की उत्पत्ति एक ऐसी पहेली बनी हुई है कि वे सिर पटक-पटककर रह गये हैं, पर उसे समझ नहीं पाये हैं। चूंकि इन लोगों का दावा है कि इस प्रकार के पूर्वज केवल कल्पना की उपज हैं, इसलिये स्वभावतः वे यह समझने में पूर्णतया असमर्थ हैं कि गोत्र कैसे एक दूसरे से अलग तथा भिन्न, और शुरू में पूरी तरह असम्बद्ध परिवारों से विकसित हुए। लेकिन किसी न किसी प्रकार यह विकास दिखलाना उनके लिये ज़रूरी था, अन्यथा यह बात स्पष्ट नहीं होती थी कि गोत्र कैसे बने। इसलिये वे शब्दों का जाल बुनना शुरू करते हैं और अन्त में उसी में फंसकर रह जाते हैं। वे कहते हैं: वंशावली काल्पनिक है, पर

गोत्र वास्तविक है। इस दावे के आगे वे नहीं बढ़ पाते। और अन्त में ग्रोट कहते हैं – यहां कोष्ठकों के भीतर जो शब्द दिये गये हैं वे मार्क्स के हैं –

"इस वंशावली की चर्चा बहुत कम सुनने को मिलती है, क्योंकि केवल कुछ श्रेष्ठ और सम्मानित मामलों में ही वंशावली की सार्वजनिक रूप से चर्चा की जाती है। लेकिन, अधिक विख्यात गोत्रों की ही भांति मामूली हैसीयत के गोत्रों के भी अपने समान कर्मकांड होते थे" (कितनी विचित्र बात है यह, श्री ग्रोट!), "और समान अलौकिक पूर्वज तथा वंशावली भी होती थी" (सचमुच, श्री ग्रोट, यह तो बड़ी विचित्र बात है, **मामूली हैसीयत के** गोत्रों में भी!), "सभी गोत्रों में एक सा गठन और वैचारिक आधार पाया जाता है" (**वैचारिक** – ideal – नहीं, जनाब, यह **दैहिक** – carnal – germanice* fleischlich – आधार है!)।"

इस बात का मौर्गन ने जो जवाब दिया है, उसे मार्क्स ने संक्षेप में इस तरह पेश किया है: "रक्त-सम्बद्धता की व्यवस्था, जो गोत्र के आदि रूप के अनुरूप होती थी – अन्य मनुष्यों की तरह यूनानियों में भी एक समय गोत्र का यह आदिरूप पाया जाता था – गोत्र के सभी सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के ज्ञान को अक्षुण्ण रखती थी। इस ज्ञान का उन लोगों के लिये निर्णायक महत्त्व था और यह ज्ञान उन्हें बचपन में ही व्यवहार से मिल जाता था। जब एकनिष्ठ परिवार का उदय हुआ तो यह ज्ञान विस्मृति के गर्त्त में पहुंच गया। गोत्र के नाम से जो वंशावली बनती थी, उसके मुक़ाबले में एकनिष्ठ परिवार की वंशावली महत्त्वहीन मालूम पड़ती थी। अब गोत्र नाम इस बात का प्रमाण था कि यह नाम धारण करनेवाले लोगों के पूर्वज एक थे। परन्तु गोत्र की वंश-परंपरा इतनी पुरानी थी कि उसके सदस्यों के लिये अब यह सिद्ध करना सम्भव न था कि उनके बीच रक्त-सम्बन्ध है। केवल वे थोड़े-से लोग ही अपना सम्बन्ध सिद्ध करने की स्थिति में थे जिनकी समान पूर्वजों से वंशोत्पत्ति बहुत समय पहले नहीं हुई थी। गोत्र नाम ख़ुद इस बात का पर्याप्त और निर्विवाद प्रमाण था कि उस गोत्र के सदस्यों के पूर्वज एक थे। केवल उन लोगों पर यह प्रमाण लागू नहीं होता था जिनको अंगीकार किया जाता था। ग्रोट** और निबूहर की भांति यह मानने से इनकार करना

---

* जर्मन में। – **सं०**

** मार्क्स की पांडुलिपि में ग्रोट की जगह दूसरी शताब्दी के यूनानी विद्वान पोलक्स का नाम दिया गया है जिसका ग्रोट अक्सर हवाला देते हैं। – **सं०**

कि गोत्र के सदस्यों के बीच रक्त-सम्बन्ध होता था, और इस प्रकार गोत्र को केवल एक काल्पनिक वस्तु, कल्पना की उड़ान भी बना डालना, यह सिर्फ़ 'वैचारिक' वैज्ञानिकों को, यानी कुर्सीतोड़ किताबी कीड़ों को ही शोभा देता है। चंकि पीढ़ियों की श्रृंखला अब, विशेषकर एकनिष्ठ विवाह की उत्पत्ति के कारण, बहुत दूर की चीज़ बन गयी है, और चूंकि अतीत की वास्तविकता अब पुराण-कथा में प्रतिबिम्बित कल्पना मालूम पड़ती है, इसलिये हमारे भलेमानस कूपमंडूकों ने यह मान लिया और आज भी वे समझे बैठे हैं कि काल्पनिक वंशावली से यथार्थ गोत्र उत्पन्न हुए हैं!"

अमरीकियों की तरह यहां भी **बिरादरी** एक मातृ-गोत्र थी, जो कई पुत्री-गोत्रों में बंट गयी थी, पर साथ ही उसने उन्हें एक सूत्र में भी बांध रखा था और अक्सर वह उन सब की एक ही वंशमूल से उत्पत्ति का संकेत करती थी। इस प्रकार ग्रोट के अनुसार,

"हेकेटीयस बिरादरी के सभी समकालीन सदस्यों का वंश सोलह पीढ़ी ऊपर चढ़ने पर एक समान देवता के रूप में एक पूर्वज से जाकर मिल जाता है।"

इसलिये इस बिरादरी के सभी गोत्र शब्दशः भ्रातृ गोत्र थे। होमर अब भी इस बिरादरी का एक फ़ौजी इकाई के रूप में उस प्रसिद्ध अंश में ज़िक्र करते हैं जहां एगामेम्नोन को नेस्टर यह सलाह देता है: "अपनी सेना की व्यूह-रचना क़बीलों और बिरादरियों के अनुसार करो ताकि बिरादरी बिरादरी की मदद कर सके और क़बीला क़बीले की।"*

बिरादरी का यह अधिकार होता था और उसका यह कर्त्तव्य माना जाता था कि अपने किसी सदस्य का क़त्ल हो जाने पर क़ातिल पर मुक़दमा चलाये। इससे ज़ाहिर होता है कि प्राचीन काल में रक्त-प्रतिशोध लेना बिरादरी का एक कर्त्तव्य था। इसके अलावा हर बिरादरी के समान देव-स्थान और समान त्यौहार होते थे। कारण कि आर्यों की प्राचीन परम्परागत प्रकृति-पूजा से समस्त यूनानी पुराण का विकास बुनियादी तौर पर गोत्रों और बिरादरियों के कारण और उनके भीतर हुआ था। बिरादरी का एक मुखिया (phratriarchos) भी होता था, और दे कुलांज के मतानुसार उसकी ऐसी परिषदें भी होती थीं जिनका फ़ैसला

---

*होमर, 'इलियाड', दूसरा गीत। – सं०

मानना अनिवार्य होता था और उसकी एक अदालत तथा शासन व्यवस्था भी होती थी। परवर्ती काल के राज्य तक ने गोत्र की अवहेलना की पर बिरादरी के हाथ में कुछ सार्वजनिक काम छोड़ दिये गये।

नाश्ते-रिश्ते की कई बिरादरियों को मिलाकर एक क़बीला बनता था। ऐटिका में चार क़बीले थे जिनमें से हर एक में तीन-तीन बिरादरियां थीं और हर एक बिरादरी में तीस-तीस गोत्र थे। समूहों में इस विस्तृत विभाजन से प्रकट होता है कि जो व्यवस्था स्वयंस्फूर्त्त ढंग से क़ायम हुई थी उसमें सचेतन और सुनियोजित ढंग से हस्तक्षेप किया गया था। ऐसा क्यों, कब और कैसे किया गया, यह यूनानी इतिहास नहीं बताता, क्योंकि यूनानियों ने जिन स्मृतियों को संजोकर रखा था वे वीर-काल से ज़्यादा पुरानी नहीं थीं।

यूनानी लोग चूंकि अपेक्षाकृत छोटे प्रदेश में रहते थे, इसलिये उनकी बोलियों में अन्तर अमरीका के विस्तृत जंगलों में रहनेवाले लोगों में विकसित बोलियों की तुलना में कम स्पष्ट था, पर हम यहां भी पाते हैं कि एक मुख्य बोली बोलनेवाले क़बीले ही एक बड़े समुदाय में संघबद्ध होते हैं; यहां तक कि नन्हे से ऐटिका की भी अपनी बोली थी जो बाद में चलकर यूनानी गद्य की प्रचलित भाषा बन गयी थी।

होमर के महाकाव्यों में आम तौर पर हम यह पाते हैं कि यूनानी क़बीलों ने मिलकर छोटी-मोटी जन-जातियां बना ली थीं। परन्तु हर जन-जाति के भीतर गोत्रों, बिरादरियों और क़बीलों को अब भी पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। उन्होंने अभी से परकोटेदार शहरों में रहना शुरू कर दिया था। जानवरों के रेवड़ों के बढ़ने, खेत बनाकर खेती करने की प्रथा का विकास होने और दस्तकारी की शुरूआत होने से जनसंख्या में वृद्धि हुई। इसके साथ-साथ सम्पत्ति के भेद बढ़े, जिसके परिणामस्वरूप पुराने, आदिम जनवादी समाज के भीतर एक अभिजात तत्त्व उत्पन्न हुआ। छोटी-मोटी विभिन्न जन-जातियां सबसे अच्छी ज़मीन पर क़ब्ज़ा करने के लिये और लूट-मार के उद्देश्य से भी सदा आपस में लड़ती रहती थीं। युद्धबंदियों को दास बनाने की प्रथा मान्य हो गयी थी।

इन क़बीलों और छोटी-मोटी जन-जातियों का संघटन इस प्रकार का होता था :

१. सत्ता स्थायी रूप से एक **परिषद**, Bulê, के हाथ में होती थी। इसके सदस्य शुरू में संभवत: गोत्रों के मुखिया हुआ करते थे, परन्तु बाद में, जब उनकी संख्या बहुत बढ़ गयी तो उनमें से भी कुछ लोगों को चुनकर परिषद में लिया

जाने लगा। इससे अभिजात तत्त्व को विकास करने और मज़बूत होने का मौक़ा मिला। डायोनीसियस निश्चित रूप से बताता है कि वीर-काल में प्रतिष्ठित व्यक्ति (Kratistoi) परिषद के सदस्य हुआ करते थे। महत्त्वपूर्ण मामलों में आख़िरी फ़ैसला परिषद के हाथ में होता था। ईस्खिलस में हम पढ़ते हैं कि थीबीस की परिषद ने यह फ़ैसला किया था – और उसे मानना सब के लिये ज़रूरी था – कि इतियोक्लीज़ के शव को पूर्ण सम्मान के साथ दफ़नाया जाये और पोलीनाइसीज़ के शव को कुत्तों के आगे फेंक दिया जाये।* बाद में जब राज्य का उदय हुआ तो यह परिषद सीनेट में बदल गयी।

२. **जन-सभा** (agora)। इरोक्वा लोगों में हम देख चुके हैं कि जब उनकी परिषद बैठती थी तो साधारण लोग, स्त्री और पुरुष एक घेरा बनाकर खड़े हो जाते थे, व्यवस्थित ढंग से बहस में हिस्सा लेते थे, और इस प्रकार परिषद के फ़ैसलों पर अपना असर डालते थे। होमर के काल के यूनानियों में यह "घेरा" (Umstand), यदि हम जर्मन भाषा के एक पुराने क़ानूनी शब्द का प्रयोग करें, तो एक पूर्ण जन-सभा में बदल गया था जैसा कि वह प्राचीन जर्मनों में भी बदल गया था। परिषद महत्त्वपूर्ण मामलों पर विचार करने के लिये जन-सभा को बुलाती थी। सभा में हर पुरुष को बोलने का अधिकार होता था। फ़ैसला या तो हाथ उठाकर किया जाता था (जैसा कि ईस्खिलस के 'प्रार्थीगण' में वर्णन है), या आवाज़ देकर। जन-सभा का निर्णय सर्वोच्च और अन्तिम होता था, क्योंकि जैसा कि शेमान ने अपनी पुस्तक 'यूनानी पुरातत्त्व' में कहा है –

"जब कभी किसी ऐसे मामले पर बहस होती थी जिसके निपटारे के लिये जनता का सहयोग लेना आवश्यक होता था, तब जनता से ज़बर्दस्ती कुछ कराने के किसी तरीक़े के बारे में होमर की रचनाओं में हमें कोई संकेत नहीं मिलता।"

उस समय, जबकि क़बीले का हर वयस्क पुरुष सदस्य योद्धा होता था, जनता से अलग कोई ऐसी सार्वजनिक सत्ता नहीं थी जो जनता के ख़िलाफ़ खड़ी की जा सके। आदिम जनवाद अभी तक पूरे यौवन में था। परिषद और बैसिलियस (सेनानायक) की शक्ति और हैसियत पर विचार करते समय हमें इस बात पर सबसे पहले ध्यान देना चाहिये।

---

*ईस्खिलस, 'थीबीस के विरुद्ध सात'। – सं०

३. **बैसिलियस** (basileus)। इस विषय पर मार्क्स ने यह टीका की: "यूरोपीय विद्वान, जिनमें से अधिकतर जन्म से ही राजाओं के अनुचर थे, बैसिलियस को इस रूप में पेश करते हैं मानो वह आधुनिक ढंग का राजा हो। अमरीकी जनतंत्रवादी मौर्गन इस पर एतराज़ करते हैं। मिठबोले ग्लैडस्टन और उनकी पुस्तक 'संसार की युवावस्था' का ज़िक्र करते हुए मौर्गन ने बहुत व्यंग्य किन्तु सच्चाई के साथ कहा है—

"श्री ग्लैडस्टन, जिन्होंने वीर-काल के यूनानी मुखियाओं को अपने पाठकों के सामने राजाओं और राजकुमारों के रूप में पेश किया है और साथ ही उनमें भद्र पुरुषों के गुण भी जोड़ दिये हैं, यह मानने को मजबूर हैं कि कुल मिलाकर ज्येष्ठाधिकार प्रथा या क़ानून का प्रचलन काफ़ी हद तक है, पर बहुत अधिक स्पष्ट नहीं।"

सच तो यह है कि श्री ग्लैडस्टन ने ख़ुद भी यह बात महसूस की होगी कि इस प्रकार की अनिश्चित ज्येष्ठाधिकार व्यवस्था—जो काफ़ी हद तक है, पर बहुत अधिक स्पष्ट नहीं—वास्तव में न होने के बराबर है।

इरोक्वा तथा अन्य इण्डियनों में मुखियाओं के पदों के मामले में वंश-परम्परा का क्या स्थान था, यह हम देख चुके हैं। चूंकि सभी पदाधिकारी प्रायः गोत्र के भीतर से ही चुने जाते थे, इसलिये ये पद गोत्र के भीतर पुश्तैनी भी थे। धीरे-धीरे यह प्रथा बन गयी कि कोई पद ख़ाली होता तो वह पुराने पदाधिकारी के सबसे निकट के गोत्र-सम्बन्धी—भतीजे या भांजे—को मिलता था। उसे छोड़ दूसरे को यह पद तभी दिया जाता था जब ऐसा करने के पर्याप्त कारण हों। यूनान में चूंकि पितृ-सत्ता थी, इसलिये बैसिलियस का पद प्रायः उसके पुत्र को या उसके अनेक पुत्रों में से एक को मिलता था। लेकिन इस बात से केवल यही जाहिर होता है कि सार्वजनिक चुनाव में पिता की जगह पुत्र का चुना जाना संभाव्य होता था। इससे यह कदापि ज़ाहिर नहीं होता कि बिना सार्वजनिक चुनाव के ही पिता का पद पुत्र को क़ानूनन् मिल जाता था। यहां हम इरोक्वा लोगों में तथा यूनानियों में गोत्रों के भीतर ही विशिष्ट कुलीन परिवारों के पहले चिह्न देखते हैं; और यूनानियों में तो यह भविष्य की पुश्तैनी मुखियागीरी या राजतन्त्र का पहला चिह्न भी था। इसलिये हमें यह मानकर चलना चाहिये कि यूनानियों में बैसिलियस को या तो जनता चुनती थी, या कम से कम उसके

लिये जनता की मान्य **संस्था**—परिषद या अगोरा—की स्वीकृति आवश्यक होती थी, जैसा कि रोमन "राजा" (rex) के लिये आवश्यक हुआ करता था।

'इलियाड' महाकाव्य में मनुष्यों का शासक एगामेम्नोन यूनानियों के सर्वोच्च राजा के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐसी संघीय सेना के सर्वोच्च सेनानायक के रूप में सामने आता है जो एक नगर के चारों ओर घेरा डाले हुए है। और जब यूनानी लोग आपस में झगड़ने लगते हैं, तब ओडीसियस इस महाकाव्य के एक प्रसिद्ध अंश में उसके इसी गुण की ओर संकेत करते हुए कहता है: बहुत-से सेनानायक होना अच्छी बात नहीं है, हमारा एक सेनानायक होना चाहिये, इत्यादि (बाद में इसमें वह प्रचलित पद भी जोड़ दिया गया जिसमें राजदंड का जिक्र आता है)*। यहां "ओडीसियस इस बात का उपदेश नहीं दे रहा है कि शासन-सत्ता किस तरह की होनी चाहिये, बल्कि इस बात की मांग कर रहा है कि रण-क्षेत्र में सर्वोच्च सेनानायक के आदेशों का पालन किया जाये। यूनानियों के लिये जो त्रोय के सामने केवल एक सेना के रूप में आये थे, उनकी अगोरा की कार्यवाही काफ़ी जनवादी ढंग से हुई। जब एकिलीज़ तोहफ़ों के, यानी लूट की चीज़ों के बंटवारे का ज़िक्र करता है तो वह यह कभी नहीं कहता कि एगामेम्नोन या कोई और बैसिलियस इन चीज़ों का वितरण करेगा, बल्कि वह हमेशा यही कहता है कि 'एकियनों की सन्तान', अर्थात् जनता उनका वितरण करेगी। गुणवाचक शब्दों से—'ज़ीयस की सन्तान', 'ज़ीयस द्वारा पाले-पोसे'—कुछ भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि हर एक गोत्र किसी न किसी देवता का वंशज होता है और क़बीले के मुखिया का गोत्र किसी 'प्रमुख' देवता का—जो इस प्रसंग में ज़ीयस है—वंशज होता है, यहां तक कि सुअर चरानेवाला इमुएयस और अन्य भृत्य भी 'देव-कुल' के (dioi और theioi) माने गये हैं, और वह भी 'ओडीसी' में, अर्थात् 'इलियाड' से बहुत बाद के काल में। इसी प्रकार हम 'ओडीसी' में यह भी पाते हैं कि मुलिओस नामक मुनादी को और डेमोडोकस नामक अंधे चारण को भी 'वीर' कहा गया है। संक्षेप में, होमर की तथाकथित राजशाही के लिये यूनानी लेखक जिस basileia शब्द का प्रयोग करते हैं, वह (चूंकि सैनिक नेतृत्व ही उसकी मुख्य विशेषता है) परिषद तथा जन-सभा समेत महज़ सैनिक लोकतंत्र की व्यंजना करता है, और कुछ नहीं।" (मार्क्स)

---

* होमर, 'इलियाड', दूसरा गीत।—सं०

सैनिक ज़िम्मेदारियों के अलावा बैसिलियस पर कुछ पुरोहितगीरी की और कुछ न्याय-सम्बन्धी ज़िम्मेदारियां भी होती थीं। न्याय-सम्बन्धी ज़िम्मेदारियां बहुत साफ़ नहीं थीं; परन्तु पुरोहित का काम वह अपने क़बीले के, अथवा कई क़बीलों के महासंघ के सर्वोच्च प्रतिनिधि की हैसियत से करता था। नागरिक ज़िम्मेदारियों, अथवा शासन-प्रबंध की ज़िम्मेदारियों का कहीं ज़िक्र नहीं मिलता। लेकिन मालूम पड़ता है कि बैसिलियस अपने पद के नाते परिषद का सदस्य होता था। शब्दरचनाशास्त्र की दृष्टि से बैसिलियस का अर्थ जर्मन में «König» लगाना बिल्कुल सही है क्योंकि «König» (Kuning) शब्द Kuni या Künne से व्युत्पन्न है जिनका मतलब होता है "गोत्र का मुखिया"। परन्तु «König» शब्द का जो आधुनिक अर्थ है (राजा), पुरानी यूनानी भाषा का "बैसिलियस" उससे क़तई मेल नहीं खाता। थ्युसीडिडीज़ तो प्राचीन basileia को साफ़-साफ़ patrikê कहता है, जिसका मतलब है गोत्र से उत्पन्न। उसने यह भी कहा है कि उसकी निश्चित और सीमित ज़िम्मेदारियां होती थीं। अरस्तू का कहना है कि वीर काल में basileia स्वतंत्र नागरिकों का नेतृत्व करता था, और बैसिलियस सेनानायक, न्यायाधीश और मुख्य पुरोहित हुआ करता था। मतलब यह कि शब्द के बाद के काल की शासन-सत्ता के अर्थ में बैसिलियस के हाथ में कोई शासन-सत्ता न थी।*

इस प्रकार वीर-काल के यूनानी समाज-संघटन में, जहां हम यह पाते हैं कि पुरानी गोत्र-व्यवस्था अब भी शक्तिशाली है, वहां साथ ही हम उसके पतन का प्रारम्भ भी देखते हैं: पितृ-सत्ता मानी जाने लगी और पिता की सम्पत्ति बच्चों को मिलने लगी, जिससे परिवार के अन्दर सम्पत्ति एकत्रित करने की प्रवृत्ति को

---

*यूनानी बैसिलियस की तरह एज़टेक लोगों के सैनिक मुखिया को भी ग़लत ढंग से आधुनिक काल के राजा के रूप में पेश किया जाता है। स्पेनियों ने एज़टेक लोगों को शुरू में ग़लत समझा, उनका अतिरंजित चित्र दिया, और बाद में तो जान-बूझकर झूठी बातें गढ़ीं। स्पेनियों की रिपोर्टों की ऐतिहासिक दृष्टि से आलोचना सबसे पहले मौर्गन ने की। उन्होंने बताया कि मैक्सिकोवासी बर्बर युग की मध्यम अवस्था में थे, पर उनका स्तर न्यू-मैक्सिको के पुएब्लो इंडियनों के स्तर से कुछ ऊंचा था और उनका समाज-संघटन, जहां तक भ्रष्ट रिपोर्टों से अनुमान लगाया जा सकता है, मोटे तौर पर इस ढंग का था: तीन क़बीलों का एक महासंघ था, जो कई अन्य क़बीलों को अधीन करके उनसे ख़िराज लेते थे; महासंघ का प्रबंध एक संघीय परिषद तथा संघीय सेनानायक द्वारा होता था। इसी सेनानायक को स्पेनियों ने "सम्राट" के रूप में बदल दिया था।

बल मिला और गोत्र के मुक़ाबले में परिवार शक्तिशाली हो गया; धन-सम्पदा में अन्तर जिसने अपनी बारी में आनुवंशिक अभिजातों तथा राजतन्त्र के पहले अंकुरों को तैयार कर सामाजिक संघटन को प्रभावित किया; दास-प्रथा का आरम्भ, जो शुरू में युद्धबंदियों तक सीमित थी, पर जिसके परिणामस्वरूप बाद में अपने क़बीले के और यहां तक कि अपने गोत्र के सदस्यों को भी ग़ुलाम बनाने का रास्ता साफ़ हो गया; पुराने ज़माने में क़बीलों के बीच होनेवाले युद्धों द्वारा भ्रष्ट होते हुए नया रूपधारण – जीविकोपार्जन के साधन के रूप में ढोर, दास और धन-दौलत लूटने के लिये ज़मीन और पानी के रास्ते से बाक़ायदा धावे; संक्षेप में, धन-दौलत को दुनिया में सबसे बड़ी चीज़ समझा जाने लगा, उसे प्रशंसा और आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा और पुराने गोत्र-समाज की संस्थाओं और प्रथाओं को भ्रष्ट किया जाने लगा ताकि धन-दौलत को ज़बर्दस्ती लूटना उचित ठहराया जा सके। अब केवल एक चीज़ दरकार थी: ऐसी संस्था की, जो न केवल अलग-अलग व्यक्तियों की नयी हासिल की हुई सम्पत्ति को गोत्र-व्यवस्था की पुरानी सामुदायिक परम्पराओं से बचा सके, जो निजी स्वामित्व को, जिसकी पहले अधिक प्रतिष्ठा नहीं थी, न केवल पवित्र क़रार दे और इस पवित्रता को मानव समाज का चरम लक्ष्य घोषित कर दे, बल्कि जो सम्पत्ति प्राप्त करने, और इसलिये धन-दौलत को लगातार बढ़ाते रहने के नये और विकसित होते हुए तरीक़ों पर सार्वजनिक मान्यता की मुहर भी लगा दे; ऐसी संस्था की, जो न केवल समाज के नवजात वर्ग-विभाजन को, बल्कि सम्पत्तिवान वर्ग द्वारा सम्पत्तिहीन वर्ग के शोषण किये जाने के अधिकार को और सम्पत्तिहीन वर्ग पर सम्पत्तिवान वर्ग के शासन को भी स्थायी बना दे।

और यह संस्था भी आ पहुंची। **राज्य** का आविष्कार हुआ।

५

एथेनी राज्य का उदय

राज्य का विकास कैसे हुआ, जिसमें गोत्र-व्यवस्था की कुछ संस्थाएं नये ढंग की संस्थाओं में बदल गयीं और कुछ संस्थाओं का स्थान नयी संस्थाओं ने ले लिया, और अन्त में, पुरानी तमाम संस्थाओं की जगह पर असली शासन-सत्ता

के निकाय आ गये; वास्तविक "सशस्त्र जनता" की जगह, जो अपने गोत्रों, बिरादरियों और क़बीलों के द्वारा ख़ुद अपनी रक्षा किया करती थी, एक सशस्त्र "सार्वजनिक सत्ता" कैसे आ गयी, जोकि इन शासन-निकायों के अधीन थी और इसलिये जो जनता के ख़िलाफ़ भी इस्तेमाल की जा सकती थी – इस पूरे विकासक्रम की रूप-रेखा, कम से कम उसके प्रारम्भिक काल की रूप-रेखा, जितनी स्पष्टता से प्राचीन एथेंस में देखी जा सकती है, उतनी स्पष्टता से वह और कहीं नहीं देखी जा सकती। परिवर्तन के रूप मोटे तौर पर मौर्गन द्वारा बताये गये हैं, परन्तु जिस आर्थिक अन्तर्य से ये उत्पन्न हुए, वह अधिकांशतः मुझे ख़ुद जोड़ देना पड़ा है।

वीर-काल में चार एथेनी क़बीले ऐटिका के चार अलग-अलग हिस्सों में रह रहे थे। बल्कि लगता है कि जिन बारह बिरादरियों को लेकर ये चार क़बीले बने थे, वे भी सेक्रोप्स के बारह शहरों में अलग-अलग रहते थे। क़बीलों का संघटन भी वही वीर-काल वाला था: जन-सभा, जन-परिषद और एक बैसिलियस। उस प्राचीनतम काल में, जिसका कि लिखित इतिहास मिलता है, हम पाते हैं कि ज़मीन लोगों में बंट चुकी थी और व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति बन गयी थी। यह इस बात के अनुरूप ही थी कि इस काल में, बर्बर युग की उन्नत अवस्था के अन्तिम दिनों में, माल का उत्पादन अपेक्षाकृत उन्नति कर चुका था और उसी हद तक माल का व्यापार भी बढ़ गया था। अनाज के अलावा शराब बनाने के लिये अंगूर और तेल निकालने के लिये तिलहन की भी खेती होने लगी थी। ईजियन समुद्र में होनेवाला व्यापार फ़ीनीशियाई लोगों के हाथों से निकलकर अधिकाधिक ऐटिका निवासियों के हाथों में पहुंच रहा था। ज़मीन की ख़रीद और बिक्री, खेती और दस्तकारी, व्यापार और जहाज़रानी के बीच श्रम-विभाजन के बराबर बढ़ते जाने के फलस्वरूप गोत्रों, बिरादरियों और क़बीलों के सदस्य जल्दी ही आपस में घुल-मिल गये। जिन इलाक़ों में पहले एक बिरादरी या क़बीले के लोग रहा करते थे, वहां अब नये लोग पहुंच गये, जो इसी देश के निवासी होते हुए भी इन क़बीलों या बिरादरियों के सदस्य नहीं थे, और इसलिये जो ख़ुद अपने निवास-स्थान में अजनबी थे। कारण कि शांति-काल में हर बिरादरी और हर क़बीला ख़ुद अपने मामलों का प्रबंध करता था और एथेंस में बैठी जन-परिषद या बैसिलियस की सलाह नहीं लेता था। परन्तु किसी बिरादरी या क़बीले के इलाक़े के वे लोग, जो उस बिरादरी या क़बीले के सदस्य नहीं थे, स्वभावतः इस प्रबंध में भाग नहीं ले सकते थे।

इससे गोत्र-व्यवस्था की विभिन्न संस्थाओं के नियमित रूप से काम करने में इतना व्याघात पड़ गया कि वीर-काल में ही इसके इलाज की जरूरत महसूस होने लगी थी। चुनांचे एक नया विधान लागू किया गया, जिसके बारे में कहा जाता है कि उसे थीसियस ने तैयार किया था। इस परिवर्तन की ख़ास विशेषता यह थी कि एथेंस में एक केन्द्रीय प्रशासन क़ायम कर दिया गया था। मतलब यह कि कुछ ऐसे मामले, जिनका प्रबंध अभी तक क़बीले स्वतंत्र रूप से किया करते थे, अब सब क़बीलों के सामूहिक मामले घोषित कर दिये गये और उनका प्रबंध एथेंस में बैठी एक आम परिषद को सौंप दिया गया। इस प्रकार अमरीका की किसी भी आदिवासी जनता ने जितना विकास किया था उससे एथेनी लोग एक क़दम आगे बढ़ गये। पड़ोसी क़बीलों के साधारण संघ से आगे बढ़कर अब सारे क़बीले एक ही जन-जाति के रूप में घुल-मिल गये। इससे एथेंसवासियों के सामान्य सार्वजनिक क़ानून की एक पूरी व्यवस्था उत्पन्न हो गयी, जो अलग-अलग क़बीलों और गोत्रों के क़ानूनी दस्तूर से ऊपर समझी जाती थी। इस व्यवस्था से एथेंस के सभी नागरिकों को नागरिक की हैसियत से कुछ अधिकार और अतिरिक्त क़ानूनी सुरक्षा उन इलाक़ों में भी प्राप्त हो गयी थी जो उनके अपने क़बीलों के इलाक़े न थे। परन्तु यह गोत्र-व्यवस्था की जड़ खोदने की दिशा में पहला क़दम था, क्योंकि यह ऐसे लोगों को नागरिक बनाने की दिशा में पहला क़दम था, जो ऐटिका के किसी भी क़बीले से सम्बन्धित नहीं थे और जो एथेंसवासियों की गोत्र-व्यवस्था की परिधि के एकदम बाहर थे और बाहर ही रहे थे। थीसियस को एक और प्रथा जारी करने का श्रेय दिया जाता है। वह यह कि गोत्रों, बिरादरियों और क़बीलों का लिहाज़ किये बग़ैर पूरी जनसंख्या को तीन वर्गों में बांट दिया गया: eupatrides, यानी कुलीन लोग, geomoroi, यानी खेतिहर और demiurgi, यानी दस्तकार। सार्वजनिक पदाधिकारी बनने का हक़ केवल कुलीन लोगों को दे दिया गया। यह सच है कि सार्वजनिक पदों को कुलीन लोगों के लिये सुरक्षित कर देने के अलावा यह विभाजन अमल में नहीं आया, क्योंकि वह विभिन्न वर्गों के बीच कोई और क़ानूनी अन्तर नहीं पैदा करता था। फिर भी यह विभाजन बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उससे वे नये सामाजिक तत्त्व सामने आते हैं, जो इस बीच चुपचाप विकसित हो गये हैं। उससे पता चलता है कि गोत्रों में कुछ परिवारों के सदस्यों के ही पदाधिकारी होने की प्रचलित प्रथा अब बढ़कर इन परिवारों का विशेषाधिकार बन गयी, जिसका कोई विरोध नहीं करता। उससे पता चलता है कि ये परिवार, जो अपनी धन-दौलत की वजह से पहले

ही शक्तिशाली हो चुके थे, अब अपने गोत्रों के बाहर एक विशेषाधिकारप्राप्त वर्ग के रूप में संगठित होने लगे थे, और नवजात राज्य ने इस अधिकारहरण को मान्यता प्रदान की थी। इसके अतिरिक्त, उससे यह भी पता चलता है कि अब खेतिहर तथा दस्तकार के बीच श्रम-विभाजन इतना मजबूत हो गया था कि वह समाज में गोत्रों तथा क़बीलों के पुराने विभाजन की श्रेष्ठता को चुनौती देने लगा था। अन्त में, इस विभाजन ने यह घोषित कर दिया कि गोत्र-समाज तथा राज्य के बीच एक ऐसा विरोध है जिसका समन्वय नहीं हो सकता। राज्य स्थापित करने की पहली कोशिश का मतलब यही था कि गोत्र के सदस्यों को विशेषाधिकार-प्राप्त उच्च वर्ग और अधिकारहीन निम्न वर्ग में बांटकर गोत्र को छिन्न-भिन्न कर दिया गया और अधिकारहीन वर्ग को दो वृत्तिमूलक वर्गों में बांट दिया गया और इस प्रकार उन्हें एक दूसरे के मुक़ाबले खड़ा कर दिया गया।

इसके बाद सोलन के समय तक एथेंस का जो राजनीतिक इतिहास रहा है, उसका हमें केवल अपूर्ण ज्ञान है। बैसिलियस का पद धीरे-धीरे लुप्तप्रयोग हो गया और अभिजात वर्ग में से चुने हुए आर्कोन राज्य के प्रमुख बन गये। अभिजात वर्ग की शासन-सत्ता बराबर बढ़ती गयी, यहां तक कि लगभग ६०० ई० पू० तक वह असह्य हो उठी। साधारण लोगों की स्वतंत्रता का गला घोंटने के दो मुख्य उपाय थे – मुद्रा और सूदख़ोरी। अभिजात वर्ग के लोग अधिकतर एथेंस में या उसके इर्द-गिर्द रहते थे, जहां समुद्री व्यापार और कभी-कभी इसके साथ-साथ समुद्री डकैती की बदौलत वे मालामाल हो रहे थे और बहुत-सा रुपया-पैसा बटोर रहे थे। यहीं से बढ़ती हुई मुद्रा-व्यवस्था, विनिमयहीन अर्थ-व्यवस्था की नींव पर खड़े ग्राम समुदायों के परम्परागत जीवन को तेज़ाब की तरह काटती हुई उसमें घुस गयी। गोत्र-संघटन का मुद्रा-व्यवस्था से क़तई मेल नहीं है। जैसे-जैसे ऐटिका के छोटे-छोटे किसान तबाह-बरबाद होते गये, वैसे-वैसे गोत्र-व्यवस्था के वे पुराने बंधन भी ढीले पड़ते गये जो पहले उनकी रक्षा किया करते थे। एथेंसवासियों ने इस समय तक रेहन की प्रथा का भी आविष्कार कर लिया था और महाजन की हुंडी और रेहननामा न तो गोत्र का लिहाज़ करते थे और न बिरादरी का। परन्तु पुरानी गोत्र-व्यवस्था मुद्रा, उधार और नक़दी क़र्ज़ से अनभिज्ञ थी। इसलिये, अभिजात वर्ग के लगातार बढ़ते हुए मुद्रा-शासन ने क़र्ज़दार से महाजन की रक्षा करने के लिये और रुपयेवाले द्वारा छोटे किसान के शोषण को मान्यता प्रदान करने के लिये एक प्रथा के रूप में एक नये क़ानून को जन्म

दिया। ऐटिका के देहाती इलाक़ों में जगह-जगह खेतों में खम्भे गड़ गये, जिन पर लिखा रहता था कि जिस ज़मीन पर यह खम्भा खड़ा है, वह इतने-इतने रुपये पर अमुक आदमी को रेहन कर दी गयी है। जिन खेतों में ऐसे खम्भे नहीं थे, उनमें से अधिकतर रेहन की मियाद बीत जाने के कारण या सूद न अदा होने के कारण बिक चुके थे और अभिजातवर्गीय सूदख़ोरों की सम्पत्ति बन गये थे। किसान अपने को बड़ा भाग्यशाली समझता था यदि उसे लगान देनेवाले काश्तकार के रूप में खेत जोतने की इजाज़त मिल जाती थी और अपनी पैदावार के **छः में से पांच** हिस्से लगान के रूप में नये मालिक को देकर उसे ख़ुद **छठे हिस्से** के सहारे जीवित रहने दिया जाता था। यही नहीं, जो ज़मीन रेहन कर दी गयी थी, उसकी बिक्री से यदि महाजन का पूरा रुपया अदा नहीं होता था या यदि क़र्ज़ के बदले में कोई वस्तु गिरवी नहीं रखी गयी थी, तो क़र्ज़दार को महाजन का रुपया अदा करने के लिये अपने बच्चों को विदेशों में ग़ुलामों की तरह बेचना पड़ता था। पिता अपने हाथों अपनी सन्तान को बेच डालता था—पितृ-सत्ता और एकनिष्ठ विवाह का पहला नतीजा यही निकला था! यदि रक्त शोषक इसके बाद भी संतुष्ट नहीं होता था तो वह ख़ुद क़र्ज़दार को ग़ुलाम की तरह बेच सकता था। एथेंसवासियों में सभ्यता के युग का अरुणोदय इसी प्रकार हुआ था।

पहले, जब लोगों के जीवन की परिस्थितियां गोत्र-व्यवस्था के अनुरूप थीं, तब इस तरह की उथल-पुथल का होना असम्भव था, परन्तु अब यह हो गयी थी और किसी को पता तक न चला कि वह हुई कैसे। आइये, कुछ क्षणों के लिये फिर इरोक्वा लोगों के बीच लौट चलें। जैसी स्थिति एथेंसवासियों के बीच अपने आप और मानो, बिना उनके कुछ किये ही और निश्चय ही उनकी इच्छा के विरुद्ध, पैदा हो गयी, वैसी स्थिति इरोक्वा लोगों में अकल्पनीय होती। वहां जीवन-निर्वाह के साधनों के उत्पादन का ढंग, जो वर्ष-प्रति-वर्ष एक सा ही रहता था और जिसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता था, ऐसा था कि उसमें बाहरी कारकों से आरोपित विरोध कभी पैदा ही नहीं हो सकते थे। उत्पादन के उस ढंग में धनी और ग़रीब का विरोध, शोषकों और शोषितों का विरोध उत्पन्न नहीं हो सकता था। इरोक्वा लोगों के लिये प्रकृति को वशीभूत करना अभी दूर की बात थी, परन्तु प्रकृति ने उनके लिये जो सीमायें निश्चित कर दी थीं, उनके भीतर वे अपने उत्पादन के स्वामी थे। कभी-कभी उनके छोटे-छोटे बग़ीचों में फ़सल मारी जा सकती थी, कभी-कभार उनकी झीलों और नदियों में मछलियों

या जंगलों में शिकार के पशु-पक्षियों की कमी पड़ सकती थी, पर इन बातों के अलावा वे निश्चित रूप से जानते थे कि उनकी जीविकोपार्जन प्रणाली का क्या परिणाम होगा। उसका परिणाम यही हो सकता था कि जीवन-निर्वाह के साधन प्राप्त हों, कभी प्रचुर तो कभी न्यून; परन्तु उसका परिणाम यह कभी नहीं हो सकता था कि समाज में अप्रत्याशित उथल-पुथल मच जाये, गोत्र-व्यवस्था के बंधन छिन्न-भिन्न हो जायें, गोत्रों और क़बीलों के सदस्यों में फूट पड़ जाये और वे परस्पर-विरोधी वर्गों में बंटकर आपस में संघर्ष करने लगें। उत्पादन बहुत सीमित दायरे में होता था, परन्तु उत्पादन करनेवालों का अपनी पैदावार पर पूरा नियंत्रण रहता था। बर्बर युग के उत्पादन का यह बड़ा भारी गुण था जो सभ्यता का उदय होने पर नष्ट हो गया। प्रकृति की शक्तियों पर आज मनुष्य को जो प्रबल अधिकार प्राप्त हो गया है और मनुष्यों के बीच जो स्वतंत्र संघबद्धता आज सम्भव है, उनके आधार पर उत्पादन के इस गुण को फिर से प्राप्त करना अगली पीढ़ियों का काम होगा।

यूनानियों में ऐसी हालत नहीं थी। जब पशुओं के रेवड़ तथा ऐश-आराम के सामान कुछ व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति बन गये, तब व्यक्तियों के बीच वस्तुओं का विनिमय होने लगा और उपज **माल** बन गयी। बाद में जो क्रान्ति हुई, उसकी जड़ में यही चीज़ थी। पैदा करनेवाले जब अपनी पैदावार का ख़ुद उपभोग करने की स्थिति में न रह गये, बल्कि विनिमय द्वारा उसे हाथ से निकल जाने देने लगे, तो उसपर उनका नियंत्रण जाता रहा। अब उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं रहा कि उनकी पैदावार का क्या हुआ, और इस बात की सम्भावना पैदा हो गयी कि पैदावार एक रोज़ पैदा करनेवालों के ख़िलाफ़ इस्तेमाल की जाये, वह उनका शोषण तथा उत्पीड़न करने का साधन बन जाये। अतएव, यदि कोई समाज व्यक्तियों के बीच होनेवाले विनिमय को बन्द नहीं करता, तो वह बहुत दिनों तक ख़ुद अपने उत्पादन का स्वामी नहीं रह सकता और अपनी उत्पादन की प्रक्रिया के सामाजिक परिणामों पर नियंत्रण नहीं बनाये रख सकता।

एथेंसवासियों को शीघ्र ही यह पता चल गया कि व्यक्तिगत विनिमय के आरम्भ हो जाने तथा उपज के माल में बदल जाने के बाद वह कितनी जल्दी पैदावार करनेवाले पर अपना शासन क़ायम कर लेती है। माल उत्पादन के साथ-साथ व्यक्तिगत खेती भी शुरू हो गयी। लोग अलग-अलग अपने फ़ायदे के लिये ज़मीन जोतने लगे। उसके थोड़े अरसे बाद ज़मीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व क़ायम

हो गया। फिर मुद्रा आयी, यानी वह सार्वत्रिक माल आया जिसका अन्य सभी मालों से विनिमय हो सकता है। परन्तु जब मनुष्यों ने मुद्रा का आविष्कार किया, तब उन्होंने यह ज़रा भी नहीं सोचा था कि वे एक नयी सामाजिक शक्ति को, ऐसी सार्वत्रिक शक्ति को पैदा कर रहे हैं जिसके सामने पूरे समाज को झुकना पड़ेगा। यह थी वह नयी शक्ति जो अपने पैदा करनेवालों की मर्ज़ी या जानकारी के बिना अचानक पैदा हो गयी थी, और जिसके यौवन की निर्मम प्रचंडता को एथेंसवासियों को झेलना पड़ा।

परन्तु फिर किया क्या जाता? पुरानी गोत्र-व्यवस्था मुद्रा के विजय-अभियान को रोकने में न केवल सर्वथा असमर्थ सिद्ध हो चुकी थी, वह इस बात के भी सर्वथा अयोग्य थी कि मुद्रा, महाजन, क़र्ज़दार और क़र्ज़ की ज़बर्दस्ती वसूली जैसी चीज़ों को अपनी व्यवस्था के अन्दर स्थान दे सके। परन्तु नयी सामाजिक शक्ति उत्पन्न हो चुकी थी, और न तो लोगों की सदिच्छाओं में यह ताक़त थी और न पुराने ज़माने को फिर से लौटा लाने की उनकी अभिलाषाओं में यह सामर्थ्य थी कि वे मुद्रा और सूदख़ोरी के अस्तित्व को नष्ट कर सकतीं। इसके अलावा गोत्र-व्यवस्था में अन्य अनेक छोटी-मोटी दरारें पड़ चुकी थीं। ऐटिका के हर कोने में, ख़ासकर एथेंस नगर में गोत्रों और बिरादरियों के सदस्यों का आपस में अत्यधिक अन्तर्मिश्रण हो रहा था। पीढ़ी-दर-पीढ़ी यह चीज़ बढ़ती ही जा रही थी, हालांकि एथेंसवासियों को अपनी ज़मीन तो गोत्र के बाहर बेचने की इजाज़त थी, पर वे अपने घर को गोत्र के बाहर के लोगों के हाथ अब भी नहीं बेच सकते थे। उद्योग-धंधों और विनिमय की उन्नति के साथ-साथ उत्पादन की विभिन्न शाखाओं के बीच – जैसे कि खेती, दस्तकारी, विभिन्न पेशों के अन्दर के विभिन्न शिल्पों, व्यापार, जहाज़रानी, इत्यादि के बीच – श्रम-विभाजन और भी पूर्ण रूप से विकसित हो गया था। अब लोग अपने-अपने पेशों के अनुसार पहले से अधिक सुनिश्चित समूहों में बंट गये थे, और प्रत्येक समूह के कुछ ऐसे नये, समान हित पैदा हो गये थे जिनके लिये गोत्र में या बिरादरी में कोई स्थान न था और इसलिये उनकी देखभाल करने के लिये नये पदों को क़ायम करना आवश्यक था। दासों की संख्या बहुत बढ़ गयी थी और इस प्रारम्भिक अवस्था में भी वह स्वतंत्र एथेंसवासियों की संख्या से कहीं अधिक रही होगी। गोत्र-व्यवस्था शुरू में दास-प्रथा से अनभिज्ञ थी और इसलिये वह ऐसे किसी उपाय को भी नहीं जानती थी जिसके द्वारा दासों के इस विशाल जन-समुदाय को दबाकर रखा जा सकता। और अन्तिम बात यह है कि व्यापार के आकर्षण से बहुत-से

अजनबी एथेंस में आकर बस गये थे, क्योंकि वहां धन कमाना ज़्यादा आसान था ; पुरानी व्यवस्था के अनुसार इन अजनबियों को न तो कोई अधिकार प्राप्त था और न क़ानून उनकी किसी तरह रक्षा करता था। एथेंसवासियों की सहनशीलता की पुरानी परम्परा के बावजूद ये लोग जनता के बीच व्याघातकारी और विदेशी तत्त्व बने हुए थे।

सारांश यह है कि गोत्र-व्यवस्था का अन्त होने को था। समाज दिन-प्रति-दिन उसकी सीमाओं से आगे निकला जा रहा था। समाज की आंखों के सामने जो घोर चिन्ताजनक बुराइयां पैदा हो रही थीं, वह उन्हें भी दूर करने या कम करने में असमर्थ था। परन्तु, इसी बीच चुपचाप राज्य का विकास हो गया था। पहले शहर और देहात के बीच और फिर शहरी उद्योग की विभिन्न शाखाओं के बीच श्रम-विभाजन हो जाने से जो नये समूह बन गये थे, उन्होंने अपने हितों की रक्षा करने के लिये नये निकाय उत्पन्न कर डाले थे। नाना प्रकार के सार्वजनिक पद स्थापित किये गये थे। इसके बाद नव-विकसित राज्य को सबसे अधिक स्वयं अपनी सेना की आवश्यकता थी, जो समुद्र में विचरनेवाले एथेंसवासियों के लिये शुरू में नौ-सेना ही हो सकती थी, जो कभी-कभी छोटी-मोटी लड़ाइयों के लिये, और व्यापारी जहाजों की रक्षा करने के काम आ सके। सोलन के पहले ही किसी अनिश्चित समय में छोटे-छोटे प्रादेशिक ज़िले बना दिये गये थे जो नौक्रेरी कहलाते थे। हर क़बीले के क्षेत्र में बारह नौक्रेरी थे और हर नौक्रेरी के लिये आवश्यक था कि वह एक जंगी जहाज़ बनाये, उसे साज़-सामान और नाविकों से लैस करे और इसके अलावा दो घुड़सवारों को भी तैनात करे। इस व्यवस्था से गोत्र-समाज पर दो तरफ़ से चोट होती थी : एक तो उससे एक ऐसी सार्वजनिक सत्ता पैदा हो गयी थी जो समूची सशस्त्र जनता से भिन्न थी ; दूसरे, वह जनता को सार्वजनिक कामों के लिये पहली बार रक्त-सम्बन्ध के अनुसार नहीं, बल्कि **प्रदेश के अनुसार, समान निवास-स्थान के आधार पर**, अलग-अलग बांटती थी। आगे हम देखेंगे कि इस चीज़ का क्या महत्त्व था।

शोषित जनता को चूंकि गोत्र-व्यवस्था से कोई सहायता नहीं मिल पाती थी, इसलिये वह केवल नये, उभरते हुए राज्य पर ही भरोसा कर सकती थी। और राज्य ने सोलन के विधान के रूप में उसकी सहायता की और साथ ही उसके द्वारा पुरानी व्यवस्था की क़ीमत पर अपने को और सुदृढ़ कर लिया। सोलन के विधान ने – हमारा यहां इस बात से कोई सम्बन्ध नहीं है कि यह विधान ५९४ ई० पू० में किस तरह से क़ायम किया गया – स्वामित्व के अधिकारों का अतिक्रमण

करके तथाकथित राजनीतिक क्रान्तियों के एक सिलसिले को शुरू कर दिया। अभी तक जितनी भी क्रान्तियां हुई हैं, उन सब का उद्देश्य एक तरह के स्वामित्व की दूसरे तरह के स्वामित्व से रक्षा करना था। एक प्रकार के स्वामित्व की रक्षा वे दूसरे प्रकार के स्वामित्व पर हमला किये बिना नहीं कर सकतीं। महान फ़्रांसीसी क्रान्ति में पूंजीवादी स्वामित्व को बचाने के लिये सामन्ती स्वामित्व की क़ुरबानी दी गयी। सोलन की क्रान्ति में क़र्ज़दारों के स्वामित्व के हित में महाजनों के स्वामित्व को नुक़सान उठाना पड़ा। क़र्ज़ सीधे-सीधे मंसूख़ कर दिये गये। विस्तृत जानकारी हमारे पास नहीं है, पर सोलन ने अपनी कविताओं में बड़े गर्व के साथ कहा है कि उसने ऋण-ग्रस्त खेतों से रेहन के खम्भे हटवा दिये हैं और उन सब लोगों को स्वदेश लौटने का अवसर दिया है जो क़र्ज़ के कारण घर छोड़कर भाग गये थे या जो विदेशों में बेच दिये गये थे। यह स्वामित्व के अधिकारों पर खुले चोट करके ही किया जा सकता था। सचमुच, आरम्भ से अंत तक सभी तथाकथित राजनीतिक क्रान्तियों का उद्देश्य यह था कि एक तरह के स्वामित्व की रक्षा करने के लिये दूसरी तरह के स्वामित्व को ज़ब्त करें, यूं भी कहा जा सकता है कि चुरा लें। इसलिये यह बिल्कुल सच है कि २,५०० वर्ष से स्वामित्व के अधिकारों को तोड़कर ही निजी स्वामित्व की रक्षा हो सकी है।

किन्तु अब इस बात की भी व्यवस्था करना आवश्यक था कि स्वतंत्र एथेंसवासियों को दोबारा ग़ुलाम न बनाया जा सके। सबसे पहले इसके लिये कुछ आम ढंग के क़दम उठाये गये। मिसाल के लिये ऐसे क़रारों पर रोक लगा दी गयी जिनमें ख़ुद क़र्ज़दार को रेहन कर दिया जाता था। इसके अलावा एक सीमा निश्चित कर दी गयी जिससे अधिक ज़मीन कोई व्यक्ति नहीं रख सकता था। इसका उद्देश्य यह था कि किसानों की ज़मीन को हड़पने की अभिजात वर्ग की लिप्सा पर कुछ हद तक रोक लगायी जा सके। इसके बाद संवैधानिक संशोधन किये गये जिनमें से निम्नलिखित हमारे लिये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं:

परिषद के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर चार सौ कर दी गयी जिनमें हर क़बीले से सौ सदस्य होते थे। अतएव क़बीला अभी भी आधार का काम दे रहा था। परन्तु पुराने विधान का यही एकमात्र पक्ष था जो नये राज्य-संविधान का अंग बनाया गया। इसको छोड़कर सोलन ने नागरिकों को चार वर्गों में बांट दिया था। इस विभाजन का आधार यह था कि किस नागरिक के पास कितनी ज़मीन है और उस ज़मीन की उपज कितनी है। पहले तीन वर्गों में वे लोग रखे गये थे जिनकी ज़मीन से क्रमशः कम से कम पांच सौ, तीन सौ और डेढ़ सौ मेडिम्नस

अनाज की उपज होती थी (१ मेडिम्नस क़रीब ४१ लिटर के बराबर होता है)। जिन लोगों के पास इससे भी कम ज़मीन थी, या बिल्कुल नहीं थी, उन्हें चौथे वर्ग में रखा गया था। सार्वजनिक पद केवल पहले तीन वर्गों के सदस्यों को ही मिल सकते थे। सबसे ऊंचे पद पहले वर्ग के लोगों को ही मिलते थे। चौथे वर्ग को केवल जन-सभा में बोलने और वोट देने का अधिकार प्राप्त था। परन्तु सारे पदाधिकारी जन-सभा में ही चुने जाते थे, उसी के सामने उन्हें अपने कामों के लिये जवाब देना पड़ता था और क़ानून भी यही सभा बनाती थी; इस सभा में चौथे वर्ग का बहुमत था। कुलीनता के विशेषाधिकारों को कुछ हद तक धन-दौलत के विशेषाधिकारों के रूप में पुनःस्थापित कर दिया गया था, परन्तु निर्णायक शक्ति जनता के हाथों में बनी रही। सेना के पुनःसंगठन का आधार भी इन्हीं चार वर्गों को बनाया गया। पहले दो वर्गों से घुड़सवार सेना में भर्ती की जाती थी, तीसरे वर्ग को बख़्तरबन्द पैदल सेना का काम करना पड़ता था, चौथे वर्ग के लोगों को या तो साधारण पैदल सेना का काम करना पड़ता था जो बख़्तरबंद नहीं होती थी, या उन्हें नौ-सेना में भर्ती होना पड़ता था और उन्हें शायद वेतन भी मिलता था।

इस प्रकार संविधान में एक नये तत्त्व का, निजी स्वामित्व का प्रवेश हो गया। नागरिकों के अधिकार और कर्त्तव्य ज़मीन की मिल्कियत के आकार के आधार पर निश्चित हुए और जैसे-जैसे मिल्की वर्गों का प्रभाव बढ़ता गया, वैसे-वैसे पुराने रक्त-सम्बद्ध समूह पृष्ठभूमि में पड़ते गये। गोत्र-व्यवस्था की एक और हार हुई।

लेकिन सम्पत्ति के अनुसार राजनीतिक अधिकारों का श्रेणीकरण राज्य के लिये कोई लाज़िमी नियम नहीं था। राज्यों के संवैधानिक इतिहास में उसका भले ही बहुत बड़ा महत्त्व मालूम पड़ता हो, परन्तु बहुत-से राज्य, और उनमें सबसे अधिक विकसित राज्य भी, इस श्रेणीकरण के बिना ही काम चलाते थे। एथेंस में भी उसकी केवल एक अल्पकालिक भूमिका रही। एरिस्तीदीज़ के समय से सारे सार्वजनिक पद सभी नागरिकों को मिलने लगे थे।

अगले अस्सी वर्षों में एथेनी समाज ने धीरे-धीरे वह मार्ग पकड़ा जिस पर चलते हुए उसने आगे कई शताब्दियों तक विकास किया। सोलन से पहलेवाले काल में सूदख़ोर जिस तरह ज़मीनें हड़प लिया करते थे, उस पर रोक लगायी गयी और उसके साथ-साथ कुछ लोगों के पास बहुत ज़्यादा ज़मीन का इकट्ठा होना रोका गया। व्यापार और दस्तकारी तथा कला-कौशल, जो दास-श्रम के

आधार पर अधिकाधिक बड़े पैमाने पर विकसित किये जा रहे थे, मुख्य पेशे बन गये। शिक्षा और ज्ञानोद्दीप्ति की प्रगति होने लगी। अपने नागरिक बन्धुओं का पुराने पाशविक ढंग से शोषण करने के बजाय, अब एथेंसवासी मुख्यतया दासों का और अपने ग़ैर-एथेनी संरक्षितों का शोषण करने लगे। चल सम्पत्ति, नक़दी, दासों और जहाजों के रूप में सम्पत्ति बराबर बढ़ती जाती थी। परन्तु पहले काल की अपनी सीमाओं में यदि यह केवल ज़मीन ख़रीदने का साधन थी, तो अब वह स्वयं साध्य बन गयी। एक ओर तो इससे नया वर्ग – धनी, औद्योगिक और व्यापारी वर्ग – अभिजात वर्ग की पुरानी शक्ति को सफलतापूर्वक चुनौती देने लगा; तो दूसरी ओर उससे पुरानी गोत्र-व्यवस्था का अन्तिम आधार भी जाता रहा। इस प्रकार पुराने गोत्र, बिरादरियां और क़बीले, जिनके सदस्य सारे ऐटिका में बिखरे हुए थे और आपस में एकदम घुल-मिल गये थे, राजनीतिक संस्थाओं के रूप में बिलकुल बेकार हो गये। एथेंस के बहुत-से नागरिक किसी भी गोत्र के सदस्य नहीं थे, वे विदेशों से आये लोग थे जो नागरिक तो बना लिये गये थे, पर रक्त-सम्बद्धता पर आधारित पुरानी संस्थाओं में प्रवेश नहीं कर पाये थे। इसके अतिरिक्त, विदेशों से आये ऐसे लोगों की संख्या भी बराबर बढ़ती रही थी जिन्हें केवल संरक्षण प्राप्त था।[28]

इस बीच पार्टियों का संघर्ष जारी था। अभिजात वर्ग अपने विशेषाधिकारों को फिर से पाने की कोशिश कर रहा था। कुछ समय के लिये उसका प्रभुत्व फिर से क़ायम हो भी गया। लेकिन ५०९ ई० पू० में क्लाइस्थीनीज़ की क्रान्ति के फलस्वरूप उसका अन्तिम रूप से पतन हुआ, और उसके साथ-साथ गोत्र-व्यवस्था के अन्तिम अवशेष भी मिट गये।

क्लाइस्थीनीज़ ने अपने नये संविधान में गोत्रों और बिरादरियों पर आधारित पुराने चार क़बीलों का कोई ख़याल नहीं रखा। उनकी जगह एक बिल्कुल नये संगठन ने ले ली, जिसमें नागरिकों को केवल उनके निवास-स्थान के आधार पर बांटा गया था, जैसा कि पहले ही नौक्रेरियों के द्वारा करने की कोशिश की गयी थी। अब निर्णायक बात यह नहीं थी कि कोई किसी रक्त-सम्बद्ध समूह का सदस्य है, बल्कि यह थी कि उसका निवास-स्थान क्या है। अब लोगों का नहीं, बल्कि इलाक़ों का विभाजन किया गया। राजनीतिक दृष्टि से अब लोग केवल उस इलाक़े के पुछल्ले बन गये जिसमें वे रहते थे।

पूरा एटिका एक सौ स्वशासित पुरों में बांट दिया गया। वे देम कहलाते थे। प्रत्येक देम के नागरिक (देमोत) अपना एक मुखिया (देमार्क), एक

कोषाध्यक्ष और छोटे-छोटे मामलों को तय करने का अधिकार रखनेवाले तीस न्यायाधीश चुनते थे। हर देम के नागरिकों का अपना अलग मन्दिर और रक्षक देवता या वीर-नायक होता था, जिसके पुजारियों को भी ये नागरिक चुनते थे। देम में सर्वोच्च सत्ता देमोतों की सभा के हाथ में होती थी। मौर्गन ने सही ही कहा है कि यह अमरीका की स्वशासित नगरपालिका का मूल रूप था। आधुनिक राज्य अपने उच्चतम विकास के फलस्वरूप उसी इकाई पर पहुंचता है, जहां से एथेंस में नवोदित राज्य ने ऊपर उठना आरम्भ किया था।

इन दस इकाइयों (देमों) को मिलाकर एक क़बीला बनता था, परन्तु यह क़बीला गोत्र-व्यवस्था पर आधारित पुराने क़बीले (Geschlechtsstamm) से बिल्कुल भिन्न था और स्थानिक क़बीला (ortsstamm) कहलाता था। स्थानिक क़बीला अपना शासन आप चलानेवाली एक राजनीतिक संस्था ही नहीं था, वह एक सैनिक संस्था भी था। वह एक फ़ीलार्क* या क़बीले का मुखिया चुनता था, जिसके हाथ में घुड़सवार सेना की कमान रहती थी, एक टैक्सियार्क चुनता था, जिसके हाथ में पैदल सेना की कमान रहती थी और एक स्ट्रैटिजस चुनता था, जिसकी कमान में क़बीले के इलाक़े में भर्ती की गयी पूरी सेना होती थी। इसके अलावा, हर क़बीला पांच जंगी जहाज़ और उनके लिए नौ-सैनिक तथा उनका नायक देता था। हर क़बीले को ऐटिका के एक वीर-नायक का संरक्षण प्रदान किया जाता था, जो क़बीले के अभिभावक देवता के तुल्य होता और जिसके नाम से क़बीला जाना जाता था। अंतिम बात यह है कि स्थानिक क़बीला एथेंस की परिषद के लिये ५० सदस्य चुनता था।

कुल मिलाकर जो चीज़ बनी, वह थी एथेंस का राज्य। इसका शासन दस क़बीलों द्वारा चुनी गयी पांच सौ सदस्यों की एक परिषद चलाती थी। अन्तिम अधिकार जन-सभा के हाथ में था जिसमें एथेंस का प्रत्येक नागरिक भाग ले सकता था और वोट दे सकता था। शासन के विभिन्न विभागों और न्यायालयों का काम आर्कोन तथा दूसरे अधिकारी संभालते थे। एथेंस में ऐसा कोई अधिकारी न था जिसके हाथों में सर्वोच्च कार्यकारी अधिकार सौंप दिया गया हो।

इस नये संविधान का निर्माण करके और बहुत-से आश्रितों को, जिनमें से कुछ बाहर से आये लोग थे और कुछ मुक्त हुए दास, नागरिक श्रेणी में प्रवेश

*प्राचीन यूनानी शब्द "फ़ीला" (क़बीला) से।—सं०

देकर गोत्र-व्यवस्था की संस्थाओं को सार्वजनिक जीवन से हटा दिया गया। वे निजी संस्थाएं और धार्मिक सोसाइटियां बनकर रह गयीं। परन्तु उनका नैतिक प्रभाव, प्राचीन गोत्र-व्यवस्था काल के परम्परागत विचार और धारणाएं बहुत दिनों तक जीवित रहीं और बहुत धीरे-धीरे मिटीं। राज्य की एक बाद की संस्था से यह बात स्पष्ट हो गयी।

हम यह देख चुके हैं कि राज्य का एक आवश्यक गुण यह है कि वह एक ऐसी सार्वजनिक सत्ता है जो आम जनता से अलग होती है। उस समय एथेंस में केवल एक मिलीशिया (जन-सेना) और एक नौ-सेना थी जिन्हें सीधे जनता ही तैयार करती थी। ये सेनाएं बाहरी दुश्मनों से देश की हिफ़ाजत करती थीं और दासों पर, जो इस समय तक आबादी की बहुसंख्या बन गये थे, अंकुश रखती थीं। नागरिकों के सम्बन्ध में यह सार्वजनिक सत्ता शुरू में केवल पुलिस के रूप में प्रकट हुई जो उतनी ही पुरानी चीज़ है जितना राज्य है। यही कारण है कि अठारहवीं सदी के भोले फ्रांसीसी लोग civilized राष्ट्रों की नहीं, बल्कि policed राष्ट्रों की चर्चा किया करते थे (nations policées)*। इस प्रकार अपना राज्य स्थापित करने के साथ-साथ एथेंसवासियों ने पुलिस की भी स्थापना कर डाली, जिसमें तीर-कमान से लैस पैदल और घुड़सवार दोनों तरह के सिपाही – दक्षिणी जर्मनी और स्विट्ज़रलैंड की भाषा में Landjäger – थे। पर ये सारे सिपाही दास थे। एथेंस के स्वतंत्र नागरिक पुलिस के काम को इतना घृणित समझते थे कि ख़ुद यह घृणित काम करने के बजाय वे सशस्त्र दास के हाथों गिरफ़्तार होना बेहतर समझते थे। यह पुरानी गोत्र-व्यवस्था की मनोवृत्ति का ही परिचायक था। बिना पुलिस के राज्य क़ायम नहीं रह सकता था, परन्तु राज्य अभी पैदा ही हुआ था और वह इतनी नैतिक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर पाया था कि पुलिस के काम को, जो पुराने गोत्र के सदस्यों को अवश्य ही घृणित लगता था, सम्मानित काम में बदल देता।

राज्य, जिसका ढांचा अब मोटे तौर पर तैयार हो गया था, एथेंसवासियों की नयी सामाजिक परिस्थिति के कितना उपयुक्त था, यह इस बात से ज़ाहिर है कि इसके बाद एथेंस में धन-दौलत, व्यापार और उद्योग की बड़ी तेजी से तरक़्क़ी हुई। अब जिस वर्ग-विरोध पर सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएं

* शब्दश्लेष : policé – सभ्य, police – पुलिस। – सं०

आधारित थीं, वह अभिजात वर्ग तथा साधारण जनता का विरोध नहीं था, बल्कि वह दासों और स्वतंत्र लोगों का, आश्रितों और स्वतंत्र नागरिकों का विरोध था। जब एथेंस समृद्धि के शिखर पर था, तब वहां स्वतंत्र नागरिकों की कुल संख्या, जिसमें स्त्रियां और बच्चे भी शामिल थे, क़रीब ६०,००० थी, जबकि दास स्त्री-पुरुषों की संख्या ३,६५,००० थी और आश्रितों की संख्या – जिनमें विदेशों से आये लोग और ऐसे मुक्त कर दिये गये दास भी थे – ४५,००० थी। इस प्रकार एक बालिग़ पुरुष नागरिक के पीछे कम से कम १८ दास और दो से अधिक आश्रित लोग थे। दासों की इतनी बड़ी संख्या होने का कारण यह था कि उनमें से बहुत-से लोगों को बड़े-बड़े कमरों वाली विनिर्माणशालाओं में ओवरसियरों की देखरेख में मिलकर काम करना पड़ता था। व्यापार और उद्योग के विकास के साथ-साथ चन्द आदमियों के हाथों में ही अधिकाधिक दौलत इकट्ठी होती गयी; आम स्वतंत्र नागरिक ग़रीबी के गढ़े में गिर गये और उनके सामने दो ही रास्ते रह गये: या तो दस्तकारी का काम शुरू करके दास श्रमिकों के साथ होड़ करें, जिसे नागरिकों की प्रतिष्ठा के ख़िलाफ़ और एक घृणित काम समझा जाता था और जिसमें सफलता प्राप्त करने की भी बहुत कम आशा थी, या पूरी तरह मुहताजी के शिकार हो जायें। उस समय जो परिस्थितियां थीं, उनमें मुहताज होनेवाली बात ही हुई, और चूंकि उनकी ही बहुसंख्या थी इसलिये इससे पूरे एथेंनी राज्य का ध्वंस हो गया। एथेंस का पतन लोकतंत्र के कारण नहीं हुआ, जैसा कि राजाओं के तलवे चाटनेवाले यूरोपीय स्कूलमास्टर हमें बताना चाहते हैं, उसका पतन दास-प्रथा के कारण हुआ था जिसने स्वतंत्र नागरिक के श्रम को तिरस्कार की बात बना दिया था।

एथेंसवासियों के बीच राज्य का जिस प्रकार उदय हुआ, वह आम तौर पर राज्य के निर्माण का एक ठेठ उदाहरण है। कारण कि एक तो वह अपने शुद्ध रूप में हुआ था और उसमें बाहरी या अन्दरूनी बल-प्रयोग ने बाधा नहीं डाली थी (पिसिस्त्रेतस द्वारा सत्तापहरण का काल बहुत जल्दी ख़तम हो गया था, और बाद में उसका कोई चिह्न न रह गया था), दूसरे, वह सीधे गोत्र-समाज से उत्पन्न राज्य के एक अतिविकसित रूप का, अर्थात् लोकतांत्रिक गणराज्य के विकास का उदाहरण है और अन्तिम बात यह कि इस राज्य के निर्माण के सम्बन्ध में सारी आवश्यक बातों की हमें पर्याप्त जानकारी है।

६

रोम में गोत्र और राज्य

रोम की स्थापना के विषय में जिस कथा की परम्परा है, उसके अनुसार वहां पहली बस्ती कतिपय लैटिन गोत्रों ने बसायी थी (कथा में उनकी संख्या सौ बतायी गयी है), जो एक क़बीले में संयुक्त थे। उसके बाद शीघ्र ही एक सैब्रीलियन क़बीला उससे आ मिला। उसमें भी सौ गोत्र थे। फिर एक तीसरा क़बीला भी, जिसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के तत्त्व शामिल थे, आकर उन लोगों के साथ रहने लगा। उसमें भी सौ गोत्र थे। इस पूरी कथा पर पहली नज़र डालते ही यह बात बिल्कुल साफ़ हो जाती है कि यहां गोत्र के सिवा शायद ही किसी चीज़ को प्राकृतिक उपज माना जा सकता है, और ख़ुद गोत्र भी प्रायः एक मातृ-गोत्र की शाखा होता था और यह मातृ-गोत्र अभी भी पुराने निवास-स्थान में मौजूद होता था। क़बीलों में उनके कृत्रिम रूप से गठित होने के चिह्न मौजूद थे, फिर भी अधिकतर उनमें ऐसे तत्त्व शामिल थे जो एक दूसरे के रक्त-सम्बन्धी होते थे और उन्हें पुराने दिनों के उन क़बीलों के नमूने पर गठित किया गया था, जिनको बनावटी ढंग से नहीं बनाया गया था, बल्कि जिनका स्वाभाविक विकास हुआ था। यह असम्भव नहीं है कि इन तीन क़बीलों में से हर एक के केन्द्र में कोई न कोई पुराना प्राकृतिक क़बीला रहा हो। क़बीले तथा गोत्र के बीच की कड़ी बिरादरी थी, जिसमें दस गोत्र होते थे और वह यहां क्यूरिया कहलाती थी। अतएव उनकी कुल संख्या तीस थी।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि रोमन गोत्र और यूनानियों का गोत्र, दोनों एक ही प्रकार की संस्था थे। यदि यूनानियों का गोत्र उसी सामाजिक इकाई का सिलसिला था, जिसका आदिम रूप हमें अमरीका के इंडियनों के यहां देखने को मिलता है, तो ज़ाहिर है कि रोमन गोत्र के बारे में भी यही बात सही है। इसलिये उसकी चर्चा हम अधिक संक्षेप में कर सकते हैं।

कम से कम नगर के अति-प्राचीन काल में रोमन गोत्र का निम्नलिखित संघटन था :

१. गोत्र के सदस्यों को एक दूसरे की सम्पत्ति विरासत में पाने का पारस्परिक अधिकार था। सम्पत्ति गोत्र के भीतर ही रहती थी। यूनानी गोत्र की तरह रोमन

गोत्र में भी चूंकि पितृ-सत्ता क़ायम हो चुकी थी, इसलिये मातृ-परम्परा के लोग इस अधिकार से अलग रखे जाते थे। बारह पट्टिकाओं वाले क़ानून[29] के अनुसार, जिससे अधिक पुराने रोम के किसी लिखित क़ानून को हम नहीं जानते, जायदाद पर सबसे पहले सन्तान का सीधे उत्तराधिकारियों के रूप में अधिकार होता था और उसके न होने पर सम्पत्ति एग्नेटों को (यानी **पितृ-परम्परा** के रक्त-सम्बन्धियों को) मिलती थी। एग्नेटों के न होने पर सम्पत्ति पर मृत व्यक्ति के गोत्र के सदस्यों का अधिकार होता था। हर हालत में सम्पत्ति गोत्र के भीतर ही रहती थी। यहां हम देखते हैं कि धन-दौलत के बढ़ जाने तथा एकनिष्ठ विवाह की प्रथा के प्रचलित हो जाने के कारण गोत्र-व्यवस्था के व्यवहार में धीरे-धीरे कुछ नये क़ानूनों और नियमों का प्रयोग होने लगा। पहले गोत्र के सभी सदस्यों का मृत व्यक्ति की सम्पत्ति पर समान अधिकार होता था। फिर व्यवहार में यह अधिकार एग्नेटों तक ही सीमित कर दिया गया। यह शायद बहुत समय पहले की बात है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। बाद में यह अधिकार मृत व्यक्ति की सन्तान तथा उनके पुरुष वंशजों तक ही सीमित रह गया। ज़ाहिर है कि बारह पट्टिकाओं में उत्तराधिकार की यह व्यवस्था विपरीत क्रम में दिखायी देती है।

२. हर एक गोत्र का अपना सामूहिक क़ब्रिस्तान होता था। जब क्लौदिया नामक कुलीन गोत्र रेगिली से रोम में बसने के लिये आया तो उसको शहर में ज़मीन का एक टुकड़ा और एक सामूहिक क़ब्रिस्तान मिला। औगस्तस के काल में भी जब ट्यूटोबुर्ग जंगल में वारस मारा गया तो उसके सिर को रोम में लाकर gentilitius tumulus* में दफ़नाया गया, जिसका मतलब यह है कि उसके गोत्र (क्विंक्टीलिया गोत्र) का उस काल में भी अपना अलग क़ब्रगाह था।

३. गोत्र के सदस्य मिल-जुलकर धार्मिक अनुष्ठान और समारोह करते थे। ये sacra gentilitia** काफ़ी विख्यात हैं।

४. गोत्र के सदस्य गोत्र के भीतर विवाह नहीं कर सकते थे। रोम में इस प्रतिबंध ने कभी लिखित क़ानून का तो रूप नहीं प्राप्त किया, पर एक प्रथा के रूप में प्रचलित था। रोम के असंख्य विवाहित जोड़ों के नामों में, जिन्हें आज हम जानते हैं, एक भी जोड़ा ऐसा नहीं है जिसमें पति और पत्नी दोनों के गोत्र नाम एक हों। विरासत के नियम से भी यही बात सिद्ध होती है। विवाह हो

---

*गोत्र की क़ब्रगाह। – सं०

**गोत्र के धार्मिक अनुष्ठान। – सं०

जाने पर स्त्री एग्नेटों के अधिकार से वंचित हो जाती थी, अपने गोत्र से अलग हो जाती थी और उसका या उसके बच्चों का उसके पिता अथवा पिता के भाइयों की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं रहता था। कारण कि यदि ऐसी व्यवस्था न होती तो उसके पिता के गोत्र की सम्पत्ति गोत्र के बाहर चली जाती। ज़ाहिर है कि इस नियम में केवल उसी हालत में कोई तुक हो सकती है जब हम यह मानकर चलें कि स्त्री को स्वयं अपने गोत्र के किसी सदस्य से विवाह करने की इजाज़त नहीं थी।

५. गोत्र का ज़मीन पर सम्मिलित स्वामित्व होता था। आदिम काल में, जब तक क़बीले की ज़मीनों का विभाजन शुरू नहीं हुआ था, सदा यही नियम था। लैटिन क़बीलों में हम पाते हैं कि ज़मीन पर कुछ हद तक क़बीले का स्वामित्व था, कुछ हद तक गोत्र का और कुछ हद तक अलग-अलग कुटुम्बों का, जो ज़ाहिर है कि उस समय एकाकी परिवार मात्र नहीं हो सकते थे। कहा जाता है कि सबसे पहले रोमुलस ने अलग-अलग व्यक्तियों में क़रीब एक-एक हेक्टर (दो जुगेर) फ़ी आदमी के हिसाब से ज़मीन बांटी थी। लेकिन इसके बाद भी हम पाते हैं कि कुछ ज़मीन गोत्र के पास रही। राजकीय भूमि की बात तो अलग ही है जिसको लेकर रोमन गणराज्य का सारा अन्दरूनी इतिहास बनता-बिगड़ता रहा।

६. गोत्रों के सदस्यों का कर्त्तव्य होता था कि वे एक दूसरे की सहायता और रक्षा करें। लिखित इतिहास में इस नियम के कुछ इने-गिने अवशेष ही मिलते हैं। रोमन राज्य ने शुरू से ही इतनी प्रचंड शक्ति का परिचय दिया था कि क्षतिपूर्त्ति की ज़िम्मेदारी उसके कंधों पर आ गयी। जब एप्पियस क्लौदियस गिरफ़्तार किया गया तब उसके पूरे गोत्र ने, यहां तक कि उसके व्यक्तिगत शत्रुओं ने भी, शोक मनाया था। दूसरे प्युनिक युद्ध[30] के समय विभिन्न गोत्र अपने बन्दी बना लिये गये सदस्यों को रिहा कराने के वास्ते धन जमा करते थे; लेकिन सीनेट ने ऐसा करने की **मनाही कर दी थी।**

७. गोत्र के सदस्यों को गोत्र नाम का प्रयोग करने का अधिकार था। यह नियम सम्राटों के काल तक लागू रहा। जो दास मुक्त कर दिया जाता था उसको पहले के अपने मालिकों के गोत्र का नाम धारण करने की अनुमति दे दी जाती थी पर उसे गोत्र के सदस्य के अधिकार नहीं मिलते थे।

८. गोत्र को अधिकार होता था कि अजनबियों को अपना सदस्य बना ले। यह उन्हें किसी परिवार का सदस्य बनाकर किया जाता था (अमरीकी इंडियनों

में भी यही प्रथा थी)। परिवार का सदस्य बन जाने पर उन्हें गोत्र की सदस्यता भी मिल जाती थी।

६. मुखियाओं को चुनने और पद से हटाने के अधिकार का कहीं ज़िक्र नहीं मिलता। परन्तु रोम के प्रारम्भिक काल में चूंकि निर्वाचित राजा से लेकर नीचे तक के सभी पदों को चुनाव अथवा नामज़दगी के द्वारा भरा जाता था, और चूंकि विभिन्न क्यूरियायें अपने पुरोहितों को भी ख़ुद चुनती थीं, इसलिये हमारे लिये यह मान लेना उचित होगा कि गोत्रों के मुखियाओं (principes) को भी इसी तरह चुना जाता रहा होगा—भले ही उन्हें एक ही परिवार से चुनने का नियम पूरी तरह क्यों न माना जाता रहा हो।

ऐसे थे रोमन गोत्र के अधिकार और कर्त्तव्य। एक पितृ-सत्ता में पूर्ण संक्रमण को छोड़कर यह हू-ब-हू वही चित्र है जो इरोक्वा गोत्र के अधिकारों और कर्त्तव्यों के बारे में हमें मिला था। यहां भी "इरोक्वा साफ़ दिखायी पड़ता है"।

सबसे अधिक जाने माने इतिहासकारों में भी रोम की गोत्र-व्यवस्था को लेकर आज तक कैसा भ्रम फैला हुआ है, इसका उदाहरण देखिये। गणतांत्रिक तथा औगस्तस के युग में रोमन व्यक्तिसूचक नामों के विषय में मोम्मसेन ने जो प्रबंध लिखा है ('रोम-सम्बन्धी अनुसंधान', बर्लिन, १८६४, खंड १) उसमें उन्होंने कहा है—

"गोत्र के नाम का न केवल गोत्र के सभी पुरुष सदस्य प्रयोग करते हैं, जिनमें गोत्र द्वारा अंगीकृत और संरक्षित लोग भी शामिल हैं, बल्कि स्त्रियां भी उसका प्रयोग करती हैं। हां, केवल दासों को गोत्रों के नाम का इस्तेमाल करने का हक़ नहीं होता... क़बीला" (मोम्मसेन ने यहां gens का अनुवाद stamm—क़बीला—किया है) "... एक ऐसा जन-समुदाय होता है जिसके सदस्यों को एक ही पूर्वज—वास्तविक, ग्रहीत अथवा कल्पित—का वंशज समझा जाता है और उसे समान रीति-रिवाज, समान क़ब्रिस्तान और बिरासत के समान नियम एकता के सूत्र में बांधे रहते हैं। व्यक्तिगत रूप से स्वतंत्र सभी व्यक्तियों के लिए, और इसलिये स्त्रियों के लिए भी, इसके सदस्यों के रूप में अपना नाम दर्ज कराना सम्भव था। परन्तु किसी विवाहिता स्त्री का गोत्र का नाम निश्चित करने में थोड़ी कठिनाई होती है। ज़ाहिर है कि जब तक यह नियम था कि स्त्रियां अपने गोत्र के सदस्यों के सिवा और किसी से विवाह नहीं कर सकतीं, तब तक उनका गोत्र का नाम निश्चित करने में कोई कठिनाई नहीं होती थी, और यह बात भी स्पष्ट है कि एक लम्बे समय तक स्त्रियों के लिये गोत्र के बाहर विवाह करना अपने गोत्र के भीतर विवाह करने के मुक़ाबले बहुत कठिन होता था। छठी शताब्दी

तक भी यह gentis enuptio – गोत्र के बाहर विवाह करने का अधिकार – कुछ ख़ास-ख़ास व्यक्तियों को व्यक्तिगत विशेषाधिकार एवं पुरस्कार के रूप में दिया जाता था... परन्तु आदिम काल में जब कभी स्त्रियों का ऐसा विवाह होता होगा, तब उन्हें अपने पति के क़बीले में शामिल कर दिया जाता होगा। इससे अधिक निश्चय के साथ और कोई बात नहीं कही जा सकती कि पुराने धार्मिक विवाह के द्वारा स्त्री पूरी तरह से अपने पति के क़ानूनी एवं धार्मिक समुदाय की सदस्या हो जाती थी और स्वयं अपने समुदाय को छोड़ देती थी। यह कौन नहीं जानता कि विवाहिता स्त्री अपने गोत्र के सम्बन्धियों की सम्पत्ति पाने और उन्हें अपनी सम्पत्ति देने का अधिकार खो देती है, और वह अपने पति, अपनी सन्तान और पति के गोत्र के सदस्यों के उत्तराधिकार समूह में शामिल हो जाती है? और यदि स्त्री का पति उसे अपनी सन्तान के रूप में स्वीकार कर लेता है और उसे अपने परिवार में शामिल कर लेता है, तब वह उसके गोत्र से कैसे बाहर रह सकती है?" (पृ० ८–११)।

इस प्रकार मोम्मसेन का कहना है कि रोमन स्त्रियों को शुरू में केवल अपने **गोत्र के भीतर** ही विवाह करने की स्वतन्त्रता थी; अतः उनके कथनानुसार रोमन गोत्र अन्तर्विवाही था, बहिर्विवाही नहीं। यह मत, जोकि दूसरे तमाम लोगों के अनुभव के ख़िलाफ़ जाता है, प्रधानतया लिवी के केवल एक विवादास्पद अंश पर आधारित है। लिवी की पुस्तक (खंड ३९, अध्याय १९) के इस अंश में कहा गया है कि रोम नगर की स्थापना के ५६८ वें वर्ष में, यानी १८६ ई० पू० में सीनेट ने यह आदेश जारी किया था –

«uti Feceniae Hispalae datio, deminutio, gentis enuptio, tutoris optio item esset quasi ei vir testamento dedisset; utique ei ingenuo nubere liceret, neu quid ei qui eam duxisset, ob id fraudi ignominiaeve esset»– "फ़ेसेनिया हिस्पल्ला को अपनी सम्पत्ति को चाहे जिसे दे देने का, उसे कम करने का, गोत्र के बाहर विवाह करने का और एक अभिभावक चुनने का, उसी प्रकार अधिकार होगा, जिस प्रकार उस हालत में होता यदि उसका" (मृत) "पति वसीयत के द्वारा उसे यह अधिकार दे गया होता; उसे किसी स्वतंत्र नागरिक के साथ विवाह कर लेने की इजाज़त दी जाती है और जो पुरुष उसके साथ विवाह करेगा, उसके लिये यह दुराचरण या बेइज़्ज़ती की बात नहीं समझी जायेगी।"

निस्सन्देह यहां फ़ेसेनिया को, जोकि मुक्त हुई दासी है, गोत्र के बाहर विवाह करने की इजाज़त दी गयी है। और इसमें भी कोई शक नहीं कि इस अंश के

अनुसार पति को यह हक़ था कि वह वसीयत के द्वारा अपनी मृत्यु के बाद अपनी पत्नी को गोत्र के बाहर विवाह करने की इजाज़त दे। परन्तु, प्रश्न है **किस** गोत्र के बाहर?

यदि हर स्त्री को अपने गोत्र के भीतर विवाह करना पड़ता था, जैसा कि मोम्मसेन मानकर चलते हैं, तो वह विवाह के बाद भी उसी गोत्र में रहती थी। परन्तु, एक तो अभी यही सिद्ध करना बाक़ी है कि गोत्र में अन्तर्विवाह की प्रथा थी। दूसरे, यदि स्त्री को अपने गोत्र के भीतर विवाह करना पड़ता था, तो पुरुष के लिये भी यही आवश्यक था, वरना उसे पत्नी प्राप्त नहीं हो सकती थी। तब इसका मतलब यह होता है कि वसीयत के द्वारा पुरुष अपनी पत्नी को एक ऐसा अधिकार दे सकता था जिसका उपभोग स्वयं उसे भी उपलब्ध नहीं था। क़ानूनी नज़र से यह एक बिल्कुल बेसिर-पैर की बात है। मोम्मसेन भी यह महसूस करते हैं और इसलिये यह अटकल लगाते हैं—

"बहुत सम्भव है कि गोत्र के बाहर विवाह करने के लिये न केवल अधिकृत व्यक्ति की, बल्कि गोत्र के सभी सदस्यों की अनुमति लेना आवश्यक था" (पृ० १०, टिप्पणी)।

एक तो मोम्मसेन ने यहां एक बहुत ही स्थूल कल्पना की है। दूसरे, यह अनुमान उपरोक्त उद्धरण के स्पष्ट शब्दों के ख़िलाफ़ जाता है। फ़ेसेनिया को यह अधिकार उसके **पति के स्थान पर** सीनेट दे रही है। फ़ेसेनिया का पति उसे जो अधिकार दे सकता था, सीनेट उसे उससे न तो कम दे रही है और न ज़्यादा। परन्तु सीनेट जो कुछ दे रही है, वह एक **निरपेक्ष** अधिकार है जिस पर किसी तरह का बंधन या शर्त नहीं है, जिससे कि यदि फ़ेसेनिया इस अधिकार का उपयोग करती है तो उसके नये पति को कोई परेशानी न उठानी पड़े। बल्कि सीनेट वर्तमान और भावी कोंसुलों और प्रीटरों को यह आदेश भी देती है कि वे इस बात का ध्यान रखें कि इस अधिकार का उपयोग करने के कारण फ़ेसेनिया को कोई असुविधा न हो। इसलिए मोम्मसेन जो बात मानकर चले हैं, उसे कदापि अंगीकार नहीं किया जा सकता।

फिर, मान लीजिये कि कोई औरत किसी दूसरे गोत्र के सदस्य से विवाह कर लेती है, पर इसके बाद भी अपने गोत्र की ही सदस्या बनी रहती है। उपरोक्त उद्धरण के अनुसार ऐसी सूरत में उसके पति को यह अधिकार होगा

कि वह अपनी पत्नी को उसके गोत्र के बाहर विवाह करने की इजाज़त दे दे। मतलब यह कि पति को एक ऐसे गोत्र के मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार होगा जिसका कि वह ख़ुद सदस्य नहीं है। यह बात इतनी अतर्कसंगत है कि उसके बारे में और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

ऐसी हालत में हमारे सामने यह मानकर चलने के सिवा और कोई चारा नहीं रहता कि अपने पहले विवाह के द्वारा स्त्री ने एक अन्य गोत्र के पुरुष से विवाह किया था और ऐसा करके वह तुरन्त अपने पति के गोत्र की सदस्या हो गयी थी। ख़ुद मोम्मसेन भी मानते हैं कि ऐसी सूरत में यही होता था। और यह मानते ही पहेली अपने आप सुलझ जाती है। विवाह द्वारा अपने पुराने गोत्र से विच्छिन्न और अपने पति के गोत्र में अंगीकृत इस स्त्री की नये गोत्र में एक विशेष स्थिति है। वह गोत्र की सदस्या तो है, पर गोत्र के बाक़ी लोगों की रक्त-सम्बन्धी नहीं है। जिस रूप में वह गोत्र में अंगीकृत हुई, उसका ध्यान रखते हुए उस पर यह रोक नहीं लगायी जा सकती कि वह अपने इस नये गोत्र के भीतर विवाह न करे जिसमें उसने विवाह करके ही प्रवेश किया है। इसके अलावा वह गोत्र के विवाह-समूह में अंगीकृत की गयी है और अपने पति की मृत्यु पर उसकी, अर्थात् गोत्र के एक सदस्य की सम्पत्ति का एक भाग पाने की अधिकारिणी होती है। इससे अधिक स्वाभाविक और क्या व्यवस्था हो सकती है कि सम्पत्ति को गोत्र के बाहर न जाने देने के वास्ते स्त्री के लिये यह आवश्यक बना दिया जाये कि वह अपने पहले पति के गोत्र के ही किसी सदस्य से विवाह करे, और किसी अन्य गोत्र के सदस्य से नहीं? परन्तु यदि इस नियम के अपवादस्वरूप कोई व्यवस्था करनी है तो इसकी इजाज़त देने का हक़ उस आदमी से, यानी स्त्री के पहले पति से, अधिक और किसको होगा जो अपनी सम्पत्ति उसके लिये छोड़ गया है? जिस समय वह अपनी सम्पत्ति का एक भाग अपनी पत्नी के नाम वसीयत करता है और साथ ही उसे इस बात की इजाज़त दे डालता है कि वह चाहे तो विवाह के द्वारा, या विवाह के परिणामस्वरूप, यह सम्पत्ति किसी और गोत्र को हस्तांतरित कर दे, उस समय वही इस सम्पत्ति का मालिक था; यानी, वह अक्षरशः केवल अपनी सम्पत्ति का ही निपटारा कर रहा था। जहां तक स्त्री और पति के गोत्र के साथ उसके सम्बन्ध का मामला है, उसे गोत्र में – स्वेच्छापूर्वक विवाह करके – लानेवाला उसका पति ही था। अतएव, यह बात भी बिल्कुल स्वाभाविक मालूम पड़ती है कि स्त्री को एक नया विवाह करके इस गोत्र को छोड़ देने की इजाज़त देनेवाला उचित व्यक्ति उसका पति ही हो सकता है। सारांश

यह कि ज्यों ही हम रोमन गोत्र के अन्तर्विवाही होने की अजीब धारणा त्याग देते हैं, और ज्यों ही हम मौर्गन की तरह उसे मूलतः बहिर्विवाही मान लेते हैं, त्यों ही यह सारा मामला बहुत सीधा और साफ़ मालूम पड़ने लगता है।

अन्त में एक और भी मत है, जिसके अनुयायियों की संख्या शायद सबसे अधिक है। इस मत के माननेवालों का कहना है कि उद्धरण का अर्थ केवल यह है

> "कि मुक्त की हुई दासियां (libertae) बिना विशेष इजाज़त के e gente enubere" (गोत्र के बाहर विवाह) "नहीं कर सकतीं और न कोई ऐसा क़दम उठा सकती हैं, जिसका सम्बन्ध capitis deminutio minima* से हो और जिसके परिणामस्वरूप liberta गोत्र से अलग हो जाये।" (लांगे, 'रोमन पुरावशेष', बर्लिन, १८५६, खंड १, पृ० १९५; जहां हुशके का ज़िक्र करते हुए लिवी के उपरोक्त उद्धरण पर टिप्पणी की गयी है।)

यदि यह धारणा सही है तो लिवी के उद्धरण से रोम की स्वतंत्र स्त्रियों की स्थिति के बारे में और भी कम प्रमाण मिलता है, और तब यह कहने का और भी कम आधार रह जाता है कि रोम की स्वतंत्र स्त्रियां केवल अपने गोत्र के भीतर विवाह करने के लिये बाध्य थीं।

Enuptio gentis शब्दों का इसी एक अंश में प्रयोग हुआ है। रोम के सम्पूर्ण साहित्य में और कहीं ये शब्द नहीं मिलते। Enubere शब्द, जिसका अर्थ बाहर विवाह करना होता है, लिवी की रचना में ही केवल तीन जगहों पर मिलता है, पर कहीं भी उसका प्रयोग गोत्र के संदर्भ में नहीं किया गया है। अतः इस एक उद्धरण के आधार पर ही अजीबोग़रीब ख़याल पैदा हुआ कि रोम की स्त्रियों को केवल अपने गोत्र के भीतर विवाह करने की इजाज़त थी। परन्तु यह बात बिल्कुल निराधार है। वास्तव में इस उद्धरण में या तो मुक्त कर दी गयी दास स्त्रियों पर लगाये गये विशेष प्रतिबंधों का ज़िक्र है, और ऐसी हालत में इससे जन्मना स्वतंत्र स्त्रियों (ingenuae) के बारे में कुछ साबित नहीं होता, और या यह उद्धरण जन्मना स्वतंत्र स्त्रियों से भी सम्बन्धित है और इस सूरत में इससे यही साबित होता है कि स्त्रियां सामान्यतः गोत्र के बाहर विवाह करती थीं और विवाह होने पर वे अपने पतियों के गोत्रों में सम्मिलित हो जाती थीं। इसलिये

---

*पारिवारिक अधिकारों की रंचमात्र हानि। – सं०

यह उद्धरण मोम्मसेन के मत के विरुद्ध जाता है और मौर्गन के मत को पुष्ट करता है।

रोम की स्थापना के लगभग तीन सौ वर्ष बाद भी गोत्र के बंधन इतने मज़बूत थे कि फ़ेबियन नामक एक कुलीन गोत्र सीनेट से आज्ञा लेकर पड़ोस के वीई नामक नगर पर अकेले ही चढ़ाई कर सका था। कहा जाता है कि तीन सौ छः फ़ेबियन चढ़ाई करने निकले थे और रास्ते में घात लगाये हुए दुश्मन के हाथों मारे गये। केवल एक लड़का ज़िन्दा बचा, जिससे गोत्र की वंश-परंपरा चली।

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, दस गोत्रों को मिलाकर एक बिरादरी बनती थी, जो रोम में क्यूरिया कहलाती थी और उसे यूनानी बिरादरी से अधिक महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक ज़िम्मेदारियां मिली हुई थीं। हर एक क्यूरिया के अलग धार्मिक रीति-रिवाज, पवित्र स्मृति-चिह्न और पुरोहित होते थे। पुरोहितों को सामूहिक रूप में रोम का पुरोहित मंडल कहा जाता था। दस क्यूरियाओं से एक क़बीला बनता था जो शुरू में, अन्य लैटिन क़बीलों की ही तरह, शायद ख़ुद अपना मुखिया – सेनानायक तथा मुख्य पुरोहित – चुना करता था। तीन क़बीले मिलकर रोमन जनता – populus Romanus – कहलाते थे।

इस प्रकार रोमन जनता में केवल वे लोग ही शामिल हो सकते थे जो किसी गोत्र के, और इसलिये किसी क्यूरिया और क़बीले के सदस्य थे। इस जनता का पहला विधान निम्नलिखित था। सार्वजनिक मामलों का संचालन सीनेट के हाथों में था। सीनेट के सदस्य, जैसा कि पहले पहल निबूहर ने सही-सही बताया था, तीन सौ गोत्रों के मुखिया होते थे। गोत्रों के बुज़ुर्ग होने के नाते वे पिता, patres, कहलाते थे, और सामूहिक रूप से – सीनेट (जिसका अर्थ है वयोवृद्ध लोगों की परिषद, क्योंकि senex शब्द का मतलब है वयोवृद्ध)। यहां भी चूंकि हर गोत्र के मुखिया को आम तौर पर एक ख़ास परिवार में से चुनने की प्रथा थी, इसलिये इन परिवारों के रूप में पहला वंशगत अभिजात वर्ग पैदा हो गया। ये परिवार अपने को पैट्रीशियन, अर्थात् कुलीन परिवार कहते थे और सीनेट का सदस्य होने तथा अन्य विभिन्न पदों पर नियुक्त किये जाने के अधिकार पर दावा करते थे। यह बात कि कुछ समय बाद जनता ने इस दावे को स्वीकार कर लिया और वह एक वास्तविक अधिकार बन गया, इस पौराणिक कथा में कही गई है कि प्रथम सीनेटरों तथा उनके वंशजों को रोमुलस ने पेट्रीशियन पद प्रदान किये थे और इस पद के विशेषाधिकार भी। एथेंस की bulê की भांति,

रोमन सीनेट को भी बहुत-से मामलों में फ़ैसला देने का अधिकार था और अधिक महत्त्वपूर्ण मामलों में, विशेषतः नये क़ानूनों को बनाने के बारे में, प्रारम्भिक बहस सीनेट में होती थी और निर्णय जन-सभा में किया जाता था, जो comitia curiata (क्यूरियाओं की सभा) कहलाती थी। सभा में हर क्यूरिया के सदस्य एकसाथ बैठते थे और क्यूरियाओं में शायद हर गोत्र के सदस्य भी एकसाथ बैठते थे। सवालों पर फ़ैसला करते समय तीसों क्यूरियाओं में से हर एक का एक वोट होता था। क्यूरियाओं की यह सभा क़ानून बनाती थी या रद्द करती थी, rex (तथाकथित राजा) समेत सभी ऊंचे पदाधिकारियों को चुनती थी, युद्ध की घोषणा करती थी (परन्तु सुलह सीनेट करती थी), और जिन मामलों में रोमन नागरिकों को मृत्युदंड मिला होता था, उन सभी की अपील सर्वोच्च न्यायालय के रूप में सुनती थी। अन्त में सीनेट तथा जन-सभा के साथ-साथ **रेक्स** होता था, जिसे ठीक यूनानी बैसिलियस के समान समझना चाहिए, और जो उस तरह का निरंकुश राजा कदापि नहीं था, जैसा कि मोम्मसेन ने उसे बना दिया है।* वह सेनानायक का, मुख्य पुरोहित का और कुछ न्यायालयों में अध्यक्ष का पद भी रखता था। वह कोई दीवानी काम नहीं करता था। सेनानायक के रूप में अनुशासन क़ायम रखने तथा न्यायालय के अध्यक्ष के नाते उसके दंडादेशों को क्रियान्वित करने के अधिकार के सिवा उसका नागरिकों के जीवन पर, उनकी स्वतंत्रता पर और उनकी सम्पत्ति पर कोई अधिकार न था। **रेक्स** का पद वंशगत नहीं था। इसके विपरीत, उसका चुनाव हुआ करता था। शायद पिछला रेक्स उसे नामज़द करता था और क्यूरियाओं की सभा उसका चुनाव करती थी तथा

---

*लैटिन भाषा का rex शब्द कैल्टिक-आयरिश भाषा के righ (क़बीले का मुखिया) और गौथिक भाषा के reiks का पर्याय है। जर्मन भाषा के Fürst (अंग्रेज़ी भाषा में first और डेनिश भाषा में förste) की तरह, इस शब्द का भी शुरू में अर्थ था गोत्र या क़बीले का मुखिया। इसका एक सबूत यह है कि चौथी शताब्दी तक गौथ लोगों के पास बाद के ज़माने के राजा के लिये, पूरी जनता के सैनिक मुखिया के लिये, एक विशेष शब्द था – thiudans। बाइबिल के उलफ़िला के अनुवाद में अर्दाशीर और हेरोड को कभी reiks नहीं कहा गया है, बल्कि thiudans के नाम से पुकारा गया है और सम्राट टाइबीरियस के साम्राज्य को reiki नहीं, बल्कि thiudinassus कहा गया है। गौथिक "थियुडान्स", या, जैसा कि हम प्रायः ग़लत ढंग से उसका अनुवाद करते हैं, राजा थियुडैराइक्स, थियोडोरिक, अर्थात् डाईट्रिख़ – में ये दोनों शब्द मिलकर साथ-साथ चलते हैं।

एक दूसरी सभा बुलाकर उसका विधिपूर्वक अभिषेक किया जाता था। उसे गद्दी से हटाया भी जा सकता था, यह टारक्वीनियस सुपर्बस की नियति से सिद्ध हो जाता है।

वीर-काल के यूनानियों की तरह तथाकथित राजाओं के काल के रोमन लोग भी गोत्रों, बिरादरियों तथा क़बीलों पर आधारित और उनसे उत्पन्न एक सैनिक लोकतंत्र में रहते थे। यद्यपि यह सच है कि कुछ हद तक इन क्यूरियाओं और क़बीलों का गठन बनावटी ढंग से हुआ था, परन्तु साथ ही उन्हें उस समाज के सच्चे और प्राकृतिक नमूने पर बनाया गया था जिसमें ये क्यूरिया और क़बीले पैदा हुए थे और जो समाज अभी भी उनके चारों ओर मौजूद था। हालांकि उस समय तक पैट्रीशियन कुलीनों का, जोकि स्वाभाविक रूप से विकसित हुए थे, काफ़ी ज़ोर हो गया था, और हालांकि रेक्स लोग धीरे-धीरे अपने अधिकारों का दायरा बढ़ाने की कोशिश कर रहे थे, फिर भी इससे विधान का प्रारम्भिक तथा बुनियादी स्वरूप नहीं बदलता, और मुख्य बात यही है।

इस बीच रोम नगर तथा रोमन इलाक़े की आबादी काफ़ी बढ़ गयी थी, एक तो आप्रवास के कारण और दूसरे इस कारण कि विजय के फलस्वरूप यह इलाक़ा बढ़ गया था और उसमें विजित ज़िलों के, मुख्यतया लैटिन ज़िले के रहनेवाले भी शामिल हो गये थे। यह सारी नयी प्रजा (आश्रितों को हम अभी छोड़ देते हैं) पुराने गोत्रों, क्यूरियाओं और क़बीलों के बाहर थी और इसलिये populus Romanus – असली रोमन जनता – का भाग नहीं थी। ये लोग व्यक्तिगत रूप से स्वतंत्र थे; वे ज़मीन के मालिक हो सकते थे और कर देने के लिये तथा सैनिक सेवा प्रदान करने के लिये बाध्य थे। परन्तु वे लोग किसी पद के अधिकारी नहीं हो सकते थे, न वे क्यूरियाओं की सभा में भाग ले सकते थे और न ही जीती हुई राजकीय ज़मीन के बंटवारे में हिस्सा ले सकते थे। ये प्लेबियन – निम्न जन – थे जिनको कोई राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। चूंकि उनकी संख्या लगातार बढ़ती जाती थी, उनको सैनिक शिक्षा मिलती थी और उनके पास हथियार भी थे, इसलिये वे उस पुराने populus के मुक़ाबले एक ख़तरनाक शक्ति बन गये, जिसने अब अपनी पांतों को ऐसा समेट लिया था कि कोई बाहर के लोग उनमें घुस नहीं सकते थे। इसके अलावा मालूम पड़ता है कि populus तथा प्लेबियनों के बीच ज़मीन का काफ़ी समान बंटवारा हुआ था, जबकि व्यापारिक और औद्योगिक दौलत, जो अभी अधिक नहीं थी, मुख्यतया प्लेबियनों के पास थी।

रोम के इतिहास के पुराणोक्त आरम्भ के घने अंधकार से आवृत्त होने के कारण – उन क़ानूनी शिक्षा पाये हुए लेखकों के व्याख्या करने के बुद्धिवादी-व्यवहारवादी प्रयासों और वर्णनों ने इस अंधकार को और भी घना कर दिया है, जिनकी कृतियां हमारी स्रोत-सामग्री का काम देती हैं – निश्चित रूप से यह बताना असम्भव है कि पुरानी गोत्र-व्यवस्था को जिस क्रान्ति ने नष्ट किया, वह कब, क्यों और कैसे हुई थी। इस सम्बन्ध में हम निश्चय के साथ केवल एक बात कह सकते हैं और वह यह कि इस क्रांति की जड़ में प्लेबियनों और populus का संघर्ष था।

नये विधान ने, जिसका निर्माता रेक्स सर्वियस टुल्लियस बताया जाता है और जो यूनानी नमूने के, विशेषकर सोलन के नमूने पर आधारित था, एक नयी जन-सभा की स्थापना की, जिसमें भाग लेने या न लेने का अधिकार populus और प्लेबियनों दोनों को बिना किसी भेदभाव के इस आधार पर होता था कि वे सैनिक सेवा प्रदान करते थे या नहीं। आबादी के तमाम पुरुषों को, जो सैनिक सेवा प्रदान करने के लिये बाध्य थे, दौलत के आधार पर छः वर्गों में बांट दिया गया था। पहले पांच वर्गों के लिये न्यूनतम साम्पत्तिक अर्हताएं यह थीं: पहला वर्ग – एक लाख एस्से; दूसरा वर्ग – ७५ हज़ार एस्से; तीसरा वर्ग – ५० हज़ार एस्से; चौथा वर्ग – २५ हज़ार एस्से; पांचवां वर्ग – ११ हज़ार एस्से। द्यूरो दे ला माल के अनुसार ये क्रमशः लगभग १४,०००; १०,५००; ७,०००; ३,६०० और १,५७० मार्क के बराबर होते थे। छठा वर्ग सर्वहारा का था जिनके पास इससे भी कम सम्पत्ति थी और जिन्हें करों तथा सैन्य-सेवा से छूट मिली हुई थी। नयी जन-सभा में, जिसे सेंटुरियाओं की सभा (comitia centuriata) कहते थे, नागरिक लोग सैनिकों की तरह सौ-सौ की टुकड़ियों (सेंटुरियाओं) में भाग लेते थे और हर सेंटुरिया का एक वोट होता था। पहला वर्ग ८० सेंटुरियाएं भेजता था, दूसरा वर्ग २२, तीसरा वर्ग २०, चौथा वर्ग २२, पांचवां वर्ग ३०, और छठा वर्ग भी औचित्य के ख़याल से १ सेंटुरिया भेजता था। इनके अलावा घुड़सवारों की १८ सेंटुरियाएं होती थीं, जिनमें सबसे अधिक धनी लोग लिये जाते थे। कुल मिलाकर १९३ सेंटुरियाएं होती थीं। बहुमत प्राप्त करने के लिये ९७ वोट काफ़ी थे। मगर केवल घुड़सवारों और पहले वर्ग को ही मिलाकर ९८ वोट हो जाते थे और इस प्रकार नयी जन-सभा में उनका बहुमत था। जब उनमें मतभेद नहीं होता था, तब दूसरे वर्गों की राय पूछी तक नहीं जाती थी और वे ख़ुद फ़ैसला कर डालते थे जो वैध माना जाता था।

अब पुरानी क्यूरियाओं की सभा के सभी राजनीतिक अधिकार (कुछ नाममात्र के अधिकारों को छोड़कर) सेंटुरियाओं की इस नयी सभा को मिल गये। और तब, जैसा एथेंस में हुआ था, क्यूरियाओं और उनके अंग, गोत्रों की हैसियत गिरकर महज़ लोगों की निजी तथा धार्मिक संस्थाओं जैसी हो गयी और इस रूप में वे बहुत दिन तक घिसटते हुए चलते रहे, हालांकि क्यूरियाओं की सभा को लोग जल्दी ही भूल गये। गोत्रों पर आधारित पुराने तीन क़बीलों को भी राज्य से बहिष्कृत करने के लिये चार प्रादेशिक क़बीलों की स्थापना की गयी, जिनमें से हर एक शहर के मोहल्ले में रहता था और कुछेक राजनीतिक अधिकारों का उपभोग करता था।

इस प्रकार रोम में भी, तथाकथित राजतंत्र के ख़त्म होने से पहले ही, व्यक्तिगत रक्त-सम्बन्धों पर आधारित पुरानी समाज-व्यवस्था नष्ट कर दी गयी और उसकी जगह पर प्रादेशिक विभाजन तथा धन-सम्पत्ति के भेदों पर आधारित एक नये संविधान की, एक वास्तविक राज्य-संविधान की स्थापना की गयी। यहां सार्वजनिक सत्ता उन नागरिकों के हाथ में थी जिन पर सैनिक सेवा का दायित्व था और उसकी धार न केवल दासों के ख़िलाफ़ थी, बल्कि उन तथाकथित सर्वहाराओं के भी ख़िलाफ़ थी जो सैनिक सेवा से बहिष्कृत और शस्त्रधारण करने के अधिकार से वंचित थे।

जब अन्तिम रेक्स, टारक्वीनियस सुपर्बस को, जो सत्ता हड़पकर सचमुच राजा बन बैठा था, निकाल बाहर किया गया और रेक्स की जगह पर समान अधिकार वाले दो सेनानायक (कौंसिल) नियुक्त किये गये (इरोक्वा लोगों में भी यही चलन था), तब नये विधान का और आगे विकास किया गया था। राज्य के पदों तथा राज्य की भूमि के बंटवारे को लेकर चलनेवाले पैट्रीशियनों और प्लेबियनों के समस्त संघर्ष समेत रोमन गणराज्य का पूरा इतिहास चक्र इसी विधान की परिधि के भीतर चलता रहा। इसी परिधि के भीतर कुलीन अभिजात वर्ग अन्तिम रूप से उन बड़े-बड़े भूमि और धनपतियों के एक नये वर्ग में घुल-मिल गया, जिन्होंने धीरे-धीरे किसानों की, जिन्हें सैनिक सेवा ने बरबाद कर दिया था, सारी ज़मीन हड़प ली और इस तरह हासिल हुए विशाल भूक्षेत्रों पर उन्होंने दासों से खेती कराना शुरू किया, इटली को वीरान कर दिया और इस तरह न केवल सम्राटों के शासन के लिये, बल्कि उनके बाद आनेवाले जर्मन बर्बरों के लिये भी रास्ता खोल दिया।

७

केल्ट तथा जर्मन लोगों में गोत्र

आज भी विभिन्न जांगल तथा बर्बर लोगों में गोत्र-व्यवस्था की जो संस्थायें कमोबेश शुद्ध रूप में पायी जाती हैं, या एशिया की सभ्य जातियों के प्राचीन इतिहास में ऐसी संस्थाओं के जो अवशेष मिलते हैं, उनकी हम यहां स्थानाभाव के कारण चर्चा नहीं कर सकते। ये संस्थायें या उनके अवशेष सभी जगह मिलते हैं। कुछ उदाहरण देना काफ़ी होगा। जिस समय गोत्र को पहचाना तक नहीं गया था, उसी समय उस आदमी ने, जिसने गोत्र को ग़लत ढंग से समझने की सबसे अधिक कोशिश की है, गोत्र की ओर इंगित किया था और मोटे तौर पर उसका सही-सही वर्णन किया था। हमारा मतलब मैक-लेनन से है, जिन्होंने काल्मीक, चेरकेसियन और Samojeden* में, और वारली, मगर तथा मणिपुरी नामक तीन भारतीय जातियों में गोत्र-व्यवस्था के पाये जाने के बारे में लिखा था। हाल में मक्सिम कोवालेव्स्की ने इस व्यवस्था का वर्णन किया है, जो उन्हें प्शाव, खे़वसूर, स्वान तथा काकेशिया के अन्य क़बीलों में मिली है। हम यहां पर केल्ट तथा जर्मन लोगों में गोत्र-व्यवस्था के अस्तित्व के विषय में कुछ संक्षिप्त टिप्पणियों तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

प्राचीनतम केल्ट क़ानूनों में, जो आज भी मिलते हैं, हम गोत्र-व्यवस्था को अभी भी जीता-जागता पाते हैं। आयरलैंड में, जहां अंग्रेज़ों ने ज़बर्दस्ती इस व्यवस्था को नष्ट कर डाला है, वह आज भी, कम से कम सहजभावी रूप से लोक-मानस में जीवित है। स्काटलैंड में वह पिछली शताब्दी के मध्य तक पूरे ज़ोर पर थी, और वहां भी उसे अंग्रेज़ों के हथियार, क़ानून और अदालत ही धराशायी कर सके।

वेल्स के पुराने क़ानून, जो अंग्रेज़ों द्वारा वेल्स की विजय[31] के कई सदी पहले, ग्यारहवीं सदी के बाद के लिखे हुए नहीं हैं, यह बताते हैं कि तब भी कहीं-कहीं पूरे गांव के गांव सामुदायिक खेती करते थे, हालांकि ऐसी खेती अपवाद और एक पुरानी आम प्रथा के अवशेष के रूप में ही होती थी। हर परिवार के पास

*सुदूर उत्तर में रहनेवाली नेनेत्स जाति का पुराना नाम।–सं०

पांच एकड़ ज़मीन ख़ुद जोतने-बोने के लिये होती थी और एक और खेत अन्य परिवारों के साथ मिलकर जोतने के लिये होता था, जिसकी उपज सब में बंट जाती थी। आयरलैंड और स्काटलैंड के इनसे मिलते-जुलते उदाहरणों के आधार पर यदि वेल्स के इन ग्राम-समुदायों का मूल्यांकन किया जाये तो इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि वे वास्तव में या तो गोत्र हैं या गोत्रों की उपशाखाएं, हालांकि सम्भव है कि वेल्स के क़ानूनों की फिर से खोज करने पर, जो मैं इस वक़्त समय की कमी के कारण नहीं कर सकता (मेरी टिप्पणियां १८६९ की हैं[32]), इसकी प्रत्यक्ष पुष्टि न हो। परन्तु वेल्स और आयरलैंड की सामग्री से जिस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाता है, वह यह है कि ग्यारहवीं सदी तक में केल्ट लोगों में युग्म-विवाह के स्थान पर एकनिष्ठ विवाह पूरी तौर पर क़ायम नहीं हुआ था। वेल्स में विवाह-सम्बन्ध तभी अटूट माना जाता था जब विवाह हुए सात वर्ष पूरे हो जायें, या यों कहें कि सात वर्ष तक विवाह को किसी भी समय भंग किया जा सकता था। सात वर्ष पूरे होने में यदि केवल तीन रातों की कमी होती तो भी विवाहित जोड़ा अलग हो सकता था। ऐसा होने पर जोड़े की सम्पत्ति दोनों के बीच बंट जाती थी; स्त्री सारी सम्पत्ति के दो हिस्से करती थी, पुरुष एक हिस्सा चुन लेता था। फ़र्नीचर बांटने के कुछ बहुत ही अजीब नियम थे। यदि पुरुष विवाह को भंग करता था तो उसे स्त्री का दहेज और कुछ अन्य वस्तुएं वापस कर देनी पड़ती थीं। यदि स्त्री अलग होना चाहती थी तो उसे कम मिलता था। बच्चों में से दो पुरुष को मिलते थे, एक–मझोला बच्चा–स्त्री को मिलता था। यदि स्त्री तलाक़ के बाद फिर विवाह करती थी और उसका पहला पति उसे वापस ले जाने के लिए पहुंच जाता था, तो स्त्री को, भले ही वह अपने नये पति की शय्या पर एक पैर रख चुकी हो, लौट जाना पड़ता था। परन्तु स्त्री और पुरुष यदि सात साल तक साथ रह चुके होते थे, तो उन्हें विवाह की रस्म पूरी हुए बिना भी पति-पत्नी समझा जाता था। विवाह के पहले लड़कियों की कौमार्य-रक्षा के बारे में कोई ख़ास सख़्ती नहीं बरती जाती थी, और न इसकी मांग की जाती थी। इस मामले से सम्बन्ध रखनेवाले नियम बहुत ही हल्के ढंग के हैं और पूंजीवादी नैतिकता के विपरीत हैं। यदि कोई स्त्री व्यभिचार करती थी तो उसके पति को उसे पीटने का हक़ होता था (जिन तीन सूरतों में पत्नी को पीटने पर पति दंड का भागी नहीं समझा होता था, उनमें से एक यह था)। परन्तु पत्नी को पीटने के बाद पति और किसी तरह की क्षतिपूर्ति की मांग नहीं कर सकता था, क्योंकि

"किसी अपराध का या तो प्रायश्चित्त हो सकता है, या उसका बदला लिया जा सकता है, पर दोनों चीज़ें एकसाथ नहीं हो सकतीं।"[33]

जिन कारणों से स्त्री बंटवारे में अपने अधिकारों को अक्षुण्ण रखकर पुरुष को तलाक़ दे सकती थी वे अत्यन्त भिन्न प्रकार के होते थे–पुरुष के मुंह से बदबू आना भी तलाक़ देने के लिये पर्याप्त कारण समझा जाता था। क़ानून में मुआवज़े की उस रक़म का महत्त्वपूर्ण स्थान था जो पहली रात के हक़ के लिये क़बीले के मुखिया या राजा को देनी पड़ती थी (इस हक़ को gobr merch कहते थे, जिससे मध्ययुगीन शब्द marcheta और फ़्रांसीसी शब्द marquette निकले हैं)। स्त्रियों को जन-सभाओं में वोट देने का अधिकार था। इस सब के साथ-साथ यदि हम इन बातों पर भी विचार करें कि आयरलैंड में भी इसी प्रकार की हालत पायी जाती थी; कि वहां भी अस्थायी विवाहों का चलन था और तलाक़ के समय स्त्री को सुनिश्चित विशेषाधिकार तथा विशेष सुविधाएं मिलती थीं, यहां तक कि उसे घरेलू काम का भी मुआवज़ा मिलता था; कि अन्य पत्नियों के साथ एक "बड़ी पत्नी" भी होती थी और किसी मृत व्यक्ति की सम्पत्ति बांटने के समय उसकी वैध तथा अवैध सन्तानों में कोई भेद नहीं किया जाता था,–यदि हम इन तमाम बातों को ध्यान में रखें तो हमारे सामने युग्म-विवाह का एक ऐसा चित्र उपस्थित होता है जिसकी तुलना में उत्तरी अमरीका में प्रचलित विवाह पद्धति कठोर मालूम पड़ती है। परन्तु सीज़र के समय जो लोग यूथ-विवाह की अवस्था में रहते थे, वे यदि ग्यारहवीं सदी में भी युग्म-विवाह की अवस्था में रहते आये हों तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

आयरलैंड के गोत्र (उसे वे sept और क़बीले को clainne कहते थे) के अस्तित्व का प्रमाण और उसका वर्णन केवल क़ानून की प्राचीन पुस्तकों में ही नहीं मिलता है, बल्कि सत्रहवीं सदी के उन अंग्रेज़ न्यायशास्त्रियों की रचनाओं में भी मिलता है जो आयरलैंड की क़बायली ज़मीनों को इंगलैंड के राजा की ज़मीनों में बदल डालने के लिये आयरलैंड भेजे गये थे। उसके पहले ज़मीन क़बीले या गोत्र की सम्मिलित सम्पत्ति होती थी, सिवाय उस ज़मीन के जिसे मुखियाओं ने अपना निजी इलाक़ा बना लिया था। जब गोत्र का कोई सदस्य मर जाता था और इसलिये जब कोई परिवार भंग हो जाता था, तब गोत्र का मुखिया (अंग्रेज़ न्यायशास्त्री उसे caput cognationis कहते थे) गोत्र की सारी ज़मीन को बाक़ी परिवारों के बीच नये सिरे से बांट देता था। यह विभाजन मोटे तौर

पर उन्हीं नियमों के अनुसार होता रहा होगा जो जर्मनी में प्रचलित थे। आयरलैंड में अभी भी गांवों में कहीं-कहीं ऐसे खेत देखने में आते हैं जो तथाकथित rundale प्रथा के अन्तर्गत हैं। चालीस या पचास साल पहले ऐसे खेतों की संख्या बहुत बड़ी थी। जो ज़मीन कभी गोत्र की सामूहिक सम्पत्ति थी, पर जिसे अंग्रेज़ विजेताओं ने हड़प लिया था, उस पर खेती करनेवाला हर काश्तकार, जो अब व्यक्तिगत रूप से खेती करता है, अपने खेत के लिये लगान देता है। परन्तु इसके बावजूद गांव की समस्त कृषियोग्य भूमि और चरागाहों को इकट्ठा कर लिया जाता है और फिर ज़मीन के उपजाऊपन तथा स्थिति का ख़याल रखते हुए उन्हें पट्टियों में, या जैसा कि वे मोज़ेल प्रदेश में कहलाती हैं, "Gewanne" में बांट लेते हैं, और गांव के हर किसान को हर Gewann में हिस्सा मिलता है। खादर भूमि और चरागाह का सम्मिलित रूप से इस्तेमाल होता है। पचास साल पहले समय-समय पर, कभी-कभी तो हर साल, ज़मीन का नये सिरे से बंटवारा हो जाता था। Rundale प्रथा वाले गांव का नक़्शा देखिये तो आपको लगेगा कि मोज़ेल प्रदेश या होख़वाल्ड में खेतिहर परिवारों के किसी जर्मन समुदाय (Gehöferschaft) का नक़्शा देख रहे हैं। गांवों में पाये जानेवाले "factions"* के रूप में भी गोत्र जीवित हैं। कभी-कभी आयरलैंड के किसान ऐसे दल बनाते पाये जाते हैं जो बिल्कुल बेतुके और अर्थशून्य भेदों पर आधारित मालूम पड़ते हैं और अंग्रेज़ों की बिल्कुल समझ में नहीं आते। इन दलों का इसके सिवा और कोई उद्देश्य नहीं मालूम पड़ता कि वे एक दूसरे की भरपूर मरम्मत करने के लोकप्रिय खेल के लिये जमा हों। वास्तव में इन दलों द्वारा उन गोत्रों को कृत्रिम रूप से पुनरुज्जीवित, बाद के काल में प्रतिस्थापित किया गया है जो अब नष्ट हो चुके हैं; वे अपने विशिष्ट ढंग से वंशगत गोत्र-अंतःचेतना के नैरन्तर्य को प्रकट करते हैं। प्रसंगवश यह भी कह दें कि कुछ स्थानों में एक गोत्र के सदस्य आज भी लगभग उसी इलाक़े में रहते पाये जाते हैं जो उनके गोत्र का पुराना इलाक़ा था। उदाहरण के लिये, इस सदी के चौथे दशक में मोनाहन काउंटी के अधिकतर निवासियों में केवल चार कुल नाम पाये जाते थे। मतलब यह कि इसके तमाम लोग चार गोत्रों या क़बीलों के वंशज थे।**

---

* दलों। – सं०

**आयरलैंड में मैंने कुछ दिन बिताये[34] तो एक बार फिर मुझे इस बात का अहसास हुआ कि इसकी देहाती आबादी के मन में आज भी किस हद तक गोत्र युग की धारणाएं जीवित हैं। ज़मींदार को, जिससे लगान पर ज़मीन लेकर किसान

स्काटलैंड में गोत्र-व्यवस्था का पतन १७४५ के विद्रोह के दमन से आरंभ हुआ है।[35] इस व्यवस्था में स्काटलैंड का गोत्र कौनसी कड़ी था, अभी इसकी खोज होना बाक़ी है; परन्तु वह इस व्यवस्था की एक कड़ी था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। स्काटलैंड की पहाड़ियों में यह गोत्र क्या चीज़ थी, इसका सजीव चित्र वाल्टर स्कॉट के उपन्यासों को पढ़कर हमारी आंखों के सामने आ जाता है। मौर्गन के शब्दों में यह गोत्र

"संघटन और भावना की दृष्टि से गोत्र-व्यवस्था का एक बहुत अच्छा उदाहरण है और इस बात का एक असाधारण प्रमाण है कि गोत्र-जीवन का अपने सदस्यों पर कितना अधिक प्रभाव होता था... उनके कुल वैर और उनकी रक्त-प्रतिशोध की प्रथा, प्रत्येक गोत्र का स्थान विशेष में निवास, जमीनों की संयुक्त रूप से जोताई-बोआई, गोत्र के सदस्यों में मुखिया के प्रति और एक दूसरे के प्रति वफ़ादारी की भावना—इन सब में हमें गोत्र की सामान्य और स्थायी विशेषताओं का दर्शन होता है... वंश पुरुष से चलता था, यानी केवल पुरुषों के बच्चे गोत्र के सदस्य माने जाते थे और स्त्रियों के बच्चे अपने-अपने पिताओं के गोत्र के सदस्य होते थे।"[36]

खेती करता है, किसान अभी भी एक प्रकार का क़बायली मुखिया समझता है जो सब के हित में खेती की देखभाल करता है, जिसे किसानों से लगान के रूप में ख़िराज पाने का अधिकार है, पर साथ ही जिसका यह कर्त्तव्य भी है कि ज़रूरत पड़ने पर किसानों की मदद करे। इसी तरह, हर ख़ुशहाल आदमी का यह फ़र्ज़ समझा जाता है कि जब भी उसके ग़रीब पड़ोसी मुसीबत में हों, तो वह उनकी मदद करे। यह मदद ख़ैरात नहीं है। क़बीले के ग़रीब सदस्य को क़बीले के धनी सदस्य या क़बीले के मुखिया से यह मदद पाने का हक़ है। इसी कारण अर्थशास्त्री तथा न्यायशास्त्री अक्सर यह शिकायत करते नज़र आते हैं कि आयरलैंड के किसानों के दिमाग़ में पूंजीवादी स्वामित्व के आधुनिक विचार को बैठाना असम्भव है। आयरलैंड के निवासी यह समझने में बिल्कुल असमर्थ हैं कि कोई ऐसा स्वामित्व भी हो सकता है जिसके केवल अधिकार होते हैं, कर्त्तव्य नहीं। कोई आश्चर्य नहीं कि गोत्र-व्यवस्था के ऐसे भोलेपन भरे विचारों को लिये हुए आयरलैंड के लोग जब अचानक इंगलैंड या अमरीका के बड़े शहरों में ऐसी आबादी के बीच पहुंच जाते हैं जिसके नैतिक तथा क़ानूनी मानदंड बिल्कुल भिन्न ढंग के होते हैं, तब नैतिकता तथा न्याय दोनों के बारे में उनके विचार सरासर गड्डमड्ड हो जाते हैं, वे लड़खड़ा जाते हैं और अक्सर उनकी पूरी की पूरी जमातों का नैतिक पतन हो जाता है। (**१८९१ के संस्करण में एंगेल्स की टिप्पणी**)

पिक्ता नामक राज-परिवार इस बात का प्रमाण है कि स्काटलैंड में पहले मातृ-सत्ता क़ायम थी। बेंडे के अनुसार इस राज-परिवार में उत्तराधिकार मातृ-परम्परा द्वारा प्राप्त होता था। यहां तक कि स्काट और साथ ही वेल्स लोगों में भी इस बात का एक प्रमाण मिलता है कि उनमें कभी पुनालुआन परिवार का चलन था। हमारा मतलब इस बात से है कि मध्य युग तक उनमें पहली रात के अधिकार की प्रथा पायी जाती थी, अर्थात् गोत्र का मुखिया या राजा, पहले के सामूहिक पतियों के अन्तिम प्रतिनिधि के रूप में, हर नव वधू के साथ पहली रात बिताने का दावा कर सकता था और केवल निष्क्रय-धन देकर ही नव दम्पत्ति को इससे छुटकारा मिलता था।

* * *

यह बात निर्विवाद रूप से सच है कि लोगों के प्रव्रजन के समय तक जर्मन गोत्रों में संगठित थे। हमारे युग (ईसा) के कुछ सौ साल पहले ही ये लोग डेन्यूब, राइन, विस्चुला नदियों और उत्तरी सागरों के बीच के इलाक़ों में आकर बसे होंगे। सिम्बरी और ट्यूटन लोग उस समय तक भी पूरे वेग से प्रव्रजन कर रहे थे और सुएवी लोग सीज़र के समय तक कहीं टिककर नहीं रहते थे। सीज़र ने साफ़-साफ़ कहा है कि ये लोग गोत्रों और सम्बन्धियों (gentibus cognationibusque) के अनुसार बसे थे; और जब gens Julia* के किसी भी रोमन के मुंह से gentibus शब्द निकलता है तो उसका एक निश्चित अर्थ होता है, जिसको किसी तरह तोड़ा-मरोड़ा नहीं जा सकता। यह बात सभी जर्मनों के लिये सच है; यहां तक कि जीते हुए रोमन प्रांतों में भी जर्मन लोग गोत्रों के अनुसार ही बसे थे। 'एलामान्नी क़ानून' से यह बात सिद्ध होती है कि डेन्यूब नदी के दक्षिण के जीते हुए प्रदेश में लोग गोत्रों (genealogiae) के अनुसार जाकर बसे।[37] Genealogia शब्द का प्रयोग यहां ठीक उसी अर्थ में हुआ है जिस अर्थ में बाद में "मार्क" या ग्राम-समुदाय का प्रयोग हुआ। हाल में कोवालेव्स्की ने यह मत प्रगट किया था कि ये genealogiae बड़े-बड़े कुटुम्ब-समुदाय थे, जिनमें ज़मीन बंटी हुई थी और जिनसे बाद में चलकर ग्राम-समुदाय बन गये। Fara के बारे में भी यही बात सच हो सकती है। बरगांडी और लैंगोबार्ड लोग – पहला एक

* जुलिया गोत्र।– सं०

गॉथ क़बीला है और दूसरा हर्मीनोनी या उत्तरी जर्मन क़बीला – यदि ठीक उसी चीज़ के लिये नहीं तो लगभग उसी चीज़ के लिये इस fara शब्द का प्रयोग करते थे, जिसके लिये 'एलामान्नी क़ानून' में genealogia शब्द का प्रयोग किया गया है। यह चीज़ वास्तव में गोत्र थी अथवा कुटुम्ब-समुदाय, यह निश्चय करने के लिये अभी और खोज करने की आवश्यकता है।

भाषा-सम्बन्धी सामग्री से यह बात एकदम साफ़ नहीं होती कि सभी जर्मन गोत्र के लिये एक ही नाम का प्रयोग करते थे या नहीं, और यदि करते थे तो वह नाम क्या था। शब्दरचनाशास्त्र के अनुसार, यूनानी genos और लैटिन gens, गॉथ भाषा के kuni तथा मध्योत्तर जर्मन भाषा के künne के समान हैं, और इन सब शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग होता है। और यह बात कि यूनानी भाषा का gyne, स्लाव शब्द žena, गॉथ शब्द qvino और प्राचीन नोर्स भाषा के kona, kuna – "स्त्री" के ये विभिन्न पर्याय सब एक ही धातु से निकले हैं, मातृसत्ता-काल की ओर इंगित करती है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि लैंगोबार्ड तथा बरगांडी लोगों में fára नाम पाया जाता है, जो ग्रिम के अनुसार कल्पित धातु fisan – जन्म देना – से निकला है। मेरे विचार से हमें इस शब्द का मूल faran धातु मानना चाहिये, जिसका अर्थ है विचरना या प्रव्रजन करना।* तब fara का मतलब होगा प्रव्रजन करनेवाले दल का एक सुनिश्चित भाग। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इसमें रक्त-सम्बन्धीगण होते थे। पहले पूर्व की ओर, फिर पश्चिम की ओर कई सदियों तक घूमते रहने के दौरान यह नाम धीरे-धीरे स्वयं गोत्र-समुदाय के साथ जुड़ गया। फिर गॉथिक शब्द sibja, एंग्लो-सैक्सन शब्द sib, प्राचीन उत्तर जर्मन भाषा के sippia, sippa – रक्त-सम्बन्धीगण ** शब्द से निकले हैं। प्राचीन नोर्स में केवल बहुवचन – sifjar, अर्थात् रक्त-सम्बन्धीगण है; एकवचन Sif एक देवी का नाम है। अंत में एक और शब्द है, जो 'हिल्डेब्रांड के गीत'[38] में उस स्थल में मिलता है, जहां हिल्डेब्रांड हाडुब्रांड से पूछता है –

"जनगण में पुरुषों के बीच तेरा पिता कौन है ... अर्थात् तेरा गोत्र कौनसा है?" ("eddo huêlîhhes *cnuosles* du sîs").

---

* जर्मन भाषा में fahren। – सं०

** जर्मन भाषा में Sippe। – सं०

यदि गोत्र के लिये सभी जर्मन एक नाम का प्रयोग करते थे तो बहुत सम्भव है कि यह नाम गॉथिक भाषा का kuni हो, क्योंकि न सिर्फ़ गॉथिक से मिलती-जुलती दूसरी भाषाओं में इसी शब्द का प्रयोग मिलता है, बल्कि kuning – राजा* – शब्द भी, जिसका आरम्भ में अर्थ गोत्र या क़बीले का मुखिया था, इसी शब्द से निकला है। Sibja – रक्त-सम्बन्धीगण – शब्द ध्यान देने के योग्य नहीं मालूम पड़ता; कम से कम प्राचीन नोर्स में sifjar का अर्थ केवल रक्त-सम्बन्धी ही नहीं होता, बल्कि विवाह द्वारा सम्बन्धित लोग भी इस शब्द के अन्तर्गत आते हैं। अर्थात् उसके अन्तर्गत कम से कम **दो गोत्रों** के सदस्य आते हैं और इस प्रकार sif शब्द का गोत्र के लिये प्रयोग नहीं हो सकता था।

मैक्सिकोवासियों तथा यूनानियों की तरह जर्मनों में भी, घुड़सवार दस्ते तथा पैदल सिपाहियों के शंकु सदृश दस्ते गोत्रों के अनुसार समूहों में बंटकर व्यूह-रचना करते थे। जब तासितुस परिवारों और सम्बन्धियों की बात करते हैं तो वह इस अस्पष्ट शब्द का प्रयोग इसलिये करते हैं कि रोम में उस समय गोत्र एक जीवित संस्था नहीं रह गया था।

तासितुस के उस अंश का निर्णायक महत्त्व है जिसमें उसने लिखा है: मामा अपने भांजे को अपना पुत्र समझता है; कुछ लोगों की तो यहां तक राय है कि मामा और भांजे का रक्त-सम्बन्ध पिता और पुत्र के सम्बन्ध से अधिक पवित्र और घनिष्ठ है; और चुनांचे जब ओल की मांग की जाती है तब जिस आदमी को इस तरह बंधन में बांधना उद्देश्य होता है, उसके सगे बेटे से उसके भांजे को अधिक ज़्यादा अच्छा बन्धक समझा जाता है। यह प्रथा मातृ-सत्ता का, और इसलिये प्रारम्भिक गोत्र का एक जीवित अवशेष है जिसका जर्मनों की ख़ास विशेषता के रूप में वर्णन किया गया है।** यदि ऐसे किसी गोत्र का कोई सदस्य

* जर्मन भाषा में König। – **सं०**

** मामा और भांजे के नाते की विशेष घनिष्ठता, जो बहुत-से जनगण में, मातृ-सत्ता के एक अवशेष के रूप में पायी जाती है, यूनानियों में केवल वीर-काल की पुराण-कथाओं में पायी जाती थी। दिओदोरस के खंड ४, अध्याय ३४ में मीलियागेर अपनी मां आल्थिया के भाइयों, थेस्टियस के पुत्रों को मार डालता है। आल्थिया इन हत्याओं को इतना घृणित समझती है कि हत्या करनेवाले को, जो ख़ुद उसका पुत्र है, शाप दे डालती है और प्रार्थना करती है कि उसकी मृत्यु हो जाये। "देवताओं ने उसकी प्रार्थना सुन ली और मीलियागेर के जीवन का अन्त कर दिया"। इसी लेखक के अनुसार (खंड ४, अध्याय ४३ तथा ४४)

अपने किसी वादे की ज़मानत के रूप में अपने सगे बेटे को दे देता था और फिर उस वादे को पूरा नहीं करता था तथा बेटे को उसका दंड भुगतना पड़ता था, तो यह केवल उसके पिता का मामला समझा जाता था। परन्तु यदि किसी आदमी के भांजे की क़ुरबानी हो जाती थी तो वह गोत्र के अति पवित्र नियमों की अवहेलना मानी जाती थी। निकटतम सकुल्य जिसका कर्त्तव्य उस लड़के या युवक की रक्षा करना दूसरे सब लोगों से अधिक था, उसकी मृत्यु के लिए उत्तरदायी हुआ। उसे चाहिए था कि या तो ज़मानत में लड़के को न देता, या अपना वचन पूरा करता। यदि जर्मनों में गोत्र-व्यवस्था का कोई और चिह्न न भी मिलता, तो केवल यह अंश ही उसका पर्याप्त प्रमाण था।

इससे भी अधिक निर्णायक एक पुराने नोर्स गीत का वह अंश है जिसमें देवताओं के युग की गोधूलि-बेला और महाप्रलय «Völuspâ» का वर्णन है। यह अंश अधिक निर्णायक है क्योंकि यह उपरोक्त अंश से कोई ८०० साल बाद का है। इस अंश में, जिसे 'दिव्य-दर्शिणी की भविष्यवाणी' कहा गया है, और जिसमें, जैसा कि बैंग और बुग्गे ने सिद्ध कर दिया है, ईसाई धर्म के भी कुछ तत्त्व मिले हुए हैं, बताया गया है कि प्रलय के पहले सर्वव्यापी अनाचार और भ्रष्टाचार का एक युग आता है, जिसका वर्णन इन शब्दों में किया गया है—

«Broedhr munu berjask ok at bönum verdask, munu *systrungar* sifjum spilla».
"भाई भाई से युद्ध करेगा, भाई भाई का सिर काटेगा और **बहनों की सन्तान** रक्त-सम्बन्ध के नाते को तोड़ डालेगी।"

Systrungar शब्द मां की बहन के बेटे के लिये प्रयुक्त हुआ है। कवि की दृष्टि में मौसेरे भाइयों के रक्त-सम्बन्ध को तिलांजलि देना भ्रातृवध के अपराध की चरम सीमा है। यानी चरम सीमा systrungar शब्द पर पहुंचने पर आती

जब हरक़ुलीज़ के नेतृत्व में अर्गोनाटस थ्रेसिया में उतरे तो उन्होंने पाया कि फ़िनियस अपनी दूसरी पत्नी के कहने में आकर अपनी पहली परित्यक्त पत्नी, बोरियेड क्लियोपैट्रा से उत्पन्न दो पुत्रों के साथ लज्जाजनक रूप से दुर्व्यवहार कर रहा है। परन्तु अर्गोनाटसों में भी कुछ बोरियेड वंश के लोग, यानी क्लियोपैट्रा के भाई थे और जो इस प्रकार दुर्व्यवहारग्रस्त लड़कों के मामा थे। मामाओं ने तुरन्त अपने भांजों की मदद की, उन्हें मुक्त कर दिया और उनको क़ैद में रखनेवाले पहरेदारों को मार डाला।

है, जो माता के पक्ष के रक्त-सम्बन्ध पर ज़ोर देता है। यदि इस शब्द की जगह syskina-börn – यानी भाई व बहन की सन्तान, या syskina-synir – यानी भाई व बहन के बेटे शब्द का प्रयोग किया जाता, तो पहली पंक्ति के सम्बन्ध में दूसरी पंक्ति में बात का ज़ोर बढ़ने के बजाय उल्टा घट जाता। इस प्रकार वाइकिंगों के काल में भी, जबकि «Völuspâ» की रचना हुई थी, स्कैंडिनेविया में मातृ-सत्ता की स्मृति एकदम नष्ट नहीं हुई थी।

परन्तु तासितुस के समय में, कम से कम जर्मनों में जिनसे वह अधिक परिचित था, मातृ-सत्ता की जगह पितृ-सत्ता क़ायम हो गयी थी; बच्चे अपने पिता के उत्तराधिकारी होते थे और उसके बच्चों के अभाव में भाई तथा चाचा और मामा उत्तराधिकारी होते थे। मामा को भी उत्तराधिकार देना उपरोक्त प्रथा से सम्बन्ध रखता है और सिद्ध करता है कि उस समय जर्मनों में पितृ-सत्ता कितनी नयी चीज़ थी। मध्य युग के उत्तर काल में भी हमें मातृ-सत्ता के अवशेष मिलते हैं। उस काल में, विशेषकर भूदासों में, किसी का पिता कौन है, इसका पूर्ण निश्चय न होता था; और इसलिये जब कोई सामन्त किसी भागे हुए भूदास को किसी शहर से वापस मंगवाना चाहता था तो उदाहरणार्थ आग्सबर्ग, बाज़ेल और कैसरस्लौटर्न में उसके लिये ज़रूरी होता था कि वह भूदास की केवल माता के पक्ष के छः निकटतम रक्त-सम्बन्धियों के शपथ-पत्रों द्वारा यह प्रमाणित करे कि वह उसका भूदास था (मारेर, 'नागरिक संविधान', खंड १, पृष्ठ ३८१)।

मातृ-सत्ता का एक और अवशेष था, जो उस समय तक लुप्त होने लगा था और जो रोमवासियों के दृष्टिकोण से समझ में न आनेवाली बात थी, वह यह कि जर्मन लोग नारी जाति का बड़ा आदर करते थे। जर्मनों से यदि किसी क़रार को पूरा कराना होता था तो उसका सबसे अच्छा तरीक़ा यह समझा जाता था कि उनके कुलीन परिवारों की लड़कियों को ओल बना लिया जाये। युद्ध के समय जर्मनों की हिम्मत सबसे ज़्यादा इस हौलनाक ख़याल से बढ़ती थी कि यदि उनकी हार हो गयी तो दुश्मन उनकी बहू-बेटियों को पकड़ ले जायेंगे और अपनी दासियाँ बना लेंगे। जर्मन लोग नारी को पवित्र और अनागतदर्शिका मानते थे। वे सबसे महत्त्वपूर्ण मामलों में भी स्त्रियों की सलाह पर कान देते थे। ब्रक्टेरिया क़बीले की लिप्पे नदी के किनारे रहनेवाली पुजारिन वेलेडा बटाविया के पूरे विद्रोह की प्रेरक शक्ति थी, जब जर्मनों और बेल्जियनों ने सिविलियस के नेतृत्व में पूरे गाल प्रदेश में रोमन शासन की नींव हिला दी थी।[39] मालूम पड़ता है कि घर में नारियों का एकच्छत्र राज था। तासितुस कहता है कि औरतों को बढ़ों और

बच्चों के साथ सारा काम करना पड़ता था, क्योंकि मर्द शिकार करने जाते थे, शराब पीते थे और आवारागर्दी करते थे। परन्तु वह यह नहीं बताता कि खेत कौन जोतता था और चूंकि उसने साफ़-साफ़ कहा है कि दासों को केवल लगान देना पड़ता था और उनसे बेगार नहीं लिया जाता था, इसलिये मालूम पड़ता है कि खेती का जो थोड़ा-बहुत काम होता था, उसे मर्द लोग ही किया करते थे।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, विवाह का रूप युग्म-विवाह का था जो धीरे-धीरे एकनिष्ठ विवाह में बदलता जा रहा था। अभी एकनिष्ठता का सख़्ती के साथ पालन नहीं किया जाता था क्योंकि कुलीनों को कई पत्नियां रखने की इजाज़त थी। केल्ट लोगों के विपरीत जर्मन लोग इस बात पर सख़्ती के साथ ज़ोर देते थे कि लड़कियों का कौमार्य नष्ट न हो। तासितुस इस बात का बड़े उत्साह के साथ ज़िक्र करता है कि जर्मनों में विवाह का बंधन अटूट समझा जाता था। वह बताता है कि तलाक़ की इजाज़त केवल उसी सूरत में मिलती थी जब स्त्री ने पर-पुरुष के साथ व्यभिचार किया हो। परन्तु तासितुस की रिपोर्ट में अनेक कमियां हैं और इसके अलावा यह बात भी है कि सदाचार का उदाहरण सामने रखकर वह दुराचारी रोमवासियों को नैतिकता का पाठ पढ़ाने की ज़रूरत से ज़्यादा कोशिश करता है। इतनी बात तो हम निश्चय के साथ कह सकते हैं कि जंगलों में रहते हुए जर्मन लोग भले ही सदाचार और नैतिकता के आदर्श रहे हों, पर बाहरी दुनिया का स्पर्श मात्र ही उन्हें यूरोप के दूसरे औसत दरजे के जनगण के धरातल पर खींच लाने के लिये काफ़ी था। रोमन जीवन के तेज़ भंवर में पड़कर जर्मनों की कठोर नैतिकता के अन्तिम चिह्न, उनकी भाषा से भी अधिक शीघ्रता से मिट गये। इसके लिये तूर्स के ग्रेगरी द्वारा लिखित इतिहास को पढ़ना काफ़ी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जर्मनी के आदिम जंगलों में वह ऊंचे दरजे की ऐयाशी सम्भव नहीं थी, जो रोम में सम्भव थी। इसलिये इस मामले में भी जर्मन लोग रोमवासियों से काफ़ी बेहतर थे, लेकिन यह मानने के लिये जर्मनों को जितेन्द्रिय बना देना आवश्यक नहीं है, क्योंकि इस तरह की एक पूरी क़ौम कभी नहीं हुई है।

गोत्र-व्यवस्था से हर आदमी का यह कर्त्तव्य पैदा हुआ कि वह अपने पिता तथा सम्बन्धियों के दुश्मनों को अपना दुश्मन माने और उनके दोस्तों को अपना दोस्त। इसी तरह वेरगिल्ड प्रथा पैदा हुई जिसमें किसी हत्या या चोट के बदले में जुर्माना अदा कर देने से काम चल जाता था और रक्त-प्रतिशोध की आवश्यकता

नहीं पड़ती थी। एक पीढ़ी पहले वेरगिल्ड को एक ऐसी प्रथा समझा जाता था जो ख़ास तौर पर जर्मनों में पायी जाती थी; परन्तु अब यह साबित हो चुका है कि रक्त-प्रतिशोध का यह अधिक हल्का रूप सैकड़ों जनगण में पाया जाता था और यह गोत्र-व्यवस्था से उत्पन्न हुआ था। उदाहरण के लिये, अतिथि-सत्कार की प्रथा के समान यह प्रथा भी अमरीकी इण्डियनों में पायी जाती है। जर्मनों में अतिथि-सत्कार की प्रथा का जो वर्णन तासितुस ने किया है («Germania», अध्याय २१), वह छोटी-मोटी बातों में भी लगभग वही है जो मौर्गन ने अपने इण्डियनों के बारे में दिया है।

एक समय इस बात पर बड़ी गरम और अविराम बहस छिड़ी हुई थी कि तासितुस के समय के जर्मनों ने खेती की ज़मीन का अन्तिम रूप से विभाजन कर डाला था या नहीं, और इस प्रश्न से सम्बन्धित तासितुस के इतिहास के अंशों का क्या अर्थ लगाया जाये। पर अब यह बहस ख़त्म हो चुकी है। अब यह साबित हो गया है कि लगभग सभी लोगों में शुरू में पूरा गोत्र और बाद में सामुदायिक कुटुम्ब मिल-जुलकर ज़मीन जोतता-बोता था और सीज़र ने अपने समय में भी सुएवी लोगों में यह प्रथा देखी थी। बाद में अलग-अलग परिवारों के बीच ज़मीन बांट देने और समय-समय पर फिर से बंटवारा करने की प्रथा जारी हुई। जर्मनी के कुछ भागों में तो खेती की ज़मीन को एक निश्चित अवधि के बाद फिर से बांट देने की यह प्रथा आज तक पायी जाती है। यह सब साबित हो जाने के बाद अब उस बहस में और माथा खपाने की ज़रूरत नहीं रह गयी है। डेढ़ सौ साल के अरसे में यदि जर्मन लोग सामूहिक खेती से—जिसके बारे में सीज़र ने साफ़ शब्दों में कहा है कि सुएवी लोगों में ज़मीन का बंटवारा या व्यक्तिगत खेती नहीं होती थी—आगे बढ़कर तासितुस के काल में हर साल ज़मीन को फिर से बांटने और व्यक्तिगत ढंग से खेती करने की प्रथा पर पहुंच गये थे, तो मानना पड़ेगा कि उन्होंने काफ़ी प्रगति की। इतने कम समय में और बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के इस अवस्था से आगे बढ़कर ज़मीन पर पूरी तौर पर निजी स्वामित्व की अवस्था में पहुंच जाना नितांत असम्भव था। अतएव मैं तासितुस के शब्दों का केवल वही अर्थ लगाता हूं जो उसने लिखा है, और उसने यह लिखा है: वे हर साल खेती की ज़मीन को बदल देते हैं (या फिर से बांट लेते हैं) और ऐसा करने पर भी काफ़ी सामूहिक ज़मीन बच जाती है। खेतीबारी और भूमि-धारण की यह अवस्था जर्मनों की उस काल की गोत्र-व्यवस्था के बिलकुल अनुरूप थी।

उपरोक्त पैराग्राफ़ को मैंने बिना किसी परिवर्तन के उसी रूप में रहने दिया है जिस रूप में वह इस पुस्तक के पुराने संस्करणों में छपा है। परन्तु इस बीच सवाल का एक और पहलू सामने आ गया है। कोवालेव्स्की ने यह सिद्ध कर दिया है (देखिये इस पुस्तक का पृष्ठ ४४*) कि मातृसत्तात्मक सामुदायिक परिवार और आधुनिक पृथक् परिवार को जोड़नेवाली बीच की कड़ी के रूप में पितृसत्तात्मक सामुदायिक कुटुम्ब का अस्तित्व सभी जगहों में नहीं, तो बहुत अधिक जगहों में रहा है। जब से यह सिद्ध हुआ है तब से बहस की बात यह नहीं रह गयी है कि ज़मीन सामूहिक सम्पत्ति थी अथवा निजी – जिस बात को लेकर मारेर और वेट्ज़ के बीच बहस चल रही थी – बल्कि अब बहस की बात यह है कि सामूहिक स्वामित्व का उस समय क्या रूप था। इसमें तनिक भी संदेह नहीं हो सकता कि सीज़र के समय में सुएवी लोगों में न केवल भूमि पर सामूहिक स्वामित्व हुआ करता था, बल्कि सब लोग मिलकर साझे की खेती करते थे। इन लोगों की आर्थिक इकाई क्या थी – गोत्र, सामुदायिक कुटुम्ब, या कोई बीच का रक्त-सम्बद्ध सामुदायिक समूह, अथवा क्या भूमि की विभिन्न स्थानीय अवस्थाओं के फलस्वरूप ये तीनों ही रूप पाये जाते थे – ये प्रश्न अभी दीर्घ काल तक विचार का विषय बने रहेंगे। कोवालेव्स्की का कहना है कि तासितुस ने जिन परिस्थितियों का वर्णन किया है, वे परिस्थितियां मार्क या ग्राम-समुदाय के लक्षण नहीं हैं, बल्कि उस सामुदायिक कुटुम्ब के लक्षण हैं जो बहुत बाद में चलकर आबादी के बढ़ जाने के कारण ग्राम-समुदाय में बदल गया।

यह दावा किया जाता है कि रोमन काल में जिस इलाक़े में जर्मन रहते थे उसमें, और बाद में जो इलाक़ा उन्होंने रोमन लोगों से छीना, उसमें भी जर्मन बस्तियां गांवों के रूप में नहीं, बल्कि बड़े-बड़े सामुदायिक कुटुम्बों के ही रूप में रही होंगी, जिनमें कई पीढ़ियां एकसाथ रहती थीं और जो तदनुसार ज़मीन के बड़े-बड़े टुकड़ों को जोतते थे और इर्दगिर्द की परती ज़मीन को अपने पड़ोसियों के साथ मिलकर सामूहिक भूमि – मार्क – के रूप में इस्तेमाल करते थे। यदि यह बात सही मान ली जाये तो खेती की ज़मीन को हर साल बदलने के बारे में तासितुस के इतिहास के अंश को कृषि विज्ञान के अर्थ में लेना पड़ेगा, यानी हर सामुदायिक कुटुम्ब हर साल नयी ज़मीन पर खेती करता था और पिछले साल जोती गयी ज़मीन को हल चलाकर ख़ाली छोड़ देता था, या उसे बिल्कुल

*देखें प्रस्तुत खण्ड, पृष्ठ ६८ – ६९। – सं०

काम में न लाता था। चूंकि आबादी बहुत कम थी, इसलिये परती ज़मीन की कोई कमी न होती थी और ज़मीन को लेकर होनेवाले झगड़ों की भी कोई आवश्यकता न थी। कई सदियां बीत जाने के बाद ही, जब कुटुम्ब के सदस्यों की संख्या इतनी अधिक हो गयी कि उत्पादन की तत्कालीन परिस्थितियों में मिलकर खेती करना असम्भव हो गया, तब कहीं जाकर ये सामुदायिक कुटुम्ब भंग हुए। पहले जो साझे के खेत और घास के मैदान थे, उन्हें प्रचलित तरीक़े से अलग-अलग कुटुम्बों के बीच बांट दिया गया जो उस समय तक बन गये थे। शुरू में यह बंटवारा एक निश्चित अवधि के बाद बार-बार होता रहता था, फिर यह एक बार सदा के लिये हो गया, लेकिन जंगल, चरागाह और जलागार सामूहिक सम्पत्ति बने रहे।

जहां तक रूस का सम्बन्ध है, विकास का यह क्रम ऐतिहासिक रूप से पूरी तरह प्रमाणित हो चुका मालूम पड़ता है। जहां तक जर्मनी का और अन्य सभी जर्मन जातिप्रधान देशों का सम्बन्ध है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि तासितुस के समय तक ग्राम-समुदाय का सिलसिला दिखानेवाले पुराने दावे के मुक़ाबले में यह मत बहुत-सी बातों में मूल सामग्री का अधिक अच्छा स्पष्टीकरण करता है और कठिनाइयों को ज़्यादा आसानी से हल करता है। सबसे पुरानी दस्तावेज़ों को – उदाहरण के लिये «Codex Laureshamensis»[40] को – मार्क ग्राम-समुदाय की तुलना में कुटुम्ब के आधार पर ज़्यादा आसानी से समझा जा सकता है। दूसरी ओर इस मत से नयी कठिनाइयां भी पैदा हो जाती हैं और नयी समस्याएं उठ खड़ी होती हैं, जिन्हें हल करना ज़रूरी है। यह मामला और खोज होने पर ही तय हो सकेगा। परन्तु मैं इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि बहुत सम्भव है कि जर्मनी, स्कैण्डिनेविया और इंगलैंड में भी कुटुम्ब बीच की मंज़िल भी रहा हो।

जहां सीज़र के समय में जर्मनों ने कुछ हद तक अभी हाल में बस्ती बनाकर रहना शुरू कर लिया था और कुछ हद तक वे रहने के लिये उपयुक्त स्थानों की तलाश कर रहे थे, वहां तासितुस के समय तक उन्हें बस्तियों में जमकर रहते हुए पूरी एक सदी हो चुकी थी। जीवन निर्वाह साधनों के उत्पादन में जो निर्विवाद उन्नति हुई, वह इसके अनुकूल ही था। ये लोग लकड़ी के लट्ठों के बने मकानों में रहते थे; उनके कपड़े अभी तक आदिम जंगलियों के ढंग के थे: मोटे ऊनी लबादे और जानवरों की खाल। स्त्रियां और अभिजात लोग अंतर्वस्त्र के लिये लिनेन का प्रयोग करते थे। इन लोगों का भोजन था दूध, मांस, जंगली फल

और जैसा कि प्लिनी ने बताया है, जई का दलिया (जो आज भी आयरलैंड तथा स्काटलैंड में केल्ट लोगों का जातीय भोजन बना हुआ है)। उनका धन उनके मवेशी थे, पर उनकी नस्ल अच्छी नहीं थी—वे छोटे, बेढंगे और बिना सींगों के होते थे। उनके घोड़े छोटे-छोटे टट्टुओं जैसे होते थे जो तेज़ नहीं दौड़ सकते थे। मुद्रा बहुत कम थी और उसका यदा-कदा ही इस्तेमाल होता था और वह भी बहुत थोड़ी मात्रा में। केवल रोमन मुद्रा ही चलती थी। वे लोग सोने या चांदी की चीज़ें नहीं बनाते थे, न वे इन धातुओं को कोई महत्त्व ही देते थे। लोहे की बहुत कमी थी, और कम से कम राइन तथा डेन्यूब नदियों के किनारे रहनेवाले क़बीले, मालूम होता है, अपनी जरूरत का सारा लोहा बाहर से मंगाते थे और ख़ुद खनन नहीं करते थे। रूनिक लिपि (जो यूनानी या लैटिन लिपि की नक़ल थी) एक गूढ़ संकेत-लिपि के रूप में महज़ धार्मिक जादू-टोने के लिये इस्तेमाल होती थी। मनुष्य-बलि की प्रथा अभी तक जारी थी। सारांश यह कि उस समय जर्मनों ने बर्बर युग की मध्यम अवस्था से हाल ही में निकलकर उन्नत अवस्था में प्रवेश किया था। जिन क़बीलों का रोमवासियों से सीधा सम्पर्क क़ायम हो गया था और इसलिये जो आसानी से रोम की औद्योगिक पैदावार का आयात कर सकते थे, वे इस कारण ख़ुद धातु तथा कपड़े के उद्योगों का विकास नहीं कर पाये; परन्तु इसमें तनिक भी संदेह नहीं हो सकता कि बाल्टिक सागर के तट पर रहनेवाले उत्तर-पूर्व के क़बीलों ने इन उद्योगों का विकास कर लिया था। श्लेज़विग के दलदलों में ज़िरहबख़्तर के जो नमूने मिले हैं—लोहे की लम्बी तलवार, बख़्तर, चांदी का शिरस्त्राण, आदि जो चीज़ें दूसरी सदी के अंत के रोमन सिक्कों के साथ मिली हैं—और लोगों के प्रव्रजन से जर्मनों की बनायी हुई धातु की जो चीज़ें फैल गयी हैं, वे, और उनमें वे भी जो रोमन नमूनों की नक़ल हैं, एक अनोखे ढंग की और बहुत बढ़िया कारीगरी के नमूने हैं। जब उन लोगों ने सभ्य रोमन साम्राज्य में प्रवेश किया तो एक इंगलैंड को छोड़कर अन्य सभी जगहों में उनके अपने उद्योग ख़तम हो गये। इन उद्योगों का जन्म और विकास बिल्कुल एक ढंग से हुआ था जिसका एक अच्छा प्रमाण है कांसे के बने हुए ब्रूच। बारगण्डी में, रूमानिया में और अज़ोव सागर के तट पर मिले ब्रूचों के नमूनों को ब्रिटेन और स्वीडन में बने ब्रूचों से मिलाने से मालूम पड़ेगा जैसे सब एक ही वर्कशाप में बने हैं, और इस बात में ज़रा भी संदेह नहीं कि ये सब जर्मन कारीगरी के नमूने हैं।

इन लोगों का संविधान भी बर्बर युग की उन्नत अवस्था के अनुरूप था। तासितुस के अनुसार आम तौर से मुखियाओं (principes) की एक परिषद होती थी जो कम महत्त्व के मामलों को तय करती थी और अधिक महत्त्व के प्रश्नों को जन-सभा के सामने फ़ैसले के लिये पेश करती थी। बर्बर युग की निम्न अवस्था में, कम से कम उन लोगों में जिनकी हमें जानकारी है, अमरीका के आदिवासियों में, जन-सभा केवल गोत्र में होती थी। उस समय तक क़बीले में, या क़बीलों के महासंघ में जन-सभा की प्रथा नहीं थी। इरोक्वा लोगों की तरह जर्मनों में भी परिषद के मुखियाओं (principes) और सेनानायकों (duces) में बहुत साफ़ अन्तर रखा जाता था। पहली कोटि के मुखिया क़बीले के सदस्यों से गाय-बैल, अनाज, आदि की भेंट लेने लगे थे और यह आंशिक रूप से उनकी जीविका का आधार बन गया था। अमरीका की तरह ये मुखिया भी आम तौर पर एक ही परिवार से चुने जाते थे। पितृ-सत्ता क़ायम हो जाने के परिणामस्वरूप यूनान और रोम की भांति यहां भी जिन पदों का पहले चुनाव हुआ करता था, वे धीरे-धीरे पुश्तैनी बन गये। इस प्रकार हर एक गोत्र में एक अभिजात परिवार का उदय हो गया। इन प्राचीन तथाकथित क़बायली अभिजातों का अधिकतर भाग लोगों के प्रव्रजन के दौरान या उसके कुछ समय बाद ख़तम हो गया। सेनानायकों का चुनाव केवल उनके गुणों के आधार पर होता था, उसमें उनके परिवार का कोई ख़याल नहीं किया जाता था। उनके पास बहुत कम अधि-कार होते थे और उन्हें दृष्टान्त के बल पर निर्भर रहना था। जैसा तासितुस ने साफ़-साफ़ कहा है, सेना में अनुशासन क़ायम रखने का असली अधिकार पुरोहितों के हाथ में होता था। वास्तविक सत्ता जन-सभा के हाथ में थी। राजा अथवा क़बीले का मुखिया सभापतित्व करता था और जनता निर्णय करती थी। मर्मरध्वनि का अर्थ होता था "नहीं", ज़ोर से नारे लगाने और हथियार खड़काने का मतलब होता था "हां"। जन-सभा न्यायालय का भी काम करती थी। उसके सामने शिकायतें पेश की जाती थीं और उनका फ़ैसला किया जाता था; और मृत्यु-दंड तक दिया जाता था। मृत्यु-दंड केवल कायरता, विश्वासघात और अप्राकृतिक दुराचार के मामलों में दिया जाता था। गोत्र और अन्य उपशाखाएं भी सामूहिक रूप से और अपने मुखिया के सभापतित्व में मुक़दमों की सुनवाई करती थीं। जर्मनों के शुरू के सभी न्यायालयों की भांति यहां भी सभापति को केवल जिरह करने और अदालत की कार्रवाई का संचालन करने का अधिकार होता था। जर्मनों में हर जगह और हमेशा यही प्रथा थी कि दंड का निर्णय पूरा समुदाय करता था।

सीज़र के समय से क़बीलों के महासंघ बनने लगे। उनमें से कुछ में अभी से राजा भी होने लगे थे। यूनानियों और रोमवासियों की तरह इन लोगों में भी सर्वोच्च सेनानायक शीघ्र ही तानाशाह बनने की आकांक्षा करने लगे। कभी-कभी वे अपनी आकांक्षा पूरी करने में सचमुच सफल भी हो जाते थे। इस तरह जो लोग सत्ता का अपहरण करने में सफल हो जाते थे वे कदापि निरंकुश शासक नहीं होते थे। फिर भी वे गोत्र-व्यवस्था के बंधनों को तोड़ने लगे। मुक्त किये गये दासों की आम तौर पर निम्न हैसियत होती थी, क्योंकि वे किसी गोत्र के सदस्य नहीं हो सकते थे, परन्तु नये राजाओं के ये कृपापात्र अक्सर ऊंचे पद, धन और सम्मान प्राप्त करने में सफल हो जाते थे। रोमन साम्राज्य को जीतने के बाद सेनानायकों के साथ यही हुआ और वे बड़े-बड़े देशों के राजा बनने लगे। फ़्रैंक लोगों में राजा के दासों और मुक्त किये गये दासों ने शुरू में राज-दरबार में और बाद में पूरे राज्य में बड़ी भूमिका अदा की। नये अभिजात वर्ग का एक बड़ा भाग इन्हीं लोगों का वंशज था।

राजतंत्र के उदय में एक संस्था से विशेष रूप से सहायता मिली और वह थी अंगरक्षक दल। हम ऊपर देख चुके हैं कि अमरीकी इंडियनों में गोत्रों के साथ-साथ स्वतंत्र रूप से युद्ध चलाने के लिये निजी संस्थायें बनायी जाती थीं। जर्मनों में इन निजी संस्थाओं ने स्थायी संगठनों का रूप धारण कर लिया। जो सेना-नायक ख्याति प्राप्त कर लेता था, उसके चारों ओर लूट के माल के इच्छुक नौजवान योद्धाओं का एक दल जमा हो जाता था। यह दल सेनानायक के प्रति व्यक्तिगत रूप से वफ़ादार होता था और सेनानायक अपने दल के प्रति। वह उन्हें खिलाता-पिलाता था, समय-समय पर उन्हें तोहफ़े देता था, और दरजावार तरतीब से उनका संगठन करता था: एक अंगरक्षक दल तथा छोटे-मोटे अभियानों में तत्काल भाग लेने के लिये तैयार एक टुकड़ी और बड़ी लड़ाइयों के लिये प्रशिक्षित अफ़सरों का एक जत्था होता था। ये निजी अंगरक्षक दल यद्यपि काफ़ी कमज़ोर होते होंगे और थे भी, जैसा कि बाद में, उदाहरण के लिये, इटली में ओडो-आसर के तहत साबित हुआ, उन्होंने प्राचीन जन-स्वातन्त्र्यों के ह्रास के लिये घुन का काम किया, जैसा कि लोगों के प्रव्रजन के दौरान तथा उसके बाद भी देखा गया। कारण कि एक तो उन्होंने राजसत्ता के पनपने के लिये अनुकूल भूमि प्रस्तुत की; दूसरे, जैसा कि तासितुस ने कहा है, इन सेनाओं को बनाये रखने के लिये ज़रूरी था कि उन्हें सदा लड़ाइयों तथा लूट-मार की मुहिमों में लगाये रखा जाये। लूट-पाट उनका मुख्य उद्देश्य बन गया। यदि उनके सरदार को अपने

पास-पड़ोस में कुछ करने की सम्भावना नहीं दिखायी देती थी, तो वह अपनी सेना को लेकर दूसरे देशों में चला जाता था, जहां युद्ध चलता होता तथा लूट का माल हासिल करने की सम्भावना दिखायी देती थी। जो जर्मन सहायक सेनायें रोमन झंडे के नीचे स्वयं जर्मनों से भी एक बड़ी संख्या में लड़ी थीं, वे आंशिक रूप में ऐसे ही दलों से बनी थीं। यही वह पहला बीज था जिससे बाद में चलकर Landsknecht* व्यवस्था ने जन्म लिया जो जर्मनों के लिये कलंक और अभिशाप बन गयी। रोमन साम्राज्य को जीतने के बाद दासों तथा रोमन दरबारी ख़िदमतगारों के साथ मिलकर राजाओं के ये निजी अंगरक्षक दल भी बाद के काल में अभिजात वर्ग के दूसरे संघटक अंग बन गये।

इस प्रकार जातियों के रूप में गठित जर्मन क़बीलों का संघटन उसी प्रकार का था जैसा वीर-काल के यूनानियों और तथाकथित राजाओं के काल के रोमन लोगों में विकसित हुआ था: जन-सभा, गोत्रों के मुखियाओं की परिषद और सेनानायक, जिन्होंने अभी से असली राजा बनने के सपने देखना शुरू कर दिया था। गोत्र-व्यवस्था इससे अधिक विकसित ढंग का संघटन नहीं पैदा कर सकती थी। वह बर्बर युग की उन्नत अवस्था का आदर्श संघटन था। जैसे ही समाज उन सीमाओं से बाहर निकल गया, जिनके लिये यह संघटन अनुकूल था, वैसे ही गोत्र-व्यवस्था का अंत हो गया। गोत्र-व्यवस्था टूट गयी और उसका स्थान राज्य ने ले लिया।

८

जर्मनों में राज्य का गठन

तासितुस का कहना है कि जर्मन लोगों की संख्या बहुत बड़ी थी। अलग-अलग जर्मन जातियों की क्या तादाद थी, इसका एक मोटा ख़ाका सीज़र ने दिया है। उसका कहना है कि राइन नदी के बायें तट पर प्रकट होनेवाले उसीपैटों और टेंक्टेरों की संख्या, औरतों और बच्चों को शामिल करके, १,८०,०००

*भाड़े के सिपाही। – सं०

थी। इस प्रकार हर एक जाति में क़रीब-क़रीब एक लाख लोग थे।* ज़ाहिर है कि सबसे अधिक उन्नति के काल में भी इरोक्वा लोगों की संख्या इससे बहुत कम थी। जिस समय ग्रेट लेक्स से लेकर ओहिओ और पोतोमैक नदियों तक का पूरा देश उनसे आतंकित था, उस समय इरोक्वा लोगों की संख्या २०,००० भी नहीं थी। यदि हम राइन प्रदेश की उन जातियों को, जिनके बारे में रिपोर्टों की बदौलत हमें ज़्यादा जानकारी है, नक़्शे पर अलग-अलग अंकित करें तो हम पायेंगे कि उनमें से हर जाति औसतन प्रशा के एक प्रशासकीय ज़िले के बराबर के इलाक़े में, यानी १०,००० वर्ग किलोमीटर या १८२ भौगोलिक वर्ग मील में फैली हुई थी। लेकिन रोमनों का Germania Magna** जो विस्चुला नदी तक पहुंचा हुआ था, क़रीब ५,००,००० वर्ग किलोमीटर में फैला हुआ था। यदि एक जाति के लिये औसतन एक लाख की आबादी का हिसाब रखा जाये तो Germania Magna की कुल आबादी ५० लाख हो जाती है – जो बर्बर युग के लोगों के एक समूह के लिये ज़रा बड़ी संख्या है, गोकि १० आदमी प्रति वर्ग किलोमीटर, या ५५० आदमी प्रति भौगोलिक वर्ग मील की आबादी आजकल की हालत के मुक़ाबले में बहुत कम है। परन्तु इस संख्या में उस काल में मौजूद तमाम जर्मन शामिल नहीं हैं। हम जानते हैं कि गॉथ मूल के लोग, अर्थात् बास्टर्न, प्युकिनियन वग़ैरह लोग कार्पेथियन पर्वत के साथ-साथ डेन्यूब नदी के मुहाने तक बसे हुए थे। संख्या में वे इतने बड़े थे कि प्लिनी ने उन्हें जर्मन क़बीलों का पांचवां मुख्य समूह कहा था। १८० ई० पू० में ही ये क़बीले मेसीडोनिया के राजा पर्सियस के भाड़े के सिपाही बने हुए थे और औगस्तस के राज के शुरू के वर्षों में वे एद्रियानोपोल के पास तक बढ़ गये थे। यदि यह मानकर चला जाये कि इन लोगों की संख्या केवल दस लाख थी तो ईसवी सन के आरम्भ में जर्मनों की कुल संख्या शायद साठ लाख से कम नहीं थी।

जर्मनी (Germanien) में बस जाने के बाद इनकी आबादी अधिकाधिक तेज़ी

---

*गाल प्रदेश के केल्ट लोगों के बारे में दिओदोरस ने जो कुछ कहा है, उससे इस संख्या की पुष्टि होती है। उसने लिखा है: "गाल प्रदेश में छोटी-बड़ी बहुतेरी जातियां रहती हैं। सबसे बड़ी जाति में कोई २,००,००० लोग हैं और सबसे छोटी में ५०,०००" (Diodorus Siculus, V, 25)। इससे सवा लाख का औसत निकलता है। पर गाल की कई जातियां चूंकि अधिक विकास कर चुकी थीं, इसलिये निश्चय ही जर्मनों से उनकी संख्या अधिक रही होगी।

**महान जर्मनी। – सं०

से बढ़ती गयी होगी। ऊपर हमने जिस औद्योगिक उन्नति का ज़िक्र किया, वह इसका पर्याप्त प्रमाण है। श्लेज़विग के दलदलों में जो वस्तुएं मिली हैं, वे तीसरी सदी की मालूम पड़ती हैं, क्योंकि उनके साथ जो रोम के सिक्के प्राप्त हुए हैं, वे इसी काल के हैं। इसका मतलब यह है कि तीसरी सदी तक बाल्टिक सागर के तट पर धातु तथा वस्त्र-उद्योग का काफ़ी विकास हो चुका था, रोमन साम्राज्य के साथ काफ़ी व्यापार होता था और धनिक लोग कुछ हद तक ऐश से रहने लगे थे। ये तमाम बातें बताती हैं कि आबादी पहले से कहीं अधिक घनी हो गयी थी। इसी काल में जर्मनों ने राइन नदी, रोम के सरहदी परकोटे और डेन्यूब नदी से बननेवाली सीमा के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक, उत्तरी सागर से लेकर काले सागर तक, आम चढ़ाई शुरू कर दी। यह बात बताती है कि जर्मनों की आबादी बराबर बढ़ रही थी और अपने इलाक़ों से बाहर निकलने की कोशिश कर रही थी। संघर्ष के तीन सौ वर्षों में गॉथ लोगों का मुख्य समूह (स्कैंडिनेविया के गॉथ लोगों तथा बरगांडियों को छोड़कर) दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़ गया और वह इस हमलावर मोर्चे का बायां बाज़ू बन गया। उत्तरी जर्मन लोग (हर्मीनोन) ऊपरी डेन्यूब प्रदेश और इस्कीवोनियन लोग, जो इस समय तक फ़्रैंक कहलाने लगे थे, राइन नदी प्रदेश में बढ़ आये। ब्रिटेन को जीतने का काम इंगीवोनियन लोगों के ज़िम्मे पड़ा। पांचवीं सदी के अंत में शक्तिहीन और निःसहाय रोमन साम्राज्य के द्वार जर्मन आक्रमणकारियों के लिये बिल्कुल खुले हुए थे।

पिछले अध्यायों में हमने प्राचीन यूनानी और रोमन सभ्यता के शैशव काल को देखा। अब हम उसके मृत्यु काल को देख रहे हैं। कई सदियों से भूमध्य सागर के सभी देशों पर रोम के विश्व प्रभुत्व का रन्दा चल रहा था। उन जगहों को छोड़कर जहां यूनानी भाषा ने उसका मुक़ाबला किया, तमाम जातीय भाषाएं एक विकृत ढंग की लैटिन के सामने पराजित हो गयी थीं। जाति-भेद नाम की कोई चीज़ नहीं रह गयी थी। गाल, इबेरियन, लाइगूरियन, नौरिक जातियां नहीं रह गयी थीं। अब सब रोमन हो गये थे। रोमन शासन-व्यवस्था और रोमन क़ानून ने पुराने रक्त-सम्बद्ध समूहों को हर जगह नष्ट कर दिया था और इस प्रकार स्थानीय तथा जातीय आत्माभिव्यक्ति के अन्तिम अवशेषों को ध्वस्त कर दिया था। नया अधकचरा रोमवाद इस क्षति को पूरा नहीं कर सकता था। वह किसी जातीयता को नहीं, बल्कि केवल जातीयता के अभाव को प्रगट करता था। नये राष्ट्रों के निर्माण के तत्त्व हर जगह मौजूद थे। विभिन्न प्रान्तों की लैटिन बोलियां एक दूसरे से अधिकाधिक भिन्न होती जा रही थीं। जिन प्राकृतिक सीमाओं

ने एक समय इटली, गाल, स्पेन, अफ़्रीका को स्वतंत्र प्रदेश बना दिया था, वे अब भी मौजूद थीं और उनका प्रभाव अभी भी पड़ रहा था। फिर भी कोई ऐसी शक्ति नहीं दिखायी पड़ती थी जो इन तत्त्वों को मिलाकर नये राष्ट्र गठित करने में समर्थ होती। सृजन शक्ति को तो जाने दीजिये, विकास की क्षमता या प्रतिरोध की शक्ति का भी कोई चिह्न कहीं नहीं दिखायी देता था। उस विस्तृत भूखंड में रहनेवाले विशाल जन-समुदाय को केवल एक चीज़ ने – रोमन राज्य ने – बांध रखा था और वही समय बीतते-बीतते इस जन-समुदाय का सबसे बड़ा शत्रु और उत्पीड़क बन गया था। प्रान्तों ने रोम को बरबाद कर दिया था, रोम ख़ुद और सभी नगरों के समान एक प्रान्तीय नगर बन गया था। उसे अब भी विशेष रुतबा हासिल था, पर अब वह शासन नहीं करता था, अब वह विश्व साम्राज्य का केन्द्र नहीं रह गया था, यहां तक कि अब वह सम्राटों और उप-सम्राटों का निवास-स्थान भी नहीं था। वे लोग अब कुस्तुनतुनिया, त्रियेर और मिलान में रहने लगे थे। रोमन राज्य एक विराट, जटिल मशीन बन गया था; जिसका अस्तित्व प्रजा का शोषण करने के उद्देश्य के लिए ही था। तरह-तरह के करों, राज्य के लिये सेवाओं और उगाहियों से आम लोग ग़रीबी के दलदल में अधिकाधिक धंसते जाते थे। प्रोक्यूरेटर, कर वसूल करनेवाले कर्मचारी और सिपाही जनता के साथ जिस तरह की ज़ोर-ज़बर्दस्ती करते थे, उससे यह दबाव असह्य हो गया था। जिस रोमन राज्य ने सारे संसार को अपने अधीन बना डाला था, उसने यह हालत पैदा कर दी: अपने अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करने के लिये उसने साम्राज्य के अंदर व्यवस्था और बाहर से बर्बर लोगों से हिफ़ाज़त को अपना आधार बनाया। परन्तु उसकी व्यवस्था बुरी से बुरी अव्यवस्था से भी अधिक जानलेवा थी और जिन बर्बर लोगों से वह अपने नागरिकों को बचाने का ढोंग किया करता था, उन्हीं का उसकी प्रजा ने तारनहार के रूप में स्वागत किया।

सामाजिक अवस्थाएं भी कम निराशाजनक नहीं थीं। गणराज्य के अन्तिम वर्षों में विजित प्रान्तों का क्रूर शोषण रोम के शासन का आधार बन गया था। साम्राज्य ने इस शोषण का अंत नहीं किया, उल्टे उसे व्यवस्थित रूप दे दिया। जैसे-जैसे साम्राज्य पतन के गढ़े में गिरता गया, वैसे-वैसे कर और बेगार बढ़ती गयी और उतनी ही अधिक बेशर्मी से अफ़सर लोग जनता को लूटने और उस पर धौंस जमाने लगे। जनगण पर राज करने में व्यस्त रोमन लोगों का धंधा व्यापार और उद्योग कभी नहीं रहा था। केवल सूदख़ोरी में ही वे सबसे बढ़-

चढ़कर थे – अपने पहले के लोगों से और बाद के लोगों से भी। जो थोड़ा-बहुत व्यापार होता था और किसी तरह चल भी रहा था उसे अफ़सर लोगों की जबरिया कर-वसूली ने तबाह कर डाला। और जितना बचा था, वह भी साम्राज्य के पूर्वी, यूनानी भाग में होता था परन्तु वह इस पुस्तक के विषय क्षेत्र के बाहर है। सर्वव्यापी ग़रीबी और तबाही, व्यापार, दस्तकारी और कला की अवनति, आबादी का ह्रास, नगरों की पतनोन्मुखता, खेती का गिरकर पहले से भी नीची अवस्था में पहुंच जाना – रोम के विश्व प्रभुत्व का अंत में यही परिणाम हुआ था।

खेती, जो प्राचीन काल से उत्पादन की निर्णायिक शाखा रही है अब और भी निर्णायिक हो गयी थी। गणराज्य के अंत के समय से ही जो बड़ी-बड़ी जागीरें (latifundia) इटली भर में फैली हुई थीं, उनका दो तरह से इस्तेमाल किया जाता था: या तो चरागाहों के रूप में, जिन पर मनुष्यों का स्थान भेड़ों और गाय-बैलों ने ले लिया था और जिनकी देखभाल के लिये चंद दास काफ़ी होते थे; या ऐसी जागीरों के रूप में जिन पर बड़ी संख्या में दासों के श्रम से बड़े पैमाने पर बाग़बानी की जाती थी। इन बग़ीचों की उपज कुछ हद तक तो उनके मालिकों के ऐश-आराम के काम में आती थी और कुछ हद तक शहरी बाजारों में बेच दी जाती थी। बड़े-बड़े चरागाहों को क़ायम रखा गया था और उनका कुछ विस्तार भी किया गया था। परन्तु बड़ी-बड़ी जागीरें और उनके बग़ीचे उनके मालिकों के तबाह-बरबाद हो जाने तथा शहरों के ह्रास के परिणामस्वरूप बरबाद हो गये। दास-श्रम पर आधारित बड़ी-बड़ी जागीरों की अर्थव्यवस्था अब लाभप्रद नहीं रह गयी थी, परन्तु उस समय बड़े पैमाने की खेती केवल इसी ढंग से हो सकती थी। इसलिये फिर से केवल छोटे पैमाने की खेती ही लाभप्रद रह गयी। एक के बाद दूसरी जागीर बंटने लगी और या तो छोटे-छोटे टुकड़ों में पुश्तैनी काश्तकारों को, जो एक निश्चित लगान देते थे, दे दी गयीं, या partiarii * को दे दी गयीं, जिन्हें काश्तकार न कहकर फ़ार्म मेनैजर कहना ज़्यादा सही होगा। इन लोगों को अपनी मेहनत के बदले में साल भर की उपज का केवल छठा या नवां हिस्सा ही मिलता था। मगर इनसे भी ज़्यादा बड़ी संख्या में ये छोटे-छोटे खेत coloni को दे दिये गये जो मालिक को हर साल एक निश्चित रक़म देते थे। वे ज़मीन से बंधे हुए थे और खेतों के साथ बेचे जा सकते थे।

* हिस्सेदार। – सं०

वे लोग दास नहीं थे, पर साथ ही स्वतंत्र नागरिक भी नहीं माने जाते थे। उन्हें स्वतंत्र नागरिकों के साथ विवाह की इजाजत नहीं थी और यदि वे आपस में विवाह करते थे तो वह भी क़ानूनी नहीं माना जाता था, बल्कि जैसा कि दासों में होता था, उस विवाह की हैसियत रखैलपन (contubernium) की होती थी। ये लोग मध्य युग के भूदासों के पूर्ववर्ती थे।

प्राचीन काल की दास-प्रथा पुरानी पड़ गयी। न तो उससे देहात में बड़े पैमाने की खेती में, और न शहरों के कारख़ानों में उपयुक्त आय होती थी। उसकी पैदावार के लिये बाज़ार का लोप हो गया था। साम्राज्य के समृद्धि काल के विशाल उत्पादन की जगह पर अब केवल छोटे पैमाने की खेती और छोटी-मोटी दस्तकारियां ही रह गयी थीं, और उनमें दासों की बड़ी संख्या के लिए कोई गुंजाइश न थी। अब समाज में केवल धनी लोगों के घरेलू कामों को करनेवाले तथा उनकी ऐश-आराम की ज़रूरतों को पूरा करनेवाले दासों के लिये ही स्थान रह गया था। परन्तु मरणोन्मुख दास-प्रथा अभी भी इतनी शक्तिशाली ज़रूर थी कि हर प्रकार का उत्पादक काम दास-श्रम मालूम पड़े जिसे करना स्वतंत्र रोमन अपनी शान के ख़िलाफ़ समझें – और अब हर कोई स्वतंत्र रोमन नागरिक था। इसलिये एक ओर तो फ़ालतू दासों की संख्या में वृद्धि हो गयी थी और वे भार बन जाने के कारण मुक्त कर दिये जाते थे, और दूसरी ओर coloni तथा कंगाल बने स्वतंत्रों की संख्या में वृद्धि हो गयी थी (अमरीका के भूतपूर्व दास-प्रथावाले राज्यों के ग़रीब गोरों की तरह)। प्राचीन काल की दास-प्रथा यदि इस प्रकार धीरे-धीरे विलुप्त हो गयी तो इसका ईसाई धर्म को कोई दोष नहीं दिया जा सकता। ईसाई धर्म ने रोमन साम्राज्य में सदियों तक दास-प्रथा का रसास्वादन किया था। बाद में जब स्वयं ईसाइयों ने भी दासों का व्यापार करना शुरू किया, जैसा कि उत्तर में जर्मन लोग करते थे, या भूमध्य सागर में वेनिस के लोग करते थे, या जैसा कि और भी बाद में नीग्रो लोगों का व्यापार होता था,* तो ईसाई धर्म ने उसे रोकने की कभी कोशिश नहीं की। दास-प्रथा लाभप्रद नहीं रह गयी थी, इसलिये वह विलुप्त हो गयी। लेकिन मरते-मरते भी वह ज़हरीला डंक छोड़ गयी, यह ठप्पा लगा गयी कि यदि स्वतंत्र नागरिक उत्पादक काम करेगा, तो

---

* क्रेमोना के बिशप ल्युतप्रांद ने बताया है कि दसवीं सदी में वेर्दे में, अर्थात् पवित्र जर्मन साम्राज्य में[41], प्रधान उद्योग-धंधा हिजड़े बनाना था, जो मूर लोगों के हरमों के वास्ते बड़े मुनाफ़े पर स्पेन भेजे जाते थे।

वह नीच माना जायेगा। यह थी वह बंद गली जिसमें रोमन संसार फंस गया था: दास-प्रथा का अस्तित्व आर्थिक दृष्टि से असम्भव हो गया था, परन्तु स्वतंत्र लोगों के श्रम पर नैतिक रोक लगी हुई थी। दास-प्रथा अब सामाजिक उत्पादन का बुनियादी रूप नहीं बनी रह सकती थी, स्वतंत्र लोगों का श्रम सामाजिक उत्पादन का बुनियादी रूप अभी बन नहीं सकता था। इस स्थिति में आमूल क्रान्ति ही कुछ कर सकती थी।

प्रांतों की हालत इससे बेहतर नहीं थी। हमारे पास जो रिपोर्टें हैं उनमें अधिकांश गाल प्रदेश के बारे में है। यहां coloni के साथ-साथ स्वतंत्र छोटे किसान अभी भी मौजूद थे। अफ़सरों, जजों और सूदखोरों के अत्याचारों से बचने के लिये ये किसान अक्सर शक्तिमान व्यक्तियों के संरक्षण में, उनकी सरपरस्ती में रहते थे; अलग-अलग व्यक्ति ही नहीं, बल्कि पूरे के पूरे समुदाय ऐसा करते थे। यहां तक कि चौथी सदी के सम्राट अक्सर फ़रमान जारी कर इस प्रथा पर प्रतिबंध लगाते थे। पर ऐसे संरक्षण से उन लोगों को क्या मदद मिलती थी जो इसे प्राप्त करने की कोशिश करते थे? संरक्षक इस शर्त पर उन्हें संरक्षण प्रदान करता था कि वे अपनी ज़मीनें उसके नाम कर दें, बदले में वह उन्हें जीवन भर इन ज़मीनों को इस्तेमाल करने का हक़ दे देता था। पवित्र चर्च ने इस चाल को याद रखा और नवीं तथा दसवीं सदी में इसका ख़ूब इस्तेमाल किया, जिससे भगवान का गौरव भी बढ़ा और गिरजाघर की ज़मीन-जायदाद में भी बड़ा इज़ाफ़ा हुआ। हां, उस समय, ४७५ ई० के क़रीब, हम देखते हैं कि मार्सेई के बिशप सालवियेनस इस डकैती की ज़ोरदार निन्दा कर रहे थे और बताते थे कि रोम के अधिकारियों और बड़े ज़मींदारों का अत्याचार इतना असह्य हो उठा कि बहुत से "रोमन" उन इलाक़ों में भाग गये थे जिन पर बर्बर लोगों का क़ब्ज़ा हो चुका था, और जो रोमन नागरिक वहां बस गये थे, उन्हें सबसे ज़्यादा इस बात का भय था कि उनका इलाक़ा कहीं फिर से रोमन शासन के अधीन न हो जाये। उस ज़माने में अक्सर ग़रीब मां-बाप अपने बच्चों को दासों की तरह बेच डालते थे—यह बात इस प्रथा को रोकने के लिये बने एक क़ानून से सिद्ध होती है।

रोमनों को ख़ुद उनके अपने राज्य से मुक्त करने के एवज़ में जर्मन बर्बरों ने पूरी ज़मीन का दो-तिहाई भाग ख़ुद हड़प लिया और उसे आपस में बांट लिया। बंटवारा गोत्र-व्यवस्था के अनुसार किया गया। विजेता चूंकि संख्या में कम थे, इसलिये बड़े-बड़े भूखंड बिना बंटे रह गये। इनमें से कुछ तो पूरी जाति की

सम्पत्ति रहे और कुछ अलग-अलग क़बीलों या गोत्रों की। हर गोत्र में अलग-अलग कुटुम्बों के बीच खेतों व चरागाहों का बंटवारा बराबर-बराबर हिस्से बनाकर परची डालकर किया गया। उस काल में यह बंटवारा बार-बार हुआ करता था या नहीं, इस बात को हम नहीं जानते। पर इतना निश्चित है कि रोमन प्रांतों में यह प्रथा जल्द ही बंद हो गयी और हर कुटुम्ब का हिस्सा उसकी निजी सम्पत्ति, "एलोडियम", बन गया। जंगल और चरागाहों को नहीं बांटा गया, वे सब के इस्तेमाल के लिए थे। उनके इस्तेमाल और बंटी हुई ज़मीन के जोतने का ढंग प्राचीन रीति के अनुसार तथा पूरे समुदाय के निर्णयानुसार तय होता था। गोत्र को अपने गांव में बसे जितने ज्यादा दिन बीतते गये और समय बीतने के साथ-साथ जर्मन और रोमन लोग आपस में जितने ज्यादा घुलते-मिलते गये, उतना ही रक्त-सम्बन्ध गौण और प्रादेशिक सम्बन्ध प्रधान होता गया। अंततः गोत्र मार्क-समुदाय में तिरोहित हो गया, पर उसमें सदस्यों के मूल रक्त-सम्बन्ध के पर्याप्त चिह्न अब भी दिखायी देते थे। इस प्रकार कम से कम उन देशों में, जहां मार्क-समुदाय क़ायम रह गया था--फ्रांस के उत्तर में और इंगलैंड, जर्मनी तथा स्कैंडिनेविया में--रक्त-सम्बन्ध पर आधारित गोत्र-व्यवस्था धीरे-धीरे प्रादेशिक व्यवस्था में बदल गयी और इस प्रकार वह इस योग्य बन गयी कि राज्य-व्यवस्था के साथ फ़िट बैठ सके। फिर भी उसका वह स्वाभाविक जनवादी स्वरूप क़ायम रहा जो पूरी गोत्र-व्यवस्था की मुख्य विशेषता है, और कालान्तर में जब वह लाचार होकर पतनोन्मुख हुआ तब भी उसमें गोत्र-संघटन का कुछ अंश ज़रूर बाक़ी रहा, जो दलित जनता के हाथ में एक अस्त्र बन गया और जिसका वह आधुनिक काल में भी प्रयोग करती है।

गोत्र में रक्त-सम्बन्ध के महत्त्व के तेज़ी से ख़तम होने का कारण यह था कि क़बीले में और पूरी जाति में भी विजय के फलस्वरूप गोत्र-निकायों का ह्रास हो गया। हम जानते हैं कि पराधीन जनों पर शासन करना गोत्र-व्यवस्था से मेल नहीं खाता। यहां यह बात बहुत बड़े पैमाने पर दिखायी पड़ती है। जर्मन लोग अब रोमन प्रांतों के मालिक बन गये थे। उनके लिये अपनी विजय को संगठित रूप देना आवश्यक था। परन्तु रोमनों के विशाल जन-समुदाय को न तो गोत्र-संघटन के निकायों में सम्मिलित किया जा सकता था और न इन निकायों की सहायता से उन पर शासन किया जा सकता था। रोमनों की स्थानीय प्रशासन-संस्थाएं शुरू में जर्मन विजय के बाद भी काम करती रही थीं, पर यह आवश्यक था कि उनके ऊपर कोई ऐसा संगठन हो जो रोमन राज्य का स्थान ले सके

और यह दूसरा राज्य ही हो सकता था। इसलिये गोत्र-संघटन के निकायों को राज्य के निकायों में बदलना पड़ा और परिस्थितियों के दबाव के कारण यह काम बहुत जल्दी में करना पड़ा। परन्तु विजेता जनता का पहला प्रतिनिधि सेनानायक था। जीते हुए प्रदेश की घरेलू और बाहरी सुरक्षा का तक़ाज़ा था कि उसके अधिकारों को बढ़ाया जाये। सैनिक नेतृत्व को राजा की सत्ता में बदल देने का समय आ गया था। यह काम भी कर दिया गया।

फ्रैंक लोगों के राज्य को लीजिये। यहां न केवल रोमन राज्य के विशाल इलाक़े विजयी सालियन फ्रैंकों को एकच्छत्र अधिकार में मिल गये थे, बल्कि ऐसे भी सभी बड़े भूखंड, विशेषकर सभी बड़े जंगल, उनके हाथ में आ गये थे, जो बड़े और छोटे ज़िलों (gau) अथवा मार्क-समुदायों के बीच नहीं बांटे गये थे। फ्रैंक लोगों के राजा ने, जो साधारण सेनानायक से वास्तविक राजा बना था, पहला काम यह किया कि जनता की इस सम्पत्ति को शाही सम्पत्ति बना डाला, इस ज़मीन को जनता से चुरा लिया और अपने निजी अंगरक्षक दल को इनाम या भेंट के तौर पर दे दिया। उसके निजी अंगरक्षक दल की, जिसमें पहले केवल निजी सैन्य अनुचर तथा सेना के बाक़ी तमाम उपनायक हुआ करते थे, बाद में संख्या बहुत बढ़ गयी। उनमें न केवल रोमन लोग, यानी गाल प्रदेश के वे निवासी शामिल हो गये जो रोमन बन गये थे, और जो लिखने की कला जानने, शिक्षित होने और देश के क़ानूनों के साथ-साथ बोल-चाल की रोमानी भाषा तथा साहित्यिक लैटिन की भी जानकारी रखने के कारण राजा के लिये बहुत जल्द ही नितांत आवश्यक बन गये थे; बल्कि उनमें दास, भूदास तथा मुक्त किये गये दास भी शामिल हो गये। ये सब राजा के दरबारी थे, जिनमें से वह अपने कृपापात्रों को चुनता था। इन तमाम लोगों को सार्वजनिक भूमि के खंड शुरू में इनाम के रूप में, और बाद में दान («Beneficium») के रूप में दे दिये गये जो आरम्भ में अधिकतर प्रायः राजा के जीवन-काल के लिये मिलते थे[42]। इस प्रकार जनता की क़ीमत पर एक नये अभिजात वर्ग का आधार तैयार हुआ।

परन्तु बात यहीं पर ख़तम नहीं हुई। उस लम्बे-चौड़े दूर-दूर तक फैले साम्राज्य पर पुराने गोत्र-विधान द्वारा शासन नहीं किया जा सकता था। मुखियाओं की परिषद, यदि वह बहुत दिन पहले ही लुप्तप्रयोग नहीं हो गयी हो, तो भी, अब नहीं बैठ सकती थी और शीघ्र ही राजा के स्थायी परिजनों ने उसका स्थान ले लिया। पुरानी जन-सभा को नाम मात्र के लिये क़ायम रखा गया, पर वह

अधिकाधिक महज़ उपसेनानायकों तथा नये पनप रहे अभिजात वर्ग के लोगों की सभा में बदलती गयी। जिस तरह रोम के किसान गणराज्य के अन्तिम काल में बरबाद हो गये थे, ठीक उसी तरह लगातार गृह-युद्धों और विजयाभियानों के कारण – चार्ल्स महान के काल में ख़ास तौर पर विजयाभियानों के कारण – अपनी भूमि के मालिक स्वतंत्र किसान, यानी अधिकांश फ़्रैंक लोग अशक्त हो घोर दरिद्रता की स्थिति में पहुंच गये थे। शुरू में, पूरी सेना केवल इन किसानों की हुआ करती थी; फ़्रैंक प्रदेशों की विजय के बाद भी सेना का केंद्र भाग इन किसानों का ही हुआ करता था, परन्तु नवीं शताब्दी के आरम्भ तक ये किसान इतने ज़्यादा ग़रीब हो गये थे कि पांच में से मुश्किल से एक आदमी सैनिक अभियान में भाग लेने लायक़ रह गया था। पहले स्वतंत्र किसानों की सेना थी जो सीधे राजा के आह्वान पर इकट्ठा हो जाया करती थी। अब उसकी जगह नवोदित अभिजात धनिकों के ख़िदमतगारों की सेना ने ले ली। इन ख़िदमतगारों में वे अधीन किसान भी थे जो उन किसानों के वंशज थे जो पहले राजा के सिवा और किसी को अपना स्वामी नहीं मानते थे और उसके भी कुछ पहले किसी को भी, राजा तक को भी, अपना स्वामी नहीं मानते थे। चार्ल्स महान के उत्तराधिकारियों के शासन-काल में इतने गृह-युद्ध हुए, राजा की शक्ति इतनी क्षीण हो गयी और उसी हिसाब से नये धनिकों ने, जिनमें चार्ल्स महान द्वारा बनाये गये ज़िलों के वे काउंट (Gaugrafen)[43] भी शामिल हो गये थे जो अपने पद को पुश्तैनी बनाने की कोशिश कर रहे थे, इतना हथिया लिया था कि फ़्रैंक किसानों की बरबादी और भी बहुत ज़्यादा बढ़ गयी। नोर्मन लोगों के आक्रमणों ने बाक़ी कसर भी पूरी कर दी। चार्ल्स महान की मृत्यु के पचास वर्ष बाद फ़्रैंक साम्राज्य नोर्मन आक्रमणकारियों के चरणों पर उसी निस्सहाय अवस्था में पड़ा था, जैसे कि उसके चार सौ वर्ष पहले रोमन साम्राज्य फ़्रैंक लोगों के क़दमों पर पड़ा था।

फ़्रैंक साम्राज्य इस समय न केवल बाहरी दुश्मनों के सामने निस्सहाय था, बल्कि समाज की अंदरूनी व्यवस्था, या शायद उसे अव्यवस्था कहना ज़्यादा सही होगा, भी उसी निस्सहाय स्थिति में थी। स्वतंत्र फ़्रैंक किसान अब उसी स्थिति में थे, जो उनके पूर्ववर्ती रोमन colon की स्थिति हो गयी थी। युद्धों तथा लूट-मार से बरबाद होकर वे नये धनिकों अथवा गिरजाघर का संरक्षण पाने की चेष्टा करने के लिये मजबूर थे, क्योंकि शाही शक्ति इतनी नहीं थी कि उनकी रक्षा कर सके। पर इस संरक्षण के लिये उन्हें बहुत महंगा दाम चुकाना पड़ा।

जैसा कि पहले गाल के किसानों को करना पड़ा था, वैसा ही अब उन्हें अपनी भूमि अपने संरक्षकों के नाम अंतरित कर देनी पड़ी, और फिर उसी ज़मीन को किसी न किसी रूप में काश्तकार बनकर जोतना पड़ा। ये रूप कितने भी भिन्न क्यों न हों, परन्तु एक बात सब में अवश्य थी – यह कि काश्तकार को अब अपने नये मालिक को बेगार और लगान देना पड़ता था। एक बार इस प्रकार की अधीनता में फंस जाने के बाद वे धीरे-धीरे अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता भी खो बैठे। चंद पीढ़ियों के बाद उनमें से अधिकतर भूदास बन गये। स्वतंत्र किसानों का लोप कितनी तेज़ी से हुआ, इसका परिचय हमें सेंट-जर्मे-द-प्रे के मठ की भूमि-सम्बन्धी इर्मिनोन की खतौनी से मिल सकता है। पहले यह मठ पेरिस के नज़दीक था, आजकल पेरिस में है। चार्ल्स महान के जीवन-काल में भी, इस मठ की जागीर में, जो आस-पास के इलाक़े में दूर-दूर तक फैली हुई थी, २,७८८ कुटुम्ब रहते थे, जो लगभग सब के सब जर्मन नामों वाले फ़्रैंक लोग थे। उनमें से २,०८० coloni थे, ३५ liti, २२० दास और केवल ८ स्वतंत्र किसानों के कुटुम्ब थे! जिस प्रथा के अनुसार किसान की ज़मीन को संरक्षक अपनी बना लेता था और किसान को केवल जीवन भर उसे उपयोग करने का अधिकार देता था, जिस प्रथा को सालवियेनस ने अधार्मिक बताया था, वही अब हर जगह किसानों के साथ व्यवहार में गिरजाघर की प्रिय प्रथा बन गयी थी। सामन्ती भूदासता का चलन अधिकाधिक बढ़ रहा था। वह जिस हद तक रोमन angariae, अर्थात् सरकारी बेगार के नमूने पर ढाली गयी थी[44], उसी हद तक वह जर्मन मार्क-समुदाय के सदस्यों से पुल और सड़क बनाने के, तथा अन्य सार्वजनिक काम लेने की प्रथा पर आधारित हो गई थी। इस प्रकार ऐसा लगता था कि चार सौ वर्ष बाद विशाल जन-समुदाय फिर वहीं पहुंच गया जहां से वह चला था।

लेकिन इससे केवल दो बातें साबित होती थीं। एक तो यह कि पतनोन्मुख रोमन साम्राज्य में सामाजिक स्तरीकरण और सम्पत्ति का वितरण उस काल में खेती तथा उद्योग के उत्पादन के स्तर के पूर्णतः अनुरूप थे, और इसलिये अपरिहार्य थे; दूसरे यह कि उस काल के बाद आनेवाले चार सौ वर्षों में उत्पादन का वह स्तर न तो ख़ास ऊपर उठा और न नीचे गिरा, और इसलिये उससे लाज़िमी तौर से उसी पुराने ढंग का सम्पत्ति-वितरण तथा आबादी का वर्ग-विभाजन पैदा हुआ। रोमन साम्राज्य की अन्तिम शताब्दियों में शहर का देहात पर प्रभुत्व नहीं रह गया था और वह जर्मन शासन की प्रारम्भिक शताब्दियों में भी फिर

से क़ायम नहीं हो पाया। इसका अर्थ यह है कि इस पूरे अरसे में खेती तथा उद्योग, दोनों का स्तर बहुत नीचा था। सामान्यतः ऐसी हालत होने पर और उसके फलस्वरूप शासक बड़े-बड़े ज़मींदारों और पराधीन छोटे-छोटे किसानों का होना लाज़िमी है। ऐसे समाज में न तो दास-श्रम के सहारे चलनेवाली बड़ी-बड़ी जागीरों की रोमन अर्थव्यवस्था, और न भूदास-श्रम के सहारे चलनेवाली बड़े पैमाने की नवीनतम खेती की क़लम लगायी जा सकती थी। इस बात का सबसे अच्छा प्रमाण यह है कि चार्ल्स महान ने अपनी मशहूर शाही जागीरों के जो विस्तृत प्रयोग किये थे, उनका बाद में चिह्न तक न बचा। केवल मठों ने इन प्रयोगों को जारी रखा और केवल उन्हीं के लिये वे लाभप्रद सिद्ध हुए। परन्तु ये मठ असाधारण ढंग के सामाजिक निकाय थे जिनकी नींव ब्रह्मचर्य पर रखी गयी थी। इसके अद्वितीय परिणाम निकल सकते थे और इसलिये वे स्वयं अपवाद रह सकते थे।

फिर भी इन चार सौ वर्षों में प्रगति हुई। भले ही इस काल के अंत में हमें फिर वे ही मुख्य वर्ग दिखायी पड़ते हों जो आरम्भ में दिखायी पड़े थे, पर जिन लोगों को लेकर ये वर्ग बने थे उनमें ज़रूर परिवर्तन हो गया था। प्राचीन काल की दास-प्रथा मिट गयी थी। वे तबाह और बरबाद स्वतंत्र नागरिक भी नहीं रह गये थे जो मेहनत को दासों का काम समझकर उससे घृणा करते थे। रोमन colonus और नये भूदासों के बीच स्वतंत्र फ़्रैंक किसान का आविर्भाव हुआ था। मरणोन्मुख रोमवाद की "निरर्थक स्मृतियों और निरुद्देश्य संघर्षों" का अब सदा के लिए लोप हो गया था। नवीं सदी के सामाजिक वर्गों का जन्म एक पतनोन्मुख सभ्यता के दलदल में नहीं, बल्कि एक नयी सभ्यता के प्रसव-काल में हुआ था। नयी पीढ़ी, जिसमें मालिक और नौकर दोनों ही थे, अपने रोमन पूर्ववर्तियों के मुक़ाबले में मनुष्यों की नस्ल थी। प्रबल ज़मींदारों तथा पराधीन किसानों के सम्बन्ध, जो रोमनों के प्राचीन जगत के पतन के निराशापूर्ण रूप थे, नयी पीढ़ी के लिये एक नये विकास का प्रारम्भिक बिन्दु बन गये। इसके अलावा, ये चार सौ वर्ष वैसे भले ही अनुत्पादक प्रतीत हों, पर वे एक बड़ी उपज ज़रूर छोड़ गये, और वह है आधुनिक जातियां, आगामी इतिहास के लिए पश्चिमी यूरोप की मानवजाति को नये रूप में ढालना और उसका नया विभाजन करना। दर असल जर्मनों ने यूरोप में नया जीवन फूंक दिया था। और यही कारण है कि जर्मन काल में राज्यों के भंग होने के परिणामस्वरूप नौर्स-सैरेसेन आधिपत्य नहीं क़ायम हुआ, बल्कि "बेनीफ़िस" और संरक्षण (commendation)[45]

की प्रथा ने बढ़कर सामन्तवाद का रूप धारण किया और जनसंख्या में इतनी तेज़ी से वृद्धि हुई कि इसके मुश्किल से दो सदी बाद धर्म-युद्धों[46] में जो बेतहाशा ख़ून बहा, उसे भी समाज बिना हानि उठाये बर्दाश्त कर सका।

मरणासन्न यूरोप में जर्मनों ने किस गुप्त मंत्रबल से नया जीवन फूंका था? क्या वह जर्मन नस्ल के अंदर छिपी हुई कोई जादूई ताक़त थी, जैसा कि हमारे अंधराष्ट्रवादी इतिहासकार कहना पसंद करेंगे? हरगिज़ नहीं। इसमें शक नहीं कि जर्मन लोग एक बहुत प्रतिभाशाली आर्य क़बीले के थे, जो उस वक़्त ख़ास तौर पर पूरी तेज़ी से विकास कर रहा था। परन्तु जिस चीज़ ने यूरोप में नयी जान डाली, वह उनका विशिष्ट जातीय गुण नहीं, बल्कि उनकी बर्बरता, उनकी गोत्र-व्यवस्था थी।

उनकी व्यक्तिगत योग्यता और वीरता, उनका स्वातंत्र्य-प्रेम, सभी सार्वजनिक कामों को अपना काम समझने की उनकी जनवादी प्रवृत्ति – संक्षेप में, वे तमाम गुण जिन्हें रोमन लोग खो चुके थे और जिनके बिना रोमन संसार की कीचड़ में से नये राज्यों का निर्माण और नयी जातियों का पैदा होना असम्भव था – वे यदि बर्बर युग की उन्नत अवस्था की विशेषताएं और गोत्र-व्यवस्था के फल नहीं, तो और क्या थे?

यदि जर्मनों ने एकनिष्ठ विवाह के प्राचीन रूप को बदल डाला, परिवार में पुरुष के शासन को ढीला किया और स्त्री को इतना ऊंचा स्थान दिया जितना प्राचीन संसार में कभी नहीं था, तो जर्मनों में यह सब करने की क्षमता यदि उनकी बर्बर अवस्था से, उनके गोत्रीय रीति-रिवाजों, मातृसत्ता काल की उनकी अब भी बची हुई विरासत से नहीं तो और कहां से आयी?

कम से कम तीन सबसे महत्त्वपूर्ण देशों में – जर्मनी, उत्तरी फ़्रांस और इंगलैंड में – यदि वे मार्क-समुदाय के रूप में गोत्र-व्यवस्था का एक अंश अक्षुण्ण रखने और उसे सामन्ती राज्य में समाविष्ट करने में सफल हुए और इस प्रकार उत्पीड़ित वर्ग को, किसानों को, मध्ययुगीन भूदास-प्रथा की कठोरतम परिस्थितियों में भी, क्षेत्रीय ऐक्य और प्रतिरोध का वह साधन प्रदान कर सके, जो न तो प्राचीन काल के दासों को तैयार मिला था और न आधुनिक सर्वहारा को मिला है – तो इसका श्रेय उनकी बर्बर अवस्था को, गोत्रों में बसने की उनकी शुद्ध बर्बर प्रथा को नहीं, तो और किस बात को है?

और अन्त में, वे दास-प्रथा के उस नरम रूप को विकसित करके उसे सार्वत्रिक बनाने में सफल हुए, जो पहले उनके देश में प्रचलित था और बाद को जिसने

अधिकाधिक रोमन साम्राज्य में भी दासता का स्थान ले लिया, और जिसने, जैसा कि फ़ूरियें ने पहली बार ज़ोर देकर कहा था, उत्पीड़ितों को **एक वर्ग के रूप में** अपने को धीरे-धीरे मुक्त कर लेने का एक साधन दिया था (fournit aux cultivateurs des moyens d'affranchissement *collectif et progressif**) और इस कारण वह दास-प्रथा से कहीं श्रेष्ठ था, क्योंकि जहां दास-प्रथा में दास की केवल वैयक्तिक मुक्ति हो सकती थी और बीच की कोई अवस्था सम्भव न थी (प्राचीन काल में कभी सफल विद्रोह के द्वारा दास-प्रथा का अंत नहीं हुआ), वहां मध्य युग के भूदासों ने धीरे-धीरे एक वर्ग के रूप में अपने को मुक्त कर लिया था। यदि जर्मन यह सब कर सके, तो इसका कारण इसके सिवा और क्या था कि वे बर्बर अवस्था में थे, जिसकी वजह से वे प्राचीन काल की श्रम-दासता, या प्राच्य घरेलू दासता, किसी भी प्रकार की पूर्ण दास-प्रथा पर नहीं पहुंच पाये?

जर्मनों ने रोमन संसार को जो कुछ दिया, उसके सारे सशक्त और जीवनदायक तत्त्व बर्बर अवस्था की उपज थे। सच तो यह है कि केवल बर्बर लोगों में ही ऐसी शक्ति थी जो दम तोड़ती हुई सभ्यता के मृत्युपाश में जकड़ी दुनिया में नयी जान डाल पाती। और बर्बर युग की उन्नत अवस्था, जिसको जर्मन जनता ने लोगों के प्रव्रजन के समय तक प्राप्त किया और जिसमें रहते हुए प्रगति की, वह इस प्रक्रिया के लिये सबसे अधिक उपयुक्त थी। इससे हर बात साफ़ हो जाती है।

९

बर्बरता और सभ्यता

यूनानी, रोमन और जर्मन – हम इन तीन बड़े उदाहरणों के रूप में इस बात का अध्ययन कर चुके हैं कि गोत्र-व्यवस्था का विनाश किस प्रकार हुआ। अब हम अंत में उन आम आर्थिक परिस्थितियों का अध्ययन करेंगे जिन्होंने बर्बर युग

---

*काश्तकारों को **सामूहिक रूप से धीरे-धीरे** मुक्ति पाने के साधन प्रदान करता है। – सं०

की उन्नत अवस्था में ही समाज की गोत्र-व्यवस्था की नींव खोद डाली थी और जिनके कारण सभ्यता के युग का आरम्भ होते-होते गोत्र-व्यवस्था बिल्कुल ख़त्म हो गयी। इस अध्ययन के लिये मार्क्स की 'पूंजी' उतनी ही आवश्यक है जितनी मौर्गन की पुस्तक।

जांगल युग की मध्यम अवस्था में पैदा होकर तथा उसकी उन्नत अवस्था में और विकास करने के बाद गोत्र-व्यवस्था, जहां तक हम अपनी मूल सामग्री से किसी निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं, बर्बर युग की निम्न अवस्था में पूर्ण उत्कर्ष पर पहुंच गयी थी। अतएव हम अपना अध्ययन इस अवस्था से ही शुरू करेंगे।

इस अवस्था में, जिसका उदाहरण अमरीकी इंडियन प्रस्तुत करते हैं, हम गोत्र-व्यवस्था को पूर्ण विकसित रूप में पाते हैं। हर क़बीला कई गोत्रों में, बहुधा दो गोत्रों में, बंटा होता था। आबादी बढ़ जाने पर ये आदिम गोत्र फिर कई पुत्री-गोत्रों में बंट जाते थे, और उनके सम्बन्ध में मातृ-गोत्र बिरादरी के रूप में प्रगट होता था। ख़ुद क़बीला भी कई क़बीलों में बंट जाता था, जिनमें से हर एक में प्राय: वे ही पुराने गोत्र होते थे। कम से कम कुछ स्थानों में एक दूसरे से सम्बन्धित क़बीले मिलकर एक महासंघ बना लेते थे। यह सरल संघटन उन सामाजिक परिस्थितियों के पूर्ण रूप से अनुकूल था जिनसे वह उत्पन्न हुआ था। वह एक प्रकार की विशिष्ट प्राकृतिक समूहबद्धता से अधिक कुछ न था और इस रूप में संगठित समाज में जो आंतरिक टकराव हो सकते थे, उनका निपटारा करने में समर्थ था। बाह्य क्षेत्र में टकराव युद्ध के द्वारा तय किये जाते थे, जिसका अंत किसी क़बीले के मिट जाने तक में हो सकता था, लेकिन उसकी अधीनता में कभी नहीं। गोत्र-व्यवस्था में शासकों और शासितों के लिये कोई स्थान न था – इसी बात में गोत्र-व्यवस्था की महानता और उसकी सीमा दोनों हैं। आंतरिक क्षेत्र में अभी अधिकारों और कर्त्तव्यों में विभेद न हुआ था; किसी अमरीकी इंडियन के सामने यह सवाल कभी नहीं उठता था कि सार्वजनिक मामलों में भाग लेना, रक्त-प्रतिशोध लेना या क्षतिपूर्ति करना उसका अधिकार है अथवा कर्त्तव्य। यह सवाल उसको उतना ही बेमानी लगता जितना यह कि खाना, सोना, या शिकार करना उसका कर्त्तव्य है अथवा अधिकार। न ही कोई क़बीला या गोत्र भिन्न-भिन्न वर्गों में बंट सकता था। इसलिये अब हमें देखना चाहिये कि इस व्यवस्था का आर्थिक आधार क्या था।

आबादी बहुत ही छितरी हुई थी। वह केवल क़बीले के निवास-स्थान में ही घनी होती थी, जिसके चारों ओर क़बीले के लिये शिकार के वास्ते एक लम्बा-

चौड़ा जंगली इलाक़ा होता था, और उसके भी आगे वह तटस्थ संरक्षक वन-भूमि होती थी जो उस क़बीले को दूसरे क़बीलों से अलग करती थी और उसकी रक्षा भी करती थी। क़बीले में पाया जानेवाला श्रम-विभाजन बस स्वाभाविक स्वरूप का ही था, यानी केवल नारी और पुरुष के बीच श्रम-विभाजन पाया जाता था। पुरुष युद्ध में भाग लेते थे, शिकार करते थे, मछली मारते थे, आहार की सामग्री जुटाते थे और इन तमाम कामों के लिये आवश्यक औज़ार तैयार करते थे। स्त्रियां घर की देखभाल करती थीं और खाना-कपड़ा तैयार करती थीं। वे खाना पकाती थीं, बुनती थीं और सीती थीं। प्रत्येक अपने-अपने कार्यक्षेत्र का स्वामी था: पुरुषों का जंगल में प्राधान्य था, तो स्त्रियों का घर में; प्रत्येक उन औज़ारों का मालिक था जिन्हें उसने बनाया था और जिन्हें वह इस्तेमाल करता था; हथियार और शिकार करने तथा मछली मारने के औज़ार पुरुषों की सम्पत्ति थे और घर के सरोसामान तथा बर्तन-भांडे स्त्रियों की सम्पत्ति थे। कुटुम्ब सामुदायिक प्रकार का था और एक गृहस्थी में कई, और अक्सर बहुत-से परिवार एकसाथ रहते थे*। जो कुछ साथ मिलकर तैयार किया और इस्तेमाल किया जाता था—जैसे घर, बगीचा, नाव—वह सब की सामूहिक सम्पत्ति होता था। अतएव, वह "कमायी हुई सम्पत्ति" यहां और सिर्फ़ यहीं मिलती है, जिसे न्यायशास्त्री और अर्थशास्त्री सभ्य समाज की विशेषता बताते हैं और जो आधुनिक पूंजीवादी स्वामित्व का अन्तिम झूठा क़ानूनी आधार बनी हुई है।

परन्तु मनुष्य हर जगह इसी अवस्था में नहीं रहा। एशिया में उसे ऐसे पशु मिल गये जिन्हें पालतू बनाया जा सकता था और बाड़े में रखकर उनकी नस्ल बढ़ायी जा सकती थी। जंगली भैंस का शिकार करना पड़ता था, पर पालतू गाय हर साल एक बछड़ा और दूध भी देती थी। कई सबसे उन्नत क़बीलों ने—जैसे आर्यों, सामी लोगों और शायद तूरानियों ने भी—पशुओं को पालतू बनाया, और बाद में पशुपालन व पशुप्रजनन को अपना मुख्य पेशा बना लिया। पशुपालक क़बीले बर्बर लोगों के विशाल जन-समुदाय से अलग हो गये—यह **पहला बड़ा सामाजिक श्रम-विभाजन** था। ये पशुपालक क़बीले अन्य बर्बर क़बीलों से न सिर्फ़ ज़्यादा खाने-पीने का सामान तैयार करते थे, बल्कि अधिक विविधतापूर्ण सामान

---

* विशेषकर अमरीका के उत्तरी-पश्चिमी तट पर (देखिये बैंक्रोफ़्ट)। क्वीन शर्लोट द्वीपों के निवासी हैडा लोगों में तो सात-सात सौ व्यक्ति तक एकसाथ रहते हैं। नूटका लोगों में पूरा क़बीला एक घर में रहता था।

तैयार करते थे। उनके पास न केवल दूध, दूध से बनायी वस्तुएं और गोश्त दूसरे क़बीलों की तुलना में अधिक माता में होता था, बल्कि उनके पास खालें, ऊन, बकरियों के बाल, और ऊन कातकर और बुनकर बनाये गये कपड़े भी थे, जिनका इस्तेमाल, कच्चे माल की माता में दिनोंदिन होनेवाली बढ़ती के साथ-साथ, लगातार बढ़ रहा था। इससे पहली बार नियमित रूप से विनिमय सम्भव हुआ। इसके पहलेवाली अवस्थाओं में केवल कभी-कभी ही विनिमय सम्भव था; कुछ लोगों की हथियारों व औज़ारों के बनाने में विशेष निपुणता अस्थायी श्रम-विभाजन को संभव बना सकती थी। उदाहरण के लिये, बहुत-सी जगहों में नवीन प्रस्तर युग के पत्थर के औज़ार बनानेवाले वर्कशापों के अवशेष मिले हैं, जिनके बारे में किसी प्रकार के संदेह की गुंजाइश नहीं है। इन वर्कशापों में जो कारीगर अपनी क्षमता का विकास किया करते थे, बहुत सम्भव है कि वे पूरे समुदाय के लिये काम करते थे, जैसा कि भारत की गोत्र-व्यवस्था वाले समुदायों के स्थायी दस्तकार आजकल भी करते हैं। हर हालत में, उस अवस्था में क़बीले के अंदर विनिमय के अलावा किसी और प्रकार के विनिमय के आरम्भ होने की सम्भावना नहीं थी और वह विनिमय भी बस अपवादस्वरूप ही था। परन्तु जब पशुपालक क़बीलों ने स्पष्ट आकार ग्रहण किया, तो भिन्न-भिन्न क़बीलों के सदस्यों के बीच विनिमय के आरम्भ होने और विकास करने तथा एक नियमित सामाजिक प्रथा के रूप में समाज में जड़ जमा लेने के लिये सभी अनुकूल परिस्थितियां पैदा हो गयीं। शुरू में एक क़बीला दूसरे क़बीले के साथ अपने-अपने गोत्र-मुखियाओं के ज़रिये विनिमय करता था, परन्तु जैसे-जैसे पशुओं के रेवड़ लोगों की पृथक् सम्पत्ति बनते गये, वैसे-वैसे अलग-अलग व्यक्तियों के बीच होनेवाले विनिमय का अधिकाधिक प्राधान्य होता गया, यहां तक कि अंत में वही विनिमय का एकमात्र रूप हो गया। पशुपालक क़बीले जो मुख्य चीज़ दूसरे क़बीलों को विनिमय में देते थे, वह थी पशुधन। अतएव पशुधन वह माल बन गया जिसके द्वारा दूसरे सभी मालों का मूल्य मापा जाता था और जिसे हर जगह लोग ख़ुशी से दूसरे मालों के बदले में लेने को तैयार रहते थे, सारांश यह कि पशुधन ने मुद्रा का कार्य ग्रहण कर लिया और इस अवस्था में वह मुद्रा का काम देने भी लगा था। माल के विनिमय के आरम्भ में ही एक विशेष माल –मुद्रा– की मांग अनिवार्य रूप से और तेज़ी से विकसित होने लगी।

बर्बर युग की निम्न अवस्था के एशियाई लोगों को शायद बाग़बानी का ज्ञान नहीं था, पर अधिक से अधिक बर्बर युग की मध्यम अवस्था तक तो वह ज़रूर

ही इन लोगों में खेती के पूर्ववर्ती के रूप में शुरू हो गयी होगी। तूरान की पहाड़ियों की जलवायु ऐसी न थी कि बिना लंबे और कड़ाके के जाड़े के दिनों के लिये चारे का इन्तज़ाम किये वहां पशुपालन का जीवन बिताया जा सके। इसलिये यहां चारे और अनाज की खेती के बिना काम न चल सकता था। काले सागर के उत्तर में जो स्तेपी प्रदेश हैं, वहां भी यही हालत थी। और जब एक बार जानवरों के लिये अनाज बोया जाने लगा, तो शीघ्र ही वह मनुष्यों का भी भोजन बन गया। खेती की ज़मीन अब भी क़बीले की सम्पत्ति बनी रही और वह पहले गोत्रों के बीच बांट दी जाती थी, गोत्र उसे सामुदायिक कुटुम्बों में और अन्त में अलग-अलग व्यक्तियों के बीच इस्तेमाल के लिये बांट देता था। उन्हें ज़मीन के इस्तेमाल का कुछ अधिकार मिला हुआ था, पर उससे अधिक कुछ नहीं।

इस अवस्था की औद्योगिक उपलब्धियों में दो विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। एक है करघा, दूसरा है खनिज धातुओं को गलाने व साफ़ करने तथा धातुओं से काम की चीज़ें बनाने की कला। उनमें तांबे, टिन, और उन्हें मिलाकर बनाये जानेवाले कांसे का सबसे अधिक महत्त्व था। कांसे से बड़े काम के औज़ार और हथियार बनते थे, पर वे पत्थर के औज़ारों की ज़रूरत को ख़त्म नहीं कर सकते थे। यह काम तो सिर्फ़ लोहा ही कर सकता था, परन्तु उसका उत्पादन अभी तक अज्ञात था। सोना और चांदी ज़ेवर बनाने और सजावट के काम में आने लगे थे, और वे उस समय भी तांबे और कांसे से कहीं अधिक मूल्यवान् समझे जाने लगे होंगे।

जब पशुपालन, खेती, घरेलू दस्तकारी, सभी शाखाओं में उत्पादन का विकास हुआ तो मानव श्रम-शक्ति जितना उसके पोषण में ख़र्च होता था, उससे अधिक पैदा करने लगी। साथ ही गोत्र के, या सामुदायिक कुटुम्ब के, अथवा अलग-अलग परिवारों के प्रत्येक सदस्य के ज़िम्मे रोज़ाना पहले से कहीं ज़्यादा काम आ पड़ा। इसलिये ज़रूरत महसूस हुई कि कहीं से और श्रम-शक्ति लायी जाये। वह युद्ध से मिली। युद्ध में जो लोग बन्दी हो जाते थे, अब उनको दास बनाया जाने लगा। उस समय की सामान्य ऐतिहासिक परिस्थितियों में जो पहला बड़ा सामाजिक श्रम-विभाजन हुआ, वह श्रम की उत्पादन-क्षमता को बढ़ाकर, अर्थात् धन में वृद्धि करके और उत्पादन के क्षेत्र का विस्तार करके समाज में अपने पीछे लाज़िमी तौर पर दास-प्रथा को ले आया। पहले बड़े सामाजिक श्रम-विभाजन के परिणामस्वरूप ख़ुद समाज के पहले बड़े विभाजन का उदय हुआ, समाज दो

वर्गों में बंट गया : एक ओर दासों के मालिक हो गये और दूसरी ओर दास, एक ओर शोषक हो गये और दूसरी ओर शोषित।

जानवरों के रेवड़ कब और कैसे क़बीले अथवा गोत्न की सामूहिक स्वामित्व से अलग-अलग परिवारों के मुखियाओं की सम्पत्ति बन गये, यह हम आज तक नहीं जान सके हैं। परन्तु मुख्यतः यह परिवर्तन इसी अवस्था में हुआ होगा। जानवरों के रेवड़ों तथा अन्य सम्पदाओं के कारण परिवार के अन्दर क्रांति हो गयी। जीविका कमाना सदा पुरुष का काम रहा था, वह जीविका कमाने के साधनों का उत्पादन करता था और उनका स्वामी होता था। अब जानवरों के रेवड़ जीविका कमाने का नया साधन बन गये थे; शुरू में जंगली जानवरों को पकड़कर पालतू बनाना और फिर उनका पालन-पोषण करना – यह पुरुष का ही काम था। इसलिये वह जानवरों का मालिक होता था और उनके बदले में मिलनेवाले तरह-तरह के माल और दासों का भी मालिक होता था। इसलिए उत्पादन से जो अतिरिक्त पैदावार होती थी, वह पुरुष की सम्पत्ति होती थी; नारी उसके उपभोग में हिस्सा बंटाती थी, परन्तु उसके स्वामित्व में नारी का कोई भाग नहीं होता था। "जांगल" योद्धा और शिकारी घर में नारी को प्रमुख स्थान देकर ख़ुद गौण स्थान से ही संतुष्ट था। "सीधे-सादे" गड़रिये ने अपनी दौलत के ज़ोर से मुख्य स्थान पर ख़ुद अधिकार कर लिया और नारी को गौण स्थान में ढकेल दिया। नारी कोई शिकायत न कर सकती थी। पति और पत्नी के बीच सम्पत्ति का विभाजन परिवार में श्रम-विभाजन द्वारा नियमित होता था। श्रम-विभाजन पहले जैसा ही था, फिर भी अब उसने घर के अंदर के सम्बन्ध को एकदम उलट-पलट दिया था, क्योंकि परिवार के बाहर श्रम-विभाजन बदल गया था। जिस कारण से पहले घर में नारी सर्वेसर्वा थी – यानी उसका घरेलू कामकाज तक ही सीमित रहना – उसी ने अब घर में पुरुष का आधिपत्य सुनिश्चित बना दिया। जीविका कमाने के पुरुष के काम की तुलना में नारी के घरेलू काम का महत्त्व जाता रहा। अब पुरुष का काम सब कुछ बन गया और नारी का काम एक महत्त्वहीन योगदान मात्न रह गया। यहां हम अभी से ही यह बात साफ़-साफ़ देख सकते हैं कि जब तक स्त्रियों को सामाजिक उत्पादन के काम से अलग और केवल घर के निजी कामों तक ही सीमित रखा जायेगा, तब तक स्त्रियों का स्वतंत्नता प्राप्त करना और पुरुषों के साथ बराबरी का हक़ पाना असम्भव है और असम्भव ही बना रहेगा। स्त्रियों की स्वतंत्नता केवल उसी समय सम्भव होती है जब वे बड़े पैमाने पर, सामाजिक पैमाने पर, उत्पादन में भाग लेने में

समर्थ हो पाती हैं, और जब घरेलू काम उनके न्यूनतम ध्यान का तक़ाज़ा करते हैं। और यह केवल बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योग के परिणामस्वरूप ही सम्भव हुआ है, जो न केवल स्त्रियों के लिये यह मुमकिन बना देता है कि वे बड़ी संख्या में उत्पादन में भाग ले सकें, बल्कि जिसके लिए स्त्रियों को उत्पादन में खींचना भी ज़रूरी होता है, और इसके अलावा जिसमें घर के निजी काम-काज को भी एक सार्वजनिक उद्योग बना देने की प्रवृत्ति होती है।

जब घर में पुरुष की सचमुच प्रभुता क़ायम हो गयी, तो उसकी तानाशाही क़ायम होने के रास्ते में जो आख़िरी बाधा थी, वह भी ख़त्म हो गयी। मातृ-सत्ता के नाश, पितृ-सत्ता की स्थापना और युग्म-विवाह के धीरे-धीरे एकनिष्ठ विवाह की प्रथा में संक्रमण से इस तानाशाही की परिपुष्टि हुई और वह स्थायी बनी। इससे पुरानी गोत्र-व्यवस्था में दरार पड़ गयी। एकनिष्ठ परिवार एक ताक़त बनकर गोत्र के अस्तित्व के लिये एक ख़तरा बन गया।

अगला क़दम हमें बर्बर युग की उन्नत अवस्था में ले आता है। यह वह अवस्था है जिसमें सभी सभ्य जातियां अपने वीर-काल से गुज़री हैं। यह लोहे की तलवार का युग है, साथ ही लोहे की फालवाले हल तथा लोहे की कुल्हाड़ी का भी युग है, जब लोहा मनुष्य का सेवक बन गया था। यदि हम आलू को छोड़ दें, तो लोहा उन सभी कच्चे मालों में अन्तिम और सबसे महत्त्वपूर्ण है जिन्होंने इतिहास में क्रान्तिकारी भूमिका अदा की है। लोहे के कारण पहले से बड़े पैमाने पर खेत बनाकर फ़सल उगाना और लम्बे-चौड़े जंगली इलाक़ों को खेती के लिये साफ़ करना सम्भव हो गया। उससे दस्तकारों को इतने सख़्त और तेज़ औज़ार मिल गये जिनके सामने न कोई पत्थर ठहर सकता था और न कोई अन्य ज्ञात धातु ही ठहर सकती थी। परन्तु यह सब धीरे-धीरे ही हुआ; शुरू में जो लोहा तैयार हुआ था वह तो अक्सर कांसे से भी नरम होता था। इस कारण पत्थर के बने औज़ार धीरे-धीरे ही ग़ायब हुए। हम न केवल 'हिल्डेब्रांड के गीत' में पत्थर की कुल्हाड़ियों को युद्ध में इस्तेमाल होते सुनते हैं, बल्कि हेस्टिंग्स की लड़ाई में भी, जो १०६६ में हुई थी, उनका प्रयोग होते देखते हैं।[47] परन्तु अब प्रगति की धारा अबाध हो गयी, रुकावटें पहले से कम हो गयीं और गति पहले से तेज़ हो गयी। क़बीले का या क़बीलों के महासंघ का केन्द्रीय स्थान शहर बन गया, जिसकी बुर्जदार और मोखेदार चहारदीवारी के घेरे में पत्थर या ईंटों के बने मकान होते थे। यह शहर जहां वास्तुकला में प्रगति का सूचक था, वहीं वह पहले से बढ़े हुए ख़तरे और उससे बचाव के इन्तज़ाम की

ज़रूरत का द्योतक भी था। धन-दौलत तेज़ी से बढ़ रही थी, पर यह अलग-अलग व्यक्तियों की धन-दौलत थी। बुनाई, धातुकर्म और दूसरी दस्तकारियों का, हर एक का अपना अलग विशिष्ट रूप होता जा रहा था, और उनके मालों में अधिकाधिक सफ़ाई, ख़ूबसूरती और विविधता आती जा रही थी। खेती से अब न केवल अनाज, दालें और फल मिलते थे, बल्कि तेल और शराब भी मिलती थीं – अब लोगों ने तेल निकालने और शराब बनाने की कला सीख ली थी। अब कोई एक व्यक्ति इतने भिन्न प्रकार के काम नहीं कर सकता था; इसलिये अब **दूसरा बड़ा श्रम-विभाजन** हुआ: दस्तकारी खेती से अलग हो गयी। उत्पादन में जो लगातार वृद्धि हो रही थी और उसके साथ-साथ श्रम की उत्पादन-क्षमता में जो बढ़ती हो गयी थी, उसने मानव श्रम-शक्ति का मूल्य बढ़ा दिया। दास-प्रथा, जो पिछली मंज़िल में अंकुरित हो रही थी और केवल कहीं-कहीं पायी जाती थी, अब समाज-व्यवस्था का एक आवश्यक अंग बन गयी। दास अब महज़ सहायक नहीं रह गये, बल्कि उन्हें बीसियों की संख्या में खेतों और वर्कशापों में काम करने के लिये हांका जाने लगा। उत्पादन के खेती तथा दस्तकारी, इन दो बड़ी शाखाओं में बंट जाने के कारण अब विनिमय के लिये ही उत्पादन, माल का उत्पादन होने लगा। उसके साथ-साथ न सिर्फ़ अपने इलाक़े के अंदर, न सिर्फ़ विभिन्न क़बीलों के इलाक़ों की सीमाओं पर, बल्कि समुद्र पार भी व्यापार होने लगा। इस सब का अभी बहुत कम विकास हुआ था; सार्वत्रिक माल – मुद्रा का काम करनेवाली बहुमूल्य धातुओं का पहले से अधिक प्रयोग होने लगा था, परन्तु अभी वे सिक्कों के रूप में नहीं ढाली जाती थीं और केवल तौलकर उनका विनिमय होता था।

अब स्वतंत्र लोगों तथा दासों के भेद के साथ-साथ अमीर और ग़रीब का भेद भी जुड़ गया था। नये श्रम-विभाजन के साथ समाज नये सिरे से वर्गों में बंट गया था। जहां कहीं आदिम सामुदायिक कुटुम्ब अभी तक क़ायम थे, वहां वे विभिन्न परिवारों के अलग-अलग मुखियाओं के पास कम-ज़्यादा धन होने के कारण टूट गये और इससे पूरे समुदाय द्वारा मिलकर खेती करने की प्रथा भी ख़तम हो गयी। खेती की ज़मीन अलग-अलग परिवारों में इस्तेमाल के लिये बांट दी गयी – पहले वह एक निश्चित अवधि के लिये बांटी जाती थी, फिर सदा के लिये बांट दी गयी। पूरी तरह निजी स्वामित्व में संक्रमण धीरे-धीरे और युग्म-विवाह के एकनिष्ठ विवाह में संक्रमण के साथ-साथ हुआ। परिवार समाज की आर्थिक इकाई बनने लगा।

आबादी के पहले से ज़्यादा घनी होने की वजह से यह ज़रूरी हो गया कि वह आन्तरिक तथा बाह्य रूप से अधिक एकताबद्ध हो। हर जगह एक दूसरे से रिश्ते से जुड़े क़बीलों को मिलाकर महासंघ बनाना और उसके कुछ समय बाद उनका विलयन भी आवश्यक हो गया और तब अलग-अलग क़बीलों के इलाक़े मिलकर एक जाति का इलाक़ा बन गये। सेनानायक – rex, basileus, thiudans – स्थायी अधिकारी बन गया जिसके बिना काम नहीं चल सकता था। जहां कहीं अभी तक जन-सभा नहीं थी, वहां वह क़ायम कर दी गयी। गोत्र-समाज ने जिस सैनिक लोकतंत्र के रूप में विकास किया था, उसके मुख्य अंग थे सेनानायक, परिषद और जन-सभा। सैनिक लोकतंत्र इसलिये कि युद्ध करना और युद्ध के लिये संगठन करना जन जीवन का एक नियमित अंग बन गया था। अपनी पड़ोसी जाति की दौलत देखकर जनता लालच करने लगती थी और दौलत हासिल करना इसके लिये जीवन का एक मुख्य उद्देश्य बन गया था। ये बर्बर लोग थे: उन्हें उत्पादक श्रम से लूट-मार करना अधिक आसान, यहां तक कि अधिक सम्मानप्रद लगता था। एक ज़माना था जब केवल आक्रमण का बदला लेने के लिये या अपने नाकाफ़ी इलाक़े को बढ़ाने के लिये युद्ध किया जाता था, पर अब लूट-मार के लिये ही युद्ध होने लगा और युद्ध करना एक नियमित पेशा बन गया। नये क़िलाबंद शहरों के चारों ओर ऊंची-ऊंची दीवारें अकारण ही नहीं बनायी गयी थीं – उनकी गहरी खाइयां गोत्र-व्यवस्था की क़ब्र बन गयी थीं और उनकी मीनारें अभी से सभ्यता के युग को छूने लगी थीं। अन्दरूनी मामलों में भी इसी तरह का परिवर्तन हो गया। लूट-मार के युद्धों ने सर्वोच्च सेनानायक की और उपसेनानायकों की शक्ति बढ़ा दी। पहले, आम तौर पर एक ही परिवार से उनके उत्तराधिकारी चुने जाने की प्रथा थी, अब, विशेषकर पितृ-सत्ता क़ायम हो जाने के बाद, वह धीरे-धीरे वंशगत उत्तराधिकार के नियम में बदल गयी। शुरू में इसे लोग छूट देते थे, बाद में इसका दावा किया जाने लगा और अन्त में यह ज़बर्दस्ती क़ायम कर लिया गया। इस प्रकार वंशगत बादशाही और वंशगत अभिजात वर्ग की नींव पड़ गयी। इस तरह धीरे-धीरे गोत्र-व्यवस्था की संस्थाओं की जड़ें जनता के बीच से, गोत्रों, बिरादरियों और क़बीलों में से उखाड़ दी गयीं और पूरी गोत्र-व्यवस्था अपने से एक बिल्कुल उल्टी चीज़ में बदल गयी: अपने मामलों की स्वतंत्र रूप से ख़ुद व्यवस्था करनेवाले क़बीलों के संगठन से अब वह एक ऐसा संगठन बन गयी जो पड़ोसियों को लूटने और सताने के लिये था। और तदनुरूप ही उसके निकाय जनता की इच्छा को कार्यान्वित करने का

साधन नहीं रह गये, बल्कि ख़ुद अपनी जनता पर शासन करने और अत्याचार करनेवाले स्वतंत्र निकाय बन गये। पर यदि धन का लालच गोत्र के सदस्यों को अमीरों और ग़रीबों में न बांट देता, यदि "गोत्र के भीतर सम्पत्ति के भेद हितों की एकता को गोत्र के सदस्यों के आपसी विरोध में न बदल देते" (मार्क्स), और यदि दास-प्रथा की वृद्धि के कारण जीविका कमाने के लिये मेहनत करना दासवत् और लूट-मार से भी ज़्यादा अपमानजनक काम न समझा जाने लगता, तो यह कभी न होता।

* * *

अब हम सभ्यता के द्वार पर पहुंच जाते हैं। श्रम-विभाजन में एक और नये क़दम के साथ इस युग का श्रीगणेश होता है। बर्बर युग की निम्न अवस्था में मनुष्य केवल सीधे-सीधे अपनी ज़रूरतों के लिये पैदा करता था, विनिमय केवल कहीं-कहीं पर होता था जहां कि अचानक अतिरिक्त पैदावार हो जाती थी। बर्बर युग की मध्यम अवस्था में हम पाते हैं कि पशुपालक क़बीलों के पास पशुधन के रूप में एक ऐसी सम्पत्ति हो जाती है, जो काफ़ी बड़ा रेवड़ होने पर नियमित रूप से उनकी ज़रूरतों से ज़्यादा पैदावार उन्हें देती है। साथ ही हमें यह भी पाते हैं कि पशुपालक क़बीलों तथा उन पिछड़े हुए क़बीलों के बीच, जिनके पास पशुओं के रेवड़ नहीं थे, श्रम का विभाजन हो जाता है। इस तरह उत्पादन की दो भिन्न अवस्थायें साथ-साथ चलती हैं, जिससे नियमित रूप से विनिमय होने के लिये परिस्थितियां तैयार हो जाती हैं। बर्बर युग की उन्नत अवस्था आने पर श्रम का एक और विभाजन हो गया—खेती तथा दस्तकारी के बीच विभाजन, जिससे अधिकाधिक बढ़ते हुए परिमाण में, विशेष रूप से विनिमय करने के लिये, मालों का उत्पादन होने लगा। इस तरह अलग-अलग उत्पादकों के बीच विनिमय उस अवस्था में पहुंच गया जहां वह समाज के लिये नितान्त आवश्यक बन गया। सभ्यता के युग ने पहले से स्थापित श्रम-विभाजन को और सुदृढ़ किया तथा आगे बढ़ाया, ख़ास तौर पर शहर तथा देहात के अन्तर को और भी गहरा करके (या तो प्राचीन काल की तरह शहर का देहात पर आर्थिक आधिपत्य रहता था, या मध्य युग की तरह शहर पर देहात का आर्थिक प्रभुत्व क़ायम हो जाता था); उसने एक तीसरा श्रम-विभाजन भी जोड़ दिया जो सभ्यता के युग की अपनी विशेषता है और निर्णायिक महत्त्व रखती है: उसने एक ऐसा वर्ग उत्पन्न किया जो उत्पादन में कोई भाग नहीं लेता था और केवल

पैदावार के विनिमय का काम करता था। यह **व्यापारियों** का वर्ग था। इसके पहले वर्गों के सभी प्रारम्भिक रूपों का केवल उत्पादन से सम्बन्ध था। उत्पादन में लगे हुए लोगों को उत्पादन का प्रबंध करनेवालों और कार्य करनेवालों में, या बड़े पैमाने पर उत्पादन करनेवालों और छोटे पैमाने पर उत्पादन करनेवालों में, बांट दिया गया था। लेकिन यहां पहली बार एक ऐसा वर्ग सामने आता है जो उत्पादन में बिना कोई भाग लिये ही उसके पूरे प्रबंध पर अधिकार जमा लेता है और उत्पादकों को आर्थिक दृष्टि से अपने अधीन कर लेता है। हर दो उत्पादकों के बीच वह एक ऐसा बिचवइया बन जाता है जिसके बिना उनका काम नहीं चलता और फिर वह उन दोनों का शोषण करता है। इस बहाने से कि उत्पादकों को विनिमय की परेशानी और जोखिम न उठानी पड़े, उनकी पैदावार के लिए दूर-दूर के बाज़ार खोज लिये जायें और इस प्रकार समाज का एक सबसे उपयोगी वर्ग बनने के बहाने से वास्तव में परोपजीवियों का एक वर्ग, असली माने में सामाजिक पराश्रयी वर्ग उत्पन्न होता है, जो वस्तुतः नगण्य सेवाओं के पुरस्कार स्वरूप देश और विदेश के उत्पादन की सारी मलाई चट कर जाता है, देखते-देखते बेशुमार दौलत जमा कर लेता है, उसके अनुरूप समाज में असर जमा लेता है और इसी कारण उसे सभ्यता के युग में नित नया सम्मान प्राप्त होता है और उसका उत्पादन पर अधिकाधिक नियंत्रण होता जाता है, यहां तक कि अन्त में वह ख़ुद अपनी एक उपज लेकर उपस्थित होता है, और वह है एक निश्चित अवधि के बाद बार-बार आनेवाला अर्थ-संकट।

विकास की जिस अवस्था की हम चर्चा कर रहे हैं, उसमें नवोत्पन्न व्यापारी वर्ग को अभी इस बात का कोई आभास न मिला था कि उसके भाग्य में कितनी बड़ी-बड़ी बातें लिखी हैं। लेकिन वह उदित हुआ और उसने अपने को समाज के लिए अपरिहार्य बना लिया – इतना ही काफ़ी था। इसके साथ-साथ **धातु मुद्रा**, धातु के बने सिक्के काम में आने लगे और एक ऐसा नया साधन तैयार हो गया जिसके द्वारा पैदा न करनेवाला पैदा करनेवालों तथा उनकी पैदावार पर शासन कर सकता था। मालों के उस माल का पता लग गया जो अपने अन्दर अन्य सभी मालों को छिपाये रहता है, वह जादू की पुड़िया मिल गयी जिसे इच्छा होते ही अभीष्ट और इच्छित वस्तु में बदला जा सकता। वह जिसके पास होती थी, उत्पादन के संसार में उसी का बोलबाला होता था। और सबसे ज्यादा वह किसके पास होती थी? व्यापारी के पास। मुद्रा-पूजा उसके हाथों में सुरक्षित थी। उसने ख़ूब अच्छी तरह साफ़ कर दिया था कि मुद्रा के आगे सभी मालों

को, और इसलिये सभी माल उत्पादकों को भी, नाक रगड़नी पड़ेगी। उसने व्यवहार में सिद्ध कर दिखाया कि इस साक्षात् मूर्तिमान धन के सामने धन के अन्य सभी रूप केवल दिखावा मात्र हैं। मुद्रा की शक्ति फिर कभी उस आदिम भोंडे एवं हिंसक रूप में प्रकट नहीं हुई जिस रूप में वह अपने शैशव में प्रगट हुई थी। मुद्रा के बदले में मालों की ख़रीद के बाद मुद्रा उधार देना और उस पर ब्याज लेना व सूदख़ोरी शुरू हुई। और प्राचीन एथेंस तथा रोम क़ानूनों ने क़र्ज़दार को जिस निर्ममता से और लाचार हालत में सूदख़ोर महाजनों के चरणों में डाल दिया था, बाद के किसी काल के क़ानूनों ने वैसा नहीं किया। और एथेंस तथा रोम, इन दोनों जगहों के क़ानून अपने आप उत्पन्न हो गये थे, वे सामान्य क़ानून थे और उनके पीछे आर्थिक कारणों के अलावा और किसी तरह का ज़ोर न था।

मालों तथा दासों के रूप में सम्पदा के अलावा, मुद्रा के रूप में सम्पदा के अलावा ज़मीन के रूप में भी सम्पदा का आविर्भाव हुआ। अलग-अलग व्यक्तियों को ज़मीन के जो टुकड़े शुरू में अपने गोत्रों या क़बीलों से मिले थे, अब उन पर उनका अधिकार इतना पक्का हो गया था कि ये टुकड़े उनकी वंशगत सम्पत्ति बन गये। इधर वे इस चीज़ की सबसे ज़्यादा कोशिश कर रहे थे कि ज़मीन के उनके टुकड़ों पर गोत्र-समुदाय का जो दावा था, किसी तरह उससे छुटकारा मिल जाये, क्योंकि वह उनके लिये एक बंधन बन गया था। वे इस बंधन से मुक्त तो हो गये, पर उसके कुछ समय बाद उन्हें अपनी नयी भू-सम्पत्ति से भी मुक्ति मिल गयी। ज़मीन पर व्यक्तियों का पूर्ण तथा स्वतंत्र स्वामित्व होने का अर्थ उस पर अबाधित और असीमित क़ब्ज़े की सम्भावना ही नहीं, वरन् उसके अन्यसंक्रामण की सम्भावना भी था। जब तक भूमि गोत्र की सम्पत्ति थी, ऐसी कोई सम्भावना नहीं हो सकती थी। पर जब ज़मीन के नये मालिक ने गोत्र और क़बीले के सर्वोच्च अधिकार के बंधनों को तोड़कर फेंक दिया, तो उसके साथ-साथ उसने उस नाते को भी तोड़ डाला जो अभी तक उसे ज़मीन से अटूट रूप में बांधे हुए था। इसका क्या मतलब था, यह उसके सामने मुद्रा ने साफ़ कर दिया, जिसका आविष्कार ज़मीन पर निजी स्वामित्व क़ायम होने के साथ-साथ हुआ था। अब ज़मीन का माल बन जाना सम्भव हो गया, अब उसे बेचा जा सकता था और रेहन रखा जा सकता था। ज़मीन पर निजी स्वामित्व का क़ायम होना था कि रेहन रखने की प्रथा का भी आविष्कार हो गया (देखिए एथेंस का उदाहरण)। जिस प्रकार एकनिष्ठ विवाह के साथ हैटे-

रिज़्म और वेश्यावृत्ति जुड़ी रहीं, उसी प्रकार अब ज़मीन पर निजी स्वामित्व के साथ रेहन-प्रथा जुड़ गयी। आप लोग ज़मीन का पूर्ण, स्वतंत्र और अन्यसंक्रामणीय स्वामित्व चाहते थे—एवमस्तु! जो चाहा, वही मिला!—tu l'as voulu, George Dandin! *

व्यापार का विस्तार, मुद्रा का चलन, सूदख़ोरी, भू-स्वामित्व और रेहन की प्रथा—इन सब चीज़ों के साथ यदि एक तरफ़ एक छोटे-से वर्ग के हाथ में बड़ी तेज़ी से धन एकत्रित तथा केन्द्रित होने लगा, तो दूसरी तरफ़ आम लोगों की ग़रीबी बढ़ने लगी तथा तबाह और दिवालिया लोगों की संख्या तेज़ी से बढ़ने लगी। धनिकों के इस नये अभिजात वर्ग ने, जिस हद तक वह क़बीलों के पुराने कुलीनों से भिन्न था, पुराने कुलीनों को स्थायी रूप से पृष्ठभूमि में ढकेल दिया (एथेंस में, रोम में और जर्मनों में यही हुआ)। और धन के आधार पर स्वतंत्र मनुष्यों के भिन्न-भिन्न वर्गों में इस तरह बंट जाने के साथ ही साथ यूनान में ख़ास तौर पर दासों की संख्या में बड़ी भारी वृद्धि हो गयी **, जिनकी बेगार पर पूरे समाज का ऊपरी ढांचा खड़ा किया गया था।

आइये, अब हम यह देखें कि इस सामाजिक क्रांति के फलस्वरूप गोत्र-व्यवस्था का क्या हुआ। वह उन नये तत्त्वों के सामने बिल्कुल निस्सहाय थी जो बिना उसकी मदद के ही विकसित हो गये थे। उसका अस्तित्व इस बात पर निर्भर करता था कि गोत्र के, या यों कहिये, क़बीले के सदस्य सब एक इलाक़े में साथ-साथ रहें और दूसरे लोग उस इलाक़े में न रहें। पर यह परिस्थिति तो बहुत दिनों से नहीं रह गयी थी। हर जगह गोत्र और क़बीले घुल-मिल गये थे; हर जगह स्वतन्त्र नागरिकों के बीच दास, आश्रित लोग और विदेशी लोग भी रह रहे थे। यायावर की जगह स्थावर जीवन अवस्था बर्बर युग के मध्यम चरण के अंत में ही प्राप्त की गयी थी; अब लोगों की गतिशीलता तथा निवास-स्थान परिवर्तन से उसमें बार-बार व्याघात पड़ने लगा। यह चलनशीलता व्यापार के दबाव, व्यवसाय-धंधों के बदलते रहने तथा भूमि के अन्यसंक्रामण के कारण

---

* "तुम यही चाहते थे, जार्ज दांदीं!" (मोलियेर, 'जार्ज दांदीं')।—सं०

** एथेंस में दासों की संख्या क्या थी, यह जानने के लिये पृष्ठ ११७ देखिये। (प्रस्तुत खण्ड में पृष्ठ १४०।—सं०) कोरिन्थ नगर में, जब वह उत्कर्ष के शिखर पर था, दासों की संख्या ४,६०,००० और ईजिना में ४,७०,००० थी। दोनों नगरों में दासों की संख्या स्वतंत्र नागरिकों की दसगुनी थी।

लाज़िमी हो गयी थी। अब गोत्र-समाज की संस्थाओं के सदस्यों के लिये सम्भव न था कि वे अपने सामूहिक मामलों को निपटाने के लिये एक जगह जमा हो सकें। अब केवल गौण महत्त्व के काम, उदाहरण के लिये धार्मिक अनुष्ठान, आदि ही मिलकर किये जाते थे और वह भी आधे मन से। गोत्र-समाज की संस्थाएं जिन ज़रूरतों और हितों की देखभाल के लिये स्थापित की गयी थीं और जिनकी देखभाल करने के वे योग्य भी थीं, उनके अलावा जीविकोपार्जन की अवस्थाओं में क्रांति तथा उसके फलस्वरूप समाज के ढांचे में परिवर्तन से अब कुछ नयी ज़रूरतें और नये हित भी पैदा हो गये थे, जो पुरानी गोत्र-व्यवस्था के लिये न केवल एक पराये तत्त्व थे, बल्कि उसके रास्ते में हर तरह की रुका-वट भी डालते थे। श्रम-विभाजन से दस्तकारों के जो नये समूह पैदा हो गये थे, उनके हितों, और देहात के मुक़ाबले में शहर के विशिष्ट हितों के लिये नये निकायों की आवश्यकता थी। परन्तु इनमें से प्रत्येक समूह में विभिन्न गोत्रों, बिरादरियों और क़बीलों के लोग शामिल थे। यही नहीं, उनमें विदेशी लोग भी शामिल थे। इसलिये नये निकायों का निर्माण लाज़िमी तौर पर गोत्र-संघटन के बाहर, उसके समानांतर और साथ ही उसके विरोध में हुआ। गोत्र-समाज की प्रत्येक संस्था के भीतर हितों की टक्कर होने लगी, जो अमीरों और ग़रीबों के, सूदखोरों और क़र्ज़दारों के, एक ही गोत्र और क़बीले के अंदर साथ-साथ रहने से अपनी चरम सीमा पर पहुंच गयी। फिर नये बाशिन्दों का विशाल जन समूह था जो गोत्र-समुदायों के लिए सर्वथा पराया था, और जो, जैसा कि रोम में हुआ, देश में एक प्रभुताशाली शक्ति बन सकता था। इन लोगों की संख्या बहुत बड़ी होने के कारण यह असम्भव था कि रक्त-सम्बद्ध गोत्र और क़बीले उनको धीरे-धीरे अपने अन्दर जज़्ब कर लें। इस विशाल जन समूह की नज़रों में गोत्र-समुदाय विशेषाधिकारप्राप्त विशिष्ट संगठन थे जो बाहर के लोगों को अपने अन्दर घुसने नहीं देते थे। जो आरम्भ में प्राकृतिक विकास से उत्पन्न लोकतंत्र था, वही अब एक घृणित अभिजाततंत्र बन गया था। अन्तिम बात यह है कि गोत्र-व्यवस्था एक ऐसे समाज के गर्भ से पैदा हुई थी जिसमें किसी तरह के अन्दरूनी विरोध नहीं थे और वह केवल ऐसे समाज के ही योग्य थी। जनमत के सिवा उसके पास दबाव डालने का कोई और साधन न था। परन्तु अब एक नया समाज पैदा हो गया था, जिसे स्वयं उसके अपने अस्तित्व की तमाम आर्थिक परिस्थितियों ने अनिवार्यत: स्वतंत्र नागरिकों और दासों में, शोषक धनिकों और शोषित ग़रीबों में बांट दिया था और जो न केवल इन विरोधों में सामंजस्य लाने

में असमर्थ था, बल्कि जो अनिवार्यतः उन्हें अधिकाधिक पराकाष्ठा पर पहुंचा रहा था। ऐसा समाज या तो इस हालत में जीवित रह सकता था कि ये वर्ग बराबर एक दूसरे के ख़िलाफ़ खुला संघर्ष चलाते रहें या फिर इस हालत में कि एक तीसरी शक्ति का शासन हो, जो देखने में, आपस में लड़नेवाले वर्गों के ऊपर मालूम पड़े, उनके खुले संघर्ष को न चलने दे और जो ज़्यादा से ज़्यादा उन्हें केवल आर्थिक क्षेत्र में और वह भी तथाकथित क़ानूनी ढंग से वर्ग-संघर्ष चलाने की छूट दे। गोत्र-व्यवस्था की उपयोगिता समाप्त हो चुकी थी। श्रम-विभाजन तथा उसके परिणामस्वरूप समाज के वर्गों में बंट जाने से वह ध्वस्त हो गयी। उसका स्थान **राज्य** ने ले लिया।

* * *

ऊपर हमने उन तीनों मुख्य रूपों की अलग-अलग चर्चा की है, जिनमें गोत्र-व्यवस्था के ध्वंसावशेषों पर राज्य का निर्माण हुआ। एथेंस सबसे शुद्ध, सबसे क्लासिकीय रूप का प्रतिनिधित्व करता है। वहां राज्य सीधे-सीधे और प्रधानतया उन वर्ग-विरोधों से उत्पन्न हुआ जो गोत्र-समाज के भीतर पैदा हो गये थे। रोम में गोत्र-समाज एक विशिष्ट अभिजातीय समाज बन गया, बहुसंख्यक प्लेबियनों से घिरा हुआ, जो इस समाज के बाहर थे, जिन्हें कोई अधिकार प्राप्त न था और जिनके लिए केवल कर्त्तव्य निर्दिष्ट थे। प्लेबियनों की विजय से पुरानी गोत्र-व्यवस्था नष्ट हो गयी और उसके खंडहरों पर राज्य का निर्माण किया गया जिसमें जल्द ही गोत्र-समाज के कुलीन लोग और प्लेबियन दोनों समा गये। अन्तिम उदाहरण जर्मनों का है, जिन्होंने रोमन साम्राज्य को धराशायी किया था। उनके यहां बड़े-बड़े विदेशी इलाक़ों को जीतने के प्रत्यक्ष परिणाम के रूप में राज्य का जन्म हुआ था, क्योंकि गोत्र-व्यवस्था उन पर शासन करने का कोई साधन प्रस्तुत न कर सकती थी। पर चूंकि इन इलाक़ों पर विजय का वहां की पुरानी आबादी के साथ किसी गम्भीर संघर्ष से या पहले से अधिक उन्नत श्रम-विभाजन से कोई सम्बन्ध न था और चूंकि विजेता और विजित लोग दोनों आर्थिक विकास के लगभग एक से स्तर पर थे और इस प्रकार समाज का आर्थिक आधार विदेशियों की जीत के बाद भी पहले जैसा ही बना रहा, इसलिये गोत्र-व्यवस्था एक बदले हुए, प्रादेशिक रूप में, मार्क-संघटन की शक्ल में, इसके बाद भी सदियों तक जीवित रह सकी। बल्कि बाद के वर्षों के अभिजात और कुलीन परिवारों के रूप में, यहां तक कि किसान परिवारों के रूप में भी – जैसे डिथमार्शेन

में* – वह कुछ समय के लिये मंद रूप में ही सही, अपना कायाकल्प करने में भी सफल हो सकी।

इसलिए राज्य कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो बाहर से लाकर समाज पर लादी गयी हो; और न वह "किसी नैतिक विचार का मूर्त्त रूप" या "विवेक का मूर्त्त और वास्तविक रूप" है, जैसा कि हेगेल कहते हैं[49]। बल्कि कहना चाहिए कि वह समाज की उपज है, जो विकास की एक निश्चित अवस्था में पैदा होती है, वह इस बात की स्वीकारोक्ति है कि यह समाज हल न होनेवाले अन्तर्विरोधों में फंस गया है, वह ऐसे विरोधों से विदीर्ण हो गया है, जिनका समाधान नहीं किया जा सकता और जिन्हें दूर करना उसकी सामर्थ्य के बाहर है। परन्तु ये विरोध, परस्पर विरोधी आर्थिक हितों वाले ये वर्ग व्यर्थ के संघर्ष में अपने को और पूरे समाज को नष्ट न कर डालें, इसलिये एक ऐसी शक्ति, जो मालूम पड़े कि समाज से ऊपर खड़ी है, आवश्यक बन गयी, ताकि इस संघर्ष को हल्का किया जा सके, उसे "व्यवस्था" की सीमाओं के भीतर रखा जा सके। यही शक्ति, जो समाज से पैदा होती है, पर जो समाजोपरि स्थान ग्रहण कर लेती है, और उससे अधिकाधिक पृथक होती जाती है, राज्य है।

पुराने गोत्र-संघटन से भिन्न, राज्य पहले तो अपनी प्रजा का **प्रदेशानुसार विभाजन** कर देता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, रक्त-सम्बन्ध पर आधारित और सूत्रबद्ध गोत्र-संस्थाएं अधिकतर अपर्याप्त हो गयी थीं क्योंकि वे यह मानकर चलती थीं कि गोत्र के सदस्य एक विशेष प्रदेश से बंधे हैं, गोकि यह नाता बहुत दिन हुए टूट गया था। प्रदेश अब भी था, पर लोग गतिशील हो गये थे। इसलिये पहला क़दम जो उठाया गया वह था प्रदेशानुसार विभाजन और नागरिकों को, गोत्र और क़बीले का लिहाज़ किये बिना – जहां कहीं वे बसे हों, वहीं – अपने सार्वजनिक कर्त्तव्यों व अधिकारों का प्रयोग करने की इजाजत दे दी गयी। नागरिकों का यह प्रदेशानुसार संघटन एक ऐसी विशेषता है जो सभी राज्यों में समान रूप से पायी जाती है। इसी लिये वह हमें स्वाभाविक मालूम पड़ता है; परन्तु हम देख चुके हैं कि एथेंस और रोम में कितने लम्बे और कठिन संघर्ष के बाद ही वह गोत्रों पर आधारित पुराने संघटन का स्थान ले सका था।

---

*निबूहर ही पहले ऐसे इतिहासकार थे जिन्हें गोत्रों के सार का कम से कम कुछ आभास था। उनका यह ज्ञान तथा साथ ही इसके परिणामस्वरूप पैदा हुई ग़लतियां डिथमार्शेन गोत्र के बारे में उनके परिचय पर आधारित थीं।[48]

दूसरा विभेदक लक्षण यह है कि एक **सार्वजनिक सत्ता** की स्थापना की जाती है, जिसका एक सशस्त्र शक्ति के रूप में अपने को स्वयं संगठित करनेवाली जनता से सीधे-सीधे मेल नहीं रह जाता। यह विशिष्ट सार्वजनिक सत्ता इसलिए आवश्यक हो जाती है कि समाज के वर्गों में बंट जाने के बाद आबादी का स्वतःकार्यकारी सशस्त्र संघटन असम्भव हो जाता है। दास भी आबादी के एक भाग थे; एथेंस के ९०,००० नागरिक ३,६५,००० दासों के मुक़ाबले में एक विशेषाधिकारप्राप्त वर्ग मात्र थे। एथेंस के लोकतंत्र की जन-सेना वास्तव में दासों के विरुद्ध लक्षित अभिजात वर्ग की सार्वजनिक सत्ता थी, जो दासों को नियंत्रण में रखती थी। लेकिन उसके साथ-साथ, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, नागरिकों को नियंत्रण में रखने के लिये पुलिस भी आवश्यक हो गयी थी। यह सार्वजनिक सत्ता हर राज्य में होती है। उसमें केवल हथियारबन्द लोग ही नहीं, बल्कि जेलख़ाने तथा विभिन्न प्रकार की दमनकारी संस्थाएं, आदि भौतिक साधन भी शामिल होते हैं, जिनका गोत्र-समाज में निशान तक न था। जिन समाजों में वर्ग-विरोध अभी बहुत अविकसित अवस्था में हैं और जो बहुत दूर-दराज़ इलाक़ों में बसे हैं, उनमें यह सार्वजनिक सत्ता बहुत महत्त्वहीन और नहीं के बराबर हो सकती है। संयुक्त राज्य अमरीका के कुछ हिस्सों में किसी समय ऐसी ही हालत पायी जाती थी। परन्तु जैसे-जैसे राज्य के अंदर वर्ग-विरोध उग्र होते जाते हैं और जैसे-जैसे पड़ोस के राज्य विशाल होते जाते हैं और उनकी आबादी बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे यह सार्वजनिक सत्ता भी मज़बूत होती जाती है। इसके लिये हमारे वर्तमान काल के यूरोप पर एक नज़र डाल लेना काफ़ी है, जहां वर्ग-संघर्ष तथा देश-विजय की होड़ ने इस सार्वजनिक सत्ता को ऐसा विराट रूप दे डाला है कि वह पूरे समाज को और स्वयं राज्य को भी निगल जाना चाहती है।

इस सार्वजनिक सत्ता को क़ायम रखने के लिये नागरिकों से पैसा—**कर**—वसूल करना आवश्यक हो जाता है। गोत्र-समाज करों से सर्वथा अपरिचित था, परन्तु हमारा उनसे आज काफ़ी परिचय हो चुका है। जैसे-जैसे सभ्यता आगे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे ये कर नाकाफ़ी होते जाते हैं, तब राज्य भविष्य को दांव पर लगाता है, उधार लेता है। इस तरह **सार्वजनिक क़र्जों का** श्रीगणेश हुआ। बूढ़ा यूरोप इनके बारे में भी एक पूरी कहानी सुना सकता है।

सार्वजनिक सत्ता तथा कर लगाने और वसूल करने के अधिकार को अपने हाथ में लेकर राज्याधिकारी अब समाज के निकाय के रूप में, समाज **के ऊपर** हो जाते हैं। गोत्र-समाज के अधिकारियों को स्वेच्छया और स्वतंत्र रूप से जो

सम्मान दिया जाता था, वह इन अधिकारियों को अगर मिल भी जाता, तो वे उससे असंतुष्ट होते। समाज से पृथक होती जा रही सत्ता के वाहक होने के नाते इन अधिकारियों को ऐसे असाधारण क़ानूनों द्वारा सम्मान दिलाना जरूरी है जिनकी मदद से वे एक विशेष प्रकार की पवित्रता तथा अलंघ्यता का उपभोग करते हैं। सभ्य राज्य के अदना से अदना पुलिस कर्मचारी को जितनी "प्रतिष्ठा" मिली होती है, इतनी गोत्र-समाज की तमाम संस्थाओं को मिलाकर नहीं मिली थी। परन्तु गोत्र-समाज के छोटे से छोटे मुखिया को बिना किसी दबाव के और निर्विवाद रूप से जो सम्मान मिलता था, उस पर सभ्यता के युग के सबसे अधिक शक्तिशाली राजा और बड़े से बड़े राजनीतिज्ञ या सेनापति ईर्ष्या कर सकते हैं। पहला तो समाज के बीच रहता है, दूसरा अपने को समाज से बाहर और समाज से ऊपर दिखाने की कोशिश करने के लिये बाध्य है।

राज्य चूंकि वर्ग-विरोध पर अंकुश रखने के लिये पैदा हुआ था और साथ ही चूंकि वह इन वर्गों के संघर्ष के बीच पैदा हुआ था, इसलिये वह निरपवाद रूप से सबसे अधिक शक्तिशाली, आर्थिक क्षेत्र में प्रभुत्वशील वर्ग का राज्य होता है। यह वर्ग राज्य के ज़रिये राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रभुत्वशील हो जाता है और इस प्रकार उसे उत्पीड़ित वर्ग को दबाकर रखने तथा उसका शोषण करने के लिये नया साधन मिल जाता है। इस प्रकार प्राचीन काल का राज्य सर्वोपरि दास-स्वामियों का राज्य था जिसका उद्देश्य दासों को दबाकर रखना था; इसी प्रकार सामन्ती राज्य अभिजात वर्ग का निकाय था, जिसका उद्देश्य भूदास किसानों तथा बंधुआ मजदूरों को दबाकर रखना था और आधुनिक प्रातिनिधिक राज्य पूंजी द्वारा उजरती श्रम के शोषण का साधन है। परन्तु अपवादस्वरूप कुछ ऐसे काल भी आते हैं जब संघर्षरत वर्गों का शक्ति संतुलन इतना बराबर हो जाता है कि राज्य-सत्ता एक दिखावटी पंच के रूप में कुछ समय के लिए, कुछ मात्रा में दोनों वर्गों से स्वतंत्र हो जाती है। सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों का निरंकुश राजतंत्र ऐसा ही था, जो अभिजात वर्ग तथा पूंजीपति वर्ग के बीच संतुलन क़ायम रखता था। फ़्रांस में पहले और उससे भी अधिक दूसरे [साम्राज्य[50] की बोनापार्तशाही भी ऐसी ही थी, जो सर्वहारा वर्ग को पूंजीपति वर्ग से और पूंजीपति वर्ग को सर्वहारा वर्ग से भिड़ाती रही थी। इस प्रकार का सबसे नया उदाहरण, जिसमें शासक और शासित दोनों समान रूप से हास्यास्पद नजर आते हैं, बिस्मार्क के राष्ट्र का नया जर्मन साम्राज्य है। यहां पूंजीपतियों और मजदूरों के बीच संतुलन रखा जाता है और दोनों को

समान रूप से धोखा देकर प्रशा के दिवालिया युंकरों[51] का उल्लू सीधा किया जाता है।

इसके अलावा इतिहास में अभी तक जितने राज्य हुए हैं, उनमें से अधिकतर में नागरिकों को उनकी धन-दौलत के अनुसार कम या ज़्यादा अधिकार दिये गये हैं, जिससे यह बात सीधी तौर पर ज़ाहिर हो जाती है कि राज्य सम्पत्तिवान वर्ग की सम्पत्तिहीन वर्ग से रक्षा करने का एक संगठन है। एथेंस और रोम में ऐसा ही था, जहां नागरिकों का सम्पत्ति के अनुसार विभाजन किया जाता था। मध्ययुगीन सामन्ती राज्य में भी यही हालत थी जहां राजनीतिक प्रभाव की मात्रा भू-स्वामित्व के पैमाने से निर्धारित होती थी। आधुनिक प्रातिनिधिक राज्यों में जो मताधिकार-अर्हता पायी जाती है, उसमें भी यह बात साफ़ दिखायी देती है। तिस पर भी स्वामित्व के भेदों की राजनीतिक मान्यता किसी भी प्रकार अनिवार्य नहीं है: इसके विपरीत, वह राज्य के विकास के निम्न स्तर का द्योतक है। राज्य का सबसे ऊंचा रूप, यानी जनवादी जनतंत्र, जो समाज की आधुनिक परिस्थितियों में अनिवार्यतः आवश्यक बनता जा रहा है और जो राज्य का वह एकमात्र रूप है जिसमें ही सर्वहारा तथा पूंजीपति वर्ग का अन्तिम और निर्णायक संघर्ष लड़ा जा सकता है – यह जनवादी जनतंत्र औपचारिक रूप से स्वामित्व के अन्तर का कोई ख़याल नहीं करता। उसमें धन-दौलत अप्रत्यक्ष रूप से, पर और भी ज़्यादा कारगर ढंग से, अपना असर डालती है। एक तो सीधे-सीधे राज्य के अधिकारियों के भ्रष्टाचार के रूप में, जिसका क्लासिकीय उदाहरण अमरीका है। दूसरे, सरकार तथा स्टॉक एक्सचेंज के बीच गठबंधन के रूप में। जितना ही राजकीय क़र्ज़ बढ़ता जाता है और जितनी ही अधिक ज्वाइंट स्टॉक कम्पनियां स्टॉक एक्सचेंज को अपना केन्द्र बनाती हुई न केवल यातायात को, बल्कि उत्पादन को भी अपने हाथ में केन्द्रित करती जाती हैं, उतनी ही अधिक आसानी से यह गठबंधन होता जाता है। अमरीका के अलावा नवीनतम फ़्रांसीसी जनतंत्र भी उसके ज्वलंत उदाहरण हैं और नेक बूढ़े स्विट्ज़रलैंड ने भी इस क्षेत्र में काफ़ी मार्के की कामयाबी हासिल की है। परन्तु सरकार तथा स्टॉक एक्सचेंज के इस बंधुत्वपूर्ण गठबंधन की स्थापना करने के लिये जनवादी जनतंत्र की आवश्यकता नहीं है। इसका प्रमाण इंगलैंड के अलावा नवीन जर्मन साम्राज्य भी है, जहां कोई नहीं कह सकता कि सार्विक मताधिकार लागू करने से किसका स्थान अधिक ऊंचा हुआ है – बिस्मार्क का या ब्लाइख़रोडर का। अन्तिम बात यह है कि सम्पत्तिवान वर्ग सार्विक मताधिकार के द्वारा सीधे शासन करता है।

जब तक कि उत्पीड़ित वर्ग—परिणामस्वरूप इस मामले में सर्वहारा वर्ग—इतना परिपक्व नहीं हो जाता कि अपने को स्वतंत्र करने के योग्य हो जाये, तब तक उसका अधिकांश भाग वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को ही एकमात्र सम्भव व्यवस्था समझता रहेगा और इसलिये वह राजनीतिक रूप से पूंजीपति वर्ग का दुमछल्ला, उसका उग्र वामपक्ष बना रहेगा। लेकिन जैसे-जैसे यह वर्ग परिपक्व होकर स्वयं अपने को मुक्त करने के योग्य बनता जाता है, वह अपने को ख़ुद अपनी पार्टी के रूप में संगठित करता है, और पूंजीपतियों के नहीं, बल्कि ख़ुद अपने प्रतिनिधि चुनता है। अतएव, सार्विक मताधिकार मज़दूर वर्ग की परिपक्वता की कसौटी है। वर्तमान राज्य में वह इससे अधिक कुछ नहीं है और न कभी हो सकता है; परन्तु इतना काफ़ी है। जिस दिन सार्विक मताधिकार का थर्मामीटर यह सूचना देगा कि मज़दूरों में उबाल आनेवाला है, उस दिन मज़दूर पूंजीपतियों की ही तरह जान जायेंगे कि उन्हें क्या करना है।

अतएव, राज्य अनादि काल से नहीं चला आ रहा है। ऐसे समाज भी हुए हैं जिन्होंने बिना राज्य के अपना काम चलाया और जिन्हें राज्य और राज्य-सत्ता का कोई ज्ञान न था। आर्थिक विकास की एक निश्चित अवस्था में, जो समाज के वर्गों में विभक्त हो जाने के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई थी, इस विभाजन के कारण राज्य अनिवार्य बन गया। अब हम उत्पादन के विकास की ऐसी अवस्था की ओर तेज़ी से बढ़ रहे हैं, जिसमें इन वर्गों का अस्तित्व न केवल अनावश्यक, बल्कि उत्पादन के लिये निश्चित रूप से एक बाधा बन जाता है। वर्गों का उतने ही अवश्यम्भावी ढंग से विनाश हो जायेगा जितने अवश्यम्भावी ढंग से उनका जन्म हुआ था। उनके साथ-साथ राज्य भी अनिवार्य रूप से मिट जायेगा। जो समाज उत्पादकों के स्वतंत्र तथा समान सहयोग की बुनियाद पर उत्पादन का संगठन करेगा, वह समाज राज्य की पूरी मशीनरी को उठाकर उस स्थान में रख देगा जो उस समय उसके लिये सबसे उपयुक्त होगा: यानी वह राज्य को हाथ के चर्खे और कांसे की कुल्हाड़ी के साथ-साथ प्राचीन वस्तुओं के अजायबघर में रख देगा।

* * *

इस प्रकार उपरोक्त विश्लेषण यह बताता है कि सभ्यता समाज के विकास की वह अवस्था है, जिसमें श्रम-विभाजन, उसके परिणामस्वरूप अलग-अलग व्यक्तियों के बीच होनेवाला विनिमय और इन दोनों चीज़ों को मिलानेवाला माल-

उत्पादन अपने पूर्ण विकास पर पहुंच जाते हैं और पहले से चलते आये पूरे समाज को क्रान्तिकारी रूप से बदल डालते हैं।

समाज की पहलेवाली सभी अवस्थाओं में उत्पादन मूलभूत रूप से सामूहिक था और इसलिये उसे उपभोग के लिये, छोटे या बड़े आदिम सामुदायिक कुटुम्बों में, सीधे-सीधे बांट लिया जाता था। यह साझे का उत्पादन अत्यन्त संकुचित सीमाओं के भीतर होता था, परन्तु साथ ही उसमें उत्पादकगण अपनी उत्पादन प्रक्रिया के और अपने उत्पाद के ख़ुद मालिक रहते थे। वे जानते थे कि उनकी पैदावार का क्या होता है—वे उसका उपभोग करते थे, वह उनके हाथ में ही रहती थी। जब तक उत्पादन इस आधार पर चलता रहा, तब तक वह उत्पादकों के नियंत्रण से बाहर नहीं निकल पाया और उनके मुक़ाबले वैसी अजीब, प्रेत शक्तियों को नहीं खड़ा कर सका, जैसी कि सभ्यता के युग में नियमित और अवश्यम्भावी रूप से खड़ी होती रहती हैं।

परन्तु धीरे-धीरे उत्पादन की इस प्रक्रिया में श्रम-विभाजन घुस आया। उसने उत्पादन तथा हस्तगतकरण के सामूहिक रूप की नींव खोद डाली। उसने अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा हस्तगतकरण को मुख्यतया प्रचलित नियम बना दिया और साथ ही उनके बीच विनिमय का श्रीगणेश किया। यह सब कैसे हुआ, यह हम ऊपर देख चुके हैं। धीरे-धीरे माल-उत्पादन मुख्य रूप बन गया।

माल-उत्पादन शुरू होने पर जब उत्पादन ख़ुद उत्पादक के उपयोग के लिये नहीं, बल्कि विनिमय के लिये होता है, तब पैदावार का एक हाथ से दूसरे हाथ में जाना अनिवार्य हो जाता है। विनिमय के दौरान उत्पादक के हाथ से उसकी पैदावार निकल जाती है। अब वह नहीं जानता कि उसकी पैदावार का क्या हुआ। जैसे ही मुद्रा तथा उसके साथ व्यापारी आकर उत्पादकों के बीच बिचवइये के रूप में खड़े हो जाते हैं, वैसे ही विनिमय की प्रक्रिया और भी अधिक जटिल हो जाती है और पैदावार का अन्त में क्या होगा, यह बात और भी अनिश्चित बन जाती है। व्यापारियों की संख्या बहुत बड़ी होती है और एक व्यापारी यह नहीं जानता कि दूसरा क्या कर रहा है। अब माल एक हाथ से निकलकर दूसरे हाथ में ही नहीं जाता है, बल्कि वह एक बाजार से दूसरे बाजार में भी घूमता रहता है। अब उत्पादकों का अपने जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं के कुल उत्पादन पर नियंत्रण नहीं रह गया है और व्यापारियों के हाथ में भी यह नियंत्रण नहीं आया है। उपज और उत्पादन संयोग के अधीन हो जाते हैं।

किन्तु संयोग अन्तर्सम्बन्ध का एक छोर है, जिसका दूसरा छोर आवश्यकता कहलाता है। प्रकृति में भी संयोग का राज मालूम पड़ता है परन्तु हम बहुत दिन हुए उसके हर क्षेत्र में यह दिखा चुके हैं कि इस संयोग के आवरण में अन्तर्निहित आवश्यकता और नियमितता काम करती हैं। पर जो प्रकृति के लिये सत्य है, वही समाज के लिये भी सत्य है। किसी सामाजिक क्रिया पर, या सामाजिक प्रक्रियाओं के किसी क्रम पर मनुष्यों का सचेत नियंत्रण रखना जितना ही अधिक कठिन बनता जाता है, जितनी ही ये क्रियायें मनुष्यों के नियंत्रण के बाहर निकलती जाती हैं, उतना ही अधिक यह मालूम पड़ता है कि ये क्रियायें केवल संयोगवश घटित होती हैं और उतना ही अधिक इनमें निहित विशिष्ट नियम इस संयोग के रूप में प्रकट होते हैं, मानो ये क्रियायें स्वाभाविक आवश्यकता के कारण हो रही हों। माल-उत्पादन तथा माल-विनिमय में जो सांयोगिकता दिखायी देती है, वह भी ऐसे ही नियमों के अधीन है। अलग-अलग उत्पादकों और विनिमय-कर्त्ताओं को ये नियम एक विचित्र, और आरम्भ में अज्ञात शक्ति तक मालूम पड़ते हैं, जिसकी असलियत का पता लगाने के लिए बड़ी मेहनत के साथ खोज और छान-बीन करना आवश्यक होता है। माल-उत्पादन के ये आर्थिक नियम उत्पादन के इस रूप के विकास की प्रत्येक अवस्था में थोड़ा बहुत बदल जाते हैं। लेकिन मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि सभ्यता के पूरे युग में ये नियम हावी रहते हैं। आज भी उपज उत्पादक के ऊपर हावी है; आज भी समाज का कुल उत्पादन किसी ऐसी योजना के अनुसार नहीं होता जिसे सामूहिक रूप से सोच-विचार कर तैयार किया गया हो, बल्कि वह अंध नियमों द्वारा नियमित होता है जो अंध शक्तियों की तरह काम करते हैं और अन्त में जाकर समय-समय पर आनेवाले व्यापारिक संकटों के तूफ़ानों के रूप में प्रगट होते हैं।

हम ऊपर देख चुके हैं कि उत्पादन के विकास की अपेक्षाकृत आरम्भिक अवस्था में ही मानव श्रम-शक्ति इस योग्य बन गयी थी कि उत्पादक के जीवन-निर्वाह के लिए जितना ज़रूरी था, उससे काफ़ी ज़्यादा पैदा कर सके, और प्रधानतया इसी अवस्था में श्रम-विभाजन और अलग-अलग व्यक्तियों के बीच विनिमय पहली बार प्रगट हुआ था। अस्तु, इसके कुछ ही समय के बाद इस महान "सत्य" का भी आविष्कार हो गया कि स्वयं मनुष्य भी माल हो सकता है, मनुष्य को दास बनाकर मानव-शक्ति का भी विनिमय और उपयोग किया जा सकता है। मनुष्यों ने विनिमय करना आरम्भ ही किया था कि ख़ुद उनका

भी विनिमय होना शुरू हो गया। कर्त्तवाच्य कर्मवाच्य में परिणत हो गया—इंसान ने यह चाहा हो या न चाहा हो।

दास-प्रथा के साथ-साथ, जो सभ्यता के युग में अपने विकास के शिखर पर पहुंची थी, समाज का पहली बार शोषक और शोषित वर्गों में बड़ा विभाजन हुआ। यह विभाजन सभ्यता के पूरे युग में बराबर क़ायम रहा है। शोषण का पहला रूप दास-प्रथा था, जो प्राचीन काल के लिये विशिष्ट था। उसके बाद मध्य युग में भूदास-प्रथा और आधुनिक काल में उजरती श्रम की प्रथा आयी। अधीनता के ये तीन महान रूप सभ्यता के तीन महान युगों के अभिलक्षण थे—खुली, और बाद में छिपी दासता बराबर उसके साथ-साथ चलती आयी है।

सभ्यता का युग माल-उत्पादन की जिस अवस्था से आरम्भ हुआ था, उसकी आर्थिक विशेषताएं ये थीं: १) धातु मुद्रा इस्तेमाल होने लगी थी और इस प्रकार मुद्रा—पूंजी, सूद तथा सूदख़ोरी का चलन हो गया था; २) उत्पादकों के बीच में बिचवई करनेवाले व्यापारी आकर खड़े हो गये थे; ३) जमीन पर निजी स्वामित्व क़ायम हो गया था और रेहन की प्रथा जारी हो गयी; ४) दास-श्रम उत्पादन का प्रमुख रूप बन गया था। सभ्यता के युग के अनुरूप परिवार का रूप, जो इस युग में निश्चित तौर पर प्रचलित रूप बन गया, वह एकनिष्ठ विवाह है, पुरुष का स्त्री पर प्रभुत्व रहता है और हर अलग परिवार समाज की आर्थिक इकाई होता है। सभ्य समाज को जोड़नेवाली शक्ति राज्य है, जो सामान्य कालों में केवल शासक वर्ग का राज्य होता है और जो बुनियादी तौर पर सदा उत्पीड़ित एवं शोषित वर्ग को दबाकर रखने का यंत्र है। सभ्यता की अन्य विशेषतायें ये हैं: एक ओर तो पूरे सामाजिक श्रम-विभाजन के आधार के रूप में शहर व देहात के बीच स्थायी विरोध का क़ायम हो जाना; दूसरी ओर वसीयत की प्रथा का जारी हो जाना, जिसके ज़रिये सम्पत्ति का मालिक अपनी मृत्यु के बाद भी अपनी जायदाद का जैसे चाहे निपटारा कर सकता है। यह प्रथा, जो पुराने गोत्र-व्यवस्था के बिल्कुल प्रतिकूल थी, सोलन के समय तक एथेंस में अज्ञात थी। रोम में वह प्रारंभिक काल में ही जारी हो गयी थी, पर हम ठीक-ठीक नहीं कह सकते कि यह कब हुई थी*; जर्मनों में वसीयतनामे की

---

*लासाल की पुस्तक 'अर्जित अधिकारों की व्यवस्था' के दूसरे भाग का आधार मुख्यतया यह प्रस्थापना है कि रोम में वसीयत की प्रथा उतनी ही पुरानी है जितना पुराना ख़ुद रोम है, कि रोम के इतिहास में "ऐसा कोई समय नहीं

प्रथा पादरियों ने जारी की थी, ताकि नेक और ईमानदार जर्मन बिना किसी बाधा के अपनी सम्पत्ति गिरजाघर के नाम कर सकें।

इस संविधान को अपनी नींव बनाकर सभ्यता ने ऐसे-ऐसे काम कर दिखाये हैं, जो पुराने गोत्र-समाज की सामर्थ्य के बिल्कुल बाहर थे। परन्तु ये काम उसने किये मनुष्य की सबसे नीच अन्तर्वृत्तियों और आवेगों को उभारते हुए और उन्हें उसकी तमाम अन्य क्षमताओं को नुक़सान पहुंचाकर विकसित करते हुए। सभ्यता के अस्तित्व के पहले दिन से लेकर आज तक नग्न लोभ ही उसकी मूल प्रेरणा रहा है। धन कमाओ, और धन कमाओ और जितना बन सके उतना कमाओ! समाज का धन नहीं, एक अकेले क्षुद्र व्यक्ति का धन—बस यही सभ्यता का एकमात्र और निर्णायक उद्देश्य रहा है। यदि इसके साथ ही समाज में विज्ञान का अधिकाधिक विकास होता गया और समय-समय पर कला के संपूर्णतम विकास के युग भी बार-बार आते रहे, तो इसका कारण केवल यह था कि धन बटोरने में आज जो भारी सफलतायें प्राप्त हुई हैं, वे विज्ञान और कला की इन उपलब्धियों के बिना प्राप्त नहीं की जा सकती थीं।

सभ्यता का आधार चूंकि एक वर्ग का दूसरे वर्ग द्वारा शोषण है, इसलिये उसका सम्पूर्ण विकास सदा अविरत अंतर्विरोध के अविच्छिन्न क्रम में होता रहा है। उत्पादन में हर प्रगति साथ ही साथ उत्पीड़ित वर्ग की, यानी समाज के बहुसंख्यक भाग की अवस्था में पश्चादगति भी होती है। एक के लिये जो वरदान है, वह दूसरे के लिये आवश्यक रूप से अभिशाप बन जाता है। जब भी किसी वर्ग को नयी स्वतंत्रता मिलती है, तो वह दूसरे वर्ग के लिये नये उत्पीड़न का

रहा है जब वसीयतनामे न होते रहे हों", बल्कि सच बात तो यह है कि वसीयत की प्रथा पूर्वरोमन काल में मृतात्माओं की पूजा से उत्पन्न हुई थी। पुराने ढंग के कट्टर हेगेलवादी होने के नाते लासाल ने रोमन क़ानून की व्यवस्थाओं का स्रोत रोमवासियों के सामाजिक सम्बन्धों को नहीं, बल्कि इच्छा की "परिकल्पनात्मक अवधारणा को" माना और इसलिये इस सर्वथा ग़ैर-ऐतिहासिक निष्कर्ष पर पहुंचे। यह बात ऐसी पुस्तक में होना आश्चर्यजनक नहीं है जिसके लेखक ने उसी परिकल्पनात्मक अवधारणा के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला हो कि सम्पत्ति के हस्तान्तरण का रोमन उत्तराधिकार प्रथा में केवल गौण स्थान था। लासाल न केवल रोमन न्यायशास्त्रियों की, विशेषकर आरम्भिक काल के न्यायशास्त्रियों की भ्रान्त धारणाओं में विश्वास करते हैं, बल्कि इस मामले में उनसे भी आगे निकल जाते हैं।

कारण बन जाती है। इसकी सबसे अच्छी मिसाल मशीनों के प्रयोग के रूप में हमें मिलती है, जिसके परिणामों से आज सभी लोग अच्छी तरह परिचित हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं, जहां बर्बर लोगों में अधिकारों और कर्त्तव्यों के बीच भेद की कोई रेखा नहीं खींची जा सकती थी, वहां सभ्यता एक वर्ग को लगभग सारे अधिकार देकर और दूसरे वर्ग पर लगभग सारे कर्त्तव्यों का बोझ लादकर अधिकारों और कर्त्तव्यों के भेद एवं विरोध को इतना स्पष्ट कर देती है कि मूर्ख से मूर्ख आदमी भी उन्हें समझ सकता है।

लेकिन ऐसा होना नहीं चाहिये। जो शासक वर्ग के लिये कल्याणकारी है, उसे पूरे समाज के लिये कल्याणकारी होना चाहिये, जिससे शासक वर्ग अपने को अभिन्न समझता है। अतएव सभ्यता जैसे-जैसे प्रगति करती है, वैसे-वैसे उसे उन बुराइयों पर, जिन्हें वह आवश्यक रूप से पैदा करती है, प्रेम का परदा डालना पड़ता है, उन पर क़लई करनी होती है, या फिर उनके अस्तित्व से इनकार करना पड़ता है—संक्षेप में सभ्यता को ढोंग व मिथ्याचार का चलन आरम्भ करना पड़ता है, जो पुरानी सामाजिक व्यवस्थाओं में, और यहां तक कि सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्थाओं में भी, अज्ञात था और जिसकी परिणति इस घोषणा में होती है: शोषक वर्ग शोषित वर्ग का शोषण केवल और सर्वथा स्वयं शोषित वर्ग के कल्याण के लिये ही करता है, और यदि शोषित वर्ग इस सत्य को नहीं देख पाता और विद्रोही तक बन जाता है, तो इस तरह वह अपने हितैषियों के, शोषकों के प्रति हद दर्जे की कृतघ्नता का ही परिचय देता है।*

और अब अन्त में मैं सभ्यता के बारे में मौर्गन का विचार उद्धृत कर दूं—

"सभ्यता के आने के बाद से सम्पत्ति इतने विशाल पैमाने पर बढ़ी है, उसके इतने विविध रूप हो गये हैं, उसके इस्तेमाल के ढंग इतने अधिक हो गये हैं

---

*शुरू में मेरा इरादा यह था कि सभ्यता की मौर्गन तथा मेरे द्वारा की गयी समीक्षा को उस शानदार समीक्षा के साथ-साथ रखूं जो शार्ल फ़ूरिये की रचनाओं में बिखरी पड़ी हैं। पर दुर्भाग्यवश इसके लिये समय निकालना असम्भव है। मैं केवल यही कहना चाहता हूं कि फ़ूरिये ने एकनिष्ठ विवाह तथा भूमि पर निजी स्वामित्व को सभ्यता की मुख्य विशेषतायें माना था और उसे ग़रीबों के ख़िलाफ़ धनिकों का युद्ध कहा था। इसके अलावा उनकी रचनाओं में इस सत्य की भी गहरी समझ प्रकट होती है कि इस तरह के सभी समाजों में, जो अपरिपूर्ण हैं और जो परस्पर विरोधी हितों से विदीर्ण हैं, अलग-अलग परिवार (les familles incohérentes) समाज की आर्थिक इकाई होते हैं।

और उसका प्रबंध उसके मालिक अपने हित में इतनी बुद्धिमानी से करने लगे हैं कि वह जनता के लिये एक **दुर्द्धर्ष शक्ति बन गयी है। खुद अपनी कृति के सामने आज मानव मस्तिष्क हतबुद्धि-सा खड़ा है।** परन्तु वह समय आयेगा जब मानव बुद्धि सम्पत्ति को अपने वश में करने में सफल होगी और जिस सम्पत्ति की राज्य रक्षा करता है, उसके साथ राज्य के सम्बन्ध को निरूपित करने में तथा सम्पत्तिधारियों के दायित्वों और अधिकारों की सीमाओं को निश्चित करने में कामयाब होगी। समाज के हित अलग-अलग व्यक्तियों के हितों से ऊंचे हैं और इन दोनों के बीच न्यायोचित एवं सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है। यदि प्रगति को भूतकाल की तरह भविष्य काल का भी नियम होना है, तो केवल साम्पत्तिक जीवन ही मानवजाति का अन्तिम ध्येय नहीं हो सकता। जब से सभ्यता आरम्भ हुई है, तब से जो समय गुज़रा है, वह मनुष्य के पिछले इतिहास का एक छोटा-सा टुकड़ा भर है और वह आनेवाले युगों का भी एक छोटा-सा टुकड़ा ही है। जिस ऐतिहासिक कार्यक्षेत्र का लक्ष्य और ध्येय सम्पत्ति बटोरना ही है, उसका अन्त समाज के विघटन में होना है, क्योंकि ऐसा कार्यक्षेत्र अपने विनाश के तत्त्वों को अपने अन्दर छिपाये रहता है। शासन में लोकतंत्र, समाज में भ्रातृत्व, समान अधिकार तथा सार्वजनिक शिक्षा समाज की अगली, उच्चतर अवस्था के पूर्वसूचक हैं, जिसकी ओर बढ़ने के लिए अनुभव, बुद्धि और ज्ञान लगातार प्रयास कर रहे हैं। **यह प्राचीन गोत्रों की स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व का पहले से उच्चतर रूप में पुनर्जन्म होगा।**" (मौर्गन, 'प्राचीन समाज', पृष्ठ ५५२।)

मार्च के अंत – २६ मई १८८४, में लिखित। अलग पुस्तक के रूप में १८८४ में ज़्यूरिच से प्रकाशित।
हस्ताक्षरः **फ़्रेडरिक एंगेल्स**

अंग्रेज़ी से अनूदित।

फ़्रेडरिक एंगेल्स

लुडविग फ़ायरबाख़ और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अन्त[52]

१८८८ के संस्करण की भूमिका

१८५९ में बर्लिन में प्रकाशित पुस्तक 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास' की भूमिका में कार्ल मार्क्स ने बताया था कि किस प्रकार १८४५ में जब हम ब्रसेल्स में थे, हम दोनों ने "जर्मन दर्शन के विचारधारात्मक दृष्टिकोण के विरोध में मिलकर अपना दृष्टिकोण"—यानी मुख्यतया मार्क्स द्वारा निरूपित इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा—"निरूपित करने का, अर्थात् अपने पूर्वकालिक दार्शनिक अन्तःकरण के साथ हिसाब चुकता करने का निश्चय किया। हम लोगों ने अपना यह संकल्प हेगेलोत्तर दर्शन की समालोचना करके पूरा किया।[53] पाण्डुलिपि, जो अठपेजी आकार की दो बड़ी-बड़ी पोथियों में थी, वेस्टफ़ेलिया में अपने प्रकाशन-स्थान पर बहुत पहले ही पहुंच चुकी थी, जब हम लोगों को यह समाचार मिला कि बदली हुई परिस्थितियों के कारण उसे छापा नहीं जा सकता। पाण्डुलिपि को हमने और भी अधिक ख़ुशी से चूहों की कुतरती आलोचना के लिए इसलिए छोड़ दिया कि हमारा मुख्य उद्देश्य—स्वस्पष्टीकरण—पूरा हो चुका था।"*

तब से चालीस से अधिक वर्ष बीत चुके हैं और मार्क्स की भी मृत्यु हो चुकी है, पर न तो उन्हें और न मुझे ही फिर इस विषय को उठाने का अवसर मिल पाया। हम लोगों ने हेगेल के प्रति अपने रुख़ के बारे में जहां-तहां लिखा है, पर इसका विशद तथा सिलसिलेवार रूप में कहीं वर्णन नहीं किया है। फ़ायरबाख़ की ओर, जो कई अर्थों में हेगेलवादी दर्शन एवं हमारी अवधारणा के बीच की कड़ी का काम करते हैं, हमने कभी लौटकर नहीं देखा।

---

*देखें प्रस्तुत संस्करण, खण्ड १, भाग २।—सं०

इस बीच मार्क्सवादी विश्वदृष्टिकोण को जर्मनी और यूरोप से बहुत दूर-दूर तक तथा दुनिया की सभी साहित्यिक भाषाओं में अनुयायी मिल गये हैं। दूसरी ओर क्लासिकीय जर्मन दर्शन का विदेशों में, ख़ासकर इंगलैंड और स्कैंडिनेविया में, एक तरह से पुनर्जन्म हो रहा है। ख़ुद जर्मनी तक में लोग सारसंग्रहवाद की फीकी खिचड़ी से, जो दर्शन के नाम पर विश्वविद्यालयों में बांटी जाती है, ऊबे हुए दिखाई देते हैं।

ऐसी परिस्थिति में हेगेलवादी दर्शन के साथ हमें अपने सम्बन्ध का, अर्थात् किस प्रकार हम उसे प्रस्थानबिंदु मानकर आगे बढ़े और किस प्रकार हम उससे अलग हुए, एक संक्षिप्त, क्रमबद्ध वर्णन करना मुझे अधिकाधिक आवश्यक प्रतीत हुआ। इसी तरह मुझे यह भी लगा कि किसी अन्य हेगेलोत्तर दार्शनिक की अपेक्षा फ़ायरबाख़ ने हमारे लिए उथल-पुथल के दिनों में हमें जिस प्रकार प्रभावित किया था, वह हम पर एक नैतिक ऋण के बोझ की तरह लदा हुआ है, जो अभी तक हम उतार नहीं सके हैं। इसलिए जब «*Neue Zeit*»[54] पत्रिका के सम्पादकों ने मुझसे फ़ायरबाख़ पर स्टार्के की पुस्तक की आलोचनात्मक समीक्षा करने को कहा, तो मैं इस अवसर का उपयोग करने को सहर्ष तैयार हो गया। मेरा लेख उस पत्रिका के १८८६ के अंक ४ और ५ में प्रकाशित हुआ था और यहां संशोधित करके अलग पुस्तिका के रूप में छापा जा रहा है।

इन पंक्तियों को प्रेस में भेजने से पहले मैंने १८४५–१८४६ की पुरानी पाण्डुलिपि * को ढूंढ़कर एक बार फिर देख डाला है। फ़ायरबाख़ ** पर लिखा अध्याय पूर्ण नहीं है। जो भाग पूर्ण है, उसमें इतिहास की भौतिकवादी धारणा की विवेचना है, जिससे केवल यही सिद्ध होता है कि आर्थिक इतिहास का हमारा ज्ञान उस समय कितना अधूरा था। उसमें स्वयं फ़ायरबाख़ के सिद्धान्त की समीक्षा नहीं है। अतः वर्तमान उद्देश्य के लिए वह अनुपयोगी थी। दूसरी ओर, मार्क्स की एक पुरानी नोटबुक में मुझे फ़ायरबाख़ पर वे ग्यारह प्रस्थापनाएं *** मिली हैं, जो यहां परिशिष्ट के रूप में छापी गयी हैं। ये जल्दी में तथा आगे चलकर

---

* देखें प्रस्तुत संस्करण, खण्ड १, भाग १। – सं०

** उपरोक्त । – सं०

*** उपरोक्त । – सं०

विशद करने के इरादे से लिखी टिप्पणियां हैं। वे प्रकाशन के लिए न थीं, पर उस प्रथम दस्तावेज के रूप में, जिसमें नये विश्वदृष्टिकोण के भव्य बीजाणु एकत्रित हैं, वे अनमोल हैं।

लन्दन, २१ फ़रवरी १८८८

फ़्रेडरिक एंगेल्स

F. Engels. «*Ludwig Feuerbach und der Ausgang der klassischen deutschen Philosophie*», Stuttgart, 1888, में प्रकाशित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

लुडविग फ़ायरबाख़ और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अन्त

१

यह पुस्तक* जो हमारे समक्ष है, हमें एक ऐसे काल में वापस ले जाती है जो, समय के लिहाज़ से, केवल एक पीढ़ी पीछे होते हुए भी जर्मनी की मौजूदा पीढ़ी के लिए इतना पराया है मानो वह सौ वर्ष पुराना हो। फिर भी यह काल १८४८ की क्रान्ति के लिए जर्मनी की तैयारी का काल था। तब से हमारे देश में जो कुछ भी हुआ है, वह १८४८ का सिलसिला मात्र, क्रान्ति की वसीयत, उसके अन्तिम इच्छापत्र का निष्पादन मात्र रहा है।

जैसा कि फ़्रांस में १८ वीं शताब्दी में हुआ था, वैसे ही १९ वीं शताब्दी में जर्मनी में राजनीतिक उलट-पलट का सूत्रपात एक दार्शनिक क्रान्ति ने किया था। पर दोनों में कितना अंतर था! फ़्रांसीसी लोग समस्त आधिकारिक विज्ञान, चर्च और प्राय: राज्य से भी खुला मोर्चा ले रहे थे। उनकी रचनाएं देश से बाहर हालैंड या इंगलैण्ड में छपती थीं और उनके सिर पर बास्तील के कारागार का ख़तरा मंडराया करता था। दूसरी ओर, जर्मन लोग प्रोफ़ेसर थे, राज्य द्वारा उन्हें युवकों का दीक्षक नियुक्त किया गया था; उनकी रचनाएं स्वीकृत पाठ्यपुस्तकें थीं, और इस पूरे दार्शनिक विकास की चरम पद्धति – हेगेलवादी पद्धति – को प्रशा के शाही राज्य दर्शन का उच्चतर पद तक प्राप्त हो चुका था! क्या यह सम्भव था कि इन प्रोफ़ेसरों के पीछे, उनके दुर्बोध, पण्डिताऊ वचनों के पीछे, उनकी भारी-भरकम, उकता देनेवाली शब्दावली के पीछे क्रान्ति छुपी रह सकती थी? और क्या ठीक वे ही लोग, जिन्हें उस समय क्रान्ति का प्रतिनिधि समझा जाता था, उदारतावादी लोग दिमाग़ को उलझा देनेवाले इस

---

* «*Ludwig Feuerbach*», von C. N. Starcke, Dr. phil. — Stuttgart, Ferd. Encke, 1885 ('लुडविग फ़ायरबाख़', क० न० स्टार्के, दर्शनशास्त्र के डाक्टर, स्टुटगार्ट, फ़र्डि० एन्के, १८८५)। – सं०

दर्शन के कटुतम शत्रु न थे? लेकिन जिस चीज़ को न तो सरकार और न उदारतावादी ही देख पाये थे, उसे १८३३ में ही, कम से कम एक आदमी ने देख लिया था, और यह व्यक्ति था हेनरिक हाइने[55]।

एक मिसाल ले लीजिए। कोई भी अन्य प्रस्थापना संकीर्णमना सरकारों की इतनी कृतज्ञता प्राप्त नहीं कर सकी तथा संकीर्णमना उदारतावादियों के रोष का इतना पात्र नहीं बनी जितनी कि हेगेल की यह प्रसिद्ध उक्ति

"सब कुछ जो यथार्थ है, बुद्धिसंगत है; सब कुछ जो बुद्धिसंगत है, यथार्थ है।"[56]

स्पष्टतः वह विद्यमान वस्तुओं का पवित्रीकरण था, निरंकुशतावाद, पुलिस राज्य, राजकीय न्यायप्रणाली और सेन्सर को दार्शनिक आशीर्वाद प्रदान करना था। फ़्रेडरिक-विल्हेल्म तृतीय और उसकी प्रजा ने उसे इसी माने में समझा। परन्तु हेगेल के मतानुसार जो कुछ विद्यमान है वह, निश्चित रूप से, यथार्थ नहीं है। हेगेल के अनुसार यथार्थता की विशेषता उसे ही प्राप्त हो सकती है, जो साथ ही साथ आवश्यक भी है–

"अपने विकासक्रम में यथार्थता अपने को आवश्यकता सिद्ध कर देती है।"

अतएव सरकार की कोई भी कार्रवाई–हेगेल स्वयं "निश्चित कर विनियम" का हवाला देते हैं–उनकी निगाह में बिला शर्त कदापि यथार्थ नहीं है। परन्तु जो आवश्यक है, वह अन्ततोगत्वा अपने को बुद्धिसंगत भी सिद्ध करता है; और इस हेगेलवादी प्रस्थापना को उस समय के प्रशियाई राज्य पर लागू करने का अर्थ केवल यह है: यह राज्य, जहां तक वह आवश्यक है, युक्तिमूलक और बुद्धिसंगत है; और यदि वह हमें अनिष्टकारी मालूम देता है और अपने अनिष्टकारी चरित्र के बावजूद बना रहता है तो सरकार का अनिष्टकारी चरित्र प्रजा के तदनुरूप अनिष्टकारी चरित्र के संदर्भ में समझाया और उचित ठहराया जा सकता है। उस काल के प्रशियाइयों को वैसी ही सरकार मिली थी, जिसके वे योग्य थे।

पर हेगेल के मतानुसार यथार्थता किसी भी हालत में किसी अवस्था विशेष की–सामाजिक या राजनीतिक–हर समय और हर परिस्थिति में, विशेषता

नहीं हो सकती। बात उलटी है। रोमन जनतन्त्र यथार्थ था, पर उसे हटाकर उसकी जगह लेनेवाला रोमन साम्राज्य भी यथार्थ था। १७८९ में फ़्रांसीसी राजतंत्र इतना अयथार्थ बन गया था, यानी सारी आवश्यकता से इस क़दर वंचित हो चुका था, इस क़दर अबुद्धिसंगत हो चुका था कि उसे महान क्रान्ति द्वारा, जिसका हेगेल ने सदा अत्यन्त उत्साह से उल्लेख किया है, नष्ट हो जाना पड़ा। अत: यहां राजतंत्र अयथार्थ था और क्रान्ति यथार्थ थी। इसी तरह विकासक्रम के दौरान जो पहले यथार्थ था, वह अयथार्थ बन जाता है और अपनी आवश्यकता से, अस्तित्व के अपने अधिकार से, अपनी बुद्धिसंगतता से हाथ धो बैठता है। मृतप्राय यथार्थता के स्थान पर एक नयी, जीवनक्षम यथार्थता आती है – वह शान्तिपूर्ण तरीक़े से आती है यदि पुरातन में बिना संघर्ष के ही मौत के घाट लग जाने की बुद्धि हो; वह बलपूर्वक आती है यदि पुरातन उसका प्रतिरोध करे। इस तरह हेगेलवादी प्रस्थापना स्वयं हेगेलवादी द्वन्द्ववाद द्वारा एक स्वत:विरोध की स्थिति में पलट जाती है: मानव इतिहास में जो यथार्थ है, वह कालान्तर में अबुद्धिसंगत हो जाता है, अत: वह अपनी प्रकृति के कारण ही अबुद्धिसंगत है, पहले ही से अबुद्धिसंगतता का पुट लिये होता है; और हर चीज़ जो मानव मस्तिष्क में बुद्धिसंगत होती है, वह यथार्थ होने के लिए पूर्वकल्पित होती है – चाहे वह विद्यमान, दृष्टिगोचर यथार्थ की कितनी ही विरोधी क्यों न हो। हेगेलवादी चिन्तन पद्धति के सभी नियमों के अनुसार हर यथार्थ की बुद्धिसंगतता की प्रस्थापना एक दूसरी प्रस्थापना में बदल जाती है: जो कुछ विद्यमान है, वह नष्ट होने योग्य है।*

लेकिन हेगेलवादी दर्शन का असली महत्त्व और उसका क्रान्तिकारी स्वरूप (यहां हमें कांट के बाद के सारे गतिप्रवाह की इति के रूप में, इस दर्शन तक अपने को सीमित रखना चाहिए) इसी बात में निहित था कि उसने मानव चिन्तन और कृत्यों की सारी उपज की अन्तिमता पर प्राणघातक प्रहार किया था। हेगेल के विवेचन में सत्य, जिसका संज्ञान ही दर्शन का मुख्य विषय है, ऐसे बने-बनाये जड़सूत्रों का संकलन मात्र न था जिन्हें, एक बार उनकी खोज हो जाने पर, बस रटते हुए याद कर लेना काफ़ी था। सत्य अब संज्ञान की ही प्रक्रिया में, विज्ञान के लम्बे ऐतिहासिक विकासक्रम में ही निहित था, जो ज्ञान के निचले

*गेटे के 'फ़ाउस्ट', भाग १, दृश्य ३ ('फ़ाउस्ट का अध्ययन कक्ष') में मेफ़िस्टोफ़ीलीस के शब्दों का पदान्वय। – सं०

स्तरों से निरंतर ऊपर उठता जाता है, और जो तथाकथित निरपेक्ष सत्य की खोज करके कभी ऐसे स्थान पर नहीं पहुंचता, जहां से वह और आगे न बढ़ सके और जहां उसे और कुछ भी करना न रह जाये सिवा इसके कि वह हाथ पर हाथ धरे बैठकर अपने प्राप्त किये हुए निरपेक्ष सत्य की ओर आश्चर्यविमुग्ध भाव से टकटकी लगाकर ताकता रहे। और जो बात दार्शनिक संज्ञान के क्षेत्र पर लागू होती है, वही दूसरे हर प्रकार के संज्ञान पर भी लागू होती है और व्यावहारिक कार्यों पर भी। जिस प्रकार मानवजाति की किसी उत्कृष्ट, आदर्श अवस्था में संज्ञान अपनी चरम परिणति पर पहुंचने में असमर्थ है, उसी प्रकार इतिहास भी असमर्थ है। उत्कृष्ट समाज, उत्कृष्ट "राज्य", ये सब कल्पनालोक में ही अस्तित्वमान हो सकते हैं। इसके विपरीत इतिहास में एक दूसरे का अनुक्रमण करनेवाली सभी सामाजिक व्यवस्थाएं मानव समाज के निम्नावस्था से ऊपर की ओर अन्तहीन विकासक्रम की केवल अल्पकालिक मंज़िलें हैं। हर मंज़िल आवश्यक होती है, अतः जिस काल और जिन परिस्थितियों के कारण उसका आविर्भाव होता है, उनके लिये वह न्यायसंगत होती है। लेकिन नई और उच्चतर परिस्थितियों के समक्ष, जो धीरे-धीरे उसके गर्भ में विकसित होती हैं, वह अपनी वैधता और न्यायसंगतता खो बैठती है। वह उस उच्चतर मंज़िल के लिए स्थान छोड़ने के लिए बाध्य होती है, जो स्वयं अपनी बारी में एक दिन क्षयग्रस्त होकर विलुप्त हो जायेगी। जिस तरह पंजीपति वर्ग बड़े पैमाने के उद्योग, होड़ और विश्व बाज़ार के ज़रिये सभी स्थायी, चिरप्रचलित संस्थाओं को वास्तव में भंग कर देता है, उसी तरह यह द्वन्द्वात्मक दर्शन अन्तिम, निरपेक्ष सत्य और तदनुरूप मानव-जाति की निरपेक्ष अवस्थाओं की अवधारणाओं का अंत कर देता है। द्वन्द्वात्मक दर्शन के लिये कोई भी वस्तु अन्तिम, निरपेक्ष तथा पुण्य नहीं है। वह हर चीज़ में और हर चीज़ का परिवर्तनशील गुण प्रदर्शित करता है, उसके समक्ष निम्नावस्था से ऊपर की ओर उठते हुए अन्तहीन विकासक्रम, उत्पत्ति तथा विनाश की अविरत प्रक्रिया के अलावा और कोई दूसरी चीज़ नहीं टिक सकती। वह स्वयं भी चिन्तनशील मस्तिष्क में इस प्रक्रिया का प्रतिबिम्ब मात्र है। बेशक, उसका एक रूढ़िवादी पक्ष भी है: वह मानता है कि संज्ञान और समाज की निश्चित अवस्थाएं काल और परिस्थिति के संदर्भ में न्यायसंगत हैं; लेकिन सिर्फ़ वहीं तक। इस दृष्टिकोण की रूढ़िवादिता सापेक्ष है; उसका क्रान्तिकारी स्वरूप निरपेक्ष है—एकमात्र निरपेक्ष, जिसे द्वन्द्वात्मक दर्शन स्वीकार करता है।

यहां हमारे लिए इस प्रश्न की विवेचना करना आवश्यक नहीं है कि यह दृष्टिकोण प्रकृति विज्ञान की मौजूदा स्थिति से पूर्णतः मेल खाता है या नहीं, जिसकी भविष्यवाणी के अनुसार पृथ्वी तक का और, जो काफ़ी निश्चित है, पृथ्वी पर जीवन का अन्त हो जायेगा, जिससे यह सिद्ध होता है कि मानवजाति के इतिहास में भी आरोही ही नहीं, बल्कि अवरोही शाखा मौजूद है। जो भी हो, हम अब भी अपने को उस परिवर्तनकारी बिन्दु से बहुत दूर पाते हैं, जहां से समाज का ऐतिहासिक क्रम नीचे की ओर पलटेगा, और हम हेगेलवादी दर्शन से एक ऐसे विषय से उलझने की आशा नहीं कर सकते, जिसे समकालीन प्रकृति विज्ञान ने उस समय तक विचारणीय प्रश्नों की सूची में पेश नहीं किया था।

पर जो बात यहां कह देनी चाहिए, वह यह है: ऊपर जो बातें कही गयी हैं, वे हेगेल द्वारा इतनी स्पष्टता के साथ निरूपित नहीं की गयी हैं। ये बातें उनकी पद्धति से अनिवार्य निष्कर्ष के रूप में निकलती हैं, पर ख़ुद उन्होंने ऐसी स्पष्टता के साथ उन्हें नहीं निकाला था। इसकी सीधी-सादी वजह यह है कि वह एक पद्धति प्रस्तुत करने के लिए विवश थे और, परम्परागत अपेक्षाओं के अनुसार, हर एक दर्शन पद्धति की परिणति किसी न किसी प्रकार के निरपेक्ष सत्य में होनी चाहिए। अतएव यद्यपि हेगेल ने, ख़ासकर अपने 'तर्कशास्त्र' में, इस बात पर ज़ोर दिया है कि शाश्वत सत्य वस्तुतः तार्किक या ऐतिहासिक प्रक्रिया के सिवा और कुछ नहीं है, तो भी वह इस प्रक्रिया को किसी न किसी परिणाम पर पहुंचाने के लिए अपने को बाध्य पाते हैं, केवल इसलिए कि अपनी पद्धति का उन्हें किसी न किसी बिन्दु पर समापन करना था। अपने 'तर्कशास्त्र' में वह इस इति को फिर आरम्भ बना सकते हैं, क्योंकि यहां निष्कर्ष बिन्दु, निरपेक्ष विचार – जो इसी माने में निरपेक्ष है कि वह उसके बारे में निरपेक्ष रूप से मौन है – "अन्यसंक्रामण" करता है, यानी अपने को प्रकृति में रूपान्तरित कर लेता है और बाद में मन – अर्थात् चिन्तन तथा इतिहास – के रूप में पुनः अपने में प्रत्यावर्तित होता है। लेकिन पूरे दर्शन के अन्त में इस प्रकार पुनःप्रारम्भ पर लौट आना केवल एक ही तरह से सम्भव है। वह यह कि इतिहास की समाप्ति की निम्न प्रकार से कल्पना की जाये: मानवजाति ठीक उसी निरपेक्ष विचार के संज्ञान पर पहुंचती है और यह घोषित करती है कि हेगेलवादी दर्शन निरपेक्ष विचार के इस संज्ञान पर पहुंच चुका है। परन्तु इस प्रकार तो हेगेलवादी पद्धति का पूरा जड़सूत्रवादी अन्तर्य उनकी द्वन्द्ववादी पद्धति के, जो सभी प्रकार के

जड़सूत्रवाद का अन्त करती है, प्रतिकूल निरपेक्ष सत्य घोषित कर दिया जाता है। इस प्रकार क्रान्तिकारी पक्ष रूढ़िवादी पक्ष के झाड़-झंखाड़ के नीचे दब जाता है। और जो चीज़ दार्शनिक संज्ञान पर लागू होती है, वही ऐतिहासिक व्यवहार पर भी लागू होती है। मानवजाति, जो हेगेल के माध्यम द्वारा, निरपेक्ष विचार के निरूपण तक पहुंच गयी है, व्यवहार में भी वहां तक अवश्य पहुंची होगी, जहां वह इस निरपेक्ष विचार को वास्तविकता का रूप दे सकती। अतः समकालीनों के समक्ष निरपेक्ष विचार के व्यावहारिक राजनीतिक तक़ाज़ों को बहुत ज़्यादा नहीं बढ़ाया जाना चाहिए। इसीलिए 'अधिकार-दर्शन' के अन्त में हम पाते हैं कि निरपेक्ष विचार की सिद्धि सामाजिक श्रेणियों पर आधारित उस राजतंत्र द्वारा होगी, जिसके बारे में फ़्रेडरिक-विल्हेल्म तृतीय ने अपनी प्रजा से बारम्बार, किन्तु निष्फल वादे किये थे, अर्थात् सम्पत्तिवान वर्गों के सीमित, संयत और अप्रत्यक्ष शासन द्वारा, जो तत्कालीन निम्न-पूंजीवादी जर्मन अवस्थाओं के लिए उपयुक्त था। इसके अलावा अभिजातों की आवश्यकता भी हमारे सामने परिकल्पनात्मक ढंग से प्रदर्शित कर दी गयी।

अतः इस पद्धति की आन्तरिक आवश्यकताएं ही यह स्पष्ट कर देने के लिए पर्याप्त हैं कि चिन्तन की एक पूर्णतया क्रान्तिकारी विधि से किस तरह ऐसे अत्यन्त निस्तेज राजनीतिक निष्कर्ष निकले। असल में इस निष्कर्ष का विशिष्ट रूप इस बात से उत्पन्न होता है कि हेगेल जाति के जर्मन थे और अपने समकालीन गेटे की तरह उनके पीछे भी कूपमण्डूकता का थोड़ा-सा पुछल्ला लगा हुआ था। दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र के ओलिम्पियन जीयस थे, किन्तु जर्मन कूपमण्डूकता के असर से दोनों ही अपने को पूरी तरह मुक्त नहीं कर पाये थे।

पर यह सब हेगेलवादी पद्धति को न तो किसी भी पूर्ववर्ती पद्धति से कहीं असीम रूप में विस्तृत क्षेत्र को अपनी परिधि में लाने से और न इस विशाल क्षेत्र में विचारों का एक ऐसा भंडार प्रस्तुत करने से रोक सका, जो आज भी विस्मयजनक है। मन की घटना-क्रिया (जिसे हम मन के भ्रूण-विज्ञान और जीवाश्म-विज्ञान का समतुल्य, अपनी भिन्न-भिन्न मंज़िलों में वैयक्तिक चेतना का विकास कह सकते हैं, जो उन मंज़िलों की संक्षिप्त पुनरुत्पत्ति में निर्धारित होती है जिनके बीच से मानव की चेतना इतिहास के काल-प्रवाह के दौरान गुज़रती है), तर्कशास्त्र, प्राकृतिक दर्शन, मन का दर्शन और उसके पृथक्-पृथक् ऐतिहासिक उपखंड — इतिहास-दर्शन, अधिकार-दर्शन, धर्म-दर्शन, दर्शन का इतिहास, सौन्दर्यशास्त्र, आदि — इन सभी भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक क्षेत्रों में हेगेल ने विकास

के प्रधान सूत्र को ढूंढ़ने और प्रकाश में लाने का प्रयास किया। और चूंकि वह सृजनात्मक प्रतिभा के ही नहीं, वरन् सर्वव्यापक ज्ञान के भी स्वामी थे, इसलिए इन सभी क्षेत्रों में उन्होंने युगांतरकारी कार्य किया। यह स्वतःस्पष्ट है कि "पद्धति" की अपेक्षाओं के कारण उन्हें अक्सर ज़बर्दस्ती ऐसे निर्माण-कार्य करने पड़े, जिन्हें लेकर उनके बौने विरोधी आज भी बेहद शोर मचाते हैं। पर ये निर्माण-कार्य तो उनकी इमारत के केवल ढांचे और पाड़ हैं। अगर यहां फ़ज़ूल मटरगश्ती न करके कोई आगे बढ़कर विशाल इमारत के भीतर प्रवेश करता है, तो वहां उसे ऐसे अनगिनत ख़ज़ाने मिलते हैं, जिनका मूल्य आज भी अक्षुण्ण है। सभी दार्शनिकों के मामले में ठीक उनकी "पद्धति" ही नश्वर होती है। इसका सीधा-सादा कारण यह है कि उसकी उत्पत्ति मानव मन की एक अनश्वर अभिलाषा से—सभी विरोधों पर क़ाबू पाने की अभिलाषा से—होती है। पर यदि सब विरोधों का सदा-सर्वदा के लिए उन्मूलन हो जाये तो हम तथाकथित निरपेक्ष सत्य पर पहुंच जायें—विश्व इतिहास का अन्त हो जाये। पर उसे तो जारी रहना ही है, गोकि उसके पास अब करने को कुछ नहीं रह जाता—अतः एक नया, असाध्य विरोध सामने आ जाता है। ज्यों ही हम एक बार यह महसूस करते हैं—और इसे महसूस कराने में ख़ुद हेगेल से ज़्यादा हमारी मदद अन्ततः और किसी ने नहीं की—कि दर्शन के उक्त कार्य का एकमात्र अर्थ इसके अलावा और कुछ नहीं है कि एक अकेला दार्शनिक वह सम्पन्न कर डाले, जो सम्पूर्ण मानवजाति द्वारा केवल अपने प्रगतिशील विकासक्रम में ही सम्पन्न किया जा सकता है—ज्यों ही हम इस बात को महसूस करते हैं, त्यों ही, आज तक के उसके मान्य अर्थ में, समस्त दर्शन का अन्त हो जाता है। तब हम "निरपेक्ष सत्य" का पीछा करना छोड़ देते हैं, जो इस मार्ग पर तथा किसी अकेले आदमी द्वारा अप्राप्य है; इसके बजाय हम प्रत्यक्ष विज्ञान का मार्ग पकड़कर प्राप्य सापेक्ष सत्यों की खोज करते हैं और द्वन्द्वात्मक चिन्तन द्वारा उनके परिणामों का सामान्यीकरण करते हैं। हेगेल के साथ दर्शन की समाप्ति हो जाती है—एक तो इसलिए कि अपनी पद्धति में उन्होंने उसके सम्पूर्ण विकास का बड़े ही शानदार ढंग से निचोड़ पेश कर दिया है और दूसरे इसलिए कि उन्होंने हमें पद्धतियों की भूलभुलैयां से बाहर निकालकर विश्व के वास्तविक विध्यात्मक संज्ञान का मार्ग दिखाया है, यद्यपि ऐसा उन्होंने अनजाने ही किया।

हम कल्पना कर सकते हैं कि इस हेगेलवादी पद्धति का जर्मनी के दर्शन-रंजित वातावरण पर कैसा गहरा प्रभाव पड़ा होगा। वह एक विजय शोभायात्रा

में परिणत हो गया, जो दशकों तक चलता रहा और हेगेल की मृत्यु के बाद भी उसका अन्त नहीं हुआ। इसके विपरीत, ठीक १८३० और १८४० के बीच के काल में "हेगेलवाद" का एकच्छत्र राज क़ायम रहा और उसका असर कमोबेश उसके विरोधियों तक पर भी पड़ा। ठीक इसी काल में हेगेलीय धारणाओं ने, सचेत अथवा अचेत रूप से, नाना प्रकार के विज्ञानों के अन्दर अत्यन्त विस्तृत पैमाने पर प्रवेश किया और आम साहित्य और दैनिक समाचारपत्रों तक में, जिनसे औसत "शिक्षित चेतना" अपना मानसिक आहार प्राप्त करती है, उफान पैदा कर दिया। पर पूरे मोर्चे पर यह जीत एक आन्तरिक संघर्ष की भूमिका ही थी।

जैसा कि हम देख चुके हैं, हेगेल का सिद्धान्त – उसके समग्र रूप को देखते हुए – ऐसा था कि उसमें सर्वथा विविधतापूर्ण व्यावहारिक पार्टी विचारों के लिए आश्रय पाने की बहुत गुंजाइश थी। और तत्कालीन जर्मनी के सैद्धान्तिक जीवन में दो चीज़ें सबसे अधिक व्यावहारिक थीं – धर्म और राजनीति। हेगेलवादी **पद्धति** पर ख़ास तौर से ज़ोर देनेवाला व्यक्ति इन दोनों ही क्षेत्रों में ख़ासा रूढ़िवादी हो सकता था; द्वन्द्वात्मक **विधि** को मुख्य वस्तु माननेवाला व्यक्ति राजनीति और धर्म दोनों ही में उग्रतम विरोध पक्ष ग्रहण कर सकता था। स्वयं हेगेल का रुझान, उनकी कृतियों में क्रान्तिकारी रोष के बराबर उफानों के बावजूद, रूढ़िवाद की ओर अधिक प्रतीत होता था। वास्तव में विधि की अपेक्षा अपनी पद्धति के संबंध में उन्हें कहीं ज़्यादा "मग़ज़पच्ची" करनी पड़ी थी। चौथे दशक का अन्त होते-होते दर्शन के हेगेलीय पंथ में फूट अधिकाधिक स्पष्ट होती गयी। वामपंथियों, तथाकथित तरुण हेगेलवादियों को पुराणपंथी धर्मानुरागियों[57] और सामन्ती प्रतिक्रियावादियों के ख़िलाफ़ अपने संघर्ष के दौरान, तात्कालिक विवादास्पद प्रश्नों के सम्बन्ध में, धीरे-धीरे अपनी भद्रजनोचित दार्शनिक तटस्थता और संकोच का त्याग कर देना पड़ा, जिसकी बदौलत अभी तक उन्हें राजकीय सहिष्णुता ही नहीं, वरन् अपने प्रचार के लिए संरक्षण भी प्राप्त था। और जब १८४० में फ़ेडरिक-विल्हेल्म चतुर्थ के गद्दी पर बैठने के साथ पुराणपंथी धर्मानुराग और निरंकुश सामन्ती प्रतिक्रियावाद भी गद्दीनशीन हो गये, तो दोनों में से किसी एक की खुली पक्षधरता अनिवार्य हो गयी। गोकि लड़ाई अब भी दार्शनिक हथियारों से लड़ी जा रही थी, लेकिन अब अमूर्त दार्शनिक लक्ष्यों के लिए नहीं। अब वह सीधे-सीधे परम्परागत धर्म और मौजूदा राज्य के विध्वंस के प्रश्न पर आ गयी। जबकि *«Deutsche Jahrbücher»*[58] में व्यावहारिक

लक्ष्य अब भी प्रधानतः दर्शन का जामा पहनाकर पेश किये जाते थे, १८४२ के *«Rheinische Zeitung»*[59] में तरुण हेगेलवाद प्रत्यक्ष रूप में महत्त्वाकांक्षी उग्रवादी पूंजीपति वर्ग के दर्शन के रूप में प्रगट हुआ और उस पर दर्शन का झीना आवरण केवल सेंसर की आंखों में धूल झोंकने के लिए था।

तथापि राजनीतिक क्षेत्र उन दिनों कांटों से भरा हुआ था, अतः मुख्य संघर्ष धर्म के विरुद्ध ही लक्षित हुआ। परन्तु, ख़ासकर १८४० के बाद तो यह संघर्ष अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक संघर्ष भी बन गया। १८३५ में प्रकाशित स्ट्रॉस की पुस्तक 'ईसा की जीवनी' ने इसे प्रथम संवेग प्रदान किया था। इस पुस्तक में इंजील की दंतकथाओं के बारे में जो विचार प्रस्तुत किये गये थे, बाद में ब्रूनो बावेर ने उनका, इस प्रमाण के साथ, खंडन किया कि इंजील की कहानियों की एक पूरी की पूरी माला स्वयं लेखकों द्वारा ही गढ़ ली गयी थी। उन दोनों में यह विवाद "आत्मचेतना" और "पदार्थ" के संघर्ष के प्रच्छन्न दार्शनिक वेश में चलता रहा। यह प्रश्न कि आया इंजील की चमत्कारकथाएं दंतकथाओं की सृजनात्मक परंपरा के ज़रिए अचेतन रूप से समुदाय में आप से आप उत्पन्न हो गयी हैं या उन्हें ख़ुद इंजील प्रचारकों ने गढ़ लिया, इस दूसरे प्रश्न में आवर्धित कर दिया गया कि विश्व इतिहास में "पदार्थ" या "आत्मचेतना" में से कौन निर्णायक कार्यशील शक्ति है। अंत में आधुनिक अराजकतावाद के पैग़म्बर स्टर्नर सामने आये – बकूनिन ने उनसे बहुत कुछ ग्रहण किया है – और उन्होंने सर्वसत्ताधारी "आत्मचेतना" को अपने सर्वसत्ताधारी "अहम्"[60] से मात दे दी।

हेगेलवादी पंथ की विघटन प्रक्रिया के इस पहलू पर हम और विचार नहीं करेंगे। हमारे लिए इससे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है: सबसे दृढ़संकल्प तरुण हेगेलवादियों का मुख्य भाग प्रतिष्ठापित धर्म के विरुद्ध अपने संघर्ष के अमली तक़ाज़ों से प्रेरित होकर आंग्ल-फ़्रांसीसी भौतिकवाद की ओर झुकने को विवश हुआ था, जिससे अपने ही पंथ की पद्धति के साथ उसका विरोध उठ खड़ा हुआ। भौतिकवाद प्रकृति को एकमात्र यथार्थ मानता है, पर हेगेलीय पद्धति में प्रकृति निरपेक्ष विचार का "अन्यसंक्रामण" मात्र है, अर्थात् वह विचार का अवक्रमण है। जो भी हो, चिन्तन और उसका चिन्तन फल, अर्थात् विचार यहां पर प्राथमिक है और प्रकृति केवल व्युत्पत्ति है, जिसका अस्तित्व ही विचार की अनुकम्पा पर निर्भर करता है। और इस विरोध में फंसकर वे बराबर डूबते-उतराते रहे।

तब फ़ायरबाख़ की पुस्तक 'ईसाई धर्म का सार' निकली। उसने बिना लाग-लपेट के भौतिकवाद को फिर राजपद पर ग्रासीन कर दिया ग्रौर इस प्रकार एक ही प्रहार में इस विरोध को चकनाचूर कर दिया। प्रकृति का ग्रस्तित्व समस्त दर्शन से स्वतंत्र है। यह वह नींव है, जिसके ऊपर हम, मानव, जो स्वयं प्रकृति की उपज हैं, बढ़े ग्रौर बड़े हुए। प्रकृति ग्रौर मानव से परे किसी चीज़ का ग्रस्तित्व नहीं है ग्रौर हमारी धार्मिक कल्पना की उड़ानों ने जिन उच्चतर प्राणियों की सृष्टि कर रखी है, वे हमारे ग्रपने ही सार के कल्पनात्मक प्रतिबिम्ब मात्र हैं। जादू उतर गया, एक ही धड़ाके में "पद्धति" की धज्जियां उड़ गयीं, ग्रौर विरोध, जो केवल कल्पना की वस्तु सिद्ध हुग्रा, काफ़ूर हो गया। इसे समझने के लिए इस पुस्तक का उन्मुक्तकारी प्रभाव स्वयं ग्रनुभव करना चाहिए था। ग्राम उत्साह का एक वातावरण छा गया, सभी फ़ौरन फ़ायरबाख़ के चेले बन गये। मार्क्स ने इस नयी धारणा का कितना उत्साहपूर्वक स्वागत किया ग्रौर, सभी ग्रालोचनात्मक टिप्पणियों के बावजूद, वह उससे कितने प्रभावित हुए थे, यह 'पवित्र परिवार'* पढ़कर जाना जा सकता है।

फ़ायरबाख़ की पुस्तक की त्रुटियों तक ने उसे ग्रधिक प्रभावोत्पादक बनाने में योगदान किया। उनकी साहित्यिक, यही नहीं कभी-कभी शब्दाडम्बरपूर्ण शैली तक ने उसके लिए पाठकों की एक बड़ी संख्या इकट्ठी कर दी, ग्रौर ग्रगर ग्रौर कुछ नहीं, तो कम से कम वर्षों की ग्रमूर्त ग्रौर दुरूह हेगेलीय तर्कना से ऊबे हुए लोगों के लिए वह क्लान्तिनिवारक सिद्ध हुई। प्रेम की ग्रति ग्राराधना भी "शुद्ध चिन्तन" के ग्रब ग्रसह्य हो चुके राज्य के बाद, ग्रगर न्यायसंगत नहीं, तो क्षम्य ग्रवश्य ही थी। पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि फ़ायरबाख़ की ख़ासकर इन्हीं दो कमज़ोरियों को "सच्चे समाजवाद" ने, जो १८४४ से "शिक्षित" जर्मनी में महामारी की तरह फैल रहा था ग्रौर वैज्ञानिक जानकारी के बजाय साहित्यिक शब्दावली का प्रयोग कर रहा था तथा उत्पादन के ग्रार्थिक रूपान्तरण द्वारा सर्वहारा वर्ग के निस्तार के बजाय "प्रेम" द्वारा मानवजाति के स्वातन्त्र्य की बात कर रहा था, संक्षेप में ग्रपने को विरक्तिकर ललित लेखन तथा प्रेम के हर्षोन्माद में भुलाते हुए, जिसकी ठेठ मिसाल श्री कार्ल ग्रून की रचनाग्रों में मिलती है, ग्रपना प्रस्थानबिंदु बनाया।

---

*इस पुस्तक का पूरा नाम है–'पवित्र परिवार ग्रथवा ग्रालोचनात्मक ग्रालोचना की ग्रालोचना। ब्रूनो बावेर तथा उनकी मंडली के विरुद्ध'।–सं०

एक और चीज़ जिसे हमें भूलना न चाहिए, यह है: हेगेलवादी शाखा विघटित हो चुकी थी, पर हेगेलीय दर्शन को आलोचना अभी निष्प्रभावित नहीं कर सकी थी; स्टॉस ने उसके एक पक्ष को लिया और बावेर ने दूसरे को, और उन्होंने विवादात्मक रूप से उन्हें एक दूसरे के ख़िलाफ़ खड़ा किया। फ़ायरबाख़ ने पद्धति को तोड़कर उसे फेंक दिया। पर किसी दर्शन की केवल यह कह देने से कपाल-क्रिया नहीं हो जाती कि वह ग़लत है। और राष्ट्र के बौद्धिक विकास पर इतना प्रचण्ड प्रभाव डालनेवाली हेगेल के दर्शन जैसी महाकृति केवल नज़रअन्दाज़ कर देने से ही ख़त्म नहीं की जा सकती थी। उसे तो ठीक उसके ही अर्थ में "ग़लत साबित" करने की ज़रूरत थी, इस अर्थ में कि उसके रूप को तो आलोचना के ज़रिये समाप्त कर दिया जाता, पर उसके द्वारा उपलब्ध नयी अन्तर्वस्तु को बचा लिया जाता। यह कैसे किया गया, इसे हम आगे चलकर देखेंगे।

इस बीच १८४८ की क्रान्ति ने पूरे दर्शन को ही इस तरह बेरहमी से एक ओर ढकेल दिया, जिस तरह फ़ायरबाख़ ने हेगेल को एक ओर ढकेल दिया था। इस प्रक्रिया में स्वयं फ़ायरबाख़ को पृष्ठभूमि में पहुंचा दिया गया।

२

समग्र दर्शन का और विशेषकर नूतन दर्शन का महान आधारभूत प्रश्न चिन्तन और अस्तित्व के सम्बन्ध का है। अतिप्राचीन काल से ही जब मनुष्य को स्वयं अपने शरीर की रचना के बारे में कोई जानकारी न थी, सपने में देखी प्रेत-छायाओं के प्रभाव से* वह यह विश्वास करने लगा था कि उसका चिन्तन एवं

---

*जांगल युग तथा बर्बर युग की निम्न अवस्था के लोगों में यह धारणा अभी भी सर्वव्याप्त है कि सपनों में जो मानव आकृतियां दिखाई देती हैं, वे वास्तव में जीवात्माएं हैं, जो अपने शरीरों से कुछ समय के लिए निकलकर विचरण करती हैं। इसलिए स्वप्नदर्शी के ख़िलाफ़ स्वप्नपुरुष द्वारा किये गये कामों के लिए वह व्यक्ति ज़िम्मेदार ठहराया जाता है, जिसकी छाया सपने में दिखायी देती है। उदाहरण के लिए १८८४ में इम थर्न ने गाइना के इंडियनों में यह विश्वास प्रचलित पाया था।

उसका संवेदन उसके शरीर की क्रियायें नहीं, बल्कि एक विशिष्ट जीवात्मा की क्रियायें हैं, जो शरीर में निवास करती है और जो मृत्यु के समय शरीर का परित्याग कर देती है। और तभी से मनुष्य इस आत्मा एवं बाह्य जगत् के सम्बन्ध पर विचार करने को विवश हुआ। मृत्यु के पश्चात् यदि आत्मा शरीर का परित्याग करके जीवित रहती है, तो उसके लिए एक और विशिष्ट मृत्यु का आविष्कार करने का सवाल नहीं उठता। इस तरह उसके अमरत्व की धारणा उत्पन्न हुई, जो विकास की उस मंज़िल में सान्त्वनाप्रद धारणा नहीं थी, बल्कि प्रारब्ध की बात मानी जाती थी, जिससे लड़ना व्यर्थ था और प्राय:, जैसा कि यूनानियों का विश्वास था, यह अमरत्व दुर्भाग्य समझा जाता था। सान्त्वना प्राप्त करने की धार्मिक अभिलाषा ने नहीं, बल्कि आम सार्विक अज्ञानता के कारण उठ खड़ी हुई इस उलझन ने कि एक बार आत्मा का अस्तित्व मान लिये जाने पर शारीरिक मृत्यु के बाद उस आत्मा का क्या किया जाये, सामान्य रूप से वैयक्तिक अमरत्व की क्लान्तिकर धारणा के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। ठीक इसी प्रकार प्राकृतिक शक्तियों में मानवीकरण द्वारा प्रथम देवताओं की उत्पत्ति हुई। धर्मों के विकासक्रम में ये देवता अधिकाधिक पारलौकिक रूप ग्रहण करते गये, यहां तक कि अन्तत: मनुष्य के बौद्धिक विकास में स्वभावत: होनेवाली पृथक्करण की प्रक्रिया में – मैं कहूंगा वस्तुत: आसवन द्वारा – अनेकानेक परिमित और एक दूसरे को परिसीमित करनेवाले देवताओं में से, मानव मस्तिष्क में, एकमात्र परमात्मा – एकेश्वरवादी धर्मों के परमात्मा – का विचार उत्पन्न हुआ।

अत: समस्त धर्म की तरह ही चिन्तन और अस्तित्व के सम्बन्ध के प्रश्न, आत्मा और प्रकृति के सम्बन्ध के प्रश्न – जो समग्र दर्शन का सर्वोपरि प्रश्न है – का मूल जांगल अवस्था की संकीर्णबुद्धि और अज्ञानतापूर्ण धारणाओं में है। पर यह प्रश्न पहली बार पूरे उत्कट और तीक्ष्ण रूप में तभी उठाया जा सका, वह अपनी पूर्ण अर्थवत्ता तभी प्राप्त कर सका, जब यूरोपीय जन ईसाई मध्यकाल की दीर्घ सुषुप्तावस्था से जगे। अस्तित्व के सम्बन्ध में चिन्तन की स्थिति का प्रश्न, एक ऐसा प्रश्न, जिसने, प्रसंगवश, मध्ययुगीन वितंडावाद में भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी, यह प्रश्न कि आत्मा और प्रकृति में कौन प्राथमिक है, चर्च के संबंध में इस तीक्ष्ण रूप में प्रस्तुत किया गया : क्या ईश्वर ने संसार का सृजन किया है या संसार अनंत काल से अस्तित्वमान है?

दार्शनिकों ने इस प्रश्न के जो उत्तर दिये, उन्होंने उनको दो बड़े शिविरों में बांट दिया। जिन्होंने आत्मा को प्रकृति के मुक़ाबले में प्राथमिकता दी और,

इस कारण, आख़िर में इस या उस रूप में विश्व का सृजन स्वीकार किया – और दार्शनिकों की, उदाहरणार्थ, हेगेल की पद्धति में यह सृजन ईसाई मत के सृजन से भी अधिक जटिल और असम्भव व्यापार बन गया – उनका अपना अलग भाववादी शिविर बन गया। दूसरे, जिन्होंने प्रकृति की प्राथमिकता स्वीकार की, वे] भौतिकवाद की विभिन्न शाखाओं में शामिल हुए।

ये दो शब्द, भाववाद और भौतिकवाद, मूलतः मात्र इसी अर्थ के द्योतक हैं और यहां भी वे इसी अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। उन्हें दूसरा अर्थ देने से किस प्रकार गड़बड़ी पैदा होती है, यह आप आगे देखेंगे।

पर चिन्तन और अस्तित्व के सम्बन्ध के प्रश्न का एक और भी पहलू है: परिवेशीय जगत् के विषय में हमारे विचारों का स्वयं उस जगत् से क्या सम्बन्ध है? क्या हमारे चिन्तन में वास्तविक जगत् के संज्ञान की क्षमता है? क्या हम वास्तविक जगत् के विषय में अपने विचारों और भावों द्वारा वास्तविकता का सही प्रतिबिंब देने में समर्थ हैं? दार्शनिकों की भाषा में इस प्रश्न को चिन्तन और अस्तित्व के तादात्म्य का प्रश्न कहते हैं, और दार्शनिकों का प्रबल बहुसंख्यक भाग इस प्रश्न का स्वीकारात्मक उत्तर देता है। उदाहरणार्थ, हेगेल द्वारा यह स्वीकारोक्ति स्वतःस्पष्ट है: वास्तविक जगत् में हम जिसका संज्ञान ग्रहण करते हैं, ठीक वही उसकी चिन्तन-अन्तर्वस्तु है, वही, जो संसार को क्रमशः निरपेक्ष विचार का प्रत्यक्षीकरण बना देती है, जो अनंत काल से विश्व से स्वतंत्र रूप में और उसके पहले से कहीं अस्तित्वमान था। स्वतःस्पष्ट है कि चिन्तन द्वारा किसी ऐसी अन्तर्वस्तु का ही अवबोध किया जा सकता है, जो पहले से ही विचार की अन्तर्वस्तु होती है। उसी तरह यह भी प्रत्यक्ष है कि जो यहां सिद्ध होना है, वह पहले से ही पूर्वावश्यक स्थितियों में अन्तर्निहित है। लेकिन यह किसी प्रकार भी हेगेल को अपने चिन्तन और अस्तित्व के तादात्म्य के प्रमाण द्वारा आगे यह निष्कर्ष निकालने से नहीं रोकता कि उनका दर्शन, चूंकि वह उनके चिन्तन में सही है, इसलिए वही एकमात्र सही दर्शन है और यह कि चिन्तन और अस्तित्व के तादात्म्य के कारण मानवजाति द्वारा इस दर्शन को फ़ौरन व्यावहारिक रूप दिया जाना चाहिए और सारी दुनिया को हेगेल के सिद्धान्त के अनुसार बदल दिया जाना चाहिए। इस भ्रम में प्रायः सभी दार्शनिकों की भांति हेगेल भी सहभागी हैं।

इसके अतिरिक्त दार्शनिकों की एक दूसरी जमात भी है – उन लोगों की, जो जगत् के किसी भी संज्ञान की या, कम से कम, सांगोपांग संज्ञान की

सम्भावना को नहीं मानते। नूतनतम दार्शनिकों में इस जमात में ह्यूम और कांट के नाम आते हैं और इन लोगों ने दर्शन के विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इस विचार के खण्डन में जो निर्णायक बात है वह हेगेल द्वारा – जहां तक भाववादी दृष्टिकोण से ऐसा करना सम्भव था – कही जा चुकी है। उसमें फ़ायरबाख़ ने जो भौतिकवादी तर्क जोड़े हैं, उनमें गहराई से अधिक चतुराई ही है। इसका और अन्य सभी दार्शनिक सनकों का सबसे कारगर खण्डन व्यवहार, यानी प्रयोग और उद्योग द्वारा होता है। यदि हम किसी प्राकृतिक प्रक्रिया को स्वयं उत्पन्न कर, उसकी पूर्वावस्थाओं से उसे अस्तित्व में लाकर और बदले में उससे अपने प्रयोजनों की सिद्धि करा कर उस प्राकृतिक प्रक्रिया के विषय में अपनी अवधारणा को सही सिद्ध कर सकें, तो कांट के अबोधगम्य "वस्तु-निजरूप" का ख़ात्मा हो जाता है। पौधों और जानवरों के शरीर में उत्पन्न होनेवाले रासायनिक पदार्थ उस समय तक ऐसे ही "वस्तु-निजरूप" बने रहे, जब तक कार्बनिक रसायन ने एक-एक करके उनका उत्पादन आरम्भ नहीं कर दिया; तब यह "वस्तु-निजरूप" हम सब की वस्तु बन गया – उदाहरण के लिए एलज़रिन, जो मजीठ पौधे से प्राप्त होनेवाला रंजक भौतिक द्रव्य है और जिसे अब हम खेतों में उगायी जानेवाली मजीठ की जड़ों से नहीं, बल्कि उससे कहीं किफ़ायत और आसानी के साथ तारकोल से पैदा कर लेते हैं। तीन सौ वर्षों तक कोपेर्निक का सौर मंडल प्राक्कल्पना बना रहा; सम्भाव्यता की उच्चतम माला के बावजूद वह प्राक्कल्पना था। पर जब लेवेर्ये ने इस मंडल द्वारा प्रदत्त तथ्यों और आंकड़ों के ज़रिये एक अज्ञात ग्रह के अस्तित्व की अनिवार्यता ही नहीं सिद्ध की, वरन् आकाश में उस स्थल का भी हिसाब लगा लिया, जहां इस ग्रह को अनिवार्यतः होना चाहिए, और जब गाल्ले ने वास्तव में इस ग्रह को ढूंढ़ निकाला,[61] तो कोपेर्निक का सौर मंडल प्रमाणित हो गया। अगर इसके बावजूद नव कांटपंथी कांट की धारणा को जर्मनी में और अज्ञेयवादी ह्यूम की धारणा को इंगलैंड में (जहां वस्तुतः उसका कभी लोप हुआ ही नहीं था) पुनरुज्जीवित करने की चेष्टा कर रहे हैं, जिनका सैद्धान्तिक और व्यावहारिक खण्डन हुए बहुत अर्सा हो चुका है, तो इसका अर्थ वैज्ञानिक दृष्टि से पीछे की ओर क़दम रखना है और व्यवहार में दुनिया के सामने उससे इन्कार करते हुए लुक-छिपकर भौतिकवाद अंगीकार करना है।

पर देकार्त से हेगेल तक और हॉब्स से फ़ायरबाख़ तक के इस लम्बे काल में दार्शनिक लोग, जैसा कि उनका ख़याल था, केवल विशुद्ध चिन्तन से ही

प्रेरित नहीं होते रहे। जो चीज़ सचमुच उन्हें सबसे ज्यादा आगे ढकेल रही थी, वह थी प्राकृतिक विज्ञान एवं उद्योग की शक्तिशाली एवं निरंतर तेज़ होती हुई तूफ़ानी प्रगति। भौतिकवादियों में यह चीज़ प्रत्यक्षतः स्पष्ट थी, पर भाववादी पद्धतियां भी भौतिकवादी अन्तर्वस्तु का अपने में अधिकाधिक समावेश करती जा रही थीं और मन तथा भूतद्रव्य के विरोध का सर्वेश्वरवादी ढंग से समाधान करने की चेष्टा कर रही थी। इस प्रकार हेगेलवादी पद्धति—विधि और अन्तर्वस्तु दोनों में—भाववादी ढंग से सिर के बल उलटा खड़ा भौतिकवाद प्रस्तुत करती है।

अतः यह बात समझ में आती है कि स्टार्के फ़ायरबाख़ की विशेषता चित्रित करते हुए चिन्तन और अस्तित्व के संबंध के बुनियादी प्रश्न पर उनकी स्थिति की सबसे पहले छानबीन करते हैं। एक संक्षिप्त भूमिका के बाद—जिसमें पूर्ववर्त्ती, ख़ासकर कांट के बाद के दार्शनिकों के विचारों की अनावश्यक रूप से शब्दजालपूर्ण दार्शनिक भाषा में विवेचना की गयी है और जिसमें हेगेल को, उनकी कृतियों के कुछ अंशों को अधिक औपचारिक मान्यता देकर, उससे कहीं कम स्थान दिया गया है, जिसके वह पात्र हैं—फ़ायरबाख़ के "अधिभूतवाद" के विकासक्रम का ब्योरेवार वर्णन किया जाता है, जैसा कि इस दार्शनिक की इस विषय से संबंधित कृतियों में यह विकासक्रम सिलसिलेवार प्रदर्शित किया गया है। यह वर्णन विशद तथा स्पष्ट रूप में बड़े अध्यवसाय के साथ किया गया है। लेकिन इतना ज़रूर कहना होगा कि पूरी पुस्तक की ही तरह यह हिस्सा भी भारी-भरकम दार्शनिक शब्दावली से, जो हर जगह बिल्कुल अनिवार्य नहीं है, लदा पड़ा है और जितना कम उसका रचयिता किसी एक ही पद्धति की शैली का या ख़ुद फ़ायरबाख़ की शैली का प्रयोग करता है, और जितना अधिक वह उसमें एकदम भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों की शब्दावली भर देता है, विशेषतः उनकी जो अपने आपको दार्शनिक कहती हैं और जो महामारी की तरह फैल रही हैं, उसका प्रभाव उतना ही अधिक विघ्नकर होता है।

फ़ायरबाख़ का विकासक्रम एक हेगेलवादी का—यह सच है कि वह शुद्ध हेगेलवादी कभी नहीं थे—भौतिकवादी दार्शनिक में विकसित होने का क्रम है, एक ऐसा क्रम है, जो एक ख़ास मंज़िल पर पहुंचकर उनके पूर्वगामी दार्शनिक की भाववादी पद्धति से पूरी तरह सम्बन्ध-विच्छेद आवश्यक बना देता है। अदम्य प्रेरणा के साथ फ़ायरबाख़ अन्ततः इस ज्ञान की ओर अग्रसर होते हैं कि हेगेल का पूर्वसांसारिक "निरपेक्ष विचार", अर्थात् जगत् के अस्तित्व में आने के पहले से पूर्ववर्ती "तार्किक प्रवर्गों के पूर्व-अस्तित्व" की धारणा, किसी अलौकिक स्रष्टा

के अस्तित्व में विश्वास के विचित्र अवशेष से अधिक और कुछ नहीं है; और यह भौतिक, इन्द्रियगोचर जगत्, जिसके हम स्वयं अंग हैं, एकमात्र वास्तविकता है; और हमारी चेतना एवं हमारा चिन्तन, वे चाहे कितने ही अतीन्द्रिय क्यों न ज्ञात होते हों, एक भौतिक, शारीरिक अवयव—मस्तिष्क—की उपज हैं। भूतद्रव्य मन की उपज नहीं, वरन् मन स्वयं भूतद्रव्य की उच्चतम उपज मात्र है। यह निस्सन्देह विशुद्ध भौतिकवाद है। पर यहां पहुंचकर फ़ायरबाख़ रुक जाते हैं। वह परम्परागत दार्शनिक पूर्वाग्रह से, ऐसे पूर्वाग्रह से, जो भौतिकवाद के अन्तर्य के प्रति नहीं, बल्कि उसके नाम के प्रति है, छुटकारा नहीं पा सकते। वह कहते हैं—

"मेरे लिए भौतिकवाद मानव सार और ज्ञान की इमारत की नींव है, पर मेरे लिए यह वही चीज़—यानी ख़ुद इमारत—नहीं है, जो वह, संकीर्णतर अर्थ में, शरीर-क्रिया विज्ञानी तथा प्रकृति-विज्ञानी के लिए—उदाहरणार्थ मोलेशात के लिए—है और उनके दृष्टिकोण और व्यवसाय के अनुसार आवश्यक है। पीछे जाया जाये तो मैं भौतिकवादियों से पूर्णतया सहमत हूं, पर आगे जाया जाये तो नहीं।"

यहां पर फ़ायरबाख़ भूतद्रव्य और मन के संबंध की एक निश्चित अवधारणा पर आधारित आम विश्वदृष्टिकोण के रूप में भौतिकवाद को उस ख़ास रूप के साथ गड्मड् कर देते हैं, जिसमें यह विश्वदृष्टिकोण एक ख़ास ऐतिहासिक मंज़िल में,—अर्थात् अठारहवीं शताब्दी में—अभिव्यक्त हुआ था। इतना ही नहीं, वह इसे भौतिकवाद के उस छिछले, अधकचरे रूप के साथ गड्मड् कर देते हैं, जिसमें अठारहवीं शताब्दी का भौतिकवाद प्रकृति-विज्ञानियों और चिकित्साशास्त्रियों के मस्तिष्क में आज भी चला आ रहा है और जिसका प्रचार छठे दशक के दौर में बुख़नर, फ़ोग्ट और मोलेशात किया करते थे। परन्तु भाववाद की तरह भौतिकवाद भी विकास की कई मंज़िलों से होकर गुज़रा है। प्रकृति-विज्ञान के क्षेत्र तक की प्रत्येक युगांतरकारी खोज के साथ उसे अपना रूप बदलना पड़ा है। इतिहास की भी भौतिकवादी व्याख्या हो जाने पर यहां भी उसके विकास का एक नया मार्ग खुल गया है।

पिछली शताब्दी का भौतिकवाद प्रधानतः यांत्रिक था, क्योंकि उस समय सभी प्रकृति-विज्ञानों में एक यांत्रिकी ही और वह भी केवल ठोस—खगोलीय

तथा पार्थिव–पिंडों की यांत्रिकी, संक्षेप में, गुरुत्वाकर्षण शक्ति की यांत्रिकी ही निश्चित परिसमाप्ति तक पहुंची थी। रसायन-विज्ञान उस समय अपनी शैशवावस्था, फ़्लोजिस्टन[62] सिद्धान्त के रूप में था। जीव-विज्ञान भी अभी तक पालने से बाहर नहीं निकला था; वनस्पति एवं पशु जीवियों की अभी बिल्कुल मोटी तौर पर ही छानबीन हुई थी और केवल यान्त्रिक कारणों का परिणाम कह कर उनकी व्याख्या की जाती थी। देकार्त की निगाह में जो पशु था, वही अठारहवीं शताब्दी के भौतिकवादियों की निगाह में मनुष्य था–यानी एक मशीन। एकमात्र यांत्रिकी की प्रक्रियाओं के मानदंड का रासायनिक और जैव प्रक्रियाओं पर प्रयोग–जिन प्रक्रियाओं में यांत्रिकी के नियम बेशक लागू रहते हुए भी अन्य उच्चतर नियमों द्वारा पृष्ठभूमि में ढकेल दिये जाते हैं–क्लासिकीय फ़्रांसीसी भौतिकवाद की प्रथम विशिष्ट, परन्तु उस समय अनिवार्य परिसीमा निर्धारित करता है।

इस भौतिकवाद की दूसरी परिसीमा का कारण यह था कि वह विश्व को एक प्रक्रिया के रूप में, ऐसे भूतद्रव्य के रूप में, जो ऐतिहासिक विकास के सतत क्रम से गुज़र रहा है, समझने में असमर्थ था। यह उस समय के प्रकृति-विज्ञान के स्तर और इससे सम्बद्ध अधिभूतवादी, अर्थात् द्वन्द्वात्मकविरोधी तर्कना पद्धति के अनुरूप था। इतना विदित था कि प्रकृति शाश्वत रूप से गतिमान् है। पर उस समय की धारणाओं के अनुसार यह गति शाश्वत रूप से चक्राकार थी; इसलिए वह एक ही स्थान पर रहती थी। बारम्बार वह एक जैसे परिणामों की पुनरावृत्ति करती थी। ऐसी धारणा का होना उस समय अनिवार्य था। सौर मंडल के उद्भव का कांट का सिद्धान्त हाल ही में प्रतिपादित हुआ था और अभी तक वह कुतूहल का ही विषय बना हुआ था। पृथ्वी के विकास का इतिहास, भूविज्ञान अभी तक सर्वथा अज्ञात था, और यह धारणा कि प्रकृति जगत् के आज के प्राणी एक लम्बे विकास के अनुक्रम–जिसमें सरल से जटिल की ओर प्रगति हुई है–के परिणाम हैं, उस समय वैज्ञानिक रूप से प्रस्तुत ही नहीं की जा सकती थी। इसलिए प्रकृति के बारे में अनैतिहासिक मत अनिवार्य था। हेगेल में भी जब हम यही मत पाते हैं तो अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिकों की शिकायत करने का हमारे पास और भी कम आधार रह जाता है। हेगेल के कथनानुसार प्रकृति केवल विचार का "अन्यसंक्रामण" मात्र होने के कारण काल में विकास करने में असमर्थ है–वह केवल दिक् में ही अपने नानारूपत्व का विस्तार कर सकती है, जिस कारण वह अपने में सन्निविष्ट विकास के सभी चरणों को एक

ही समय में और एक दूसरे के साथ-साथ प्रदर्शित करती है और वह एक जैसी प्रक्रियाओं की शाश्वत पुनरावृत्ति के लिए विवश है। काल के बाहर दिक् में विकास–जबकि काल में विकास हर विकास की एक बुनियादी शर्त है–इस बेतुकेपन को हेगेल ने प्रकृति के ऊपर ठीक ऐसे समय में थोपा, जबकि भूविज्ञान, भ्रूण-विज्ञान, वनस्पति और पशुओं का शरीर-विज्ञान और कार्बनिक रसायन का विकास हो रहा था और जबकि हर जगह, इन नये विज्ञानों के आधार पर ऐसे सिद्धान्त अस्तित्व में आये (उदाहरणार्थ गेटे और लामार्क), जिनमें बाद के विकास सिद्धान्त का अद्‌भुत पूर्वाभास मिलता था। लेकिन चूंकि पद्धति का यही तक़ाज़ा था, इसलिए विधि को पद्धति की ख़ातिर अपने को ही धोखा देना पड़ा।

इतिहास के क्षेत्र में भी यही अनैतिहासिक धारणा प्रचलित थी। यहां मध्य काल के अवशेषों के विरुद्ध चल रहे संघर्ष ने सारा नज़ारा धुंधला बना दिया। मध्य युग के विषय में धारणा यह थी कि वह एक हज़ार वर्ष की सार्विक बर्बरता का काल था, जो इतिहास-क्रम को भंग कर बीच में आ गया था। मध्य युग में हासिल हुई महती प्रगति को–यूरोपीय संस्कृति के क्षेत्र के विस्तार को, उसके अन्दर अग़ल-बग़ल में जीवनक्षम महान राष्ट्रों के उठ खड़े होने को और अन्ततः १४वीं तथा १५वीं शताब्दियों की विशाल तकनीकी प्रगति को–देखा ही नहीं जाता था। इस प्रकार महान ऐतिहासिक अन्तःसम्बन्धों की बुद्धिसम्मत परख असम्भव बना दी गयी, और इतिहास, अधिक से अधिक, दार्शनिकों के काम आनेवाले दृष्टान्तों और उदाहरणों का एक संग्रह मात्र बन गया।

टुच्चे बाज़ारू उपदेशक, जो जर्मनी में छठे दशक में भौतिकवाद में दख़लंदाज़ी किया करते थे, अपने उस्तादों की इस हदबंदी के बाहर न निकल सके। प्रकृति-विज्ञान की इस बीच की तमाम उपलब्धियां उनके लिए केवल जगत् के स्रष्टा के अस्तित्व के विरुद्ध नये प्रमाण उपस्थित करने के काम ही आती रहीं, और दर-असल उन्होंने भौतिकवाद के सिद्धान्त को आगे विकसित करने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई। यद्यपि भाववाद पतन की अन्तिम सीमा पर पहुंच चुका था और १८४८ की क्रान्ति ने उस पर प्राणान्तक प्रहार किया था, पर उसे यह सन्तोष था कि भौतिकवाद उस समय उससे भी नीचे गिरा हुआ था। फ़ायरबाख़ ने ठीक ही इस भौतिकवाद के लिए उत्तरदायित्व ग्रहण करने से इनकार कर दिया था, पर उन्हें इन घुमक्कड़ उपदेशकों के सिद्धान्तों को सामान्य भौतिकवाद के साथ गड्मड् नहीं करना चाहिए था।

पर यहां दो बातें बता देनी चाहिए। पहली बात यह कि फ़ायरबाख़ के जीवन-काल में भी प्रकृति-विज्ञान में अभी उफान की वह प्रचण्ड प्रक्रिया चल ही रही थी, जिसने पिछले पन्द्रह वर्षों में ही स्पष्ट, अपेक्षाकृत पूर्णता उपलब्ध की है। इतने बड़े पैमाने पर नये-नये वैज्ञानिक तथ्य प्राप्त हुए जिनका अभी तक अनुमान करना भी संभव न था, परन्तु इन सब में अन्तःसम्बन्ध क़ायम करना और ऐसा करके, धड़ाधड़ हो रही खोजों की इस अस्तव्यस्तता में व्यवस्था लाना अभी बहुत हाल में ही सम्भव हो सका है। यह सही है कि फ़ायरबाख़ के जीवन-काल में ये तीनों निर्णायक खोजें हो चुकी थीं – कोशिका, ऊर्जा का रूपान्तरण और क्रम-विकास का सिद्धान्त, जिसे डार्विन के सिद्धान्त का नाम मिला था। पर देहात में अकेला पड़ा दार्शनिक विज्ञान की इस उन्नति का भला किस प्रकार निरन्तर अध्ययन कर पाता, जिससे वह इन खोजों का पूरा मूल्य आंक सकता, जबकि प्रकृति-विज्ञानी स्वयं अभी भी इन खोजों के विषय में विवाद उठा रहे थे या वे यह नहीं जानते थे कि किस प्रकार उनका पर्याप्त उपयोग किया जाना चाहिए? इसके लिए जर्मनी की दुःस्थिति ही हर प्रकार दोषी है, जिसके फलस्वरूप पांडित्य-प्रदर्शन करनेवाले टुच्चे क़िस्म के सारसंग्रहवादी तो दर्शन-पीठों के अध्यक्ष बन गये थे, जबकि उन सबसे कहीं ऊंचे फ़ायरबाख़ जैसे व्यक्ति को एक छोटे-से गांव में देहाती बना रहना तथा लक्ष्यहीन जीवन बिताना पड़ रहा था। अतः यदि प्रकृति की वह ऐतिहासिक धारणा, जो अब सम्भव हो गयी थी और जिसने फ़्रांसीसी भौतिकवाद के एकांगीपन को बिल्कुल ख़त्म कर दिया था, फ़ायरबाख़ की पहुंच के बाहर रही तो यह उनका दोष नहीं है।

दूसरे, फ़ायरबाख़ का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि केवल प्राकृतिक-वैज्ञानिक भौतिकवाद सचमुच "मानव ज्ञान की इमारत की नींव है, पर वह स्वयं इमारत नहीं है"। इसलिए कि हम प्रकृति में ही नहीं, बल्कि मानव समाज में भी रहते हैं और उसका भी अपने विकास का इतिहास और विज्ञान है जो प्रकृति से किसी प्रकार घटकर नहीं। अतः प्रश्न समाज के विज्ञान का, अर्थात् ऐतिहासिक और दार्शनिक विज्ञान कहे जानेवाले विज्ञानों के कुल योग का भौतिकवादी नींव के साथ तालमेल बिठाने का और उस नींव पर उसे पुनःनिर्मित करने का था। पर यह करना फ़ायरबाख़ के भाग्य में नहीं था। "नींव" के बावजूद वह यहां परम्परागत भाववादी बेड़ियों में बंधे रह गये। इस तथ्य को उन्होंने इन शब्दों में स्वीकार किया है, "पीछे जाया जाये तो मैं भौतिकवादियों से पूर्णतया सहमत हूं, पर आगे जाया जाये तो नहीं!" पर फ़ायरबाख़ स्वयं ही यहां, सामाजिक क्षेत्र में,

"आगे" नहीं बढ़ पाये; १८४० या १८४४ के अपने दृष्टिकोण से आगे नहीं पहुंचे। और इसका कारण पुनः, विशेष रूप में, उनका एकान्तिक जीवन था, जिसके कारण वह बाध्य हुए—गोकि अन्य दार्शनिकों के मुक़ाबले उनमें सामाजिक संसर्ग की ओर अधिक रुझान था—कि अपने समकक्ष लोगों के साथ सौहार्दपूर्ण या विरोधपूर्ण वाद-विवाद का ज़रिया छोड़कर अपने एकान्तिक मस्तिष्क द्वारा ही विचार उत्पन्न करें। आगे हम तफ़सील के साथ देखेंगे कि वह इस क्षेत्र में कितने भाववादी बने रहे।

यहां इतना और कह देना चाहिए कि स्टार्के ने फ़ायरबाख़ के भाववाद को ग़लत स्थान पर ढूंढ़ने की कोशिश की है।

"फ़ायरबाख़ भाववादी हैं, वह मानवजाति की प्रगति में विश्वास करते हैं" (पृष्ठ १९)। "सब की बुनियाद और सब की निचली संरचना भाववाद ही है। यथार्थवाद हमारे लिए, अपनी भाववादी प्रवृत्तियों का अनुसरण करते समय, चूकों से बचने का साधन मात्र है। क्या करुणा, प्रेम और सत्य तथा न्याय का आग्रह आदर्श शक्तियां नहीं हैं?" (भाग VIII)

पहली बात यह कि भाववाद का मतलब यहां आदर्श लक्ष्यों के अनुसरण के अलावा और कुछ नहीं है। किन्तु अवश्य ही इनका लगाव अधिक से अधिक कांट के भाववाद और उनके "निरपेक्ष आदेश"[63] से था; कांट ख़ुद अपने दर्शन को "अनुभवातीत भाववाद" कहते थे, इसलिए नहीं कि उन्होंने उसमें नैतिक आदर्श की भी विवेचना की है, बल्कि बिल्कुल भिन्न कारणों से, जिनका स्मरण स्टार्के को ज़रूर होगा। यह अन्धविश्वास कि भाववादी दर्शन नैतिक, अर्थात् सामाजिक आदर्शों में आस्था पर आधारित है, दर्शन के क्षेत्र के बाहर, जर्मन कूपमंडूकों के बीच उत्पन्न हुआ है, जिन्होंने शिलर की कविताओं में से दार्शनिक संस्कृति के चन्द टुकड़े अपनी आवश्यकतानुसार रट-रटाकर याद कर लिये थे। कांट के सर्वथा अशक्त "निरपेक्ष आदेश" (अशक्त इसलिए कि वह असम्भव की मांग करता है, और इस कारण कभी कोई यथार्थता ग्रहण नहीं कर पाता) की इतनी सख़्त आलोचना और किसी ने नहीं की, शिलर द्वारा प्रचारित अप्राप्य आदर्शों के प्रति कूपमंडूकतामय भावुकतापूर्ण भक्ति का इस प्रकार निर्ममतापूर्ण उपहास (उदाहरणार्थ, देखिये उनकी 'फ़िनामिनॉलोजी') और किसी ने नहीं किया, जितना ख़ास तौर से सम्पूर्णतया भाववादी हेगेल ने किया।

दूसरे, इस तथ्य की ओर हम आंखें नहीं बन्द कर सकते कि हर चीज़ जो मनुष्य को कुछ करने के लिए प्रेरित करती है, अनिवार्यतः उसके मस्तिष्क से होकर गुज़रती है। खाना और पीना तक मस्तिष्क के ज़रिये संप्रेषित भूख तथा प्यास की संवेदना के फलस्वरूप आरम्भ किया जाता है और फिर उसी प्रकार मस्तिष्क के ज़रिये संप्रेषित सन्तुष्टि की संवेदना के फलस्वरूप खाना-पीना समाप्त किया जाता है। मनुष्य पर बाह्य जगत् के प्रभाव अपने को उसके मस्तिष्क में अभिव्यक्त करते हैं, वे उसमें भावना, विचार, आवेग या संकल्प के रूप में, संक्षेप में "भाववादी प्रवृत्तियों" के रूप में प्रतिबिम्बित होते हैं और इस रूप में वे "आदर्श शक्ति" बन जाते हैं। तब यदि मनुष्य को इसलिए भाववादी मान लिया जाये कि वह "भाववादी प्रवृत्तियों" का अनुसरण करता है और क़बूल करता है कि "आदर्श शक्तियों" का उसके ऊपर प्रभाव है, तो ऐसी दशा में ऐसा प्रत्येक मनुष्य, जो प्रकृत रूप से विकसित है, जन्मजात भाववादी भी है, तब फिर कोई भी व्यक्ति भौतिकवादी कैसे रह सकता है?

तीसरे, इस विश्वास का कि मानवजाति, कम से कम इस समय, कुल मिलाकर, एक प्रगतिशील दिशा में बढ़ रही है, भौतिकवाद और भाववाद के बीच विरोध से कोई सरोकार नहीं है। फ़्रांसीसी भौतिकवादी, निर्गुणवादी[64] वाल्तेयर और रूसो की तरह, इस बात में एक प्रकार का मतान्धपूर्ण विश्वास करते थे, और प्रायः उन्होंने इसके लिए जबरदस्त वैयक्तिक क़ुर्बानियां भी कीं। यदि किसी ने "सत्य और न्याय के आग्रह" (इन शब्दों को इनके अच्छे अर्थ में लेते हुए) के लिए अपना पूरा जीवन अर्पित कर दिया था तो वह, उदाहरणार्थ, दिदेरो था। इसलिए जब स्टार्के इस सब को भाववाद घोषित करते हैं, तो इससे केवल यही सिद्ध होता है कि भौतिकवाद शब्द तथा दोनों प्रवृत्तियों का सम्पूर्ण विरोध, उनके लिए यहां अर्थशून्य हो चुका है।

असलियत यह है कि इस विषय में स्टार्के – शायद अचेतन रूप से – भौतिकवाद शब्द के ख़िलाफ़ पादरियों द्वारा किये गये दीर्घकालीन कुत्सा प्रचार के कारण, कूपमंडूकों के प्रचलित, परम्परागत पूर्वाग्रह के सामने अक्षम्य रूप में झुक गये हैं। कूपमंडूक के लिए भौतिकवाद शब्द का अर्थ है पेटूपन, पियक्कड़पन, नेत्रों की वासना, शरीर की वासना, दम्भ, धनलिप्सा, तृष्णा, लोलुपता, मुनाफ़ाख़ोरी और स्टाक-एक्सचेंज की ठगबाज़ी – संक्षेप में वे सभी कुत्सित दुर्गुण, जिनमें वह पर्दे की आड़ में स्वयं लिप्त रहता है। और भाववाद शब्द का अर्थ वह सदाचार, लोकोपकार और साधारणतः "एक बेहतर दुनिया" में विश्वास समझता

है, जिसकी वह औरों के सामने डींगें हांकता है, पर जिसमें वह ज़्यादा से ज़्यादा तभी विश्वास करता है, जब वह पतले हाल में रहता है या जब अपनी "भौतिकवादी" ज़्यादतियों के फलस्वरूप दिवालिया हो रहा होता है। उसी समय वह अपना यह प्रिय राग अलापता है: मानव क्या है—आधा जानवर और आधा फ़रिश्ता।

इसे छोड़ दें, तो स्टार्के ने कोलाहलकारी सहायक प्रोफ़ेसरों के—जिन्हें आजकल जर्मनी में दार्शनिक की संज्ञा दी जाती है—हमलों और सिद्धान्तों के विरुद्ध फ़ायरबाख़ की हिमायत करने में बड़ा कष्टसाध्य परिश्रम किया है। जो लोग क्लासिकीय जर्मन दर्शन की इस पश्चोत्पत्ति में दिलचस्पी रखते हैं, उनके लिए बेशक यह महत्त्व की चीज़ है। ख़ुद स्टार्के को यह आवश्यक ज्ञात हुआ होगा। पर पाठकों को हम इस सब में नहीं ले जायेंगे।

३

फ़ायरबाख़ का असली भाववाद उस समय प्रगट हो जाता है, जब हम उनके धर्म और आचार-नीति के दर्शन पर आते हैं। वह धर्म का उन्मूलन कदापि नहीं करना चाहते, बल्कि उसे पूर्णता प्रदान करना चाहते हैं। स्वयं दर्शन को धर्म में जज़्ब हो जाना चाहिए।

"मानव युगों का पृथकत्व केवल धार्मिक परिवर्तनों से जाहिर होता है। कोई भी ऐतिहासिक आन्दोलन तभी मौलिक होता है, जब वह मानव हृदय में बद्धमूल होता है। हृदय धर्म का रूप नहीं है, जिससे कि धर्म को हृदय में भी विद्यमान रहना ही चाहिए। हृदय धर्म का सार है।" (स्टार्के द्वारा उद्धृत, पृष्ठ १६८)

फ़ायरबाख़ के मतानुसार धर्म मानव-मानव के बीच रागानुरागों पर आधारित, हृदय पर आधारित सम्बन्ध है—ऐसा सम्बन्ध, जिसने अभी तक अपने सत्य की तलाश वास्तविकता के एक काल्पनिक दर्पण-प्रतिबिम्ब में की है—एक या अनेक देवों के माध्यम द्वारा, मानवीय गुणों की काल्पनिक छायामूर्तियों द्वारा—लेकिन अब वह, बिना किसी बिचवई के, उसे सीधे "मैं" और "तू" के प्रेम में पा

रहा है। अतः फ़ायरबाख़ के लिए यौन प्रेम, उनके नये धर्म के व्यवहार का यदि सर्वोच्च रूप नहीं, तो उसके सर्वोच्च रूपों में से एक अवश्य बन जाता है।

प्रेम पर आधारित, मानव-मानव के, विशेषकर स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध तभी से चले आते हैं, जब से मानवजाति विद्यमान है। यौन प्रेम ने ख़ास तौर से पिछले आठ सौ वर्षों के दौरान विकास करके एक ऐसा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है, जिसने उसे इस काल की सारी कविता का अनिवार्य आधार स्तम्भ बना दिया है। विद्यमान प्रतिष्ठापित धर्मों ने राज्य द्वारा विनियमित यौन प्रेम को, अर्थात् विवाह क़ानूनों को उच्चतर धार्मिक प्रतिष्ठा प्रदान करने तक अपने को सीमित रखा है। यदि ये सारे धर्म कल मिट जायें, तो भी प्रेम और मित्रता के अमल में रत्ती भर फ़र्क़ नहीं पड़ेगा। जैसे कि १७६३–१७६८ के बीच फ़्रांस में ईसाई धर्म वस्तुतः इस प्रकार विलुप्त हो गया था कि नेपोलियन भी उसे, बिना विरोध और कठिनाइयों के, फिर से पुनःस्थापित नहीं कर सका, और इस बीच की अवधि में फ़ायरबाख़ के ढंग के किसी नये स्थानापन्न धर्म की आवश्यकता महसूस नहीं हुई।

इस प्रसंग में फ़ायरबाख़ के भाववाद का अर्थ यह है: वह मानवों के बीच आपसी रुझान पर आधारित सम्बन्धों, जैसे यौन प्रेम, मित्रता, करुणा, आत्मबलिदान, आदि को उनके प्रकृत रूप में, बग़ैर किसी ख़ास धर्म से उन्हें सम्बन्धित किये, जिसे भी वह अतीत की वस्तु समझते हैं, स्वीकार नहीं करते। इसके बजाय वह कहते हैं कि ये चीज़ें तभी अपना पूरा मूल्य प्राप्त कर सकेंगी, जब वे किसी धर्म के नाम पर प्रतिष्ठित होंगी। उनके लिए मुख्य बात यह नहीं है कि ये विशुद्ध मानव सम्बन्ध अस्तित्वमान हैं, बल्कि यह कि इनकी एक नये, सच्चे धर्म के रूप में कल्पना की जानी चाहिए। धर्म की मुहर लगने के बाद ही वे पूरा मूल्य हासिल कर सकते हैं। "रिलिजन" (धर्म) शब्द की व्युत्पत्ति religare * से हुई है, जिसका मूल अर्थ "बन्धन" था। इसलिए दो व्यक्तियों के बीच का हर "बन्धन" भी धर्म है। इस प्रकार के शब्द-व्युत्पत्ति-सम्बन्धी हथकंडे भाववादी दर्शन के आख़िरी आश्रय हुआ करते हैं। उनके लिए असल चीज यह नहीं होती कि किसी शब्द का, उसके उपयोग के व्यावहारिक ऐतिहासिक विकास के अनुसार, क्या अर्थ बनता है, बल्कि यह कि व्युत्पत्ति के आधार पर

* religare – बांधना। –सं०

उसका क्या अर्थ होना चाहिए। अतः यौन प्रेम और यौन संसर्ग को दिव्य आदर्श बनाकर उच्च स्थान दे दिया जाता है, सिर्फ़ इसलिए कि "धर्म" शब्द, जो भाववादियों की स्मृति के लिए इतना प्रिय है, कहीं भाषा से लुप्त न हो जाये। पांचवें दशक में लूई ब्लांपंथी विचारधारा के पेरिसवासी सुधारक ठीक इसी ढंग की बातें करते थे। उनके लिए धर्म-विहीन व्यक्ति दानव के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता था। वे कहते थे, "Donc, l'athéisme c'est votre religion!"* यदि फ़ायरबाख़ प्रकृति की मूलतः भौतिकवादी अवधारणा के आधार पर एक सच्चा धर्म खड़ा करना चाहते हैं, तो वह वैसा ही है जैसा कि आधुनिक रसायन शास्त्र को सच्ची कीमियागीरी मान लिया जाये। यदि धर्म अपने ईश्वर के बग़ैर रह सकता है, तो कीमियागीरी भी अपने पारस-पत्थर के बग़ैर रह सकती है। प्रसंगवश यह कह देना उचित ही है कि धर्म और कीमियागीरी में बड़ा नज़दीकी रिश्ता है। पारस-पत्थर बहुत-से दिव्य गुणों से युक्त होता है, और ईसवी सन् की प्रथम दो शताब्दियों में मिस्री-यूनानी कीमियागरों ने, जैसा कि कौप्प और बेर्टलो द्वारा प्रस्तुत तथ्यों से सिद्ध हो चुका है, ईसाई मत के विकास में काफ़ी योग दिया है।

फ़ायरबाख़ का यह दावा कि "मानव युगों का पृथकत्व केवल धार्मिक परिवर्तनों से जाहिर होता है" सर्वथा असत्य है। इतिहास में अभी तक महान मोड़ केवल उन धार्मिक परिवर्तनों के **साथ-साथ** आये हैं जो वर्तमान काल तक विद्यमान तीन विश्व धर्मों – बौद्ध, ईसाई तथा इस्लाम – से सम्बन्धित हैं। स्वतःस्फूर्त ढंग से उदित होनेवाले पुराने क़बायली और जातीय धर्मों का प्रचारात्मक स्वरूप नहीं होता था और क़बीले या जाति की स्वतंत्रता के अपहृत होते ही वे अपनी प्रतिरोध शक्ति खो देते थे। जर्मनों के लिए पतनशील रोमन विश्व साम्राज्य और उस द्वारा अभी-अभी अंगीकृत ईसाई विश्व धर्म के साथ (जो उसकी आर्थिक, राजनीतिक और बौद्धिक अवस्थाओं के साथ मेल खाता था) मामूली सम्पर्क ही पर्याप्त था। केवल इन्हीं विश्व धर्मों के सम्बन्ध में, जो कमोबेश कृत्रिम रूप से पैदा हुए थे – खासकर ईसाई धर्म और इस्लाम के संबंध में – हम देखते हैं कि अधिक आम ऐतिहासिक आन्दोलनों पर धर्म की छाप पड़ी हुई है। असली सार्वलौकिक महत्त्व की क्रान्तियों में ईसाई मत का धार्मिक ठप्पा केवल पूंजीपति वर्ग की आजादी के संघर्ष के प्रथम चरण तक – तेरहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक –

* "अच्छा, तो आपका धर्म निरीश्वरवाद है!" – **सं०**

सीमित रहा है, जिसे, जैसा कि फ़ायरबाख़ सोचते हैं, मनुष्य के हृदय तथा मनुष्य की धार्मिक आवश्यकताओं द्वारा नहीं समझाया जा सकता, बल्कि मध्य युग के पूरे पिछले इतिहास द्वारा समझाया जा सकता है, जो धर्म और धर्मशास्त्र के अलावा दूसरी और किसी प्रकार की विचारधारा से अवगत न था। पर जब अठारहवीं शताब्दी का पूंजीपति वर्ग अपने वर्ग-दृष्टिकोण के उपयुक्त अपनी पृथक् विचारधारा रखने लायक़ बलवान हो गया, तब उसने अपनी महान् और निर्णायक क्रान्ति – फ़्रांसीसी क्रान्ति – संपन्न कर दी, जिसमें उसने एकमात्र क़ानूनी तथा राजनीतिक विचारों की दुहाई दी और धर्म के प्रश्न पर उसने वहीं तक ध्यान दिया, जहां तक कि वह उसके मार्ग में बाधक बना हुआ था। पर यह बात उसके दिमाग़ में आयी ही नहीं कि पुराने धर्म के स्थान पर किसी नये धर्म को स्थापित किया जाये। सभी जानते हैं कि रोबेसपियेर अपनी कोशिश में किस तरह नाकामयाब रहा।

अन्य लोगों के साथ हमारे संसर्ग में अब शुद्ध मानवीय भावनाओं की गुंजाइश, आजकल के समाज के कारण, जिसमें हम अनिवार्यतः रहते हैं और जो वर्ग विरोधों और वर्ग शासन पर आधारित है, काफ़ी घट चुकी है। अतः कोई कारण नहीं कि हम इन भावनाओं को धर्म का सेहरा पहनाकर उसे और ज्यादा घटा दें। इसी प्रकार प्रचलित इतिहास-लेखन द्वारा महान ऐतिहासिक वर्ग-संघर्षों की समझ पर – ख़ासकर जर्मनी में – अब तक काफ़ी पर्दा डाला जा चुका है। अतः हमारे लिए यह क़तई आवश्यक नहीं है कि हम इन संघर्षों के इतिहास को चर्च के इतिहास के परिशिष्ट में रूपान्तरित करके उस समझ को एकदम असम्भव बना दें। यहीं पर प्रगट हो जाता है कि आज हम फ़ायरबाख़ से कितना आगे बढ़ चुके हैं। प्रेम के अपने नये धर्म के गुणगान में उनकी रचना के "सुन्दरतम अंश" आज सर्वथा अपठनीय हैं।

फ़ायरबाख़ एक ही धर्म पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं; वह है पश्चिम का ईसाई विश्व धर्म, जो एकेश्वरवाद पर आधारित है। वह सिद्ध करते हैं कि ईसाई धर्म का परमेश्वर मनुष्य का एक काल्पनिक प्रतिबिम्ब, दर्पण-छाया मात्र है। अब यह परमेश्वर ख़ुद ही एक लम्बे अमूर्तकरण की प्रक्रिया की उपज है – पहले के अनगिनत क़बायली और जातीय देवताओं का सान्द्रित सारतत्त्व है। और इसलिए मनुष्य भी, जिसका प्रतिबिम्ब यह भगवान है, वास्तविक मनुष्य नहीं है किन्तु उसी तरह अनेकानेक वास्तविक मनुष्यों का सारतत्त्व है, अमूर्त मनुष्य है, और इसलिए वह स्वयं एक मानसिक प्रतिबिम्ब है। दर-असल जैसे

ही फ़ायरबाख़, जो हर पृष्ठ में एंद्रीयता का, यथार्थता में लीन होने का उपदेश देते हैं, मनुष्यों के बीच यौन सम्बन्ध के सिवा किसी अन्य सम्बन्ध का ज़िक्र शुरू करते हैं, वैसे ही उनकी बात एकदम अमूर्त्त हो जाती है।

इन सम्बन्धों का केवल एक पहलू उन्हें आकर्षित करता है, वह है नैतिकता। और इस जगह हेगेल की तुलना में फ़ायरबाख़ की विस्मयजनक दरिद्रता देखकर हम फिर दंग रह जाते हैं। हेगेल का नीतिशास्त्र अथवा नैतिक आचरण का सिद्धान्त न्याय का दर्शन है और उसके अन्तर्गत ये विषय आते हैं: (१) अमूर्त्त न्याय; (२) नैतिकता; (३) सामाजिक नीतिशास्त्र (Sittlichkeit) और इसके अन्तर्गत परिवार, नागरिक समाज और राज्य आते हैं। यहां अन्तर्वस्तु उतना ही यथार्थवादी है, जितना कि रूप भाववादी है। नैतिकता के अतिरिक्त क़ानून, अर्थशास्त्र तथा राजनीति का पूरा क्षेत्र यहां सम्मिलित है। पर फ़ायरबाख़ की बात ठीक उलटी है। रूप के अनुसार वह यथार्थवादी हैं, क्योंकि उनका प्रस्थान बिन्दु मनुष्य है; पर वह दुनिया—जिसमें यह मनुष्य रहता है—की बिल्कुल चर्चा नहीं करते; अतः उनका मनुष्य—सदा वही अमूर्त्त मनुष्य—धर्म के दर्शन के क्षेत्र में प्रतिष्ठित प्राणी बना रहता है। इस मनुष्य का जन्म नारी से नहीं हुआ, कोश से कोश-कीट की तरह वह एकेश्वरवादी धर्मों के परमेश्वर से उत्पन्न होता है। अतः वह इतिहास-क्रम में आविर्भूत तथा उसके द्वारा निर्धारित वास्तविक जगत् में नहीं रहता। यह सही है कि अन्य मनुष्यों से उसका संसर्ग होता है, पर प्रत्येक अन्य मनुष्य भी उसी की तरह अमूर्त्त है। उनके धर्म के दर्शन तक में हमें नर और नारियां तो मिलती हैं पर उनके नीतिशास्त्र में यह अन्तिम अन्तर भी लुप्त हो जाता है। यह सच है कि फ़ायरबाख़ कभी-कभी बीच-बीच में इस तरह की बातें भी कह जाते हैं—

"महल में रहनेवाला आदमी कुछ सोचता है और झोंपड़े में रहनेवाला कुछ और।"—"अगर भूख या ग़रीबी के कारण आपके शरीर में कुछ मालमसाला नहीं है, तो आपके मस्तिष्क में, मन में और हृदय में नैतिकता के लिए भी कुछ मालमसाला नहीं रहेगा।"—"राजनीति को ही हमारा धर्म होना चाहिए", आदि।

पर इन नीति-वाक्यों से कुछ हासिल करने की क्षमता फ़ायरबाख़ में बिल्कुल नहीं है। वे कोरे जुमले बने रहते हैं, और स्टार्के तक को स्वीकार करना पड़ता है कि राजनीति फ़ायरबाख़ के लिए एक दुर्गम सीमा थी और उनके लिए

"समाज का विज्ञान, समाजशास्त्र, – terra incognita*" था।

बुराई और अच्छाई के वैपरीत्य की अपनी विवेचना में भी वह हेगेल की तुलना में उतने ही छिछले प्रगट होते हैं।

हेगेल कहते हैं: "जब हम कहते हैं कि मनुष्य स्वभावतः अच्छा है, हम सोचते हैं कि हमने कोई बड़ी बात कह दी, पर हम भूल जाते हैं कि जब हम कहते हैं कि मनुष्य स्वभावतः बुरा है तब हम कहीं ज़्यादा बड़ी बात कहते हैं।"

हेगेल मानते हैं कि ऐतिहासिक विकास की प्रेरक शक्ति बुराई के रूप में प्रगट होती है। इसका दोहरा अर्थ है। पहला यह कि प्रत्येक नई प्रगति अनिवार्यतः पुनीत मानी गयी वस्तुओं के ख़िलाफ़ दूषण के रूप में दिखाई देती है; उन व्यवस्थाओं के ख़िलाफ़ विद्रोह के रूप में, जो गोकि पुरानी और मृतप्राय हो चुकी हैं, पर परम्परा द्वारा अभी तक पवित्र मानी जाती हैं। दूसरा यह कि मनुष्य की कुवृत्तियां – लोभ और अधिकारलोलुपता – ही वर्ग विरोध का आविर्भाव होने पर ऐतिहासिक विकास के लीवर का काम करती हैं। यह एक ऐसा तथ्य है, जिसका प्रमाण सामन्तवाद और पूंजीवाद का इतिहास बराबर, अविच्छिन्न क्रम में देता जा रहा है। पर नैतिक बुराई की ऐतिहासिक भूमिका की छानबीन करने की बात फ़ायरबाख़ के दिमाग़ में नहीं आई। उनके लिए इतिहास एक घोर रहस्यमय प्रदेश है, जहां उन्हें बेचैनी का अनुभव होता है। उनकी ख़ुद की यह उक्ति –

"जब मनुष्य प्रारम्भ में प्रकृति से उद्भूत हुआ, तब वह उसका जीव था, न कि मनुष्य। मनुष्य, मनुष्य की, संस्कृति तथा इतिहास की उपज है" –

उनका यह वाक्य भी निस्सार रह जाता है।

अतः नैतिकता के सम्बन्ध में फ़ायरबाख़ को जो हमें बताना है, वह बेहद मुख़्तसर है। सुख प्राप्ति की उत्कंठा मनुष्य में अन्तर्जात है, अतः उसे ही समग्र

---

*अज्ञात प्रदेश। – सं०

नैतिकता का आधार होना चाहिए। परन्तु सुख प्राप्ति की इच्छा पर दोहरा अंकुश है। पहला, हमारे कार्य के स्वाभाविक परिणाम – विषयभोग के बाद शैथिल्य आता है, और ज्यादतियों की लत के बाद रोग। दूसरा, उसका सामाजिक परिणाम है – यदि हम औरों की इसी प्रकार की सुख प्राप्ति की इच्छा की परवाह नहीं करते, तो वे अवश्य ही अपनी रक्षा करेंगे और फलस्वरूप हमारी ख़ुद की सुख प्राप्ति की आकांक्षाओं में विघ्न डालेंगे। इसलिए अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए हममें अपने आचरण के परिणामों का ठीक-ठीक मूल्यांकन करने की क्षमता होनी चाहिए, और अपनी ही तरह हमें औरों को सुख प्राप्ति का समान अधिकार देना चाहिए। अपने लिए विवेकसम्मत आत्मसंयम और दूसरों के साथ अपने संसर्ग में प्रेम – बार-बार वही प्रेम! – यही फ़ायरबाख़ की नैतिकता के आधारभूत नियम हैं; इन्हीं से अन्य सभी नियम निकले हैं। और न तो फ़ायरबाख़ के चतुरतम उद्‌गार और न स्टार्के की ज़ोरदार से ज़ोरदार तारीफ़ें इन थोड़ी-सी उक्तियों के जीर्ण-शीर्ण स्वरूप को छिपा सकती हैं।

मनुष्य अपने में निमग्न रहकर सुख प्राप्ति की अपनी आकांक्षा की अत्यन्त अपवादस्वरूप – अपने तथा दूसरे लोगों के हितार्थ कदापि नहीं – ही पूर्ति कर सकता है। ज्यादा सच बात यह है कि इसके लिए उसे बाह्य जगत् में निमग्न रहना चाहिए, उसके पास अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन होने चाहिए, जैसे भोजन, यौन सम्बन्ध, पुस्तकें, वार्तालाप, वाद-विवाद, कार्यकलाप, उपभोग एवं श्रम की वस्तुएं। फ़ायरबाख़ की नैतिकता या तो यह मानकर चलती है कि सन्तुष्टि के ये साधन और ये वस्तुएं प्रत्येक व्यक्ति को सहज और सामान्य रूप से उपलब्ध हो जाती हैं, या वह केवल अव्यावहारिक नेक सलाह प्रदान करती है, इसलिए इन साधनों से हीन व्यक्तियों के लिए उसका मूल्य दो कौड़ी बराबर है। इस बात को फ़ायरबाख़ ख़ुद स्पष्ट कर देते हैं, जब वह लिखते हैं –

"महल में रहनेवाला आदमी कुछ सोचता है और झोंपड़े में रहनेवाला कुछ और।" – "अगर भूख या ग़रीबी के कारण आपके शरीर में कुछ मालमसाला नहीं है, तो आपके मस्तिष्क में, मन में और हृदय में नैतिकता के लिए भी कुछ मालमसाला नहीं रहेगा।"

सुख प्राप्ति की इच्छा पूर्ति के लिए दूसरों के समान अधिकार केसम्बन्ध में क्या हालत बेहतर है? फ़ायरबाख़ ने इस अधिकार को परम अधिकार के

रूप में, ऐसे अधिकार के रूप में, जो प्रत्येक काल और प्रत्येक परिस्थिति में लागू होता हो, पेश किया है। पर इसे कब से वैधता मिली? क्या प्राचीन काल में दासों और मालिकों के बीच, या मध्य युग में भू-दासों और भू-स्वामियों के बीच सुख प्राप्ति के लिए समान अधिकार की कभी कोई बात हुई थी? क्या उत्पीड़ित वर्ग की सुख प्राप्ति की इच्छा को शासक वर्ग की सुख प्राप्ति की इच्छा की वेदी पर निर्ममतापूर्वक और "क़ानून की ताक़त से" बलि नहीं चढ़ा दी जाती थी? हां, यह चीज़ बेशक अनैतिक थी; परन्तु आजकल अधिकारों की समानता स्वीकार की जाती है। वह स्वीकार की जाती है, केवल शब्दों में जब से और जहां तक कि पूंजीपति वर्ग सामन्तशाही के ख़िलाफ़ अपने संघर्ष में तथा पूंजीवादी उत्पादन के विकास के लिए सामाजिक श्रेणीगत विशेषाधिकारों को, अर्थात् श्रेणी के अनुसार व्यक्तिगत विशेषाधिकारों को ख़त्म करने के लिए और क़ानून के सामने – पहले वैयक्तिक क़ानून के क्षेत्र में और फिर धीरे-धीरे सार्वजनिक क़ानून में भी – व्यक्ति की समानता मानने के लिए बाध्य हुआ है। पर सुख प्राप्ति की इच्छा भावात्मक अधिकारों को पाकर रंचमात्र ही फूल-फल पाती है। सबसे अधिक वह भौतिक साधनों को पाकर फूलती-फलती है और पूंजीवादी उत्पादन इस बात का पूरा ध्यान रखता है कि समान अधिकार वालों की बहुसंख्या केवल उतना ही प्राप्त करे, जितना मात्र जीवन-यापन के लिए नितान्त आवश्यक हो। अतः पूंजीवादी उत्पादन अधिकांश जनता के सुख प्राप्ति के समान अधिकार की अगर दासता और भूदासता के बनिस्बत कुछ अधिक क़द्र करता है, तो वह रंचमात्र ही अधिक है। और क्या हम सुख के मानसिक साधनों, शैक्षिक साधनों के सम्बन्ध में पहले से अच्छी स्थिति में हैं? क्या "सादोवा का स्कूलमास्टर"[65] भी एक विशुद्ध काल्पनिक व्यक्ति नहीं है?

इसके अतिरिक्त, फ़ायरबाख़ के नैतिकता के सिद्धान्त के अनुसार शेयरबाज़ार नैतिक आचरण का सर्वोच्च देवालय है, बशर्ते कि सट्टा होशियारी से किया जाये। यदि सुख-प्राप्ति की हमारी इच्छा हमें शेयरबाज़ार ले जाती है और वहां हम अपने कार्य के नतीजों का ठीक-ठीक अन्दाज़ लगाते हैं, जिसकी वजह से सुखद परिणाम ही उपलब्ध होते हैं और कोई अहित नहीं होता, यानी हम सट्टे में हर बार जीत जाते हैं, तो इसका मतलब है कि हम फ़ायरबाख़ की सीख पर चल रहे हैं। इसके अलावा हम अन्य व्यक्ति के सुख प्राप्ति के समान अधिकार में हस्तक्षेप नहीं करते, क्योंकि दूसरा आदमी मेरी ही तरह स्वेच्छा से शेयरबाज़ार गया था और मेरे साथ सट्टे का कारोबार करने में उसने सुख प्राप्ति की अपनी

इच्छा का उसी तरह अनुसरण किया था, जिस तरह मैंने किया था। अब अगर वह रुपया हार गया, तो उसका कार्य स्वतः अनैतिक सिद्ध हो जाता है, क्योंकि उसने ग़लत अनुमान लगाया था। और चूंकि मैंने उसे योग्य दण्ड प्रदान किया, इसलिए मैं आधुनिक राडामांथुस की तरह गर्व से अपनी पीठ थपथपा सकता हूं। प्रेम की भी, जहां तक कि वह एक भावुकतापूर्ण आलंकारिक शब्द मात्र नहीं है, शेयरबाज़ार में छत्रछाया रहती है, क्योंकि वहां प्रत्येक व्यक्ति औरों में सुख प्राप्ति की अपनी इच्छा की सन्तुष्टि प्राप्त करता है, जो प्रेम का भी लक्ष्य है, और प्रेम इसी रूप में व्यवहृत होता है। अब अगर मैं अपने कार्य के परिणामों का सही पूर्वानुमान करके, और इसलिए जूए में सफलतापूर्वक दांव लगाता हूं, तो मैं फ़ायरबाख़ की नैतिकता के कठोरतम आदेशों की पूर्त्ति कर रहा हूं, और ऐसा करते हुए लगे हाथों धनी भी बन जाता हूं। दूसरे शब्दों में, फ़ायरबाख़ की नैतिकता आधुनिक पूंजीवादी समाज के ढांचे के सर्वथा अनुरूप गढ़ी हुई है, भले ही फ़ायरबाख़ ने ऐसा न चाहा हो या ऐसा न सोचा हो।

लेकिन प्रेम! —हां, प्रेम फ़ायरबाख़ के लिए सर्वत्र और सर्वदा वह चमत्कारी आराध्य देव है, जो व्यावहारिक जीवन की हर विघ्न-बाधा हल कर सकता है, और वह भी एक ऐसे समाज में, जो सर्वथा विपरीत हित वाले वर्गों में विभक्त है! यहां पर फ़ायरबाख़ के दर्शन से उसके क्रान्तिकारी स्वरूप का अन्तिम अवशेष भी लुप्त हो जाता है। बच जाती है यह पुरानी खोखली शब्दावली: एक दूसरे से प्यार करो, स्त्री-पुरुष, अमीर-ग़रीब का भेदभाव भुलाकर एक दूसरे के गले लग जाओ—मेल-मिलाप की सार्वत्रिक मदोन्मत्तकारी होली मनाओ!

संक्षेप में, फ़ायरबाख़ के नैतिकता के सिद्धान्त का भी वही हश्र होता है, जो उसके पूर्ववर्त्ती सिद्धान्तों का हुआ था। यह सिद्धान्त सभी कालों, सभी जनों और सभी अवस्थाओं की उपयुक्तता के लिहाज़ से बनाया गया है, पर ठीक इसी कारण वह कभी भी और कहीं भी लागू नहीं हो सकता। वास्तविक जगत् के सम्बन्ध में वह उतना ही निःशक्त है, जितना कांट का निरपेक्ष आदेश। दर-असल हर वर्ग की, हर पेशे तक की अपनी अलग-अलग नैतिकता होती है और इसे भी वे, जब सम्भव होता है, बेख़ौफ़ भंग कर देते हैं। और प्रेम, जिसे सब को एक सूत्र में बांधना चाहिए, युद्धों, तकरारों, मुक़दमेबाज़ियों, घरेलू हंगामों, तलाक़ों और हर सम्भव उपाय से एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के शोषण में अभिव्यक्त होता है।

प्रश्न यह है कि फ़ायरबाख़ ने जो सशक्त आवेग दिया, वह स्वयं उनके

लिए क्यों इतना फलहीन सिद्ध हुआ? इसका सीधा-सा कारण यह है कि फ़ायरबाख़ अपने को अमूर्त्तता के—जिससे उन्हें सख़्त चिढ़ थी—क्षेत्र से निकालकर जीवन्त वास्तविकता के क्षेत्र में नहीं ला पाये। प्रकृति और मानव के साथ वह बड़े ज़ोर से चिपकते हैं, पर प्रकृति और मानव उनके लिए शब्द मात्र बने रहते हैं। वह वास्तविक प्रकृति अथवा वास्तविक मानव के सम्बन्ध में हमें निश्चित कुछ भी बताने में असमर्थ हैं। पर फ़ायरबाख़ के अमूर्त्त मानव से वास्तविक मानव तक हम तभी पहुंचते हैं, जब हम उसे इतिहास में भाग लेते हुए देखते हैं। किन्तु फ़ायरबाख़ ने इसका प्रतिरोध किया और इसी लिए १८४८ के वर्ष का, जिसे वह समझ नहीं सके, उनके लिए अर्थ केवल यह था कि वास्तविक जगत् से उनका अंतिम रूप से सम्बन्ध विच्छेद हो गया और उन्होंने संसार छोड़ एकान्तवास ग्रहण कर लिया। इसका भी दोष मुख्यत: जर्मनी की उन तत्कालीन अवस्थाओं के सिर है, जिन्होंने उन्हें दयनीय ढंग से ज़िन्दगी के दिन काटने को बाध्य किया।

पर जो पग फ़ायरबाख़ ने नहीं उठाया, वह, कुछ भी हो, उठाया तो जाना ही था। फ़ायरबाख़ के नवीन धर्म के केन्द्रीय तत्त्व—अमूर्त्त मानव की उपासना—के स्थान पर वास्तविक मानवों और उनके ऐतिहासिक विकास के विज्ञान की स्थापना तो होनी ही थी। फ़ायरबाख़ से आगे उनके दृष्टिकोण का विकास करने के इस कार्य का श्रीगणेश १८४५ में मार्क्स ने अपनी पुस्तक 'पवित्र परिवार' में किया।

४

स्ट्रॉस, बावेर, स्टर्नर, फ़ायरबाख़, जहां तक वे दार्शनिक क्षेत्र से अलग नहीं हुए थे, हेगेलवादी दर्शन की शाखें थे। 'ईसा की जीवनी' और 'मताग्रहिता', लिखने के बाद स्ट्रॉस ने रेनां के ढंग पर केवल दर्शन एवं धर्म के इतिहास पर कुछ साहित्यिक निबन्ध लिखे। बावेर ने केवल ईसाई धर्म की उत्पत्ति के इतिहास के क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किया। स्टर्नर को बकूनिन ने प्रूदों के साथ सम्मिश्रित किया और इस सम्मिश्रण का नाम "अराजकतावाद" रखा, पर इसके बावजूद स्टर्नर कुतूहल की वस्तु मात्र बने रहे। दार्शनिक के रूप में केवल फ़ायरबाख़ का महत्त्व था। लेकिन उनके लिए दर्शन—जिसके बारे में यह दावा

था कि वह सभी विशेष विज्ञानों के ऊपर है और विज्ञानों में अन्तःसम्बन्ध स्थापित करनेवाला विज्ञानों का विज्ञान है—केवल एक अभेद्य अवरोधक, एक परम पूज्य वस्तु बनकर ही नहीं रह गया, बल्कि एक दार्शनिक की हैसियत से भी वह आधे रास्ते पर पहुंचकर रुक गये और नीचे भौतिकवादी और ऊपर भाववादी बने रहे। समालोचना के ज़रिये हेगेल को निबटा देने की क्षमता उनमें न थी। उन्होंने हेगेल को एक ओर ढकेल दिया, जैसे कि वह बेकार हों, पर हेगेलवादी पद्धति के ज्ञानसागर के मुक़ाबले में प्रेम का एक आडम्बरपूर्ण धर्म तथा एक अकिंचन एवं अशक्त नैतिकता पेश करने के अलावा स्वयं उनकी कोई ठोस उपलब्धि नहीं है।

परन्तु हेगेलीय शाखा के विघटन के साथ एक और धारा का विकास हुआ और केवल इसी धारा ने वास्तविक फल प्रदान किये हैं। यह धारा मूलभूत रूप से मार्क्स के नाम के साथ जुड़ी हुई है।*

हेगेलवादी दर्शन से अलगाव यहां भी भौतिकवादी दृष्टि-बिन्दु की ओर वापसी का परिणाम था। तात्पर्य यह है कि वास्तविक विश्व—प्रकृति और इतिहास—को उसी रूप में समझने का संकल्प किया गया, जिस रूप में वह उन सभी लोगों को दिखाई देता है, जो पूर्वकल्पित भाववादी विचार-तरंग के बग़ैर उसे देखना चाहते हैं। यह भी निश्चय कर लिया गया कि प्रत्येक भाववादी विचार-तरंग

---

*यहां मैं कुछ वैयक्तिक सफ़ाई पेश करने की अनुमति चाहता हूं। इधर इस सिद्धांत में मेरे योगदान की बारम्बार चर्चा हुई है, अतः इस प्रश्न के समाधान के लिए कुछ कहना मेरे लिए ज़रूरी हो गया है। मैं इससे इनकार नहीं कर सकता कि मार्क्स के साथ चालीस वर्षों के अपने सहयोग के समय और इससे पहले भी इस सिद्धान्त की बुनियाद डालने और विशेषकर इसे विकसित करने में मेरा एक हद तक स्वतंत्र योगदान रहा है। पर इसके अग्रणी, मूलभूत सिद्धान्तों का अधिकतर भाग, ख़ासकर अर्थशास्त्र और इतिहास के क्षेत्र में, और सर्वोपरि इन सिद्धान्तों का सटीक निरूपण मार्क्स की देन है। मेरा जो योगदान है—बहरहाल, कुछ विशेष क्षेत्रों को छोड़कर—उसकी पूर्ति मार्क्स आसानी से मेरे बिना भी कर लेते। पर मार्क्स की उपलब्धि मेरी उपलब्धि नहीं हो सकती थी। मार्क्स बाक़ी हम सभी लोगों से ऊंचे थे, अधिक दूर तक देखते थे, उनकी दृष्टि अधिक व्यापक थी और अधिक द्रुत भी। मार्क्स महामनीषी थे, बाक़ी हम लोगों को अधिक से अधिक साधारण प्रतिभासम्पन्न कहा जा सकता है। उनके बिना यह सिद्धान्त कभी वह न होता, जो वह आज है। इसलिए मार्क्स के नाम पर उसका नाम होना एकदम ठीक है।

का, जिसका काल्पनिक अन्त:संबंध में नहीं, स्वयं अपने अन्त:संबंध में देखे गये तथ्यों के साथ तालमेल नहीं बैठता, निर्ममता के साथ परित्याग कर दिया जाये। और भौतिकवाद का इससे अधिक कोई अर्थ नहीं है। इस नयी धारा की विशेषता यह थी कि यहां पहले पहल भौतिकवादी विश्वदृष्टिकोण को सचमुच गम्भीरता के साथ लिया गया और ज्ञान के सभी सम्बद्ध क्षेत्रों में सुसंगत रूप से — कम से कम अपनी मूलभूत विशेषताओं के संबंध में तो ज़रूर ही सुसंगत रूप से — अपनाया गया।

हेगेल को महज़ एक तरफ़ नहीं ढकेल दिया गया। इसके विपरीत उनके ऊपर चर्चित क्रान्तिकारी पहलू अर्थात् द्वंद्वात्मक विधि को प्रस्थान-बिंदु बना दिया गया। पर हेगेलवादी रूप में यह विधि उपयोग में लाने योग्य नहीं थी। हेगेल के मतानुसार द्वंद्ववाद विचार का स्वत:विकास है। निरपेक्ष विचार न केवल चिरकाल से विद्यमान — न जाने कहां — है, अपितु वह सारे विद्यमान विश्व की असली जीवित आत्मा है। वह उन सभी प्रारम्भिक मंज़िलों से होकर अपने में विकसित होता है, जिनकी हेगेल के 'तर्कशास्त्र' में विशद विवेचना की गयी है और जो सभी उसमें सम्मिलित हैं। तब वह प्रकृति में परिवर्तित होकर "अन्य-संक्रामण" करता है, जहां वह स्व-चेतन के बिना प्राकृतिक आवश्यकता के भेष में नये विकास के बीच से गुज़रता है और अन्ततः मनुष्य में पुनः आत्म-चेतना की ओर लौटता है। यह आत्म-चेतना तब फिर इतिहास में तब तक भोंडे रूप से अपना विशदीकरण करती है जब तक अन्ततोगत्वा निरपेक्ष विचार हेगेलवादी दर्शन में फिर से अपने को पूर्णतया प्रतिष्ठित नहीं कर देता। अतः हेगेल के मतानुसार प्रकृति और इतिहास में प्रगट होनेवाला द्वंद्वात्मक विकास अर्थात् निम्नतर से उच्चतर की ओर, तमाम टेढ़ी-मेढ़ी गतियों और क्षणिक प्रतिगमनों के बीच से अपने लिए रास्ता निकाल लेनेवाली प्रगामी गति का अन्त:करण संबंध, अनन्तकाल से चले आते और न जाने किधर की ओर जाते हुए, पर, हर हालत में चिन्तनशील मानव मस्तिष्क से स्वतन्त्र विचार की स्वगति की नक़ल (abklatsch) मात्र है। इस विचारधारात्मक विकृति को खत्म करना ज़रूरी था। हमने अपने मस्तिष्क में विचारों को फिर एक बार भौतिकवादी दृष्टि से देखा — उन्हें वास्तविक वस्तुओं का बिम्ब (abbilder) मानकर, न कि वास्तविक वस्तुओं को निरपेक्ष विचार की इस या उस मंज़िल का बिम्ब समझकर। इस प्रकार द्वन्द्ववाद बाह्यजगत् और मानव चिन्तन दोनों की गति के आम नियमों का विज्ञान बन गया — इन नियमों के दो समूहों का सार एक है, पर इस माने में उनकी अभिव्यक्तियां

भिन्न हैं कि मानव मस्तिष्क इनका चेतन रूप से उपयोग कर सकता है, जबकि प्रकृति में – और अभी तक अधिकांशतः मानव इतिहास में भी – ये नियम अचेतन ढंग से, बाह्य आवश्यकता के रूप में, आकस्मिक प्रतीत होनेवाली परिघटनाओं के एक अनन्त क्रम के मध्य अपने को व्यक्त करते हैं। इस तरह से विचारों की द्वन्द्वात्मकता स्वयं वास्तविक जगत् की द्वन्द्वात्मक गति का चेतन प्रतिक्षेप मात्र बन गयी और हेगेल का द्वन्द्ववाद उलट दिया गया ; या यूं कहिये कि उसे सीधा करके पैरों के बल खड़ा कर दिया गया, क्योंकि पहले वह सिर के बल खड़ा था। मार्के की बात यह है कि इस भौतिकवादी द्वन्द्ववाद की, जो वर्षों से हमारा सर्वोत्तम औज़ार, सबसे तेज़ हथियार बना हुआ है, हम लोगों ने ही नहीं, बल्कि हमसे, यहां तक कि हेगेल से भी स्वतन्त्र रूप में, एक जर्मन मज़दूर जोज़ेफ़ डीयेट्ज़गेन ने खोज की थी।*

इस तरह हेगेलीय दर्शन का क्रान्तिकारी पक्ष फिर ग्रहण कर लिया गया और साथ ही साथ उसे उस भाववादी सज्जा से मुक्त कर दिया गया, जिसने हेगेल को उसे सुसंगत रूप से क्रियान्वित करने से रोका था। यह महान मौलिक विचार कि विश्व को पूर्वनिष्पन्न **वस्तुओं** के समुच्चय के रूप में नहीं, अपितु **प्रक्रियाओं** के समुच्चय के रूप में ग्रहण करना चाहिए, जिसमें स्थायी प्रतीत होनेवाली वस्तुएं ही नहीं, बल्कि उसी तरह मानव मस्तिष्क में उनके मानसिक बिम्ब भी, अर्थात् धारणाएं भी, सतत् आविर्भाव तथा अवसान के अविरत परिवर्तन क्रम से गुज़रती हैं, जिसमें ऊपर से दिखाई देनेवाली सारी आकस्मिकता के और सारी अस्थायी विपरीत गतियों के बावजूद, अन्ततोगत्वा एक अग्रगति अपने लिए रास्ता बना लेती है – यह महान मौलिक विचार ख़ासकर हेगेल के काल से सामान्य चेतना में इतना व्याप्त हो गया है कि इस रूप में अब उसका प्रतिवाद शायद ही कोई करेगा। पर इस मौलिक विचार को शब्दों में स्वीकार करना एक चीज़ है और प्रत्येक अन्वेषण क्षेत्र में वास्तव में उसका विशद प्रयोग करना कुछ और ही चीज़ है। पर यदि अन्वेषण हमेशा इसी दृष्टि-बिन्दु से किया जाने लगे, तो अन्तिम समाधान और शाश्वत सत्य के तक़ाज़े सदा के लिए ख़त्म हो जाते हैं, तब हमें सभी अर्जित ज्ञान की अनिवार्य सीमितता का, इस बात का कि यह ज्ञान उन परिस्थितियों से परिसीमित है, जिनमें यह अर्जित किया गया,

*देखें 'एक शारीरिक श्रम करनेवाले मज़दूर द्वारा वर्णित मानव मस्तिष्क के कार्य का सार', हेम्बर्ग, माइस्सनर।

निरन्तर बोध बना रहता है। दूसरी ओर अब पुराने, पर अब भी काफ़ी प्रचलित अधिभूतवाद के लिए अलंघ्य बनी हुई सत्य और असत्य, बुरे और भले, सदृश और असदृश, अनिवार्य और आकस्मिक के बीच की प्रतिपक्षताओं द्वारा कोई भी अपने को धोखे में नहीं पड़ने देगा। हम जानते हैं कि इन प्रतिपक्षताओं की वैधता केवल आपेक्षिक है, क्योंकि आज जिसे सत्य स्वीकृत किया जाता है, उसका एक अप्रगट मिथ्या पक्ष भी है, जो आगे चलकर अपने को प्रगट करेगा; उसी प्रकार, जैसे कि आज जिसे मिथ्या माना जाता है, उसका एक सत्य पक्ष भी है, जिसके कारण वह पहले सत्य माना जा सका था। हम जानते हैं कि जिसे अनिवार्य माना जाता है, उसके अवयव सरासर आकस्मिकतायें हैं और जिसे आकस्मिक कहा जाता है, वह अनिवार्यता का प्रच्छन्न रूप है, इत्यादि।

छानबीन और चिन्तन की पुरानी विधि, जिसे हेगेल "अधिभूतवाद" कहते हैं और जो **वस्तुओं** को प्रदत्त, स्थिर और स्थायी मानकर उनकी छानबीन करती थी, एक ऐसी विधि है, जिसके अवशेष आज भी लोगों के दिमाग़ पर प्रबल रूप से छाये हुए हैं और जिसे अपने समय में बहुत काफ़ी ऐतिहासिक औचित्य प्राप्त था। प्रक्रियाओं की छानबीन करने से पहले वस्तुओं की छानबीन करना आवश्यक था। यह जानने के बाद ही कि अमुक वस्तु क्या है, हम उसमें होनेवाले परिवर्तनों का अवलोकन कर सकते हैं। यही बात प्रकृति-विज्ञान के सम्बन्ध में थी। पुराना अधिभूतवाद, जो वस्तुओं को निष्पन्न पदार्थ मानता था, एक ऐसे प्रकृति-विज्ञान से पैदा हुआ था, जो जीवित और मृत वस्तुओं को निष्पन्न पदार्थ मानकर उनकी छानबीन करता था। पर जब यह छानबीन इस हद तक आगे बढ़ गयी कि अगला निर्णायक क़दम उठाना, अर्थात् स्वयं प्रकृति के अंदर होनेवाले परिवर्तनों की क्रमबद्ध छानबीन करने की अवस्था में पहुंच जाना सम्भव हो गया है, तब दार्शनिक क्षेत्र में भी पुराने अधिभूतवाद के चला-चली के दिन आ गये हैं। वास्तव में प्रकृति-विज्ञान, जो पिछली शताब्दी के अन्त तक प्रधानतः **संग्राही** विज्ञान, निष्पन्न वस्तुओं का विज्ञान था, हमारी शताब्दी में सारतः **क्रमविधायक** विज्ञान, प्रक्रियाओं का तथा इन वस्तुओं के उद्भव और विकास का और इन समस्त प्राकृतिक प्रक्रियाओं को एक सूत्र में बांधकर उन्हें एक समष्टि का रूप देनेवाले अन्तःसम्बन्ध का विज्ञान बन गया। शरीरक्रिया-विज्ञान, जो वनस्पति एवं जीव शरीर में होनेवाली प्रक्रियाओं की छानबीन करता है; भ्रूण-विज्ञान, जो अलग-अलग जीवियों में जीवाणु से प्रौढ़ता तक के विकास की विवेचना करता

है; भूविज्ञान, जो पृथ्वी की सतह के क्रमिक गठन की छानबीन करता है—ये सभी हमारी शताब्दी में पैदा हुए हैं।

परन्तु, सबसे ऊपर, तीन महती खोजों ने प्राकृतिक प्रक्रियाओं के अन्तःसम्बन्ध के हमारे ज्ञान को अत्यधिक वेग से आगे बढ़ाया है। पहली है उस इकाई के रूप में कोशिका की खोज, जिसके गुणन और विभेदन से पूरा वनस्पति और जीव शरीर विकसित होता है। इस प्रकार सारे उच्चतर जीवधारियों का विकास एक ही सामान्य नियम के अधीन होना ही नहीं स्वीकार किया गया है, बल्कि कोशिका की परिवर्तन क्षमता के द्वारा यह भी ज़ाहिर हो जाता है कि जीवधारी किस प्रकार अपनी स्पीशीज़ बदल सकते हैं और ऐसी अवस्था में वे किस प्रकार विकास से गुज़रते हैं जो वैयक्तिक से अधिक होता है।

दूसरी खोज है ऊर्जा का रूपान्तरण, जिसने हमें दिखा दिया कि सभी तथाकथित शक्तियां, जो प्रथमतः अजैव प्रकृति में कार्यशील हैं—यांत्रिक शक्ति और उसकी पूरक, तथाकथित स्थितिज ऊर्जा, ऊष्मा, विकिरण (प्रकाश, या विकीर्ण ऊष्मा), विद्युत्, चुम्बकत्व और रासायनिक ऊर्जा—सार्वत्रिक गति के प्रगटीकरण के भिन्न-भिन्न रूप हैं, जो निश्चित अनुपातों में एक दूसरे में परिवर्तित होते रहते हैं, जिससे जब किसी की एक मात्रा लुप्त हो जाती है, तो उसकी जगह दूसरे की एक ख़ास मात्रा अवतरित हो जाती है और इस तरह प्रकृति की सम्पूर्ण गति एक रूप से दूसरे में रूपान्तरण की अनवरत प्रक्रिया में सीमित है।

अन्ततः डार्विन ने सम्बद्ध रूप में सर्वप्रथम यह सिद्ध किया कि प्रकृति के जैव पदार्थ, जो हमारे चारों ओर मौजूद हैं, और जिनमें मनुष्य भी शामिल है, थोड़े-से मूलतः एककोशिक जीवाणुओं के उद्विकास की एक लम्बी प्रक्रिया के परिणाम हैं, और ये जीवाणु स्वयं प्रोटोप्लाज़्म अथवा एल्बूमीन से, रासायनिक विधि से, अस्तित्व में आये।

इन तीन महती खोजों और प्रकृति-विज्ञान के क्षेत्र में और दूसरे बहुत बड़े क़दम बढ़ाये जाने की बदौलत हम अब प्रकृति की प्रक्रियाओं के अन्तःसंबंध को केवल क्षेत्र विशेष में ही नहीं, बल्कि समग्रतः इन विशेष क्षेत्रों के अन्तःसंबंध को भी दिग्दर्शित कर सकते हैं, और इस प्रकार इन्द्रियानुभविक प्रकृति-विज्ञान द्वारा प्रस्तुत तथ्यों के ज़रिये हम काफ़ी क्रमबद्ध रूप में, प्रकृति के अन्तःसंबंध का एक व्यापक चित्र दे सकते हैं। इस व्यापक चित्र को प्रस्तुत करने का काम पहले तथाकथित प्राकृतिक दर्शन का हुआ करता था। इस काम को वह इसी

प्रकार पूरा कर सकता था कि असली, लेकिन तब तक अज्ञात, अन्त:संबंधों के स्थान पर कल्पित अन्त:संबंध प्रस्तुत करे, अप्राप्य तथ्यों की कमी मनगढ़न्त बातों से पूरी करे और वास्तविक दरारों पर ख़याली पुल बांधे। इस कार्यप्रणाली के दौरान उसने अनेक बड़े शानदार विचारों की परिकल्पना की और बाद में होनेवाली अनेक खोजों का पूर्वाभास दिया; लेकिन उसने बहुत-सी ऐसी सृष्टि भी की, जो निरर्थक थी, अन्यथा कुछ हो भी नहीं सकता था। आज, जब हमें अपने समय के लिए पर्याप्त "प्रकृति की व्यवस्था" पर पहुंचने के लिए प्रकृति-विज्ञान की छानबीन के निष्कर्षों को केवल द्वन्द्वात्मक रूप में, अर्थात् उन्हीं के अंत:संबंध के अर्थ में समझने की जरूरत है, और जब इस अंत:संबंध का द्वन्द्वात्मक स्वरूप प्रकृति-विज्ञानियों के, अधिभूतवाद में दीक्षित दिमाग़ों के अन्दर, उनकी इच्छा के विरुद्ध भी प्रवेश कर रहा है, तब समझना चाहिए कि प्राकृतिक दर्शन की कपाल-क्रिया हो चुकी है। उसे फिर से ज़िन्दा करने की हर कोशिश फ़ज़ूल ही नहीं, बल्कि **पीछे की ओर एक क़दम होगी।**

पर जो बात प्रकृति के लिए (जो इस प्रकार विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया मान ली गयी है) सही है, वह उसी तरह समाज के इतिहास तथा उसकी समस्त शाखाओं पर और उन सारे विज्ञानों के साकल्य पर भी लागू होती है, जो अपने को मानवीय (और दैवी) चीज़ों से सम्बन्धित रखते हैं। यहां भी इतिहास, न्याय, धर्म, आदि के दर्शन का भी अर्थ यही था कि वास्तविक अन्त:संबंध की जगह—जो घटनाओं द्वारा प्रदर्शित होना चाहिए—दार्शनिक के दिमाग़ में गढ़ा हुआ अन्त:संबंध स्थापित किया जाये; उनका अर्थ यह था कि इतिहास को समग्रत: तथा उसके पृथक् अंशों में विचारों की—स्वभावत: सदा दार्शनिक के मनचाहे विचारों की—क्रमिक निष्पत्ति के रूप में ग्रहण किया जाये। इसके अनुसार इतिहास अचेतन, किन्तु अनिवार्य रूप से पहले से निर्धारित एक ख़ास आदर्श लक्ष्य की ओर प्रगति करता था—उदाहरणार्थ, हेगेल के सम्बन्ध में यह लक्ष्य उनके निरपेक्ष विचार की निष्पत्ति है—और इस निरपेक्ष विचार की ओर उसका अपरिवर्तनीय झुकाव ही इतिहास की घटनाओं का अन्त:संबंध प्रस्तुत करता था। इस प्रकार असली, गोकि अभी तक अज्ञात, अंत:संबंध के स्थान पर एक नये, रहस्यमय विधाता को—अचेतन परन्तु धीरे-धीरे चेतना ग्रहण कर रहे—लाकर बिठा दिया गया। यहां भी वैसे ही, जैसे कि प्रकृति के क्षेत्र में आवश्यकता इस चीज़ की थी कि असली अन्त:संबंधों की खोज करके इन मनगढ़न्त कृत्रिम अन्त:संबंधों को कूड़े में फेंक दिया जाये—अन्ततः इस काम का मतलब

है गति के सामान्य नियमों की खोज, जो मानव समाज के इतिहास में अपने को प्रभुत्वशाली रूप में प्रगट करते हैं।

परन्तु एक बात में समाज के विकास का इतिहास प्रकृति के विकास के इतिहास से मूलभूत रूप में भिन्न सिद्ध होता है। प्रकृति में – जहां तक हम प्रकृति पर मनुष्य की प्रतिक्रिया की उपेक्षा करते हैं – हमें केवल अंधी, अचेतन, एक दूसरे पर प्रभाव डालती हुई शक्तियां मिलती हैं, जिनकी परस्पर क्रिया के द्वारा सामान्य नियम परिचालित होते हैं। वहां जितने घटना-व्यापार होते हैं – चाहे वे सतह पर दिखाई देनेवाली अनगिनत प्रगटतः आकस्मिक घटनायें हों या वे अन्तिम परिणामों में हों, जो इन आकस्मिक घटनाओं में अन्तर्निहित नियमबद्धता की पुष्टि करते हैं – उनमें कोई भी चेतन रूप से इच्छित लक्ष्य की पूर्त्ति के रूप में नहीं होता है। इसके विपरीत, समाज के इतिहास में कार्य करनेवाले लोग चेतना-सम्पन्न होते हैं; वे सोच-विचार या आवेग से काम करते हैं, उनके कार्य का एक विशेष लक्ष्य होता है; कोई भी चीज़ बग़ैर सचेतन ध्येय के, बग़ैर किसी उद्दिष्ट अभिप्राय के नहीं होती। लेकिन यह भेद, ऐतिहासिक छानबीन के लिए – विशेषकर अमुक विशेष युगों तथा घटनाओं की छानबीन के लिए – महत्त्वपूर्ण होते हुए भी इस तथ्य को नहीं बदल सकता कि इतिहास का क्रम आन्तरिक सामान्य नियमों के अधीनस्थ है। वास्तव में यहां भी सभी व्यक्तियों के चेतन रूप से इच्छित लक्ष्यों के बावजूद, प्रगटतः सतह पर आकस्मिकता का ही राज दिखाई देता है। जिसकी इच्छा की जाती है, वह बिरले ही कभी होता है; अधिकांशतः अनगिनत इच्छित ध्येय आपस में टकराते हैं और एक दूसरे के मार्ग में बाधक होते हैं; या ये लक्ष्य स्वयं ऐसे होते हैं, जो आरम्भ से ही असाध्य होते हैं अथवा उनकी पूर्त्ति के साधन ही अपर्याप्त होते हैं। इस तरह इतिहास के क्षेत्र में अनगिनत व्यक्तिगत इच्छाओं और व्यक्तिगत क्रियाओं के टकराव द्वारा एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जो जड़ प्रकृति के क्षेत्र में प्रचलित स्थिति के बिल्कुल समान होती है। कार्यों के लक्ष्य उद्दिष्ट होते हैं, पर इन कार्यों द्वारा वास्तव में जो नतीजे निकलते हैं, वे उद्दिष्ट नहीं होते, अथवा जब वे उद्दिष्ट लक्ष्य के अनुरूप ज्ञात भी होते हैं, तो उनके अंतिम फल अन्ततः उद्दिष्ट से बिल्कुल भिन्न होते हैं। ऐतिहासिक घटनाएं भी, इस प्रकार, समग्रतः संयोग के अधीन ज्ञात होती हैं। पर जहां बाहर से सतह पर आकस्मिकता का बोलबाला दिखाई देता है, वहां वस्तुतः सदैव आन्तरिक, अप्रगट नियमों का शासन चलता है। सवाल केवल इन नियमों का पता लगाने का है।

मनुष्य इस माने में अपना स्वयं इतिहास बनाते हैं (चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो) कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सचेत, इच्छित लक्ष्य का अनुसरण करता है। और भिन्न दिशाओं में क्रियाशील इन अनेक इच्छाओं तथा बाह्य जगत् पर उनके बहुविध प्रभावों का परिणाम ही इतिहास है। अतः सवाल इस बात का है कि ये बहुत-से व्यक्ति चाहते क्या हैं? इच्छा आवेग या सोच-विचार द्वारा निर्धारित होती है। पर आवेग या सोच-विचार निर्धारित करनेवाले उत्तोलक बिल्कुल भिन्न प्रकार के होते हैं। अंशतः ये बाह्य पदार्थ हो सकते हैं और अंशतः भावमूलक प्रेरक – महत्त्वाकांक्षा, "सत्य और न्याय का आग्रह", व्यक्तिगत घृणा अथवा महज किसी क़िस्म की व्यक्तिगत सनक। पर एक ओर हम देख चुके हैं कि इतिहास में क्रियाशील अनेक व्यक्तिगत इच्छायें अधिकांशतः वांछित से बिल्कुल भिन्न, प्रायः बिल्कुल उलटे ही परिणाम उपस्थित करती हैं; अतः, अन्तिम परिणाम के सम्बन्ध में उनका प्रेरक हेतु भी गौण महत्त्व का होता है। दूसरी ओर यह प्रश्न उठ खड़ा होता है: इन प्रेरणाओं के पीछे कौनसी उत्प्रेरक शक्तियां खड़ी हैं? वे ऐतिहासिक कारण क्या हैं जो कार्यरत लोगों के मस्तिष्क में इन प्रेरणाओं का रूप धारण कर लेते हैं?

पुराने भौतिकवाद ने अपने से यह प्रश्न कभी नहीं पूछा। उसकी इतिहास की धारणा – यदि उसकी ऐसी कोई धारणा थी भी – वास्तव में परिणामवादी थी; वह हर चीज़ को कार्य के प्रेरक हेतु की कसौटी पर परखता था; वह इतिहास के पात्रों को उदात्त और नीच में बांट देता था और तब अमूमन् इस नतीजे पर पहुंचता था कि आम तौर से उदात्त लोग धोखा खाते हैं और नीचों के माथे पर विजय का सेहरा बंधता है। अतः पुराने भौतिकवाद के लिए यह निष्कर्ष निकलता था कि इतिहास के अध्ययन से कोई महत्त्वपूर्ण सीख नहीं हासिल हो सकती, और हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि पुराना भौतिकवाद इतिहास के क्षेत्र में स्वयं अपने प्रति आस्थावान नहीं रह जाता क्योंकि वह इस क्षेत्र में कार्यशील भावमूलक प्रेरक शक्तियों को घटनाओं के आद्य कारण मान बैठा। उसने यह छानबीन नहीं की कि इनके पीछे क्या है, इन प्रेरक शक्तियों की प्रेरक शक्तियां क्या हैं? असंगतता इस बात में नहीं है कि भावमूलक प्रेरक शक्तियों को मान्यता दी गयी, बल्कि इस बात में है कि यह छानबीन नहीं की गयी कि उनके पीछे क्या है, उनके प्रेरक कारण क्या हैं? इसके विपरीत इतिहास का दर्शन, ख़ासकर हेगेल द्वारा प्रस्तुत इतिहास का दर्शन, मानता है कि इतिहास के मंच पर कार्यशील मनुष्यों की प्रत्यक्ष तथा वास्तव में चालक प्रेरणा शक्तियां

ऐतिहासिक घटनाओं के आद्य कारण कदापि नहीं हैं, बल्कि इन शक्तियों के पीछे अन्य प्रेरक शक्तियां हैं, जिनकी खोज होनी चाहिए। पर वह इन शक्तियों की तलाश इतिहास के अन्दर नहीं करता, बल्कि उन्हें बाहर से, दार्शनिक विचार-धारा से इतिहास के अन्दर लाने की कोशिश करता था। उदाहरण के लिए, हेगेल प्राचीन यूनान के इतिहास की उसके आंतरिक अन्तःसम्बन्धों द्वारा व्याख्या करने के बदले केवल यह कहते हैं कि वह "सुन्दर व्यक्तित्व के रूपों" की निष्पत्ति या "कलाकृति" की कार्यान्विति के अलावा और कुछ नहीं है। इस सिलसिले में वह पुराने काल के यूनानियों के बारे में अनेक सुन्दर एवं पांडित्यपूर्ण बातें कहते हैं, लेकिन इससे हम एक ऐसी व्याख्या को संतोषजनक मानकर चुप नहीं रह सकते, जो वाक्चातुर्य मात्र है।

इसलिए जब प्रश्न उन प्रेरक शक्तियों की छानबीन का होता है, जो चेतन अथवा अचेतन रूप में, और ज़्यादातर अचेतन रूप में ही इतिहास में कार्यरत मनुष्यों की प्रेरणा के पीछे छिपी रहती हैं और जो इतिहास की वास्तविक प्रेरक शक्तियां हैं, तब प्रश्न इतना अधिक अलग-अलग व्यक्तियों की प्रेरणाओं का नहीं रहता, चाहे ये व्यक्ति कितने ही महान क्यों न हों, जितना कि उन प्रेरक शक्तियों का बन जाता है, जो विशाल जन-समूहों को, पूरे के पूरे राष्ट्रों को, और प्रत्येक राष्ट्र में पूरे के पूरे वर्गों को—केवल क्षणिक काल के लिए नहीं, भभककर बुझ जानेवाली पयाल की आग की तरह किसी क्षणिक उत्तेजक कार्रवाई के लिए नहीं, बल्कि इतिहास में महान् रूपान्तरण करनेवाले स्थायी कार्य के लिए—गतिशील करती हैं। उन प्रेरक कारणों का पता लगाना जो क्रियाशील जनगण और उनके नेताओं—तथाकथित महापुरुषों—के दिमाग़ में चेतना प्रेरणा बनकर स्पष्ट या अस्पष्ट, प्रत्यक्ष या विचारधारात्मक या गौरवमंडित रूप तक में प्रतिबिम्बित होते हैं—यही अकेला मार्ग है जो हमें उन नियमों की ओर ले जा सकता है, जो समग्रतः इतिहास और विशेष युगों में या विशेष देशों—दोनों—में ही प्रभावशाली रहते हैं। मानव को गतिमान् करनेवाली हर चीज़ का उसके मस्तिष्क से होकर गुज़रना अनिवार्य है; किन्तु वह चीज़ मानव मस्तिष्क में कौनसी शक्ल अख़्तियार करेगी, यह बहुत कुछ परिस्थितियों पर निर्भर करता है। मज़दूर आज भी पूंजीवादी मशीन उद्योग से संतुष्ट नहीं हैं, यद्यपि अब वे मशीनों को नहीं तोड़ते, जैसा कि १८४८ तक में राइन तटवर्ती प्रदेश में उन्होंने किया था।

पर जहां पहले के युगों में इतिहास की इन प्रेरक शक्तियों की छानबीन

करना – उनके और उनके परिणामों के अन्तःसम्बन्ध जटिल और छिपे होने की वजह से – प्रायः असम्भव कार्य था, वहां हमारे वर्तमान युग ने इन अन्तःसम्बन्धों को इतना सरल कर दिया है कि पहेली हल की जा सकती है। बड़े पैमाने के उद्योग की स्थापना के बाद से, यानी कम से कम १८१५ की यूरोपीय शान्ति के बाद से यह बात इंगलैंड में किसी के लिए रहस्य नहीं रह गयी है कि वहां का पूरा राजनीतिक संघर्ष दो वर्गों – अभिजातवर्गीय भू-स्वामियों (landed aristocracy) और पूंजीपतियों (middle class) – के आधिपत्य की होड़ को लेकर चल रहा है। फ़्रांस में बूर्बों वंश की वापसी के बाद से वही चीज़ देखी गयी; त्येरी से लेकर गीज़ो, मिन्ये और थियेर तक, पुनःस्थापन काल[66] के सभी इतिहासज्ञ सर्वत्र बताते हैं कि मध्य युग के बाद से फ़्रांस के इतिहास को समझने की कुंजी यही तथ्य है। और १८३० के बाद से दोनों ही देशों में मज़दूर वर्ग, सर्वहारा वर्ग, सत्ता के लिए होड़ में तीसरा प्रतिद्वन्द्वी माना जाने लगा है। स्थिति इतनी सरलीकृत हो चुकी थी कि जानबूझकर अपनी आंखें बन्द कर लेनेवाला आदमी ही इन तीन महान वर्गों के संघर्ष और उनके हितों के टकराव में – कम से कम इन दो सबसे आगे बढ़े हुए देशों में – आधुनिक इतिहास की प्रेरक शक्ति को देखे बिना रह सकता है।

परन्तु ये वर्ग कैसे उत्पन्न हुए? यदि पहली नज़र में पहले के बड़े सामन्ती भू-स्वामित्व की उत्पत्ति का कारण – कम से कम प्रारंम्भिक कारण – राजनीतिक ठहराना, यानी उसे ज़बरदस्ती क़ब्ज़ा कर लेना कहना सम्भव था, तो पूंजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग के सम्बन्ध में ऐसा नहीं किया जा सकता था। इन दो महान वर्गों की उत्पत्ति और उनका विकास साफ़-साफ़ और स्थूल रूप में विशुद्ध आर्थिक कारणों में निहित सिद्ध होता था। और उतना ही यह भी स्पष्ट था कि भू-स्वामियों और पूंजीपति वर्ग के संघर्ष में – वैसे ही, जैसे पूंजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग के संघर्ष में – प्रश्न, सर्वप्रथम और सर्वोपरि, आर्थिक हितों का था, जिनकी पूर्त्ति के हेतु राजनीतिक सत्ता केवल साधन की तरह उपयोग में लाई जाने के लिए उद्दिष्ट थी। पूंजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग, दोनों आर्थिक अवस्थाओं के रद्दोबदल के परिणामस्वरूप, या और भी सटीक शब्दों में कहा जाये, तो उत्पादन पद्धति में रद्दोबदल के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए। शिल्पसंघीय दस्तकारी से मैनुफ़ेक्चर उत्पादन, और मैनुफ़ेक्चर उत्पादन से भाप और यांत्रिक शक्ति से लैस बड़े पैमाने के उद्योग में संक्रमण ने इन दो वर्गों को विकसित किया। एक ख़ास मंज़िल पर आकर पूंजीपति वर्ग द्वारा गतिमान् की गयी नयी उत्पादक

शक्तियां–प्रथमतः श्रम-विभाजन और एक ही कारख़ाने में भिन्न-भिन्न काम करनेवाले श्रमिकों का एकत्रण – और इन उत्पादक शक्तियों द्वारा विकसित विनिमय की परिस्थितियां एवं आवश्यकताएं इतिहास के क्रम में चली आती एवं क़ानून द्वारा प्रतिष्ठित, तत्कालीन उत्पादन व्यवस्था के साथ, अर्थात् शिल्पसंघीय विशेषाधिकारों तथा सामन्ती समाज व्यवस्था के अन्य बहुत-से ज़ाती और स्थानीय विशेषाधिकारों (जो उन श्रेणियों के लिए, जिन्हें विशेषाधिकार प्राप्त नहीं थे, बेड़ियों के समान थे) के साथ संगत न रह गयीं। जिन उत्पादक शक्तियों का प्रतिनिधि पूंजीपति वर्ग था, उन्होंने उत्पादन व्यवस्था के विरुद्ध, जिसके प्रतिनिधि सामन्ती भू-स्वामी तथा शिल्पसंघों के उस्ताद-कारीगर थे, विद्रोह कर दिया। परिणाम ज्ञात है–इंगलैंड में धीरे-धीरे और फ़्रांस में एक ही प्रहार में सामन्ती बेड़ियां चूर-चूर हो गयीं। जर्मनी में यह प्रक्रिया अभी तक समाप्त नहीं हुई है। परन्तु जिस प्रकार विकास की एक ख़ास मंज़िल पर पहुंचकर मैनुफ़ेक्चर उत्पादन सामन्ती उत्पादन व्यवस्था के साथ टकराया था, उसी प्रकार अब बड़े पैमाने का उद्योग सामन्ती उत्पादन व्यवस्था के स्थान पर स्थापित पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था के साथ टकराया है। इस व्यवस्था तथा पूंजीवादी उत्पादन पद्धति की संकीर्ण सीमाओं से आबद्ध यह उद्योग एक ओर तो आम जनता के विशाल समुदायों का निरन्तर अधिकाधिक सर्वहाराकरण कर रहा है और दूसरी ओर वस्तुओं का निरन्तर बढ़ता हुआ अम्बार पैदा करता जाता है, जो नहीं खपतीं। अति-उत्पादन और आम ग़रीबी–दोनों एक दूसरे के जनक–यह बेढंगा वैपरीत्य उसी का फल है, जो अनिवार्यतः इस बात का तक़ाज़ा करता है कि उत्पादन पद्धति में परिवर्तन लाकर उत्पादक शक्तियों को वर्तमान बेड़ियों से मुक्त किया जाये।

कम से कम आधुनिक इतिहास में यह सिद्ध हो चुका है कि सभी राजनीतिक संघर्ष वर्ग-संघर्ष हैं और मुक्ति के सभी वर्ग-संघर्ष, उनके अनिवार्य राजनीतिक रूप के बावजूद–क्योंकि हर वर्ग-संघर्ष एक राजनीतिक संघर्ष है–अन्ततोगत्वा **आर्थिक** मुक्ति के प्रश्न पर चल रहे हैं। इसलिए, कम से कम आधुनिक इतिहास में राज्य–राजनीतिक व्यवस्था–गौण है, और नागरिक समाज–आर्थिक सम्बन्धों का क्षेत्र–निर्णायक तत्त्व है। पुरानी धारणा, जिसका हेगेल ने भी सम्मान किया था, राज्य को निर्धारक और नागरिक समाज को उसके द्वारा निर्धारित तत्त्व समझती थी। प्रगटतः ऐसा ही होता है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के कार्यों को प्रेरित करनेवाली शक्तियां अनिवार्यतः उसके मस्तिष्क से गुज़रती हैं, और उसे क्रियाशील करने के लिए उसकी इच्छा की प्रेरणा में परिवर्तित हो जाती हैं,

उसी तरह नागरिक समाज की सभी आवश्यकताओं को क़ानून के रूप में आम वैधता प्राप्त करने के लिए राज्य की इच्छा के प्रक्रम से होकर गुज़रना ज़रूरी है, शासन चाहे किसी भी वर्ग का हो। यह विषय का औपचारिक पहलू है, वह पहलू है, जो स्वतःस्पष्ट है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि–व्यक्ति की तथा राज्य की भी–इस केवल औपचारिक इच्छा की अन्तर्वस्तु क्या है, और इस अन्तर्वस्तु का स्रोत क्या है? क्या कारण है कि यही इच्छा की गयी, अन्य कुछ नहीं? इसकी जांच करें, तो पता चलता है कि आधुनिक इतिहास में राज्य की इच्छा समग्रतः नागरिक समाज की बदलती हुई आवश्यकताओं से, इस या उस वर्ग के प्रभुत्व से, अन्ततोगत्वा उत्पादक शक्तियों और विनिमय सम्बन्धों के विकास से निर्धारित होती है।

पर यदि हमारे आधुनिक काल में भी, जबकि उत्पादन और यातायात के साधन इतने विराट रूप में विद्यमान हैं, राज्य स्वतन्त्र विकास का एक स्वतन्त्र क्षेत्र नहीं है, बल्कि एक ऐसा क्षेत्र है, जिसका अस्तित्व एवं विकास अन्ततोगत्वा समाज के जीवन की आर्थिक अवस्थाओं पर निर्भर है, तो जाहिर है कि पहले के युगों में यह बात और भी सही रही होगी जब मानव के भौतिक जीवन के उत्पादन साधन इतने प्रचुर नहीं थे और जब इस प्रकार के उत्पादन की आवश्यकता मनुष्य पर और भी ज्यादा हावी रही होगी। यदि बड़े उद्योग और रेल के इस युग में राज्य आज भी ज्यादातर उत्पादन का नियन्त्रण करनेवाले वर्ग की आर्थिक आवश्यकताओं की संकेन्द्रित रूप में अभिव्यक्ति मात्र है तो ऐसे युग में यह बात और भी यथार्थ रही होगी, जब मनुष्य की प्रत्येक पीढ़ी को अपने कुल जीवन-काल के एक और भी बड़े भाग को अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति में लगा देने के लिए मजबूर रहना पड़ा, और इसलिए वह उन पर कहीं ज्यादा आश्रित रही होगी, जितना कि हम आज रहते हैं। पहले के युगों के इतिहास की इस दृष्टिकोण से गम्भीरतापूर्वक छानबीन आरम्भ करते ही इस चीज़ की पूरी पुष्टि हो जाती है। पर निस्संदेह इसकी विवेचना यहां नहीं की जा सकती।

यदि राज्य और सार्वजनिक क़ानून आर्थिक सम्बन्धों द्वारा निर्धारित होते हैं, तो ज़ाहिर है कि नागरिक क़ानून भी उन्हीं के द्वारा निर्धारित होता है, जो व्यक्तियों के बीच, मूल रूप में, उनके वर्तमान आर्थिक सम्बन्धों को–जो परिस्थिति विशेष में सामान्य होते हैं–अनुमोदित कर देता है। पर जिस रूप में यह होता है, उसमें काफ़ी वैविध्य हो सकता है! सम्भव है, जैसा कि इंगलैंड

में हुआ है, कि उसके पूरे राष्ट्रीय विकास के साथ सामंजस्य रखते हुए पुराने सामन्तवादी क़ानूनों के अन्तर्य को पूंजीवादी बनाकर उनके पुराने रूपों को मुख्यतः क़ायम रखा जाये[1], अर्थात् सामन्तवादी नाम को सीधे पूंजीवादी अर्थ में लिया जाये। लेकिन ऐसा भी हो सकता है, जैसा कि यूरोपीय महाद्वीप के पश्चिमी देशों में हुआ, कि रोमन क़ानून को ही बुनियादी मान लिया जाये, जो माल उत्पादन करनेवाले समाज का सर्वप्रथम विश्वक़ानून है और जिसमें साधारण माल-मालिकों के (ख़रीदने और बेचनेवालों के, क़र्ज़दारों और महाजनों के, ठेकों तथा दायित्व, आदि के) सभी मूलभूत क़ानूनी सम्बन्धों की बेजोड़ सूक्ष्म और ब्योरेवार विवेचना की गयी है। ऐसी हालत में मौजूदा समाज, जो अभी भी निम्न-पूंजीवादी और अर्ध-सामन्तवादी समाज है, के हित में या तो यह क़ानून क़ानूनी व्यवहार (आम क़ानून) द्वारा वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के स्तर पर लाया जा सकता है या तथाकथित प्रबुद्ध, उपदेशदाता न्यायशास्त्रियों की सहायता से उसे मौजूदा सामाजिक स्तर के अनुरूप एक ख़ास विधि-संहिता में बदला जा सकता है – गोकि यह विधि-संहिता इन परिस्थितियों में क़ानूनी दृष्टिबिन्दु से भी बुरी होगी (प्रशा का क़ानून)। अथवा एक महान पूंजीवादी क्रान्ति के बाद उसी रोमन क़ानून की बुनियाद पर फ़्रांसीसी Code civile* जैसी पूंजीवादी समाज की क्लासिकीय विधि-संहिता को तैयार किया जा सकता है। अतः यदि विधि-संहिता के नियम समाज के आर्थिक जीवन की दशाओं को केवल क़ानूनी रूप में व्यक्त करते हैं, तो वे यह काम परिस्थिति के अनुसार कभी बढ़िया और कभी घटिया ढंग से भी कर सकते हैं।

राज्य हमारे सामने मनुष्य पर हावी प्रथम वैचारिक शक्ति के रूप में प्रकट होता है। समाज भीतरी और बाहरी हमलों से अपने सामान्य हितों को सुरक्षित रखने के लिए एक निकाय बना लेता है। यह निकाय राज्य-सत्ता है। अस्तित्व में आते ही यह निकाय अपने को फ़ौरन समाज से स्वतन्त्र कर लेता है, और जितना ही वह किसी वर्ग विशेष का निकाय बन जाता है, जितने ही खुले रूप में वह उस वर्ग का प्रभुत्व लागू करता है, उतना ही वह समाज से और भी स्वतन्त्र होता जाता है। शासक वर्ग के ख़िलाफ़ उत्पीड़ित वर्ग का संघर्ष अनिवार्यतः एक राजनीतिक संघर्ष का रूप – सर्वप्रथम उस वर्ग के राजनीतिक प्रभुत्व के ख़िलाफ़ संघर्ष का रूप – धारण कर लेता है। इस राजनीतिक संघर्ष और उसके

* विधि-संहिता। – सं०

आर्थिक आधार के बीच अन्त:संबंध की चेतना कुंठित हो जाती है, और कभी-कभी बिल्कुल लुप्त भी हो सकती है। यद्यपि संघर्ष में भाग लेनेवालों में ऐसा पूर्णतः नहीं होता, पर इतिहासकार उसे प्रायः हमेशा ही भूल जाते हैं। रोमन जनतन्त्र के भीतरी संघर्षों के प्राचीन इतिहासकारों में एक एप्पियन ही हमें स्पष्ट रूप में बताते हैं कि मूलतः संघर्ष किस बात का था—वह था भू-सम्पत्ति का।

पर एक बार राज्य समाज से पृथक् एक स्वतन्त्र शक्ति बन जाता है, तो वह फ़ौरन एक दूसरी विचारधारा उत्पन्न करता है। पेशेवर राजनीतिज्ञों, सार्वजनिक क़ानून के सिद्धान्तकारों और विधि-संहिता के विधिवेत्ताओं का आर्थिक तथ्यों के साथ सम्बन्ध सर्वथा लुप्त हो जाता है। चूंकि हर मामले में क़ानून द्वारा प्रतिष्ठित होने के लिए आर्थिक तथ्यों को न्यायिक उद्देश्य का रूप ग्रहण करना होता है, और चूंकि ऐसा करने में पहले से लागू सम्पूर्ण क़ानूनी व्यवस्था का ध्यान रखना ज़रूरी है, इसलिए परिणामतः न्यायिक रूप ही सब कुछ बना दिया जाता है और आर्थिक अन्तर्वस्तु कुछ नहीं समझी जाती। सार्वजनिक क़ानून और विधि-संहिता दो स्वतन्त्र क्षेत्र माने जाते हैं, जिनमें प्रत्येक का अपना अलग-अलग ऐतिहासिक विकासक्रम है, प्रत्येक तमाम अन्तर्विरोधों के सुसंगत निराकरण द्वारा क्रमबद्ध प्रस्तुतीकरण के सक्षम है, और उसे उसकी आवश्यकता होती है।

इससे भी ऊंची विचारधाराएं, अर्थात् भौतिक, आर्थिक आधार से और भी अधिक दूर विचारधाराएं, दर्शन और धर्म का रूप ग्रहण करती हैं। यहां धारणाओं और उनके अस्तित्व की भौतिक अवस्थाओं का अन्त:सम्बन्ध दरम्यानी कड़ियों के कारण अधिकाधिक पेचीदा, अधिकाधिक गूढ़ होता जाता है। पर अन्त:सम्बन्ध विद्यमान रहता ही है। १५वीं शताब्दी के मध्य से आरम्भ होनेवाला पूरा पुनर्जागरण काल जिस तरह मूलभूत रूप में नगरों की और इसलिए बर्गरों की देन है, उसी तरह बाद का नव-जागृत दर्शनशास्त्र भी उनकी ही देन है। उसकी अन्तर्वस्तु सारतः उन विचारों की दार्शनिक अभिव्यक्ति मात्र थी जो छोटे और मंझोले बर्गरों के बड़े पूंजीपतियों में विकसित होने के साथ मेल खाते थे। विगत शताब्दी के अंग्रेज़ों और फ़्रांसीसियों में, जिनमें अक्सर लोग अर्थशास्त्री होने के साथ-साथ दार्शनिक भी होते थे, यह विचारधारा स्पष्ट है; हेगेलीय दर्शन के सम्बन्ध में हम इसे पहले सिद्ध कर चुके हैं।

उपरोक्त बातों के अतिरिक्त अब हम संक्षेप में धर्म की विवेचना करेंगे क्योंकि वह भौतिक जीवन से सबसे दूर तथा उससे बिल्कुल स्वतंत्र दिखाई देता

है। आदिम काल में मानवों की स्वयं अपनी प्रकृति एवं बाह्य प्रकृति के सम्बन्ध में भ्रान्तिपूर्ण, प्रारम्भिक धारणाओं से धर्म की उत्पत्ति हुई। पर हर विचारधारा जन्म लेने के बाद उपलब्ध विचार सामग्री के साथ सम्बद्ध रूप में विकसित होती है और इस सामग्री का और भी विकास करती है। यदि वह ऐसा नहीं करती, तो वह विचारधारा—अर्थात् स्वतन्त्र रूप में विकसित होते हुए और अपने ही नियमों के अधीन स्वतन्त्र सत्ता के रूप में स्थित, विचारों का धंधा—नहीं रह जाती। यह बात कि अन्ततोगत्वा ऐसे लोगों के जीवन की भौतिक अवस्थायें, जिनके मस्तिष्क में यह चिन्तन प्रक्रिया चलती रहती है, इस प्रक्रिया का क्रम निर्धारित करती हैं, अनिवार्यतः इन लोगों के लिए अज्ञात बनी रहती है, अन्यथा सारी विचारधारा का अन्त हो जाता। अतः ये मूल धार्मिक धारणाएं, जो सजातीय जनता के प्रत्येक समूह में मुख्यतया समान होती हैं, जन-समूह के अलग हो जाने के बाद, प्रत्येक जनता में विशिष्ट रूप से, जीवन की उन परिस्थितियों के अनुसार, जो हर जनता के पल्ले पड़ती हैं, विकसित होती हैं। अनेक जन-समूहों के, और ख़ासकर आर्यों (तथाकथित हिंद-यूरोपीय) के सम्बन्ध में यह प्रक्रिया तुलनात्मक पुराण अध्ययन द्वारा तफ़सील में दर्शायी जा चुकी है। इस तरह हर जनता के अन्दर गढ़ लिये गये देवता जातीय देवता थे, जिनका आधिपत्य उन जातीय प्रदेशों तक ही सीमित था, जिनके वे रक्षक थे। इस सरहद के बाहर अन्य देवगणों का निर्विवाद प्रभुत्व था। उनका काल्पनिक अस्तित्व तभी तक जारी रहा, जब तक जाति का अस्तित्व था। जाति का पतन होने के साथ उनका भी पतन हो जाता था। रोमन विश्व साम्राज्य ने, जिसके उदय की आर्थिक अवस्थाओं की जांच करने की यहां आवश्यकता नहीं है, पुरानी जातियों को पतन के गर्त्त में पहुंचा दिया। पुराने जातीय देवता, रोमन देवता भी, जो रोम नगर की संकीर्ण सीमाओं के अनुरूप गढ़े गये थे, अवनति को प्राप्त हुए। विश्व साम्राज्य के पूरक के रूप में विश्व धर्म की स्थापना की आवश्यकता इस बात से स्पष्ट परिलक्षित होती है कि रोम में देशी देवताओं के साथ उन सभी विदेशी देवताओं को भी मान्यता देने एवं उनके लिए वेदियां स्थापित करने का प्रयास किया गया जो ज़रा भी सम्भ्रान्त थे। पर कोई नया विश्व धर्म इस तरह से शाही फ़रमानों के ज़रिये क़ायम नहीं होता। नया विश्व धर्म, ईसाई धर्म सामान्यीकृत प्राच्य धर्मशास्त्र, ख़ासकर यहूदी धर्मशास्त्र तथा विकृत यूनानी दर्शन, ख़ासकर स्टोइक दर्शन, के सम्मिश्रण से चुपके-चुपके जन्म ले चुका था। यह धर्म मूल रूप में कैसा था, इसे देखने के लिए परिश्रमपूर्ण खोज करने की आवश्यकता है, क्योंकि

उसका अधिकृत रूप, जो हमें विरासत में मिला है, उसके राजकीय धर्म बन जाने तथा इस हेतु निकीया परिषद[67] में उसके अनुकूलन किये जाने के बाद का है। यह तथ्य कि २५० वर्षों के बाद ही ईसाई धर्म एक राजकीय धर्म बन गया, पर्याप्त रूप में सिद्ध करता है कि वह ज़माने के हालात से मेल खाता था। मध्य युग में जैसे-जैसे सामन्तवाद का विकास हुआ, वैसे-वैसे ईसाई धर्म उसका धार्मिक प्रतिरूप बनता गया; उसमें भी वैसा ही सामन्ती पद-सोपान विकसित होता गया। जब बर्गरों का उत्थान हुआ, तो सामन्ती कैथोलिकवाद के विरुद्ध प्रोटेस्टेंट धर्म-मतान्तर का उदय हुआ। यह सबसे पहले दक्षिण फ़्रांस में आल्बीजांसों[68] के बीच उस समय उत्पन्न हुआ, जब वहां के नगर समृद्धि की चरमसीमा पर पहुंचे हुए थे। मध्य युग ने धर्मशास्त्र के साथ विचारधारा के अन्य सभी रूपों – दर्शन, राजनीति, न्यायशास्त्र – को जोड़ दिया, और इन्हें धर्मशास्त्र की उपशाखायें बना दिया। इस तरह उसने हर सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन को धार्मिक जामा पहनने के लिए विवश किया। आम जनता की भावनाओं को एकमात्र धर्म का चारा दिया गया। इसलिए कोई भी प्रभावशाली आन्दोलन आरम्भ करने के लिए उसके अपने हितों को धार्मिक जामे में पेश करना आवश्यक था। और जिस तरह बर्गरों के साथ आरम्भ से ही सम्पत्तिहीन शहरी जनसाधारण, रोज़न्दरों तथा नाना प्रकार के नौकर-चाकरों की – उन लोगों की, जो समाज की किसी मान्यताप्राप्त श्रेणी के सदस्य न थे – एक जमात नत्थी हो चुकी थी, जो बाद में प्रगट होनेवाले सर्वहारा वर्ग की पूर्वगामी थी, उसी प्रकार यह धर्म-मतान्तर भी दो हिस्सों में विभक्त हो गया – बर्गरों का नरम धर्म-मतान्तर और जनसाधारण का क्रान्तिकारी मतान्तर, जिसे बर्गर मतान्तरावलंबी अन्त में घृणा की दृष्टि से देखने लगे।

प्रोटेस्टेंट मतान्तर की अनुन्मूलनीयता उदीयमान बर्गरों की अजेयता के अनुरूप थी। जब बर्गर काफ़ी मजबूत हो गये, तो सामन्ती अभिजात वर्ग के विरुद्ध उनका संघर्ष, जो अभी तक प्रधानतः स्थानीय पैमाने पर चलता था, जातीय आकार ग्रहण करने लगा। पहली बड़ी लड़ाई जर्मनी में हुई जिसे धर्म-सुधार के नाम से पुकारा जाता है। बर्गरों में न तो इतनी ताक़त थी और न वे इतना विकास कर पाये थे कि अपने झण्डे के नीचे अन्य विद्रोही सामाजिक श्रेणियों – शहरों के जनसाधारण और देहात के छोटे सरदारों और किसानों – को एकजुट कर सकते। पहले तो सामन्ती सरदार पराजित हुए; किसानों ने विद्रोह का झण्डा ऊंचा किया और यह विद्रोह पूरे क्रान्तिकारी संघर्ष का उच्चतम शिखर बन गया।

परन्तु शहरों ने किसानों का साथ छोड़ दिया, और इस प्रकार क्रान्ति सामन्ती नरेशों की फ़ौजों द्वारा कुचल डाली गयी, जिनके हाथ उसका सारा नफ़ा लगा। इसके बाद जर्मनी इतिहास में स्वतन्त्र, सक्रिय भूमिका अदा करनेवाले देशों की पंक्ति से तीन शताब्दी के लिए ग़ायब हो गया। पर जर्मनी के लूथर के साथ फ़्रांसीसी काल्विन का अवतरण हुआ। एक सच्चे फ़्रांसीसी की पैनी बुद्धि से काम लेते हुए काल्विन ने धर्म-सुधार आन्दोलन के पूंजीवादी स्वरूप को सम्मुख रखकर चर्च का जनतन्त्रीकरण एवं जनवादीकरण किया। जबकि जर्मनी में लूथरवादी धर्म-सुधार आन्दोलन ने पतनशील अवस्था में पहुंचकर देश को तबाही और बरबादी की हालत में ढकेल दिया था, काल्विनपंथी धर्म-सुधार आन्दोलन जेनेवा में, हालैंड और स्काटलैंड में जनतन्त्रवादियों का फरहरा बन गया। उसने हालैंड को स्पेन तथा जर्मन साम्राज्य से मुक्त कराया[69] और इंगलैंड के रंगमंच पर हो रही पूंजीवादी क्रान्ति के दूसरे दृश्य के लिए विचारधारात्मक परिधान प्रस्तुत किया। यहां पर काल्विनपंथ ने उस समय के पूंजीपति वर्ग के तत्कालीन हितों के सच्चे धार्मिक छद्मवेश के रूप में अपनी सार्थकता सिद्ध की और इसी कारण, जब १६८९ में क्रान्ति की परिणति सामन्तों के एक हिस्से तथा पूंजीपतियों के बीच समझौते में हुई[70], तब उसे पूरी मान्यता नहीं मिल सकी। इंगलैंड का राजकीय चर्च पुनःस्थापित किया गया – लेकिन कैथोलिकवाद की अपनी पुरानी शक्ल में नहीं, जिसमें राजा पोप का भी स्थान ग्रहण करता था, बल्कि सुदृढ़ रूप में काल्विनपंथी बनकर। पुराना राजकीय चर्च कैथोलिकों का उल्लासपूर्ण रविवार मनाता था और काल्विन के नीरस रविवार का विरोध करता था। नये, पूंजीवादी बनाये गये चर्च ने काल्विनपंथी रविवार लागू किया जो आज भी इंगलैंड में प्रतिष्ठित है।

फ़्रांस में अल्पसंख्यक काल्विनपंथियों का १६८५ में दमन किया गया; उन्हें या तो कैथोलिक बना लिया गया या बायले से खदेड़ दिया गया। लेकिन इससे क्या लाभ हुआ? स्वतन्त्रचिन्तक पियरे बायले की सरगर्मियां उस समय पूरी तेज़ी पर पहुंच चुकी थीं और १६९४ में वाल्तेयर का जन्म हुआ। लूई चौदहवें की दमनकारी कार्रवाइयों ने फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग के लिए इस बात की आसानी ही पैदा की कि वह अपनी क्रान्ति धर्मरहित तथा सोलहों आना राजनीतिक रूप में सम्पन्न करे, जो विकसित पूंजीपति वर्ग के लिए एकमात्र अनुकूल रूप था। राष्ट्रीय विधान सभाओं में प्रोटेस्टेंटों की जगह स्वतन्त्रचिन्तक जा पहुंचे। इस तरह ईसाई धर्म ने अपने अन्तिम चरण में प्रवेश किया। वह आगे किसी भी

प्रगतिशील वर्ग की आकांक्षाओं के विचारधारात्मक आवरण का काम देने के अयोग्य बन चुका था। वह अधिकाधिक एकमात्र शासक वर्गों की सम्पत्ति बनता गया। ये वर्ग उसे केवल शासन के साधन के रूप में, नीचे के वर्गों पर अंकुश रखने के लिए ही इस्तेमाल करते थे। इसके अतिरिक्त हर शासक वर्ग अपने-अपने योग्य धर्म का इस्तेमाल करता है—सामंती अभिजात वर्ग कैथोलिक जेजुइटवाद या प्रोटेस्टेंट कट्टरपंथ का इस्तेमाल करता है, तो उदारपंथी और उग्रपंथी पूंजीपति वर्ग तर्कबुद्धिवाद का उपयोग करता है; और इससे कुछ फ़र्क़ नहीं पड़ता कि ये सज्जन स्वयं अपने-अपने धर्म में आस्था रखते हैं या नहीं।

अतः हम देखते है: जिस तरह सभी विचारधारात्मक क्षेत्रों में परम्परा एक बड़ी रूढ़िवादी शक्ति हुआ करती है, उसी तरह धर्म में भी, एक बार उसकी स्थापना हो जाने के बाद, परम्परागत सामग्री सतत रूप से विद्यमान रहती है। पर इस सामग्री में जो परिवर्तन होते हैं, वे वर्ग सम्बन्धों से, अर्थात् इन परिवर्तनों को सम्पन्न करनेवाले लोगों के आर्थिक सम्बन्धों से उद्भूत होते हैं। बस इस जगह इतना ही कहना पर्याप्त है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उसमें हम इतिहास की मार्क्सवादी धारणा का अधिक से अधिक कुछ दृष्टान्तों का समावेश करते हुए एक आम ख़ाका ही पेश कर सकते थे। इसका प्रमाण स्वयं इतिहास से प्राप्त किया जा सकता है, और इस सम्बन्ध में मैं इतना कहने की अनुमति चाहता हूं कि अन्य कृतियों में यह प्रमाण पर्याप्त मात्रा में प्रस्तुत किया जा चुका है। पर जिस तरह प्रकृति की द्वन्द्वात्मक धारणा पूरे प्रकृति दर्शन को अनावश्यक और असम्भव बना देती है, उसी तरह उपरोक्त धारणा इतिहास के क्षेत्र में दर्शन का ख़ात्मा कर देती है। अब प्रश्न यह नहीं है कि हम अन्तःसम्बन्धों का अपने मस्तिष्क से आविष्कार करें, प्रश्न अब यह है कि उन्हें स्वयं तथ्यों के अन्दर ढूंढ़ा जाये। दर्शन के लिए, जो प्रकृति और इतिहास से निर्वासित हो चुका है, केवल एक ही, विशुद्ध चिन्तन का क्षेत्र बच रहता है, जहां तक वह बचा रहता है—स्वयं चिन्तन प्रक्रिया के नियमों का सिद्धान्त, तर्कशास्त्र और द्वन्द्ववाद।

* * *

१८४८ की क्रान्ति के बाद "शिक्षित" जर्मनी ने सिद्धान्त को विदा करके व्यवहार का क्षेत्र अपनाया। शारीरिक श्रम पर आधारित छोटे पैमाने के उत्पादन

तथा मैनुफ़ेक्चर उत्पादन का स्थान वास्तविक बड़े पैमाने के उद्योग ने ले लिया। जर्मनी फिर विश्व-बाज़ार में आ उपस्थित हुआ। नये लघु जर्मन साम्राज्य[71] ने कम से कम उन कुख्यात कुप्रथाओं का अन्त कर दिया जो इस विकास के मार्ग में रोड़े अटकाती थीं, जैसे छोटे-छोटे राज्यों की व्यवस्था, सामन्तवादी अवशेष और नौकरशाही प्रबन्ध। लेकिन जिस हद तक परिकल्पनात्मक चिन्तन ने अपना देवस्थान स्टाक एक्सचेंज में क़ायम करने के लिए दार्शनिक अध्ययन-कक्ष को छोड़ दिया, उसी हद तक शिक्षित जर्मनी ने सैद्धान्तिक चिन्तन का अपना ज़बर्दस्त रुझान खो दिया, जो घोरतम राजनीतिक अपमान के दिनों में भी जर्मनी के लिए गौरव की वस्तु था—विशुद्ध वैज्ञानिक खोज का वह रुझान खो दिया, जो इस बात का लिहाज़ नहीं करता था कि प्राप्त फल व्यवहार्य होगा या नहीं, वह पुलिस के अधिकारियों को रुष्ट करेगा या नहीं। यह सही है कि अधिकृत जर्मन प्रकृति-विज्ञान ने ख़ासकर विशेषीकृत अनुसंधान के क्षेत्र में अपनी स्थिति अग्र कोटि में बनाये रखी है। लेकिन अमरीका की पत्रिका «*Science*» तक ठीक ही आलोचना करती है कि अलग-अलग तथ्यों के व्यापक सहसम्बन्ध और नियमों के रूप में उनके सामान्यीकरण के क्षेत्र में निर्णयकारी उन्नति अब पहले की तरह जर्मनी में न होकर उसके बजाय कहीं ज़्यादा इंगलैंड में हो रही है। और, मय दर्शन के, ऐतिहासिक विज्ञानों के क्षेत्र में सिद्धान्त के प्रति पुराना निर्भीकतापूर्ण उत्साह क्लासिकीय दर्शन के साथ-साथ पूर्णतया लुप्त हो चुका है। अब उसका स्थान निःसार सारसंग्रहवाद और आजीविका और धनोपार्जन की व्यग्र चिन्ता ने ले लिया है, जो कुत्सित पदलोलुपता के निम्न स्तर पर उतर आती है। इन विज्ञानों के अधिकृत प्रतिनिधि पूंजीपति वर्ग और मौजूदा राज्य के खुले सिद्धान्तकार बन गये हैं—परन्तु ऐसे समय में जब दोनों ही अपने को मज़दूर वर्ग के ख़िलाफ़ खुले विरोध की स्थिति में पाते हैं।

केवल मज़दूर वर्ग में सिद्धान्त के प्रति जर्मन रुझान अक्षुण्ण बना हुआ है। यहां उसका उन्मूलन नहीं हो सकता। यहां बढ़िया नौकरियों की, नफ़ा कमाने की या ऊपर के लोगों का उदारतापूर्ण संरक्षण पाने की कोई फ़िक्र नहीं है। इसके विपरीत जितने साहसपूर्वक और संकल्पपूर्वक विज्ञान आगे बढ़ता है, उतना ही वह अपने को मज़दूर वर्ग के हितों और उसकी आकांक्षाओं के साथ सामंजस्य की स्थिति में पाता है। वह नई धारा, जिसने यह माना कि समाज के पूरे

इतिहास को समझने की कुंजी श्रम का विकास है, आरम्भ से ही मज़दूर वर्ग की ओर उन्मुख हुई और यहां उसे ऐसी सहानुभूति मिली जिसे उसने मान्यता-प्राप्त अधिकृत विज्ञान से प्राप्त करने की कभी न तो चेष्टा की थी, न ही आशा। जर्मन मज़दूर आन्दोलन ही जर्मन क्लासिकीय दर्शन का उत्तराधिकारी है।

१८८६ के शुरू में लिखित।
«Die Neue Zeit» पत्रिका
के चौथे और पांचवें अंकों में
१८८६ में और स्टुटगार्ट में
अलग पुस्तिका के रूप में
१८८८ में प्रकाशित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

फ़्रेडरिक एंगेल्स

इतिहास में बल-प्रयोग की भूमिका[72]

आइये, अब अपने सिद्धान्त को समकालीन जर्मन इतिहास और उस द्वारा बल-प्रयोग पर, ख़ून और तलवार की उसकी नीति पर लागू करें। हमें इससे पता चल जायेगा कि ख़ून और तलवार की नीति का कुछ समय के लिए सफल होना और आख़िर में उसका विफल होना क्यों लाज़िमी था।

१८१५ में वियेना कांग्रेस[73] ने यूरोप को इस ढंग से विभाजित किया तथा बेच दिया कि उससे राजाओं तथा राजनेताओं की पूरी अयोग्यता उजागर हो गयी। नेपोलियन के विरुद्ध जन युद्ध तमाम जनगण की उस राष्ट्रीय भावना की प्रतिक्रिया थी जिसे नेपोलियन ने पैरों तले रौंद डाला था। इसके प्रति आभारस्वरूप वियेना कांग्रेस में राजाओं तथा कूटनीतिज्ञों ने उस राष्ट्रीय भावना को और भी तिरस्कारपूर्ण ढंग से पैरों तले रौंदा। सबसे बड़े राष्ट्र की तुलना में सबसे छोटा राजवंश भी ज्यादा आदर का पात्र था। जर्मनी तथा इटली को एक बार फिर छोटे-छोटे राज्यों में बांट दिया गया, पोलैंड का चौथा विभाजन कर दिया गया तथा हंगरी को दासावस्था में छोड़ दिया गया। यह भी नहीं कहा जा सकता कि राष्ट्रों के विरुद्ध अन्याय हुआ था; उन्होंने उसे होने क्यों दिया और उन्होंने रूसी ज़ार* का अपने मुक्तिदाता के रूप में क्यों स्वागत किया?

परन्तु यह स्थिति देर तक क़ायम नहीं रह सकती थी। मध्य युगों के अन्त से लेकर इतिहास यूरोप में बड़े राष्ट्रीय राज्यों के गठन की दिशा में कार्यरत रहा है। केवल ऐसे ही राज्य सत्तारूढ़ यूरोपीय पूंजीपति वर्ग की सामान्य राजनीतिक संरचना और साथ ही राष्ट्रों के मध्य सामंजस्यपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की स्थापना के लिए अपरिहार्य पूर्वशर्तें हैं जिसके बिना सर्वहारा का शासन असम्भव है।

---

* अलेक्सांद्र प्रथम। – सं०

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सुनिश्चित करने के लिए सारे परिहार्य राष्ट्रीय वैमनस्यों को पहले ख़त्म किया जाना चाहिए, प्रत्येक राष्ट्र को स्वतंत्र तथा अपनी धरती का मालिक होना चाहिए। वाणिज्य, कृषि, उद्योग के और उनके द्वारा पूंजीपति वर्ग की सामाजिक शक्ति के विकास के साथ सर्वत्र राष्ट्रीय भावनाएं उभरीं तथा विभाजित और उत्पीड़ित राष्ट्रों ने एकता तथा स्वतंत्रता की मांग की।

इसी लिए १८४८ की क्रान्ति फ्रांस को छोड़कर सब जगह उतनी ही राष्ट्रीय मांगों की पूर्ति के लिए लक्षित थी जितनी स्वतंत्रता की मांग की पूर्ति के लिए। परन्तु पूंजीपति वर्ग के पीछे, जो पहले धावे में विजयी हो गया था, सर्वहारा की, जिसने वस्तुतः विजय हासिल की थी, सशक्त आकृति सर्वत्र प्रकट हो गयी थी और इस तथ्य ने पूंजीपति वर्ग को अभी परास्त शत्रु के, राजतंत्रवादी, नौकरशाह, अर्द्धसामन्ती तथा फ़ौजी प्रतिक्रियावाद की बांहों में पहुंचा दिया जिसने १८४९ में क्रान्ति को हराया। हंगरी में, जहां स्थिति दूसरी थी, रूसी आये तथा उन्होंने क्रान्ति को कुचल दिया। रूसी ज़ार इतने से भी सन्तुष्ट नहीं हुआ, वह वारसा पहुंचा जहां वह यूरोप के पंच के रूप में निर्णय देने लगा। उसने अपने आज्ञाकारी जीव क्रिश्चियन ग्लक्सबर्ग को डेनिश राजसिंहासन पर बिठा दिया। उसने एकता की जर्मन आकांक्षाओं का उपयोग करने की लेशमात्र कामना की मनाही करते हुए, उसे संघीय संसद (बुंडेस्टाग)[74] की पुनःस्थापना करने के लिए तथा आस्ट्रिया के आगे घुटने टेकने के लिए विवश करते हुए उसका इतना अपमान किया जितना पहले कभी नहीं हुआ था। पहली नज़र में तो यह प्रतीत हुआ कि क्रान्ति का एकमात्र फल आस्ट्रिया तथा प्रशा में बाह्य रूप से संवैधानिक परन्तु सार रूप से पुरानी प्रणाली की स्थापना है तथा रूसी ज़ार यूरोप का पहले किसी भी समय की तुलना में कहीं बड़ा स्वामी बन गया है।

परन्तु वस्तुतः क्रान्ति ने उन देशों में भी, जिनका अंग-भंग हो चुका था, विशेष रूप से जर्मनी में, पूंजीपति वर्ग को झटका देकर परम्परागत लीक से हटा दिया। उसे राजनीतिक सत्ता का एक अंश मिला भले ही वह बहुत मामूली था। और पूंजीपति वर्ग की प्रत्येक राजनीतिक सफलता औद्योगिक उन्नति के लिए इस्तेमाल की जाती है। "पागलपनभरे वर्ष"[75] ने, जो सुखद रूप से समाप्त हो चुका था, पूंजीपति वर्ग को सुस्पष्ट रूप से दिखा दिया कि पुरानी अकर्मण्यता तथा उदासीनता को सदा-सर्वदा के लिए ख़त्म करना होगा। कैलिफ़ोर्नियाई तथा आस्ट्रेलियाई स्वर्ण-वर्षा[76] तथा अन्य परिस्थितियों के फलस्वरूप विश्व व्यापार सम्बन्धों तथा तिजारत में अभूतपूर्व तेज़ी आयी–ज़रूरत केवल इस

बात की थी कि सुअवसर हासिल कर अपना हिस्सा सुनिश्चित किया जाये। बड़े पैमाने का उद्योग, जिसका १८३० में तथा विशेष रूप में १८४० में राइन, सैक्सोनी, साइलेशिया, बर्लिन तथा दक्षिण के कुछ नगरों में आविर्भाव हो चुका था, अब बड़ी तेज़ी से विकसित हो रहा तथा फैल रहा था; देहाती इलाक़ों में कुटीर उद्योग अधिकाधिक व्यापक होता जा रहा था, रेलवे लाइनें बिछाने का काम तेजी पकड़ रहा था जबकि अत्यधिक उत्प्रवास ने एक ट्रांस-अटलांटिक जहाज़रानी सेवा का निर्माण कर दिया जिसे किसी प्रकार की आर्थिक सहायता की आवश्यकता नहीं थी। जर्मन व्यापारी पहले की तुलना में कहीं बड़े पैमाने पर सारे सागरपार व्यापार केन्द्रों में बस गये, विश्व व्यापार में उनका हिस्सा बढ़ गया और वे अंग्रेज़ी ही नहीं, वरन् जर्मन औद्योगिक उत्पादों की बिक्री के लिए भी धीरे-धीरे अपनी सेवाएं प्रस्तुत करने लगे।

परन्तु छोटे-छोटे राज्यों की जर्मन प्रणाली तथा उनके अनेकानेक और विविध प्रकार के व्यापारिक तथा औद्योगिक क़ानून ज़ोरदार ढंग से विकसित हो रहे उद्योग और उससे संलग्न व्यापार के पांवों में शीघ्र अनिवार्यतः असह्य बेड़ी बन गये। हर चन्द मील के बाद हुंडियों का दूसरा क़ानून होता था, व्यापार की शर्तें भिन्न होती थीं, सर्वत्र हर तरह की धोखाधड़ी, नौकरशाही तथा वित्तीय फन्दे और अक्सर ऐसे गिल्ड-अवरोध थे जिनके विरुद्ध पेटेंट भी बेकार साबित होते थे! इसके अलावा बसने के बारे में कई स्थानीय क़ानून तथा रिहायशी पाबन्दियां थीं जिन्होंने पूंजीपतियों के लिए अपने पास मौजूद श्रम-शक्ति को पर्याप्त संख्या में वहां स्थानान्तरित करना असम्भव बना दिया था जहां खनिज धातुओं, कोयले, जल-ऊर्जा तथा अन्य प्राकृतिक अवस्थाओं की उपलब्धि के कारण औद्योगिक प्रतिष्ठानों की स्थापना करना आसान था। औद्योगिक विकास की पहली शर्त थी देश की श्रम-शक्ति का बड़े पैमाने पर तथा निर्बाध रूप में इस्तेमाल। परन्तु जहां कहीं देशभक्त मैनुफ़ैक्चरर ने तमाम भागों के मज़दूरों को जमा किया, पुलिस तथा दरिद्र प्रशासन ने नवागन्तुकों को बसाने का विरोध किया। सर्व-जर्मन नागरिक अधिकार, देश के तमाम नागरिकों के लिए स्थानान्तरण की पूर्ण स्वतंत्रता, एक ही वाणिज्यिक तथा औद्योगिक क़ानून – ये चीज़ें अब उमंगभरे छात्रों की देशभक्तिपूर्ण कल्पनाएं मात्र नहीं रह गयी थीं, वे तो उद्योग के लिए जीवन्त शर्त बन चुकी थीं।

इसके अलावा प्रत्येक राज्य की – वह चाहे कितना ही छोटा क्यों न रहा हो – अपनी मुद्रा, अपने तौल-माप हुआ करते थे, यही नहीं, बहुधा एक राज्य में भी

ये दो या तीन क़िस्म के होते थे। अनगिनत क़िस्म के इन सिक्कों, तौल-मापों में से एक को भी विश्व मंडी में मान्यता प्राप्त नहीं थी। इसलिए आश्चर्य की बात ही क्या है कि उन व्यापारियों तथा मैनुफ़ेक्चररों को, जो विश्व मंडी में व्यापार करते थे अथवा जिन्हें आयातित वस्तुओं के साथ होड़ करनी पड़ती थी, अपने यहां के नाना प्रकार के सिक्कों तथा तौल-मापों के अलावा विदेशी सिक्कों तथा तौल-मापों का भी उपयोग करना पड़ता था; कि सूती धागे आंग्ल पौंड में तोले जाते थे; रेशमी वस्त्रों को मीटरों में मापा जाता था; विदेशी हुंडियां पौंड स्टर्लिंग, डालर और फ़्रांक में वसूल की जाती थीं। तो फिर इन सीमित मुद्रा-क्षेत्रों में बड़े साख संस्थान कैसे स्थापित किये जा सकते थे जबकि यहां बैंक-नोट गुल्डेन, वहां प्रशियाई टालर, फिर स्वर्ण टालर, "नये दो तिहाई" टालर, बैंक मार्क, करेंट मार्क, बीस-गुल्डेन प्रणाली, चौबीस-गुल्डेन प्रणाली – असीमित विनिमय संगणनों तथा दरों की घट-बढ़ के साथ – प्रचलित थे?

और यदि इन सब पर अन्ततः क़ाबू पा भी लिया जाता तो इन सारे कलहों पर कितनी शक्ति लगती, कितना धन तथा समय ज़ाया जाता! अन्ततः जर्मनी में भी लोगों ने अनुभव कर लिया कि अब समय ही धन है।

नवजात जर्मन उद्योग को विश्व मंडी की परीक्षा में उत्तीर्ण होना था; वह केवल निर्यात के ज़रिये ही बढ़ सकता था। इसके लिए जरूरी था कि वह देश के बाहर अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की सुरक्षा का उपभोग करे। अंग्रेज़, फ़्रांसीसी तथा अमरीकी व्यापारी अपने देश की तुलना में विदेशों में ज़्यादा स्वच्छन्दता बरत सकते थे। उसकी ओर से उसके दूतावास और जरूरत पड़ने पर उसके चन्द सैनिक जहाज़ भी हस्तक्षेप किया करते थे। परन्तु जर्मन! निकट पूर्व में आस्ट्रियाई कुछ हद तक अपने दूतावास पर निर्भर कर सकते थे परन्तु अन्यत्र इससे भी बहुत मदद नहीं मिलती थी। परन्तु किसी दूसरे देश में कोई प्रशियाई व्यापारी अगर अपने देश के राजदूत से अपने ऊपर हुए अन्याय की शिकायत करता तो उससे हमेशा यही कहा जाता, "तुम इसी लायक़ हो, यहां तुम क्या चाहते हो? आराम से अपने देश में क्यों नहीं रहते?" छोटे-से राज्य का प्रजाजन सर्वत्र सारे अधिकारों से वंचित था। जर्मन व्यापारी जहां कहीं भी गये, वे विदेशी – फ़्रांसीसी, अंग्रेज़ या अमरीकी – संरक्षण में आते थे। अन्यथा वे जल्दी-जल्दी अपनी नयी मातृभूमि के नागरिक बन जाते।* यदि उनके राजदूत उनकी ओर से हस्तक्षेप

---

*यहीं एंगेल्स ने हाशिये पर «Weerth» शब्द लिखा। – सं०

करना भी चाहते, तो उसका लाभ क्या होता? विदेशों में जर्मन राजदूतों के साथ बूटपालिश करनेवालों से बेहतर बर्ताव नहीं होता था।

इससे पता चलता है कि संयुक्त "पितृभूमि" की कामना की काफ़ी भौतिक पृष्ठभूमि थी। यह वार्टबर्ग उत्सव[77] में जर्मन छात्र संघ के किसी सदस्य की धुंधली आकांक्षा भी नहीं थी जहां "जर्मन आत्माओं के अन्दर प्रचंड उत्साह की लौ देदीप्यमान् थी" और जहां किसी फ़्रांसीसी धुन में गाये जानेवाले गीत के अनुसार "नौजवान पितृभूमि के लिए लड़ने तथा अपने प्राण न्यौछावर करने की अदम्य आकांक्षा के वशीभूत था"* ताकि उद्वेलित मध्य युगों की रोमांटिक शाही शान को फिर से वापस लाया जा सके, – जबकि यह प्रचंड उत्साही नौजवान उम्र ज्यादा हो जाने पर साधारण पाखंडी तथा अपने राजा का निरपेक्षवादी भृत्य बन जाता था। अब यह उन वकीलों तथा हैम्बाख़ उत्सव[78] के अन्य जोशीले पूंजीवादी सिद्धान्तकारों की एकता के लिए पहले से अधिक व्यावहारिक आह्वान भी नहीं रह गया था जिन्होंने सोचा कि वे स्वतंत्रता तथा एकता को स्वयं उनकी ही ख़ातिर प्यार करते हैं और जिन्होंने यह देखा ही नहीं कि स्विस ढर्रे पर जर्मनी का विभाजन, – उनमें से कम मूढ़मति लोगों का आदर्श – उसी तरह असम्भव है जिस तरह ऊपर वर्णित छात्रों का होहेनस्टाउफ़ेन साम्राज्य था। नहीं, यह तो व्यवहारपटु व्यापारियों तथा उद्योगपतियों की आकांक्षा थी जिसे इतिहास से विरासत में मिले सारे छोटे-छोटे राज्य रूपी कचरे को, जो वाणिज्य तथा उद्योग के मुक्त विकास की राह में बाधक बन रहा था, हटाने की, इन सारे अनावश्यक वैमनस्यों को मिटाने की तात्कालिक व्यापारिक आवश्यकताएं जन्म दे रही थीं जिन पर जर्मन व्यापारी को – यदि वह विश्व मंडी में प्रवेश करना चाहता था – अपने देश में क़ाबू पाना पड़ता था और जिनसे उसके सारे प्रतियोगी मुक्त थे। जर्मन एकता आर्थिक आवश्यकता बन गयी थी। जो लोग अब इसकी मांग कर रहे थे, वे जानते थे कि वे क्या चाहते हैं। वे व्यापार में और व्यापार के लिए प्रशिक्षित हुए थे, वे जानते थे कि कैसे सौदेबाज़ी की जाती है तथा वे सौदेबाज़ी के लिए तैयार थे। वे जानते थे कि ऊंची क़ीमत मांगना आवश्यक है परन्तु उसे उदारतापूर्वक घटाना भी आवश्यक है। वे स्टीरिया, टिरोल तथा "सम्मान तथा विजयों से समृद्ध आस्ट्रिया"** समेत 'जर्मन पितृभूमि' के गीत और यह भी गाते थे –

---

*दोनों उद्धरण हिंकेल की 'संघ का गीत' कविता से लिये गये हैं। – सं०

**आर्नड्त की कविता 'जर्मन पितृभूमि' से। – सं०

मास से मेमेल तक,
आदिगे नदी से बेल्ट तक,
जर्मनी सर्वोपरि है
संसार में सर्वोपरि है।*

परन्तु नक़द भुगतान किये जाने की दशा में वे उस पितृभूमि पर जिसे और भी बृहत्तर होना था,** काफ़ी छूट – २५ से ३० प्रतिशत तक – देने के लिए तैयार थे। एकीकरण की उनकी योजना तैयार तथा तात्कालिक रूप से व्यवहार्य थी।

परन्तु जर्मन एकता विशुद्धतया जर्मन प्रश्न नहीं थी। तीसवर्षीय युद्ध[79] के बाद कोई भी सर्वजर्मन प्रश्न बिना किसी प्रत्यक्ष विदेशी हस्तक्षेप के तय नहीं हुआ था।*** फ्रेडरिक द्वितीय ने फ़्रांसीसी सहायता से १७४० में सिलेशिया जीता था। शाही प्रतिनिधि समिति द्वारा १८०३ में पवित्र रोमन साम्राज्य का पुनर्गठन अक्षरशः फ़्रांस तथा रूस के आदेश पर किया गया था[81]। उसके बाद नेपोलियन ने जर्मनी को अपनी सुविधा के अनुसार संगठित किया था। और अन्ततः वियेना कांग्रेस में**** सबसे पहले रूस के तथा फिर इंगलैंड और फ़्रांस के प्रभाव में जर्मनी को दो सौ से अधिक छोटी-बड़ी जागीरों समेत ३६ राज्यों में विखंडित किया गया था तथा रेगेन्सबुर्ग में १८०२–१८०३ की राइख़स्टाग[82] की ही तरह जर्मन राजाओं ने निष्ठापूर्वक इसमें मदद दी तथा विभाजन को और विषम बना दिया। इसके अलावा जर्मनी के कुछ भाग विदेशी सम्राटों को सौंप दिये गये। इस प्रकार आन्तरिक कलहों से ग्रस्त, राजनीतिक, सैनिक, यही नहीं, औद्योगिक नगण्यता की स्थिति में पहुंचा दिया गया जर्मनी केवल अशक्त तथा असहाय ही नहीं था; इससे भी कहीं बुरी बात यह थी कि फ़्रांस तथा रूस ने निरन्तर व्यवहार द्वारा जर्मनी के विभाजन का उसी तरह अधिकार हस्तगत कर लिया जिस तरह फ़्रांस तथा आस्ट्रिया ने इटली को विभाजित स्थिति में रखने का अधिकार अपने लिए हासिल कर लिया था। यह कथित अधिकार ज़ार निकोलाई ने १८५० में इस्तेमाल

*हाफ़मैन फ़ॉन फ़ालेर्स्लेबेन की रचना 'जर्मन गीत' से। – सं०

** देखें आर्नड्त की कविता 'जर्मन पितृभूमि'। – सं०

*** यहां एंगेल्स ने हाशिये पर पेंसिल से लिखा – "वेस्तफ़ेलियाई तथा तेशेन संधि"[80]। – सं०

**** यहां एंगेल्स ने पेंसिल से पंक्तियों के बीच लिखा – "जर्मनी – पोलैंड"। – सं०

किया जब उसने संविधान में कोई भी मनमाना परिवर्तन करने की सरासर मनाही कर संघीय संसद को, जो जर्मनी की नपुंसकता का द्योतक थी, पुनः-स्थापित कराया।

इसलिए जर्मनी की एकता जर्मन राजाओं तथा अन्य आन्तरिक शत्रुओं के विरुद्ध ही नहीं, वरन् विदेशों के विरुद्ध भी संघर्ष करके ही हासिल की जा सकती थी। या फिर विदेशों की सहायता से। पर उस समय जर्मनी के बाहर स्थिति क्या थी?

फ़्रांस में लूई बोनापार्त पूंजीपति वर्ग तथा मज़दूर वर्ग के बीच संघर्ष का लाभ उठाकर किसानों की सहायता से राष्ट्रपति पद और सेना की सहायता से सिंहासन पर बैठ गया था। परन्तु एक नया नेपोलियन, जिसे सेना ने १८१५ की फ़्रांस की सीमाओं के अन्दर सिंहासन पर बिठाया था – मृतजात विचार था। फिर से जन्मा नेपोलियनीय साम्राज्य का अर्थ था फ़्रांस का राइन तक विस्तार, फ़्रांसीसी अन्धराष्ट्रवाद के पुश्तैनी सपने की पूर्ति। परन्तु शुरू में राइन लूई बोनापार्त की पहुंच से बाहर था: उस दिशा में किसी भी यत्न के फलस्वरूप फ़्रांस के विरुद्ध यूरोपीय गठबंधन क़ायम हो जाता। इस बीच लगभग पूरे यूरोप की सहमति से रूस के विरुद्ध, जिसने पश्चिमी यूरोप में क्रान्तिकारी अवस्था का लाभ उठाकर चुपचाप डैन्यूब की रियासतों पर क़ब्ज़ा कर लिया था तथा तुर्की के विरुद्ध एक नये आक्रमणकारी युद्ध की तैयारी की थी, लड़ाई छेड़कर फ़्रांस की प्रतिष्ठा बढ़ाने तथा सेना के लिए ख्याति अर्जित करने का एक सुअवसर सामने आया। ब्रिटेन ने फ़्रांस के साथ सहबंध स्थापित किया, आस्ट्रिया ने दोनों के प्रति सद्भावना प्रकट की, अकेला बहादुर प्रशा ही रूसी डंडे को, जिसने, कल ही उसकी पिटाई की, चूमता रहा तथा रूसियों के प्रति मैत्रीपूर्ण तटस्थता अपनाये रहा। परन्तु ब्रिटेन या फ़्रांस में से कोई भी यह नहीं चाहता था कि दुश्मन की बुरी तरह हार हो। इस तरह आस्ट्रिया के विरुद्ध रूसी-फ़्रांसीसी सहबंध तथा रूस के लिए थोड़े अपमान के साथ युद्ध का अन्त हो गया।*

---

*क्रीमियाई युद्ध[83] बेमिसाल भूलों की कामेडी था जिसमें हर नये दृश्य पर लोग सोचते थे – इस बार कौन ठगा जानेवाला है? परन्तु वह कामेडी अकूत सम्पदा तथा १० लाख से ज्यादा इन्सानों की ज़िंदगी ले बैठी। युद्ध शुरू हुआ ही था कि आस्ट्रिया ने डैन्यूब की रियासतों पर चढ़ाई कर दी; रूसी आस्ट्रियाइयों के मुक़ाबले में पीछे हट गये। इससे रूस की स्थल सीमा पर तुर्की के विरुद्ध युद्ध

क्रीमियाई युद्ध ने फ़्रांस को यूरोप की अग्रणी शक्ति और जोखोंबाज़ लूई नेपोलियन को उस समय वीर-पुरुष बना दिया जिसका वैसे कोई ख़ास मतलब नहीं था। परन्तु क्रीमियाई युद्ध से फ़्रांस का क्षेत्रीय विस्तार नहीं हुआ, इसलिए उसके गर्भ में नया युद्ध मौजूद था जिसमें लूई नेपोलियन को अपने सच्चे मिशन की, "साम्राज्य के विवर्धक"* के मिशन की पूर्त्ति करनी थी। पहले युद्ध की

तब तक असम्भव हो गया जब तक आस्ट्रिया तटस्थ रहता। परन्तु आस्ट्रिया इस सीमा पर युद्ध में साथी बनने के लिए तैयार था बशर्ते पोलैंड की पुनःस्थापना करने तथा रूस की पश्चिमी सीमाओं को काफ़ी लम्बे अर्से तक पीछे करने के लिए युद्ध पूरी संजीदगी से किया जाता। तब प्रशा भी इसकी लपेट में आ जाता जिसके माध्यम से रूस अब भी अपना सारा आयात प्राप्त कर रहा था; स्थल तथा सागर से रूस की नाकाबन्दी हो गयी होती और वह जल्द पराजित हो जाता। परन्तु मित्रराष्ट्रों की योजनाओं में ये सब बातें नहीं थीं। इसके विपरीत, उन्हें ख़ुशी थी कि वे एक गम्भीर युद्ध की लपेट में आने से बच निकले हैं। पामर्स्टन ने युद्ध-कार्रवाइयां क्रीमिया को स्थानान्तरित करने का – और यही रूस चाहता था – प्रस्ताव किया तथा लूई नेपोलियन ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। यहां युद्ध तो क्या नक़ली लड़ाई होती जिससे प्रमुख भागीदार सन्तुष्ट हो जाते। परन्तु ज़ार निकोलाई ने इस युद्ध को अत्यन्त गम्भीर कार्रवाई के रूप में देखा और वह भूल गया कि यह देश नक़ली लड़ाई के लिए अनुकूल है, गम्भीर युद्ध के लिए बिल्कुल नहीं। रक्षा के मामले में रूस की शक्ति – उसका विशाल क्षेत्रफल बहुत कम और बिखरी हुई आबादी, सड़कों का अभाव, आनुषंगिक साधनों की कमी – किसी भी आक्रमणात्मक युद्ध में स्वयं रूस के विरुद्ध लक्षित हो जाती है। और यह चीज़ जितनी क्रीमिया की दिशा पर लागू होती है, उतनी और कहीं नहीं। दक्षिण रूसी स्तेपियां, जिन्हें आक्रमणकारियों की क़ब्रें बनना था, स्वयं रूसी सेनाओं की क़ब्रें बन गयीं जिन्हें निकोलाई निर्ममतापूर्वक तथा घोर मूर्खता के साथ मध्य शिशिर काल तक सेवास्तोपोल में झोंकता रहा। जब जल्दी में भर्ती की गयी आख़िरी सेना, जो न तो अच्छी तरह शस्त्रास्त्रों से लैस थी और न जिसके लिए रसद की ठीक व्यवस्था की गयी थी, अपने लगभग दो-तिहाई सैनिक खो बैठी (पूरी की पूरी बटालियनें बर्फ़ीले तूफ़ानों में नष्ट हो गयी थीं) और बाक़ी टुकड़ियां दुश्मन को रूसी धरती से भगाने में विफल रहीं तो अहंकारी, मूर्ख निकोलाई बुरी तरह हिम्मत खो बैठा और ज़हर खाकर मर गया। तब युद्ध ने फिर नक़ली लड़ाई का रूप ग्रहण कर लिया और शीघ्र ही शान्ति संधि सम्पन्न हो गयी।

*एंगेल्स यहां «Mehrer des Reiches» शब्दों का प्रयोग करते हैं जो मध्य युग में पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राटों की उपाधि का एक भाग होता था। – **सं०**

लपटें धधक ही रही थीं कि नये युद्ध की तैयारी की जाने लगी क्योंकि सार्डिनिया को शाही फ़्रांस के पुच्छल्ले के रूप में, ख़ास तौर पर ग्रास्ट्रिया के विरुद्ध चौकी के रूप में पश्चिमी शक्तियों के सहबंध में शामिल होने दिया गया। फिर ग्रास्ट्रिया को सज़ा देने के इच्छुक रूस के साथ लूई नेपोलियन के समझौते द्वारा सम्पन्न शान्ति संधि [84] के दौरान इसकी भी तैयारी की गयी थी।

लूई नेपोलियन अब यूरोपीय पूंजीपति वर्ग का ग्राराध्य देव बन गया। सिर्फ़ इसी लिए नहीं कि उसने २ दिसम्बर १८५१ [85] को "समाज की रक्षा" की थी, जब उसने पूंजीपति वर्ग की सामाजिक प्रभुता को बचाने की ग़रज़ से उसकी राजनीतिक प्रभुता को नष्ट किया था; सिर्फ़ इसी लिए नहीं कि उसने यह सिद्ध किया कि ग्रनुकूल परिस्थितियों में सार्वजनिक मताधिकार को जनसाधारण पर ग्रत्याचार करने के साधन में बदला जा सकता है; सिर्फ़ इसी लिए नहीं कि उसके शासनान्तर्गत उद्योग तथा वाणिज्य, ख़ास तौर पर सट्टेबाज़ी तथा स्टाक-एक्सचेंजीय तिकड़में ग्रभूतपूर्ण पैमाने पर फूल-फल रही थीं। वरन् सर्वप्रथम तथा सर्वोपरि इसलिए कि पूंजीपति वर्ग ने उसमें एक ऐसे "महान राजनेता" के दर्शन किये जो उसका ग्रभिन्न ग्रंग था। वह हर पूंजीपति की ही तरह एक नया रईस था। इटली में "घाट-घाट का पानी पीनेवाला" षड्यंत्रकारी-कार्बोनारी, स्विट्ज़रलैंड में तोप-दस्ते का ग्रफ़सर, क़र्ज़ों के बोझ से लदा मार्के का ग्रावारा, इंगलैंड में विशेष कांस्टेबल [86] – फिर भी वह सिंहासन का बराबर दावेदार बना रहा। उसने ग्रपने दुस्साहसिकतापूर्ण ग्रतीत तथा तमाम देशों में नैतिक ग्रपमान के द्वारा ग्रपने को फ़्रांस के सम्राट, यूरोप के भाग्य-विधाता की भूमिका के लिए उसी तरह तैयार कर लिया था जिस तरह लाक्षणिक पूंजीपति – ग्रमरीकी – एक के बाद दूसरे, सच्चे ग्रौर धोखाधड़ीभरे दिवालियेपन के ज़रिए ग्रपने को करोड़पति की भूमिका के लिए तैयार करता था। सम्राट बनकर उसने राजनीति से पूंजीवादी मुनाफ़ों तथा स्टाक एक्सचेंज की तिकड़मों का हितसाधन ही नहीं कराया, ग्रपितु सर्वथा स्टाक एक्सचेंज के नियमों के ग्रनुसार राजनीति पर ग्रमल किया तथा "राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों की" सट्टेबाज़ी की। फ़्रांस की पुरानी राजनीति में जर्मनी तथा इटली का विभाजन फ़्रांस का ग्रविच्छेद्य मूलभूत ग्रधिकार था; लूई नेपोलियन ने तुरन्त तथाकथित हर्जानों के लिए इस मूल ग्रधिकार की फुटकर बिक्री शुरू कर दी। वह इटली तथा जर्मनी को ग्रपना विभाजन ख़त्म करने में मदद देने के लिए तैयार था बशर्ते जर्मनी तथा इटली उसे राष्ट्रीय एकता की दिशा में प्रत्येक पग की क़ीमत ग्रपने इलाक़े छोड़कर चुकायें। इससे फ़्रांसीसी

अंधराष्ट्रवाद की तुष्टि ही नहीं हुई और साम्राज्य १८०१ की सीमाओं तक[87] विस्तृत ही नहीं हुआ, अपितु इनके अतिरिक्त फ़्रांस को ज्ञानोद्दीप्त शक्ति और जनगण के मुक्तिदाता की विशिष्ट भूमिका और लूई नेपोलियन को उत्पीड़ित राष्ट्रों के रक्षक की भूमिका पुनः प्राप्त हो गयी। अब पूरे ज्ञानोद्दीप्त पूंजीपति वर्ग ने, जो विश्व मंडी में व्यापार की राह में से सारी बाधाएं मिटाने में आधारभूत रुचि रखने के कारण राष्ट्रीय विचारों से अधिक प्रेरित था, इस विश्व मुक्तिदायी ज्ञानोद्दीप्ति का सर्वसम्मति से स्वागत किया।

आरम्भ इटली में हुआ।* आस्ट्रिया का वहां १८४९ से एकच्छत्र राज्य था और उस समय वह पूरे यूरोप का बलि का बकरा था। क्रीमियाई युद्ध के तुच्छ परिणामों का कारण पश्चिमी शक्तियों की, जो केवल लड़ाई का स्वांग चाहते थे, डांवांडोल स्थिति को नहीं, वरन् आस्ट्रिया का ढुलमुल रुख़ बताया गया हालांकि इसके लिए जितना दोष स्वयं पश्चिमी शक्तियों का था, उतना और किसी का नहीं। आस्ट्रियाइयों की प्रुथ की ओर अग्रगति – १८४९ में हंगरी में रूसी सहायता के आभारस्वरूप – ने रूस को इतना क्लेश पहुंचाया (हालांकि ठीक उसी अग्रगति ने रूस को बचाया था) कि वह आस्ट्रिया पर हर आक्रमण से प्रसन्न हो रहा था। प्रशा को अब ध्यान में रखने की ज़रूरत नहीं थी और पेरिस शान्ति सम्मेलन[88] में उसे en canaille अप्रतिष्ठित किया जा चुका था। इस तरह "एड्रियाटिक तक" इटली की मुक्ति के लिए युद्ध, जिसका विचार रूस की शिरकत के साथ तैयार किया गया, १८५९ के वसन्त में आरम्भ किया गया तथा ग्रीष्मकाल में मिन्सिया में समाप्त कर दिया गया। आस्ट्रिया को इटली से बाहर नहीं खदेड़ा गया, इटली "एड्रियाटिक तक मुक्त" नहीं हुआ और संयुक्त नहीं हुआ, सार्डिनिया ने अपने इलाक़े का विस्तार किया परन्तु फ़्रांस को सैवोय तथा नाइस मिल गये और इस तरह उसने इटली के साथ अपनी १८०१ की सीमा पुनर्स्थापित कर दी[89]।

परन्तु इतालवी इस स्थिति से सन्तुष्ट नहीं थे। वहां मैनुफ़ेक्चर का बोलबाला था। बड़े पैमाने का उद्योग अभी शैशवावस्था में ही था। मज़दूर वर्ग का पूरी तरह सम्पत्तिहरण तथा सर्वहाराकरण अभी दूर था; शहरों में उसके पास अभी उत्पादन साधन मौजूद थे, ग्राम्य क्षेत्रों में औद्योगिक श्रम छोटे कृषि-स्वामी अथवा लगानदार का अभी गौण व्यवसाय था। इसलिए पूंजीपति वर्ग की स्फूर्ति को अभी

* एंगेल्स ने यहां हाशिये पर पेंसिल से "ओर्सिनी" शब्द लिखा।

आधुनिक वर्ग सचेत सर्वहारा भंग नहीं कर सका था। चूंकि इटली का विभाजन केवल आस्ट्रियाइयों के विदेशी शासन के, जिनके संरक्षण में राजाओं ने अपना कुशासन चरम बिन्दु पर पहुंचा दिया था, फलस्वरूप क़ायम था, इसलिए बड़े भू-स्वामी अभिजातों तथा शहरों के जनसमुदाय ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता के पक्षधर के रूप में पूंजीपति वर्ग का साथ दिया। परन्तु १८५९ में वेनिस को छोड़कर बाक़ी सब जगह विदेशी शासन का जूआ उतार फेंक दिया गया था; इटली में आस्ट्रिया का आगे हस्तक्षेप फ़्रांस तथा रूस ने असम्भव बना दिया था तथा अब इससे कोई भी भयभीत नहीं था। गैरीबाल्डी के रूप में इटली को प्राचीन सांचे का नायक मिल गया था जो चमत्कार कर सकता था और जिसने वस्तुतः चमत्कार किये। एक हज़ार स्वयंसेवकों को लेकर उसने पूरे नेपल्स राज का तख़्ता उलट दिया, वस्तुतः इटली को संयुक्त कर दिया और बोनापार्तपंथी राजनीति के कृत्रिम जाल के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। इटली स्वतंत्र तथा वास्तव में संयुक्त हो गया, परन्तु लूई नेपोलियन की साज़िशों से नहीं, वरन् क्रान्ति से।

इतालवी युद्ध के बाद से द्वितीय साम्राज्य की विदेश नीति किसी के लिए रहस्य नहीं रही। महान नेपोलियन के विजेताओं को दंडित किया जाना था परन्तु l'un après l'autre – एक-एक कर। रूस तथा आस्ट्रिया को अपना-अपना हिस्सा मिल गया था, अब बारी प्रशा की थी। प्रशा से पहले से कहीं अधिक घृणा की जाती थी; १७९५ की बाज़ेल शान्ति संधि[90] के समय की ही तरह इतालवी युद्ध के दौरान भी उसकी नीति कायरतापूर्ण और दयनीय थी। अपनी "मुक्त हस्त नीति"[91] के बल पर प्रशा यूरोप में पूरी तरह अलगाव की स्थिति में पहुंच चुका था तथा उसके छोटे-बड़े सभी पड़ोसी हर्षपूर्वक उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे जब उसके टुकड़े-टुकड़े कर उसका अस्तित्व मिटा दिया जायेगा; उसके हाथ केवल एक बात के लिए स्वतंत्र थे – राइन का बायां तट फ़्रांस के हवाले करने के लिए।

वस्तुतः १८५९ के बाद के प्रथम वर्षों में यह आस्था सर्वत्र – और सर्वोपरि राइन में – मज़बूत होती गयी कि राइन के बायें तट का फ़्रांस के हवाले किया जाना रोका नहीं जा सकता। इसलिए नहीं कि इसकी ख़ास तौर पर इच्छा रही हो, बल्कि इसे तो अनिवार्य माना जा रहा था। और सच तो यह है कि इससे कोई ख़ास डर भी नहीं था। किसानों तथा निम्नपूंजीपतियों में फ़्रांसीसी ज़माने की, जिसकी बदौलत उन्हें वास्तव में स्वतंत्रता मिली थी, पुरानी यादें ताज़ा की गयीं; पूंजीपति वर्ग में वित्तीय अभिजात वर्ग – ख़ास तौर पर कोलोन में

पेरिस की «Crédit Mobilier»[92] तथा धोखाधड़ी करनेवाली अन्य बोनापार्तपंथी कम्पनियों की तिकड़मों में बुरी तरह उलझा हुआ था और गला फाड़-फाड़कर अधिनहन की मांग कर रहा था।*

परन्तु राइन के बायें तट के हाथ से निकल जाने से केवल प्रशा ही नहीं, वरन् जर्मनी भी कमज़ोर हो जाता। और जर्मनी पहले से कहीं अधिक विभक्त था। इतालवी युद्ध में प्रशा की तटस्थता के कारण प्रशा तथा आस्ट्रिया के बीच पहले से कहीं अधिक मनमुटाव था; छोटे राजाओं का झुंड कुछ-कुछ डरी-सहमी तथा कुछ-कुछ ललचायी दृष्टि से लूई नेपोलियन को नवीकृत राइनी महासंघ[93] के रक्षक के रूप में देख रहा था। ऐसी थी अधिकृत जर्मनी की स्थिति। और यह भी ऐसे वक़्त जब पूरे राष्ट्र की संयुक्त शक्तियां ही अंगच्छेदन रोक सकती थीं।

परन्तु पूरे राष्ट्र की शक्तियां कैसे ऐक्यबद्ध की जातीं? १८४८ के प्रयत्नों की—जो प्रायः सभी धुंधले से थे—विफलता के बाद तथा ठीक इसी कारण कुछ धुंध के मिटने के बाद केवल तीन रास्ते सामने थे।

पहला रास्ता था तमाम पृथक्-पृथक् राज्यों को मिटाकर वास्तविक एकीकरण, अर्थात् खुला क्रान्तिकारी रास्ता। इस रास्ते ने अभी-अभी इटली को अपने लक्ष्य तक पहुंचाया था; सैवोय राजवंश क्रान्ति में शामिल हो गया था और इस तरह उसने इतालवी राजमुकुट प्राप्त कर लिया था। परन्तु हमारे जर्मन सैवोयाई, होहेनज़ालर्न, यही नहीं उनके बिस्मार्क मार्का सबसे साहसी कवूर भी इस तरह का साहसपूर्ण पग उठाने में बिल्कुल असमर्थ रहे। सब कुछ जनता को करना पड़ता—और राइन के बायें तट के लिए लड़ाई में जो कुछ ज़रूरी होता, वह उसे निस्सन्देह कर पाती। प्रशियाइयों का राइन के पार अनिवार्यतः पीछे हटना, राइन पर क़िलों की देर तक घेरेबन्दी, इसके बाद दक्षिण जर्मन राजाओं द्वारा निस्सन्देह की जानेवाली ग़द्दारी—यह सब एक ऐसे राष्ट्रीय आन्दोलन को भड़काने के लिए काफ़ी होता जो पूरी विद्यमान राजवंशीय प्रणाली का सफ़ाया कर देता। उस हालत में लूई नेपोलियन सबसे पहले तलवार म्यान में रख लेता। द्वितीय साम्राज्य केवल प्रतिक्रियावादी राज्यों को ही विरोधी बना सकता था, जिनके मुक़ाबले

* मार्क्स तथा मैंने कई बार राइन में यह आम रुझान पाया। बायें तट वाले उद्योगपतियों ने अन्य बातों के अलावा यह भी पूछा कि फ़ांसीसी सीमाशुल्क टैरिफ़ के अन्तर्गत आने से उनके उद्योग की स्थिति कैसी रहेगी।

में वह अपने को फ़ांसीसी क्रान्ति को जारी रखनेवाले, जनगण के मुक्तिदाता के रूप में अपने को पेश कर सकता था। वह क्रान्ति करनेवाली जनता के मुक़ाबले में असहाय था; दरअसल विजयी जर्मन क्रान्ति पूरे फ़्रांसीसी साम्राज्य का तख़्ता उलटने के लिए प्रेरणा दे सकती थी। यह सबसे अनुकूल घटनाप्रवाह की दशा में होता; यदि वह प्रतिकूल होता और राजा आन्दोलन पर क़ाबू पा लेते तो राइन का बायां तट अस्थायी रूप से फ़्रांस के हवाले कर दिया जाता, राजाओं की सक्रिय या निष्क्रिय ग़द्दारी पूरी दुनिया के सामने प्रकट हो जाती और एक ऐसी संकटपूर्ण स्थिति पैदा हो जाती कि जर्मनी के लिए क्रान्ति करने, तमाम राजाओं को भगा देने तथा संयुक्त जर्मन जनतंत्र की स्थापना करने के अलावा और कोई रास्ता नहीं रह जाता।

उस समय की परिस्थितियों को देखते हुए जर्मनी के एकीकरण का यह रास्ता तब ही अपनाया जा सकता था जब नेपोलियन ने राइन नदी पर सीमा स्थापित करने का युद्ध शुरू किया होता। परन्तु यह युद्ध नहीं हुआ। उसके कारणों को हम आगे बतायेंगे। साथ ही राष्ट्रीय एकीकरण का प्रश्न जीवन्त प्रश्न नहीं रह गया जिसे तबाही के ख़तरे के कारण तत्काल हल करना आवश्यक होता। फ़िलहाल राष्ट्र इन्तज़ार कर सकता था।

दूसरा रास्ता था आस्ट्रिया के प्रभुत्व के अन्तर्गत एकीकरण। आस्ट्रिया ने १८१५ में ठोस, सुनिश्चित रूप से गठित क्षेत्र वाले राज्य की जो उस पर नेपोलियनीय युद्धों ने थोपा था, स्थिति को स्वेच्छया बरक़रार रखा। उसने दक्षिण जर्मनी में अपने भूतपूर्व इलाक़ों पर, जो उससे अलग कर दिये गये थे, कोई दावा नहीं किया। वह उन पुराने तथा नये इलाक़ों का अधिनहन करने से सन्तुष्ट था जो राजतंत्र के भौगोलिक तथा सामरिक दृष्टि से अब भी विद्यमान केन्द्रक में ठीक बैठते थे। जर्मन आस्ट्रिया का शेष जर्मनी से पृथक्करण, जिसे जोज़ेफ़ द्वितीय के संरक्षण शुल्कों ने आरम्भ किया था, जिसे इटली में फ़ांज़ प्रथम के पुलिस राज ने विषम बना दिया था तथा जिसे जर्मन साम्राज्य के विघटन और राइन महासंघ के संस्थापन ने चरम सीमा पर पहुंचा दिया था, वस्तुतः १८१५ के बाद भी जारी रहा। मेट्टरनिख़ ने अपने राज्य तथा जर्मनी के बीच एक असल चीनी दीवाल खड़ी कर दी थी। प्रशुल्कों ने जर्मनी की भौतिक तथा सेंसरशिप ने बौद्धिक वस्तुओं को अन्दर नहीं घुसने दिया; पासपोर्ट की सर्वाधिक अविश्वसनीय प्रतीत होनेवाली औपचारिकताओं ने वैयक्तिक सम्पर्कों को न्यूनतम स्तर पर रखा। देश आन्तरिक रूप से किसी भी प्रकार के, क्षीणतम राजनीतिक

आन्दोलन तक से एक ऐसे निरंकुशतावादी शासन द्वारा सुरक्षित था, जो स्वयं जर्मनी तक के लिए अनुपम था। इस तरह आस्ट्रिया जर्मनी के पूरे पूंजीवादी-उदारतावादी आन्दोलन से बिल्कुल अलग-थलग रहा। १८४८ तक कम से कम बौद्धिक बाधाएं काफ़ी बड़े पैमाने पर दूर हो गयी थीं। परन्तु उस वर्ष की घटनाएं और उनके परिणाम आस्ट्रिया को शेष जर्मनी के अधिक निकट लाने में योग देने में समर्थ नहीं थे। इसके विपरीत आस्ट्रिया एक महान स्वतंत्र शक्ति होने का अधिकाधिक दम भरने लगा। इस तरह हुआ यह कि यद्यपि जर्मन महासंघ के दुर्गों[94] में आस्ट्रियाई सैनिकों को पसन्द किया जाता था जबकि प्रशियाइयों से नफ़रत की जाती थी तथा उनका मखौल उड़ाया जाता था, यद्यपि आस्ट्रिया का पूरे दक्षिण तथा पश्चिम में, जहां कैथोलिकों की प्रधानता थी, सम्मान होता था, फिर भी शायद छोटे तथा मध्यम जर्मन राज्यों के चन्द राजाओं को छोड़कर कोई भी आस्ट्रिया के प्रभुत्व के अन्तर्गत जर्मनी के एकीकरण की बात संजीदगी से नहीं सोचता था।

अन्यथा हो भी नहीं सकता था। आस्ट्रिया भी इसे किसी और रूप में नहीं चाहता था हालांकि वह अपने मन में चुपचाप साम्राज्य के रोमांटिक सपने संजोये हुए था। आस्ट्रियाई सीमाशुल्क अवरोध जर्मनी में एकमात्र भौतिक अवरोध रह गया था और इसलिए वह आंखों को और ज्यादा खटकने लगा था। यदि स्वतंत्र महान शक्तिवादी नीति का अर्थ जर्मन हितों की विशिष्ट रूप से आस्ट्रियाई हितों, अर्थात् इतालवी, हंगेरियाई, आदि हितों के आगे बलि नहीं था, तो फिर उसका कोई भी अर्थ नहीं था। क्रान्ति से पहले की तरह बाद में भी आस्ट्रिया जर्मनी में सबसे प्रतिक्रियावादी राज्य, आधुनिक प्रवृत्तियों का अनुसरण करने में सबसे अनिच्छुक राज्य और इसके अलावा एकमात्र बचा-खुचा विशिष्ट कैथोलिक महाशक्ति बना रहा। मार्च के बाद की सरकार[95] ने पादरियों तथा जेसुटों की पुरानी व्यवस्था को पुनःस्थापित करने की जितना ज्यादा कोशिश की, उसका ऐसे देश पर प्राधान्य उतना ही असम्भव होता गया जिसकी एक-दो तिहाई तक आबादी प्रोटेस्टेंटों की थी। अन्ततः आस्ट्रिया की प्रधानता में जर्मनी का एकीकरण प्रशा को पैरों तले रौंदने के फलस्वरूप ही सम्भव था। यद्यपि स्वयं जर्मनी के लिए यह कोई दुर्घटना न होती, फिर भी आस्ट्रिया द्वारा प्रशा को परास्त किया जाना उतना ही हानिकर होता जितना रूस में क्रान्ति की आसन्न विजय से पूर्व प्रशा द्वारा आस्ट्रिया को परास्त किया जाना (जिसके बाद वह अनावश्यक हो जाता क्योंकि तब अनावश्यक हो जानेवाला आस्ट्रिया स्वयं विघटित हो जाता)।

संक्षेप में आस्ट्रिया की प्रधानता में जर्मन एकता एक रोमांटिक सपना था और वह ऐसा ही सिद्ध हुआ जब छोटे तथा मध्यम राज्यों के जर्मन राजा १८६३ में फ्रैंकफ़ुर्ट में आस्ट्रिया के फ़्रांज़-जोज़ेफ़ को जर्मनी का सम्राट घोषित करने के लिए एकत्र हुए। प्रशा का राजा* वहां आया ही नहीं तथा यह कामेडी बुरी तरह टांय-टांय फिस होकर रह गयी।

बचा रह गया था तीसरा रास्ता – प्रशा की प्रधानता में एकीकरण। चूंकि वस्तुतः यही रास्ता अपनाया गया था, इसलिए वह हमें मानसिक चिन्तन के क्षेत्र से व्यावहारिक «Realpolitik»[96] के अधिक ठोस – भले ही अधिक गन्दे – क्षेत्र में ले जाता है।

फ़्रेडरिक द्वितीय के ज़माने से ही प्रशा जर्मनी और साथ ही पोलैंड को भी विजयार्थ ऐसा क्षेत्र मात्र मानता आया था जिससे जो सम्भव है, छीना जा सकता है – परन्तु इस समझदारी के साथ कि उसमें से दूसरों को हिस्सा देना होगा। दूसरे देशों के साथ, ख़ास तौर पर फ़्रांस के साथ जर्मनी का बंटवारा करना – यही १७४० से लेकर प्रशा का "जर्मन मिशन" था। «Je vais, je crois, jouer votre jeu; si les as me viennent, nous partagerons» (मेरा ख़्याल है कि मैं आपकी चाल चलने जा रहा हूं, यदि तुरुप मेरे हाथ लग गया तो हम उसमें भागीदार बनेंगे) – ये थे फ़्रांसीसी राजदूत** से विदाई लेते समय फ़्रेडरिक के शब्द जब वह अपने पहले सैनिक अभियान पर रवाना हुआ।[97] इस "जर्मन मिशन" के अनुरूप प्रशा ने १७९५ में बाज़ेल शान्ति संधि पर हस्ताक्षर के समय जर्मनी को बेच डाला जब वह क्षेत्रीय विवर्द्धन के वचन के बदले राइन के बायें तट को पहले ही (५ अगस्त १७९६ की संधि) सौंपने के लिए सहमत हो गया था और उसने रूस तथा फ़्रांस के आदेश पर शाही प्रतिनिधि सभा के एक निर्णय के अन्तर्गत अपनी ग़द्दारी का वस्तुतः पुरस्कार हासिल किया। १८०५ में उसने फिर अपने मित्र राष्ट्रों के साथ, रूस और आस्ट्रिया के साथ, ग़द्दारी की जब नेपोलियन ने उसके आगे हैनोवर रूपी चारा फेंका – यह चारा चुगने के लिए प्रशा हमेशा तैयार रहता था, – परन्तु इस बार वह अपनी मूर्खतापूर्ण चालाकी में इस बुरी तरह फंसा कि उसका सचमुच नेपोलियन के साथ युद्ध हो गया और इसका उसे येना में समुचित दंड मिला[98]।

---

* विल्हेल्म प्रथम। – सं०

** बोव्वो। – सं०

इन प्रहारों का असर अभी मिटा भी नहीं था, और फ़्रेडरिक-विल्हेल्म तृतीय १८१३ तथा १८१४ की विजयों के बाद भी तमाम पश्चिम जर्मन चौकियों को छोड़ने, अपने को उत्तर-पूर्वी जर्मनी के अधिकृत क्षेत्रों तक सीमित रखने, आस्ट्रिया की ही तरह जर्मनी से अधिक से अधिक पीछे हटने के लिए तैयार हो गया – इससे पूरा पश्चिम जर्मनी रूसी या फ़्रांसीसी संरक्षण में नये राइन महासंघ में परिणत हो जाता। योजना विफल हो गयी: वेस्टफ़ेलिया तथा राइन प्रान्त और उनके साथ एक नया "जर्मन मिशन" भी राजा पर उसकी इच्छा के विरुद्ध थोप दिया गया।

फ़िलहाल अधिनहनों का दौर ख़त्म हो गया – सिवाय छोटे-छोटे भू-खंडों की ख़रीद के। देश में पुरानी नौकरशाही युंकर प्रणाली फिर फूलने-फलने लगी; घोर तनाव के समय संविधान के सम्बन्ध में जनता को दिये गये वचन निरन्तर भंग किये जाते रहे। इस सब के बावजूद पूंजीपति वर्ग प्रशा में पहले से कहीं अधिक प्रभावशाली बना रहा क्योंकि उद्योग तथा वाणिज्य के बिना अहंकारी प्रशियाई राज्य भी अब कुछ नहीं रह गया था। पूंजीपति वर्ग के हित में आर्थिक रियायतें होमियोपैथी की ख़ुराकों की तरह धीरे-धीरे, अनिच्छापूर्वक देनी पड़ रही थीं। वैसे ये रियायतें प्रशा के "जर्मन मिशन" को अवलम्ब प्रदान करने की सम्भावना प्रस्तुत कर रही थीं – इसलिए कि अपने दो भागों के बीच विदेशी सीमाशुल्क अवरोध हटाने के लिए प्रशा ने पड़ोसी जर्मन राज्यों को एक सीमाशुल्क संघ स्थापित करने के लिए कहा। इस प्रकार सीमाशुल्क संघ का जन्म हुआ जो १८३० तक एक नेक इच्छा से अधिक कुछ नहीं था (केवल हेस्सेन-डार्मस्टाड ही उसमें शामिल हुआ था), परन्तु जिसने आगे चलकर राजनीतिक तथा आर्थिक विकास की कुछ ज़्यादा तेज़ रफ़्तार के फलस्वरूप अधिकांश अन्त:जर्मन प्रान्तों को आर्थिक दृष्टि से प्रशा में मिला दिया। ग़ैरप्रशियाई सागर तटवर्ती प्रदेश १८४८ के बाद भी संघ के बाहर रहे।

सीमाशुल्क संघ प्रशा के लिए एक प्रमुख सफलता थी। यह तथ्य कि इसका अर्थ आस्ट्रियाई प्रभाव पर विजय था, इसका सबसे कम महत्त्वपूर्ण पहलू था। मुख्य वस्तु यह थी कि उसने छोटे तथा मध्यम जर्मन राज्यों के सारे पूंजीपति वर्ग को प्रशा के पक्ष में कर दिया था। सैक्सनी को छोड़कर और कोई ऐसा जर्मन राज्य नहीं था जिसके उद्योग के विकास का स्तर प्रशा के समीप भी होता। इसकी वजह केवल प्राकृतिक और ऐतिहासिक पूर्वावस्थाएं ही नहीं थीं अपितु उसके सीमाशुल्क क्षेत्र का बहुत बड़ा आकार तथा आन्तरिक मंडी भी थी। सीमाशुल्क

संघ जितना फैलता गया और वह छोटे राज्यों को जितना अधिक इस आन्तरिक मंडी के अन्दर लाता गया, इन राज्यों का उभर रहा पूंजीपति वर्ग प्रशा को अपना आर्थिक तथा आगे चलकर अपना राजनीतिक नेता भी मानने का आदी होता चला गया। पर प्रोफ़ेसर लोग पूंजीपति वर्ग के इशारे पर नाच रहे थे। यदि हेगेलपंथी बर्लिन में जर्मनी पर प्रशा के प्राधान्य का दार्शनिक आधार प्रस्तुत कर रहे थे तो श्लोसेर के शिष्य, मुख्यतया हाउसेर और हेर्विनस हाइडेलबर्ग में इसे ऐतिहासिक तर्कों से सिद्ध कर रहे थे। स्वभावतया यह परिकल्पना की जाती थी कि प्रशा अपनी पूरी राजनीतिक प्रणाली बदल देगा, कि वह पूंजीपति वर्ग के सिद्धान्तकारों की मांगों की पूर्त्ति करेगा।*

परन्तु यह सब इसलिए नहीं हुआ कि प्रशियाई राज्य के प्रति कोई विशेष पक्षपात था, जैसा कि उदाहरण के लिए इतालवी पूंजीपति वर्ग के साथ हुआ जिसने राष्ट्रीय तथा संवैधानिक आन्दोलन के प्रमुख पियेमोंट की खुले तौर पर नेतृत्वकारी भूमिका स्वीकार कर ली थी। नहीं, यह अनिच्छापूर्वक किया गया; पूंजीपति वर्ग ने प्रशा को कम अनिष्ट तत्व माना क्योंकि आस्ट्रिया ने अपनी मंडी में उसका रास्ता बन्द कर दिया था, और इसलिए भी कि आस्ट्रिया की तुलना में प्रशा का—वित्तीय मामलों में उसकी कंजूसी के कारण ही सही—कुछ हद तक पूंजीवादी स्वरूप था। दूसरी बड़ी ताक़तों के मुक़ाबले प्रशा को दो लाभ प्राप्त थे—सार्वजनिक लामबन्दी तथा सार्विक अनिवार्य शिक्षा। उसने उन्हें घोर मुसीबत के समय में लागू किया था पर जब अच्छे दिन लौटे तो वह उन्हें लापरवाही से लागू कर तथा उन्हें जानबूझकर तोड़-मरोड़ कर उनकी अन्तर्वस्तु को—जो कतिपय परिस्थितियों में ख़तरनाक भी हो सकती थी—खोखला बनाकर संतोष कर लेता था। परन्तु काग़ज़ पर वे मौजूद ही रहीं और इस चीज़ ने प्रशा को जनसाधारण के अन्दर सुषुप्तावस्था में पड़ी ऊर्जा क्षमता को किसी दिन उससे कहीं बड़े पैमाने पर अनावृत करने की सम्भावना प्रदान की जो इतनी ही बड़ी

---

*१८४२ में *«Rheinische Zeitung»* ने प्रशा के प्राधान्य पर इसी दृष्टिकोण से विचार किया था। हेर्विनस ने मुझ से १८४३ के ग्रीष्मकाल में ही ओस्टेंडे में कह दिया था कि प्रशा को जर्मनी का नेता होना चाहिए। परन्तु इसके लिए तीन पूर्वशर्तें आवश्यक हैं—प्रशा को संविधान देना होगा, अख़बारों की स्वतंत्रता मंज़ूर करनी होगी तथा अधिक निश्चित विदेश नीति का पालन करना होगा।

आबादी वाले किसी अन्य स्थान में अप्राप्य थी। पूंजीपति वर्ग अपने को इन दो संस्थानों के अनुकूल ढाल चुका था। १८४० के आसपास एक साल के जब्री रंगरूटों के लिए, अर्थात् पूंजीपतियों की संतान के लिए सैन्य सेवा से अपने को मुक्त करना आसान तथा अपेक्षाकृत सस्ता पड़ता था, ख़ासकर इसलिए कि सेना व्यापारिक तथा औद्योगिक क्षेत्रों से आनेवाले लैंडवेहर[99] के अफ़सरों को बहुत कम महत्त्व देती थी। प्रशा में अनिवार्य शिक्षा के फलस्वरूप कुछ प्राथमिक ज्ञान प्राप्त लोगों की निस्सन्देह अब भी अपेक्षाकृत बड़ी संख्या में उपलब्धि पूंजीपति वर्ग के लिए बहुत उपयोगी थी; बड़े पैमाने के उद्योग की उन्नति के साथ यह ज्ञान अन्ततः अपर्याप्त हो गया।* इन दोनों संस्थानों** के बहुत महंगे होने के बारे में, जिसके कारण भारी कर लादे गये, शिकायतें ज्यादातर निम्नपूंजीपति वर्ग किया करता था; उभरते हुए बड़े पूंजीपति वर्ग ने हिसाब लगाया कि बड़ी ताक़त के रूप में प्रशा की भावी स्थिति से सम्बन्धित क्लेशकर परन्तु अपरिहार्य व्ययों की ज़्यादा मुनाफ़ों से समुचित पूर्ति हो जायेगी।

संक्षेप में, जर्मन पूंजीपति वर्ग को प्रशियाई कृपा के बारे में कोई ग़लतफ़हमी नहीं थी। यदि उनके बीच प्रशियाई प्राधान्य का विचार १८४० में लोकप्रिय हो गया था तो केवल इसी लिए और उसी हद तक जिस हद तक कि प्रशा के पूंजीपति वर्ग ने अपने द्रुततर आर्थिक विकास के कारण जर्मन पूंजीपति वर्ग का आर्थिक तथा राजनीतिक नेतृत्व ग्रहण कर लिया था और उसी हद तक जिस हद तक कि पुराने संवैधानिक दक्षिण के रोटेकों और वेल्करों को प्रशियाई उत्तर के काम्पहाउज़ेनों, हान्सेमानों तथा माइल्डों ने तथा वकीलों और प्रोफ़ेसरों को व्यापारियों और मैनुफ़ेक्चररों ने पृष्ठभूमि में धकेल दिया था। सच तो यह है कि १८४८ के बिल्कुल पूर्ववर्ती वर्षों में प्रशियाई उदारतावादियों के बीच – ख़ास तौर पर राइन के इलाक़े में – ऐसी क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों का विकास हुआ जो दक्षिण के कैंटनलिस्ट-उदारतावादियों[101] की क्रान्तिकारी प्रवृत्ति से बहुत भिन्न थीं।

---

* «Kulturkampf»[100] के दिनों में भी राइन के उद्योगपतियों ने मुझसे शिकायत की थी कि जो मज़दूर वैसे बहुत अच्छा काम करते हैं, उन्हें भी वे सुपरवाइज़र इसलिए नहीं बना सकते कि उनका स्कूली ज्ञान अपर्याप्त होता है। यह बात विशेष रूप से कैथोलिक प्रदेशों पर लागू होती है।

** एंगेल्स ने हाशिये पर लिखा, "माध्यमिक स्कूल पूंजीपति वर्ग के लिए"। – सं०

उन दिनों १६ वीं शताब्दी से लेकर अब तक के दो सर्वोत्तम राजनीतिक लोक गीत प्रकट हुए। ये गीत नगरपति चेख़ तथा एक बैरोनेस फ़ोन ड्रोस्टे-फ़िशेरिंग के बारे में थे जिसका दुश्चरित्र अब बूढ़े हो चुके उन लोगों को आग-बबूला कर रहा है जो १८४६ में उल्लासपूर्वक गाया करते थे–

हुआ है क्या कभी और कोई बदक़िस्मत ऐसा
हमारे बेचारे नगरपति चेख़ जैसा,
मुटल्ला शिकार था सामने
पर गोली निकल गयी बग़ल से!

परन्तु यह सब कुछ जल्द बदल गया। फ़रवरी क्रान्ति के बाद आये वियेना में मार्च के दिन तथा १८ मार्च की बर्लिन क्रान्ति। पूंजीपति वर्ग किसी संजीदा लड़ाई के बिना विजयी हो गया। और जब संजीदा लड़ाई की बात आयी तो वह उसे चाहता ही नहीं था। उसी पूंजीपति वर्ग ने, जिसने कुछ ही समय पहले उस समय के समाजवाद तथा कम्युनिज़्म से (ख़ासकर राइन प्रदेश में) चोंचलेबाज़ी की थी, सहसा देखा कि उसने जिन्हें पाला-पोसा है, वे इक्के-दुक्के मज़दूर नहीं हैं,–वे तो एक मज़दूर **वर्ग** हैं,–जो अभी अर्द्ध स्वप्नावस्था में है परन्तु जो धीरे-धीरे जाग रहा है तथा अपनी प्रकृति से क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग है। यह सर्वहारा, जिसने सब जगह पूंजीपति वर्ग को विजय दिलायी थी, ऐसी मांगें– ख़ास तौर पर फ़्रांस में–पेश करने लगा था जो पूरी पूंजीवादी व्यवस्था से मेल नहीं खाती थीं। पेरिस में दो वर्गों के बीच पहला प्रचण्ड संघर्ष २३ जून १८४८ को हुआ तथा चार दिन की लड़ाई के बाद सर्वहारा वर्ग परास्त हो गया। तब से यूरोप भर में पूंजीपति वर्ग ने प्रतिक्रियावाद का पक्ष अपना लिया और उसने अपने को निरंकुशतावादी नौकरशाहों, सामन्तों तथा पुरोहित-पादरियों के साथ, जिनका तख़्ता उसने अभी-अभी मज़दूरों की मदद से उल्टा था, "समाज के शत्रुओं" के विरुद्ध, उन्हीं मज़दूरों के विरुद्ध ऐक्यबद्ध कर डाला।

प्रशा में इसने जो रूप ग्रहण किया, वह यह था कि पूंजीपति वर्ग ने स्वयं अपने चुने हुए प्रतिनिधियों को मंझधार में छोड़ दिया और उन्हें नवम्बर १८४८[102] में सरकार द्वारा तितर-बितर किये जाने का दृश्य प्रच्छन्न अथवा खुले उल्लास के साथ देखता रहा। यह सच है कि युंकर-नौकरशाह मंत्रिमंडल को, जिसने अब पूरे एक दशक के लिए अपने पांव जमा लिये थे, संवैधानिक नियमों के

अनुसार शासन करना था परन्तु उसने छिद्रान्वेषणों तथा रुकावटों की एक टुच्ची, प्रशा तक के लिए अभूतपूर्व प्रणाली का आश्रय लेकर बदला लिया, जिससे पूंजीपति वर्ग से अधिक हानि और किसी को नहीं हुई। परन्तु पूंजीपति वर्ग प्रायश्चितस्वरूप अपने खोल में बन्द हो गया, अपनी पिछली क्रान्तिकारी आकांक्षाओं के लिए अपने ऊपर पड़नेवाले लात-घूंसों की बौछार को चुपचाप सहन करता रहा और धीरे-धीरे उस तरह सोचना सीख गया जिसे उसने बाद में ज़ोरों से इन शब्दों में व्यक्त किया—कुछ भी हो, हम कुत्ते ही हैं!

फिर रीजेंसी का काल आया। सिंहासन के प्रति अपनी वफ़ादारी साबित करने के लिए मानटेइफ़ेल ने युवराज को,* वर्तमान सम्राट को जासूसों से घेर दिया, उसी तरह जिस तरह अब पुटकामेर *«Sozialdemokrat»*[103] के सम्पादकमंडल को घेरे हुए है। जब युवराज रीजेंट बन गया, मानटेइफ़ेल को तुरन्त बाहर निकाल दिया गया और "नये युग" का आरम्भ हुआ[104]। परन्तु यह तो दृश्यावली का परिवर्तन मात्र था। प्रिंस रीजेंट ने अनुग्रहपूर्वक पूंजीपति वर्ग को फिर से उदार बनने की आज्ञा दे दी। पूंजीपति वर्ग ने इस आज्ञा को हर्षपूर्वक उपलब्ध किया परन्तु उसने सोचा कि स्थिति का पूरा नियंत्रण उसके हाथों में है और प्रशियाई राज्य को उसके इशारों पर नाचना पड़ेगा। लेकिन यह तो उनका, जिन्हें दासवत् "अधिकृत क्षेत्र" कहा जाता था, कदापि इरादा नहीं था। सेना का पुनर्गठन वह दाम था जो उदारतावादी पूंजीपतियों को "नये युग" के लिए अदा करना पड़ा। सरकार ने सार्वत्रिक लामबन्दी वस्तुतः केवल उसी हद तक लागू करने की मांग की थी जिस हद तक वह १८१६ के आसपास लागू की गयी थी। उदारतावादी विपक्ष के दृष्टिकोण से उसके विरुद्ध क़तई कोई ऐसी चीज़ नहीं कही जा सकती थी जो साथ ही प्रशा की प्रतिष्ठा तथा उसके जर्मन मिशन के बारे में उनकी बातों के विरुद्ध न होती। परन्तु उदारतावादी विपक्ष ने अपनी सहमति के लिए शर्त के रूप में मांग की कि सैन्य सेवा की अवधि क़ानून द्वारा दो वर्ष तक सीमित की जाये। मांग स्वयं तो विवेकसम्मत थी परन्तु प्रश्न यह था कि क्या यह शर्त पूरी हो सकेगी, क्या उदारतावादी पूंजीपति वर्ग इस शर्त पर आख़िर तक, कुछ भी दांव पर लगाकर, अटल रहने के लिए तैयार है। सरकार ने सैन्य सेवा के तीन वर्ष की अवधि तथा संसद-सदन ने दो वर्ष की अवधि पर दृढ़तापूर्वक ज़ोर दिया और संघर्ष छिड़ गया[105]। सैन्य सवाल पर

---

*राजकुमार विल्हेल्म, बाद में सम्राट विल्हेल्म प्रथम।—सं०

संघर्ष के साथ ही साथ विदेश नीति एक बार फिर घरेलू नीति के लिए भी निर्णायिक हो गयी।

हम देख चुके हैं कि क्रीमियाई तथा इतालवी युद्धों में प्रशा अपने सम्मान का अन्तिम अवशेष भी खो बैठा जिसका वह उपभोग कर रहा था। उस दयनीय नीति के पक्ष में उसकी सेना की ख़राब हालत को सफ़ाई के रूप में पेश किया जा सकता है। चूंकि १८४८ से पहले भी सामाजिक श्रेणियों की सहमति के बिना न तो नये कर लगाये जा सकते थे और न नये ऋण-पत्र जारी किये जा सकते थे और चूंकि इस उद्देश्य से सामाजिक श्रेणियों के प्रतिनिधियों को बुलाने की इच्छा नहीं की गयी थी, सेना के लिए कभी पर्याप्त धन नहीं रहा जो इस बेहद कंजूसी के कारण तबाह हो गयी। फ़ेडरिक-विल्हेल्म तृतीय के ज़माने में परेड तथा फ़ौजी क़वायद की भावना ने बाक़ी काम पूरा कर दिया। फ़ौजी परेड की भावना में यह प्रशिक्षण १८४८ में डेनमार्क के रणक्षेत्रों में कितना दयनीय सिद्ध हुआ, इसका वृत्तान्त काउंट वाल्डेरसी की कृतियों में पढ़ने को मिल सकता है। १८५० की लामबन्दी पूरी तरह विफल हो गयी[106]। हर चीज़ की कमी थी, और जो कुछ उपलब्ध था भी, वह सरासर बेकार था। यह सच है कि संसद-सदनों द्वारा ऋण की मंज़ूरी से इस मामले में मदद मिली; सेना पुराने ढर्रे से बाहर निकाल ली गयी; अधिकांश मामलों में फ़ील्ड सर्विस ने परेड का स्थान ले लिया था। परन्तु संख्या की दृष्टि से सेना अब भी उतनी ही थी जितनी वह १८२० के आसपास थी, जबकि तमाम दूसरी बड़ी शक्तियां, ख़ास तौर पर फ़्रांस, जिसकी ओर से मुख्य ख़तरा था, अपनी सशस्त्र सेनाओं में अत्यधिक वृद्धि कर चुकी थीं। प्रशा में सार्वत्रिक लामबन्दी विद्यमान थी; काग़ज़ पर प्रत्येक प्रशियाई सैनिक था; परन्तु आबादी यद्यपि १ करोड़ ५लाख (१८१७) से बढ़कर १ करोड़ साढ़े ७७ लाख (१८५८) तक पहुंच गयी थी, सेना का ढांचा सैन्य सेवा के लिए समर्थ तमाम लोगों में से एक तिहाई से अधिक को अपने अन्दर खपाने तथा प्रशिक्षित करने के लिए अपर्याप्त था। सरकार अब मांग कर रही थी कि सेना में १८१७ से आबादी में हुई वृद्धि के ठीक अनुरूप वृद्धि की जाये। परन्तु वही उदारतावादी सदस्य, जो निरन्तर इस बात पर ज़ोर दे रहे थे कि सरकार जर्मनी का नेतृत्व सम्भाले, विदेशों में उसके राजनीतिक प्रभाव की रक्षा करे तथा जर्मनी की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा पुनःस्थापित करे, अब भाव-तोल करने लगे और बखेड़ा खड़ा करने लगे। उन्होंने सैन्य सेवा की द्विवर्षीय अवधि के अलावा और किसी शर्त पर कुछ भी मंज़ूर करने से इनकार कर दिया। क्या उनके पास अपनी इच्छा,

जिस पर वे इतने हठपूर्वक अड़े हुए थे, पूरी करने की शक्ति थी? क्या उनके पीछे निर्णायक कार्रवाइयां करने को तैयार जनता या कम से कम पूंजीपति वर्ग था?

बिल्कुल नहीं। पूंजीपति वर्ग बिस्मार्क के साथ उनकी शाब्दिक लड़ाइयों पर आनन्दमग्न था परन्तु उसने वस्तुतः एक आन्दोलन संगठित किया जो वस्तुतः,— भले ही अचेतन रूप में — प्रशियाई सदन में बहुसंख्या की नीति के विरुद्ध लक्षित था। होल्स्टिन संविधान का डेनमार्क द्वारा अतिक्रमण तथा श्लेज़विग के जबरन डेनीयकरण की कोशिशों ने जर्मन पूंजीपतियों में गुस्सा पैदा कर दिया। वह बड़ी शक्तियों द्वारा अपमानित किये जाने का आदी था; परन्तु छोटा-सा डेनमार्क उसे लात लगाये, इस चीज़ ने उसमें रोष पैदा कर दिया। राष्ट्रीय लीग[107] की स्थापना की गयी, यह ठीक छोटे राज्यों का पूंजीपति वर्ग ही था जो उसकी शक्ति था। अपने सारे उदारतावाद के बावजूद राष्ट्रीय लीग की मांग सर्वप्रथम यह थी कि हो सके तो उदारतावादी प्रशा अथवा कम से कम जैसा प्रशा अब है, उसी के नेतृत्व में राष्ट्रीय एकीकरण किया जाये। विश्व मंडी में जर्मनों की जो दूसरी कोटि की स्थिति थी, उसका अन्ततः ख़ात्मा करना, डेनमार्क पर अंकुश लगाना, श्लेज़विग-होल्स्टिन में महाशक्तियों की ओर भ्रकुटियां तानना, ये थीं राष्ट्रीय लीग की मुख्य मांग। प्रशियाई प्राधान्य के लिए मांग अब उस धुंध और उन भ्रमों से मुक्त थी जो १८५० से पहले उससे संलग्न थे। अब यह निश्चित रूप से विदित हो गया था कि इसका अर्थ जर्मनी से आस्ट्रिया का निष्कासन, छोटे राज्यों की प्रभुसत्ता का वास्तविक उन्मूलन था, और यह कि इनमें से कोई भी चीज़ गृह-युद्ध के बिना तथा जर्मनी के विभाजन के बिना हासिल नहीं हो सकती थी। परन्तु गृहयुद्ध की कोई आशंका नहीं रह गयी थी और विभाजन केवल सीमाशुल्क प्रतिबंधों की आस्ट्रियाई नीति के ही फलस्वरूप हो सकता था। जर्मनी के उद्योग तथा व्यापार का इतना विकास हो चुका था, जर्मन व्यापार फ़र्मों का जाल पूरी विश्व मंडी में इतने विस्तृत तथा गहन रूप में फैल चुका था कि अपने अन्दर छोटे राज्यों की प्रणाली तथा विदेशों में अधिकाराभाव और सुरक्षाभाव असह्य हो गये थे। और जहां उस राजनीतिक संगठन ने, जिससे ज्यादा शक्तिशाली संगठन जर्मन पूंजीपति वर्ग के पास पहले कभी नहीं था, बर्लिन के संसद सदस्यों के विरुद्ध अविश्वास का वोट दिया, वहां ये प्रतिनिधि सैन्य सेवा की शर्तों का भाव-तोल करते रहे!

ऐसी थी उस समय स्थिति जब बिस्मार्क ने वैदेशिक राजनीति में सक्रिय रूप से हस्तक्षेप करने का निर्णय किया।

बिस्मार्क तो लूई नेपोलियन, सिंहासन का दुस्साहसी फ़्रांसीसी दावेदार है जिसने दूर-दराज के प्रशियाई युंकर तथा जर्मन छात्र संघ के सदस्य का रूप धारण कर लिया है। बिल्कुल लूई नेपोलियन की तरह बिस्मार्क भी बहुत अधिक व्यावहारिक सूझबूझ वाला और बहुत चतुर व्यक्ति, जन्मजात और चालाक व्यवसायी है जो भिन्न परिस्थितियों में वाण्डरबिल्टों तथा जे गोल्डाओं से न्यूयार्क के स्टाक एक्सचेंज में टक्कर ले सकता था। सच तो यह है कि वह अपने को मालामाल बनाने में कम सफल नहीं हुआ था। परन्तु यह विकसित व्यावहारिक बुद्धि अक्सर उतनी ही संकीर्ण मनोवृत्ति के साथ पायी जाती है। और इस मामले में बिस्मार्क अपने फ़्रांसीसी पूर्ववर्ती को मात दे देता है। फ़्रांसीसी पूर्ववर्ती ने तो अपने "नेपोलियनी विचार"[108] अपने आवारागर्दी के दिनों में स्वयं विकसित किये थे जिसकी उन पर छाप थी। परन्तु बिस्मार्क के मामले में, जैसा कि हम देखेंगे, मौलिक राजनीतिक विचारों का कभी कोई चिह्न तक नहीं रहा, वह तो दूसरों के तैयार किये-कराये विचारों को हमेशा फिर से ढाल लिया करता था। परन्तु उसकी ठीक यही संकीर्ण मनोवृत्ति उसकी ख़ुशक़िस्मती थी। उसके बिना वह विश्व के पूरे इतिहास को कभी विशिष्ट प्रशियाई दृष्टिकोण से न देख पाता। यदि इस विशिष्ट प्रशियाई विश्वदृष्टिकोण में कहीं कोई ऐसी दरार होती जहां से सूर्य का प्रकाश प्रवेश कर पाता तो वह अपने पूरे मिशन को गड़बड़ी में डाल देता तथा यह उसकी कीर्ति का अन्त होता। वास्तव में जब उसने बाहर से मिले आदेश पर अपने विशेष मिशन की पूर्त्ति कर दी तो वह निस्सन्देह किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था। हम देखेंगे कि विवेकसम्मत विचारों के पूर्ण अभाव तथा स्वयं तैयार की गयी ऐतिहासिक स्थिति को समझने की अपनी पूर्ण असमर्थता के कारण वह कैसी उछल-कूद मचाने के लिए मजबूर हुआ था।

यदि लूई नेपोलियन के अतीत ने उसे विधियों के चयन में अच्छे-बुरे का ध्यान न रखना सिखाया था तो बिस्मार्क ने प्रशियाई नीति के इतिहास से, ख़ास तौर पर तथाकथित महान एलेक्टर* तथा फ़्रेडरिक द्वितीय की नीति से और ज़्यादा बेईमान होना, परन्तु साथ ही पितृभूमि की परम्पराओं के प्रति निष्ठावान बने रहने का उदात्त बोध प्राप्त करना सीखा था। उसकी व्यवहार बुद्धि ने उसे ज़रूरत पड़ने पर अपनी युंकरीय लालसाओं पर क़ाबू पाना सिखाया था; जब ज़रूरत न होती तो ये लालसाएं फिर तीक्ष्णतापूर्वक उभर आतीं; यक़ीनन यह

* फ़्रेडरिक-विल्हेल्म। — सं०

उसके पतन का लक्षण था। उसकी राजनीतिक विधि किसी संघबद्ध छात्र की विधि जैसी होती थी: छात्रों की बियर-सेवन की उस संकेत-भाषा की हास्यकर परिभाषा जिसका उपयोग किसी परेशानी से बचने के लिए किया जाता था, इसको वह सदन में प्रशियाई संविधान के सम्बन्ध में बेतकल्लुफ़ी से इस्तेमाल करता था; कूटनीति में उसने जितने भी नये-नये परिवर्तन किये, वे सब छात्र संघों से ग्रहण किये गये थे। जहां लूई नेपोलियन निर्णायक क्षणों में—उदाहरण के लिए १८५१ के बलात् राज-परिवर्तन के समय जब मोर्नी ने निश्चित रूप से उसे वह कार्य पूरा करने के लिए विवश किया जो उसने शुरू किया था, अथवा १८७० के युद्ध के ठीक पूर्व जब उसकी हिचकिचाहट ने उसकी पूरी स्थिति बिगाड़ दी—अक्सर डांवांडोल रहता था, वहां यह मानना पड़ेगा कि बिस्मार्क के साथ ऐसा कभी नहीं हुआ। उसकी इच्छा शक्ति ने कभी उसका साथ नहीं छोड़ा, वह क्रूरता में बदल जाती। यही उसकी सफलता का रहस्य था। जर्मनी में सारे सत्ताधारी वर्ग, युंकर तथा पूंजीपति वर्ग, अपनी स्फूर्ति के अन्तिम अवशेष तक इस तरह खो बैठे थे, "शिक्षित" जर्मनी में इच्छा का न होना ही ऐसा रस्म बन गया है कि उनमें से एकमात्र व्यक्ति, जिसमें यह इच्छा शक्ति रह गयी थी, इसी कारण उनके बीच सबसे बड़ा व्यक्ति तथा स्वेच्छाचारी बन गया। वह उन पर राज करता था और वे अपने विवेक तथा अन्तरात्मा को ताक़ पर रखकर उनके अपने शब्दों में उसके "इशारे पर नाचने" के लिए तैयार रहते थे। यह सच है कि "अशिक्षित" जर्मनी में हालात यहां तक नहीं पहुंचे थे। मेहनतकश जनता ने दिखा दिया है कि उनके पास ऐसी इच्छा शक्ति है जिस पर बिस्मार्क की दृढ़ इच्छा शक्ति भी हावी होने में असमर्थ है।

हमारे इस ब्रनदनबर्गी युंकर के सामने भव्य मैदान खुला पड़ा था जिसे केवल साहसपूर्वक तथा बुद्धिमत्तापूर्वक काम करना था। क्या लूई नेपोलियन पूंजीपति वर्ग का आराध्य देव ठीक इसलिए नहीं बना था कि उसने उनका मुनाफ़ा बढ़ाने के साथ-साथ संसद भंग कर दी थी? और क्या बिस्मार्क में वे व्यावसायिक प्रतिभाएं नहीं थीं जिनकी वजह से पूंजीपति वर्ग नक़ली नेपोलियन की इतनी प्रशंसा करता था? क्या वह अपने ब्लाइख़रोडर की ओर उतना ही आकर्षित नहीं हुआ था जितना लूई नेपोलियन अपने फ़ूल्द की ओर आकृष्ट हुआ था? क्या १८६४ में जर्मनी के सदन के अन्दर पूंजीवादी प्रतिनिधियों के, जो कंजूसी के कारण सैन्य सेवा की अवधि घटाने की कोशिश कर रहे थे, तथा संसद के बाहर, राष्ट्रीय लीग के अन्दर उन पूंजीपतियों के बीच विरोध नहीं था जो किसी भी

क़ीमत पर राष्ट्रीय कारनामे की, ऐसे कारनामे की मांग कर रहे थे जिनके लिए सेना अनिवार्य थी? क्या यह विरोध वैसा ही नहीं था जो १८५१ में फ़्रांस में सदन के अन्दर पूंजीपतियों, जो राष्ट्रपति के अधिकारों पर अंकुश रखना चाहते थे, तथा सदन के बाहर उन पूंजीपतियों के बीच विद्यमान था जो शान्ति तथा मज़बूत सरकार, किसी भी क़ीमत पर शान्ति चाहते थे – वैसा ही विरोध जिसे लूई नेपोलियन ने संसद में शोरगुल मचानेवालों को तितर-बितर कर तथा पूंजीवादी समुदाय को शान्त कर मिटाया था? क्या जर्मनी में साहसपूर्ण प्रहार के लिए स्थिति और भी अधिक उपयुक्त नहीं थी? क्या सेना के पुनर्गठन की योजना पूंजी-पति वर्ग द्वारा तैयार किये कराये रूप में मुहैया नहीं की गयी थी और क्या पूंजीपति वर्ग ने ऐसे स्फूर्तिवान प्रशियाई राजनेता की ऊंचे स्वर में मांग नहीं की जो उसकी योजना कार्यान्वित कर सके, आस्ट्रिया को जर्मनी से खदेड़े और छोटे जर्मन राज्यों को प्रशा के प्राधान्य के अन्तर्गत ऐक्यबद्ध करे? और यदि यह प्रशियाई संविधान के साथ बुरा बर्ताव करने की, सदन के अन्दर तथा बाहर के सिद्धान्तकारों को उनके गुणावगुणों के अनुसार एक ओर धकेलने की अपेक्षा करता था, तो क्या सार्वजनिक मताधिकार का लूई बोनापार्त की तरह आश्रय नहीं लिया जा सकता था? सार्वजनिक मताधिकार लागू करने से अधिक जनवादी कार्य और क्या हो सकता था? क्या लूई नेपोलियन ने यह सिद्ध नहीं किया था कि यदि यह काम ठीक तरह किया जाये तो यह सर्वथा निरापद है? और क्या ठीक सार्वजनिक मताधिकार ने ही व्यापक जनसाधारण से अपील करने, पूंजीपति वर्ग के ज़िद्दी साबित होने की दशा में उदीयमान सामाजिक आन्दोलन से थोड़ी बहुत चोंचलेबाज़ी करने का साधन मुहैया नहीं किया था?

बिस्मार्क ने कार्रवाई शुरू की। इसका अर्थ था लूई नेपोलियन के बलात् राज-परिवर्तन की पुनरावृत्ति, जर्मन पूंजीपति वर्ग के सामने शक्तियों का वास्तविक संतुलन स्पष्ट करना, उनके उदारतावादी आत्म-भ्रमों को बलात् भंग करना परन्तु प्रशा की आकांक्षाओं से मेल खानेवाली उनकी राष्ट्रीय मांगों को पूरा करना। कार्रवाई के लिए पहले-पहल श्लेज़विग-होल्स्टिन ने ही बहाना प्रस्तुत किया। जहां तक विदेश नीति का सम्बन्ध था, मैदान तो तैयार किया जा चुका था। बिस्मार्क ने १८६३ में पोलैंड के वधिक के रूप में[109] जो सेवा की थी, उसके बल पर रूसी ज़ार* को उसने अपनी ओर कर लिया था। लूई नेपोलियन की भी बुरी

* अलेक्सान्द्र द्वितीय।

तरह पिटाई हो चुकी थी, और वह यदि बिस्मार्क की योजनाओं के साथ मौन ऐक्यबद्धता नहीं, तो अपने प्रिय "राष्ट्रीयता-सिद्धान्त" के ज़रिए अपनी उपेक्षा को न्यायोचित ठहरा ही सकता था; ब्रिटेन के प्रधानमंत्री पामर्स्टन ने नन्हे लार्ड जान रसेल को विदेश मंत्रालय के शीर्षस्थान पर इसलिए रखा कि उसे दुनिया की आंखों के सामने हंसी का पात्र बना सके। आस्ट्रिया तो जर्मनी में प्राधान्य के लिए प्रशा का प्रतिद्वन्द्वी था, ठीक इस मामले में वह इस बात की इजाज़त नहीं दे सकता था कि प्रशा उसे मात दे, ख़ास तौर पर इसलिए कि १८५० और १८५१ में उसने सम्राट निकोलाई के हवलदार के रूप में श्लेज़विग-होल्स्टिन में प्रशा से अधिक घृणित रूप में काम किया था। इसलिए स्थिति अत्यन्त अनुकूल थी। बिस्मार्क आस्ट्रिया से चाहे कितनी ही घृणा करता रहा हो और आस्ट्रिया को प्रशा से बदला लेने में चाहे कितनी ही ख़ुशी होती, दोनों के लिए डेनमार्क के फ़्रेडरिक सप्तम की मृत्यु के बाद इसके अलावा और कोई चारा नहीं था कि वे रूस तथा फ़्रांस की मूक सम्मति से डेनमार्क के विरुद्ध संयुक्त कार्रवाई करें। यूरोप के तटस्थ रहते सफलता पूर्वनिश्चित थी; हुआ भी ऐसा ही: ड्यूकों की रियासतें जीत ली गयीं तथा शान्ति संधि[110] के अन्तर्गत उन्हें हस्तांतरित कर दिया गया।

इस युद्ध में प्रशा का एक अन्य उद्देश्य था, वह था रणक्षेत्र में अपनी सेना की आज़माइश करना जिसे वह १८५० से नये ढंग से प्रशिक्षित कर रहा था तथा जिसे उसने १८६० के बाद पुनर्गठित किया तथा दृढ़ बनाया था। परिणाम आशातीत रहे, वह भी सभी तरह की जंगी स्थितियों में। जुटलैंड के पास लिंगबी में हुई लड़ाई ने सिद्ध कर दिया कि छोटे कारतूस की बन्दूकें मुंहभरनी बन्दूकों से कहीं श्रेष्ठ हैं और प्रशियाई उनका ठीक तरह उपयोग करना जानते हैं क्योंकि इस जगह झाड़ियों के पीछे बैठे ८० प्रशियाइयों की बन्दूकों से तेज़ी से निकल रही गोलियों ने तिगुनी संख्या वाले डेनों को भगा दिया। साथ ही यह भी नज़र आया कि इतालवी युद्ध तथा फ़्रांसीसी युद्ध कौशल से आस्ट्रियाइयों ने केवल यही सबक़ सीखा था कि गोली चलाने से फ़ायदा नहीं होता, कि अच्छे सैनिक को अपना दुश्मन तत्काल संगीन से पीछे हटाना चाहिए; और इसे ध्यान में रखा गया क्योंकि ब्रीच बन्दूकों की नाल के आगे शत्रु के इस तरह के युद्ध कौशल से अधिक अपेक्षित वस्तु और कोई नहीं हो सकती थी। आस्ट्रियाइयों को इस बारे में व्यवहार द्वारा अपने को शीघ्रातिशीघ्र आश्वस्त करने का मौक़ा देने के लिए शान्ति संधि ने ड्यूकों की रियासतों पर आस्ट्रिया तथा प्रशा की संयुक्त प्रभुसत्ता

स्थापित की, जिसके परिणामस्वरूप अन्तहीन टकरावों का होना अवश्यम्भावी था और जिसने आस्ट्रिया पर निर्णायक प्रहार करने के लिए उचित समय चुनने का काम पूरी तरह बिस्मार्क के लिए छोड़ दिया। चूंकि यह प्रशियाई परम्परा थी कि किसी अनुकूल स्थिति का श्री फ़ोन सीबेल के शब्दों में "निर्ममतापूर्वक अन्त तक" उपयोग किया जाये, इसलिए यह स्वतःस्पष्ट था कि जर्मनों को डेनिश उत्पीड़न से मुक्त करने के बहाने उत्तरी श्लेज़विग के लगभग दो लाख डेनों को जर्मनी में मिला दिया गया। जिसे कुछ नहीं मिला था, वह था ड्यूक अगस्टेनबर्ग, श्लेज़विग-होल्स्टिन सिंहासन के लिए छोटे जर्मन राज्यों तथा जर्मन पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधि।

इस तरह यह बिस्मार्क ही था जिसने ड्यूकों की रियासतों में जर्मन पूंजीपति वर्ग की इच्छा को उसकी इच्छा के भी विरुद्ध मूर्त्त रूप दिया। उसने डेनों को मार भगाया तथा दूसरे देशों को चुनौती दी जो अविचल रहे। परन्तु इन रियासतों पर विजय पाते ही उनके साथ विजित क्षेत्रों की तरह व्यवहार किया गया, उनकी इच्छा के बारे में उनसे कोई परामर्श नहीं किया गया और उन्हें महज़ अस्थायी रूप से आस्ट्रिया तथा प्रशा के बीच बांट दिया गया। प्रशा एक बार फिर महाशक्ति बन गया, वह अब यूरोपीय रथ का पांचवां पहिया नहीं रह गया था; पूंजीपति वर्ग की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्त्ति के कार्य में अच्छी प्रगति हुई। लेकिन जो मार्ग चुना गया था, वह पूंजीपति वर्ग का उदारवादी मार्ग नहीं था। इस प्रकार प्रशियाई फ़ौजी संघर्ष जारी रहा; वह और भी ज्यादा असमाधेय हो गया। बिस्मार्क की राजकीय कार्रवाई का दूसरा अंक अभी शुरू होनेवाला था।

* * *

डेनिश युद्ध ने राष्ट्रीय आकांक्षाओं का एक भाग पूरा कर दिया था। श्लेज़विग-होल्स्टिन "स्वतंत्र" हो चुका था; वारसा तथा लन्दन उपसंधियों की, जिनमें बड़ी ताक़तों ने डेनमार्क द्वारा जर्मनी के अपमान पर अपनी मुहर लगा दी थी[111], धज्जियां उड़ा दी गयी थीं और उन्हें उनके ही मुंह पर फेंक दिया गया था और उनकी आवाज़ तक नहीं निकली। आस्ट्रिया तथा प्रशा फिर साथ हो गये, उनकी फ़ौजें कंधे से कंधा मिलाकर विजयी हुई थीं, और अब कोई राजा जर्मनी की भूमि का अतिक्रमण करने की बात नहीं सोचता था। राइन की प्राप्ति के लिए नेपोलियन की लालसा के, जिसे अब दूसरे मामलों ने – इतालवी क्रान्ति, पोलिश विद्रोह, डेनिश उलझनों और अन्ततः मैक्सिको अभियान[112] ने –

एक ओर धकेल दिया था, पूरा होने की अब कोई सम्भावना नहीं रह गयी थी। प्रशियाई रुढ़िवादी राजनेता के लिए विश्व स्थिति में अब विदेश नीति के दृष्टिकोण से कोई कमी नहीं रह गयी थी। परन्तु १८७१ तक बिस्मार्क कभी रुढ़िवादी नहीं रहा। अब तो वह उससे भी कम रुढ़िवादी था और जर्मन पूंजीपति वर्ग किसी भी तरह सन्तुष्ट नहीं हुआ।

जर्मन पूंजीपति वर्ग अब भी पुराने विरोधों से ग्रस्त था। एक ओर, वह विशिष्ट राजनीतिक प्रभुत्व की मांग कर रहा था, यानी सदन में उदार बहुमत के बीच से निर्वाचित मंत्रिमंडल की मांग कर रहा था और ऐसे मंत्रिमंडल को अपनी नयी सत्ता द्वारा अन्ततः मान्यता प्राप्त किये जाने से पूर्व पुरानी व्यवस्था के ख़िलाफ़, जिसका प्रतिनिधित्व सिंहासन कर रहा था, दसवर्षीय युद्ध करना पड़ता; इसका मतलब होता दस वर्ष की आन्तरिक दुर्बलता। दूसरी ओर, पूंजीपति वर्ग ने जर्मनी के क्रान्तिकारी पुनर्गठन की मांग की जिसे केवल बल-प्रयोग द्वारा ही, अर्थात् वास्तविक अधिनायकत्व द्वारा ही पूरा किया जा सकता था। परन्तु पूंजीपति वर्ग ने १८४८ से बार-बार प्रत्येक निर्णायक अवसर पर यह सिद्ध किया कि दोनों मांगों की पूर्त्ति तो रही दूर, उनमें से एक की भी पूर्त्ति के लिए उसमें लेश मात्र आवश्यक स्फूर्ति नहीं है। राजनीति में दो ही निर्णायक शक्तियां होती हैं – राज्य की संगठित शक्ति – सेना तथा जनसाधारण की असंगठित, स्वयंस्फूर्त्त शक्ति। १८४८ से पूंजीपति वर्ग भूल गया था कि जनसाधारण का आह्वान किस तरह किया जाता है; वह तो उससे निरंकुशतावाद से अधिक डरता था। पूंजीपति वर्ग के पास सेना भी कदापि नहीं थी। वह बिस्मार्क के पास थी।

संविधान पर निरन्तर संघर्ष में बिस्मार्क ने पूंजीपति वर्ग की संसदीय मांगों का भरसक विरोध किया। परन्तु राष्ट्रीय मांगों की पूर्त्ति की उसकी इच्छा को पूरा करने के लिए वह व्यग्र था क्योंकि वे तो प्रशियाई नीति की सबसे मर्म आकांक्षाओं से मेल खाती थीं। यदि वह पूंजीपति वर्ग की आकांक्षाओं को उसकी इच्छा के विरुद्ध फिर पूरा करता, यदि वह पूंजीपति वर्ग द्वारा निरूपित ढंग से, जर्मनी का एकीकरण सम्पन्न करता तो संघर्ष अपने-आप ख़त्म हो जाता और बिस्मार्क पूंजीपति वर्ग का आराध्य देव उसी तरह बन जाता जिस तरह उससे पहले उसका प्रतिरूप लूई नेपोलियन था।

पूंजीपति वर्ग ने उसे लक्ष्य तथा लूई नेपोलियन ने वह लक्ष्य पूरा करने का तरीक़ा मुहैया किया था। बिस्मार्क के लिए तो केवल इसके कार्यान्वयन का काम छोड़ दिया गया था।

प्रशा को जर्मनी के शीर्ष स्थान पर रखने के लिए ग्रास्ट्रिया को जर्मन महासंघ[113] से बलात् बाहर निकालना ही नहीं, वरन् छोटे जर्मन राज्यों को पराधीन बनाना भी ज़रूरी था। प्रशियाई राजनीति में जर्मनों के ख़िलाफ़ जर्मनों के इस तरह का "स्फूर्तिदायी मज़ेदार युद्ध"[114] क्षेत्रीय विवर्द्धन का हमेशा प्रमुख साधन रहा है; कोई भी बहादुर प्रशियाई इससे नहीं डरा है। दूसरे प्रमुख साधन – जर्मनों के ख़िलाफ़ विदेशों से सहबंध – से भी बहुत कम ग़लतफ़हमी पैदा होती। भावुक रूसी ज़ार ग्रलेक्सान्द्र का समर्थन सदैव निश्चित था। लूई नेपोलियन ने जर्मनी में पियेमोंट की भूमिका ग्रदा करने की प्रशा की ग्राकांक्षा को कभी नहीं ठुकराया ग्रौर वह बिस्मार्क से सौदेबाज़ी करने के लिए तैयार था। वह जो चाहता था, यदि वह उसे हरजाने के रूप में शान्तिपूर्वक मिल जाता तो उससे ग्रच्छी बात नहीं हो सकती थी। इसके ग्रलावा उसे राइन का सारा बायां तट एकदम प्राप्त करने की ग्रावश्यकता नहीं थी; यदि वह उसे ज़रा-ज़रा ग्रंशों में मिलता, प्रशा की हर नयी ग्रग्रगति के साथ एक ग्रौर हिस्सा मिल जाता तो वह ग्रांखों को न चुभता ग्रौर फिर भी उसी लक्ष्य की पूर्त्ति हो जाती। फ़्रांसीसी ग्रंधराष्ट्रवादियों की नजरों में राइन नदी क्षेत्र का एक वर्गमील पूरे सैवोय तथा नाइस के बराबर था। इसलिए लूई नेपोलियन के साथ बातचीत शुरू की गयी तथा प्रशा के विवर्द्धन ग्रौर उत्तर जर्मन महासंघ[115] की स्थापना के लिए उसकी सहमति प्राप्त कर ली गयी। इसके बदले उसे राइन में जर्मन क्षेत्र का एक टुकड़ा पेश किया गया, इसमें रत्तीभर सन्देह नहीं है।* गोवोने के साथ बातचीत के दौरान बिस्मार्क ने राइनी बवेरिया तथा राइनी हेस्सेन की चर्चा की। हां, उसने ग्रागे चलकर इससे इन्कार किया। परन्तु राजनयज्ञ, ख़ास तौर पर प्रशियाई राजनयज्ञ के उन सीमाग्रों के बारे में ग्रपने विचार होते हैं जिनके ग्रन्दर वह सच्चाई के साथ थोड़े-बहुत बलात्कार को न्यायोचित मानता है, यही नहीं इसका ग्राश्रय लेने के लिए कर्त्तव्यबद्ध भी होता है। ग्राख़िर सच्चाई एक नारी है तथा युंकरों की धारणा के ग्रनुसार उसे यह पसन्द भी है। ब्लाइख़रोडर बिना ब्याज के धन देने के लिए सहमत हो जाता। मगर लूई नेपोलियन इतना मूर्ख नहीं था कि वह प्रशिया के क्षेत्र विस्तार को उससे हरजाने का वचन लिए बिना स्वीकार कर लेता; परन्तु वह ग्रपने प्रशियाइयों को ग्रच्छी तरह नहीं जानता था ग्रौर ग्रन्त में वह ठगा गया। संक्षेप में, उसकी

*एंगेल्स ने पेंसिल से हाशिये पर लिखा – "विभाजन – 'मेन रेखा'" (देखें प्रस्तुत खण्ड, पृ० २६७) – सं०

ओर से निश्चिन्त हो जाने के बाद "हृदय में छुरा घोंपने के लिए" इटली के साथ सहबंध सम्पन्न किया गया।

विभिन्न देशों के कूपमंडूक इस अभिव्यंजना पर बहुत क्रुद्धित हुए। परन्तु व्यर्थ ही! A la guerre comme à la guerre.* यह अभिव्यंजना केवल यह सिद्ध करती है कि बिस्मार्क ने १८६६ के जर्मन गृहयुद्ध को[116] उस रूप में, जिस रूप में वह था, अर्थात् **क्रान्ति** के रूप में माना और वह उस क्रान्ति को क्रान्तिकारी विधियों से सम्पन्न करने के लिए तैयार था। और उसने ऐसा किया भी। संघीय संसद के साथ उसका व्यवहार क्रान्तिकारी था। संघीय निकाय के संवैधानिक निर्णयों के आगे सिर झुकाने के बजाय उसने उस पर संघीय संधि का उल्लंघन—विशुद्ध बहाना!—करने का आरोप लगाया, संघ भंग कर दिया, क्रान्तिकारी सार्वजनिक मताधिकार के आधार पर निर्वाचित राइख़स्टाग समेत एक नया संविधान घोषित किया और अन्ततः संघीय संसद को फ़्रैंकफ़ुर्ट-आन-मेन से निष्कासित कर दिया।[117] ऊपरी सिलेशिया में उसने क्रान्तिकारी जनरल क्लाप्का तथा अन्य क्रान्तिकारी अफ़सरों की कमान में एक हंगेरियाई सैनिक टुकड़ी स्थापित की जिसके सैनिकों को, हंगरी के भगोड़े सैनिकों तथा युद्धबन्दियों को अपने ही वैध प्रधान सेनापति के ख़िलाफ़ लड़ना था।** बोहीमिया पर विजय के बाद बिस्मार्क ने "गौरवमय बोहीमियाई राज्य की आबादी के नाम" शीर्षक एक उद्घोषणा की जिसकी अन्तर्वस्तु लेजिटिमिस्ट परम्पराओं के सरासर विरुद्ध थी। शान्ति स्थापित हो जाने के बाद उसने प्रशा के लिए तीन वैध राजाओं—जर्मन संघ के सदस्यों की—तथा एक स्वतंत्र नगर*** की सारी सम्पत्ति छीन ली, इससे उसकी ईसाईयत से भरी लेजिटिमिस्ट अन्तरात्मा में इस तथ्य से ज़रा भी ग्लानि उत्पन्न नहीं हुई कि ये राजा भी "ईश्वर की अनुकम्पा से" वैसे ही शासक हैं जैसे प्रशा का राजा। संक्षेप में यह क्रान्तिकारी विधियों से की गयी पूर्ण क्रान्ति थी। हम इसके लिए उसकी क़तई भर्त्सना नहीं करेंगे। इसके विपरीत हम उसकी इस बात के लिए भर्त्सना करते हैं कि वह पर्याप्त रूप से क्रान्तिकारी नहीं था, कि वह केवल ऊपर से प्रशियाई क्रान्तिकारी था, कि उसने एक पूरी क्रान्ति ऐसी स्थिति में

---

*युद्ध में युद्ध की ही तरह।—सं०

**एंगेल्स ने यहां हाशिये पर पेंसिल से लिखा—"शपथ!"—सं०

***हैनोवर राज्य, हेस्सेन-कास्सेल एलेक्टोरेट, नस्साऊ रियासत तथा फ़्रैंकफ़ुर्ट-आन-मेन स्वतंत्र नगर।—सं०

शुरू की जहां से वह केवल आधी क्रान्ति सम्पन्न कर सका, कि अधिनहनों के रास्ते पर निकल पड़ने के बाद वह चार तुच्छ राज्यों को लेकर सन्तुष्ट हो गया।

तब लघु नेपोलियन लड़खड़ाते हुए आया और उसने अपने पुरस्कार की मांग की। वह राइन क्षेत्र में जो भी चाहता, उसे वह युद्ध के समय ले सकता था क्योंकि उस समय सारा इलाक़ा ही नहीं, वरन् दुर्ग भी अरक्षित थे। उसने हिचकिचाहट दिखायी; उसका ख़्याल था कि युद्ध इतना लम्बा चलेगा कि दोनों पक्ष बुरी तरह थक जायेंगे। परन्तु इसकी जगह एक के बाद दूसरा आघात होता गया और आस्ट्रिया आठ दिनों के अन्दर रौंद डाला गया। शुरू में उसने राइनी बवेरिया तथा माएन्ज़ समेत राइनी हेस्सेन मांगा जिनकी बिस्मार्क ने जनरल गोवोने से सम्भावित हरजाने के रूप में चर्चा की थी। परन्तु अब बिस्मार्क उन्हें देना भी चाहता तो नहीं दे सकता था। युद्ध में मिली विपुल सफलताओं ने उस पर नये दायित्व थोप दिये थे। ऐसे समय जब प्रशा अपने को जर्मनी के रक्षक के रूप में प्रतिष्ठापित कर चुका था, वह माएन्ज़ – मध्य राइन की कुंजी – दूसरे देश को नहीं बेच सकता था। बिस्मार्क ने इन्कार कर दिया। लूई नेपोलियन अब सौदेबाज़ी के लिए तैयार था। अब उसने केवल लक्सेमबर्ग, लैंडाऊ, सारलूई तथा सारब्रूक्के कोयला क्षेत्र की मांग की। पर बिस्मार्क अब इन्हें भी नहीं दे सकता था, इसलिए भी कि इस बार प्रशियाई इलाक़ा भी मांगा जा रहा था। लूई नेपोलियन ने इन्हें सही मौक़े पर, जिस समय प्रशियाई बोहीमिया में फंसे हुए थे, क्यों नहीं हथियाया? संक्षेप में हरजाने के रूप में फ़्रांस के हाथ कुछ नहीं लगा। बिस्मार्क जानता था कि इसका अर्थ फ़्रांस के साथ भविष्य में युद्ध है। परन्तु वह ठीक यही चाहता था।

शान्ति संधि में प्रशा ने इस बार अनुकूल परिस्थिति से उतनी बेरहमी से लाभ नहीं उठाया जितनी बेरहमी से वह सफलताओं के समय आम तौर पर उठाया करता था। इसके ठोस कारण थे। सैक्सनी तथा हेस्सेन-डार्म्सस्टाड नये उत्तर जर्मन महासंघ में शामिल किये गये और यदि अन्य कारण से नहीं, तो इसी कारण उन्हें छोड़ दिया गया था। बवारिया, वुर्टेम्बर्ग तथा बाडेन के साथ नरमी बरतना आवश्यक था क्योंकि बिस्मार्क को उनके साथ गुप्त आक्रमणात्मक तथा रक्षात्मक संधियों पर हस्ताक्षर करना था। रहा आस्ट्रिया – क्या उसे जर्मनी तथा इटली के साथ उलझाये रखनेवाले परम्परागत सूत्रों को नष्ट कर बिस्मार्क ने उसकी सेवा नहीं की थी? क्या वह उसके लिए पहली बार स्वतंत्र महान शक्ति

की चिर अभीप्सित स्थिति प्राप्त करने में अन्ततः सफल नहीं हुआ था? क्या वह यह बात स्वयं आस्ट्रिया से बेहतर नहीं जानता था कि बोहीमिया में उसपर विजय पाने के बाद आस्ट्रिया के लिए क्या बेहतर है? क्या आस्ट्रिया को—यदि ठीक से समझाया जाये—यह अनुभव नहीं करना था कि भौगोलिक स्थिति, दो देशों का क्षेत्रीय सामीप्य प्रशा द्वारा एकीकृत जर्मनी को आस्ट्रिया का अनिवार्य तथा स्वाभाविक साथी नहीं बना देते?

इस तरह हुआ यह कि अपने अस्तित्व के दौरान पहली बार प्रशा अपने को उदारता से आभामंडित कर सका—इसलिए कि उसने अधिक की प्राप्ति के लिए थोड़ी-सी हानि उठायी थी।

बोहीमियाई रणक्षेत्र में आस्ट्रिया ही नहीं, वरन् पूंजीपति वर्ग भी पराजित हुआ था। बिस्मार्क ने सिद्ध कर दिया था कि उसके लिए क्या बेहतर है, यह वह स्वयं उससे ज़्यादा बेहतर समझता है। सदन द्वारा संघर्ष जारी रखने का सवाल ही नहीं उठता था। पूंजीपति वर्ग की उदारतावादी आकांक्षाओं को बहुत लम्बे अर्से के लिए दफ़नाया जा चुका था, परन्तु उसकी राष्ट्रीय मांगों की नित्यप्रति अधिकाधिक पूर्त्ति हो रही थी। बिस्मार्क ने उसके राष्ट्रीय कार्यक्रम को जिसे द्रुत गति तथा शुद्धता के साथ पूरा किया, उससे वह स्वयं आश्चर्यचकित हो गया और पूंजीपति वर्ग को in corpore vili—उसके घृणित शरीर में—थलथलाहट, जड़ता तथा अपने कार्यक्रम को क्रियान्वित करने में उसकी पूर्णतया असमर्थता दिखाने के बाद उसने उसके प्रति अपार उदारता दर्शायी और अब वस्तुतः निरस्त्र हो चुके सदन में संघर्ष के दौरान असंवैधानिक शासन की ज़िम्मेवारी से मुक्ति की मांग की। सदन ने द्रवित होकर इस, अब अहानिकर हो चुके पग को सहमति प्रदान कर दी।[118]

फिर भी पूंजीपति वर्ग को याद दिलाया गया कि कोनिग्राट्ज़[119] में वह भी पराजित हुआ है। उत्तर जर्मन महासंघ के संविधान में प्रशियाई संविधान[120]—उस रूप में जिस रूप में उसकी प्रामाणिक व्याख्या संवैधानिक संघर्ष के दौरान हुई थी—के सांचे के अनुसार काट-छांट की गयी। करों की अदायगी से इन्कार पर पाबन्दी लगा दी गयी। संघीय चांसलर तथा उसके मंत्रियों को—उन्हें संसदीय बहुमत प्राप्त हो या न हो—प्रशा का राजा नियुक्त करता था। संघर्ष के ज़रिए सेना संसद से स्वतंत्र हो गयी, अब उसे राइख़स्टाग से भी यह स्वतंत्रता हासिल हो गयी थी। इसके बदले में राइख़स्टाग के सदस्यों को यह उदात्त अनुभूति प्रदान की गयी कि वे सार्वजनिक मताधिकार से निर्वाचित हुए हैं। उन्हें इसकी याद—

यह सच है कि सर्वाधिक असुखद रूप में—दो समाजवादियों* की उपस्थिति द्वारा दिलायी गयी जो उनके बीच बैठे थे। पहली बार समाजवादी सदस्य, सर्वहारा के प्रतिनिधि संसद में प्रकट हुए थे। यह अर्थपूर्ण लक्षण था।

आरम्भ में तो यह सब अमहत्त्वपूर्ण था। अब तो काम यह था कि पूंजीपति वर्ग के हित में राज्य की—कम से कम उत्तर जर्मनी की—नवप्राप्त एकता का विकास किया जाये और इस प्रकार दक्षिण जर्मन पूंजीपतियों को नये संघ की ओर आकर्षित किया जाये। संघीय संविधान ने आर्थिक दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण सम्बन्धों को पृथक्-पृथक् राज्यों के अधिकार क्षेत्र से हटाकर उन्हें संघ को सौंप दिया; ये सम्बन्ध थे—पूरे संघ में समान नागरिक अधिकार तथा उसके अन्दर इधर-उधर जाने की स्वतंत्रता, आवास का अधिकार, उद्योग धंधों, व्यापार, सीमाशुल्क, जहाज़रानी, तौल-माप, मुद्रा, रेल मार्गों, जलमार्गों, डाक-तार, पेटेंटों, बैंकों, पूरी विदेश नीति, कौंसुलेटों, विदेशों में व्यापार की रक्षा, स्वच्छता पुलिस, फ़ौजदारी क़ानून, अदालती कार्रवाइयों, आदि से सम्बन्धित क़ानून। इनमें से अधिकांश प्रश्न अब द्रुत गति से और सामान्यतया उदारतापूर्वक क़ानून द्वारा विनियमित हो गये। और तब जाकर ही—आख़िरकार!—छोटे राज्यों की प्रणाली की सबसे कुत्सित बुराइयां, एक ओर पूंजीवादी विकास को अवरुद्ध करनेवाली तथा दूसरी ओर प्रशा की सत्ता की आकांक्षाओं को अवरुद्ध करनेवाली बुराइयां मिटा दी गयीं। यह कोई विश्व ऐतिहासिक उपलब्धि नहीं थी जिसका पूंजीपति वर्ग, जो अब अंधराष्ट्रवादी बनता जा रहा था, ढोल पीट रहा था। यह तो उस चीज़ की बहुत विलम्बित तथा अपरिष्कृत नक़ल थी जो फ़्रांसीसी क्रान्ति सत्तर साल पहले हासिल कर चुकी थी तथा जिसे तमाम सुसंस्कृत राज्य बहुत पहले लागू कर चुके थे। शेखियां बघारने के बजाय इस बात पर लज्जित होना अधिक उपयुक्त होता कि "अत्यन्त ज्ञानोद्दीप्त" जर्मनी ने यह काम सबसे बाद में किया।

उत्तर जर्मन महासंघ की इस पूरी अवधि के दौरान बिस्मार्क तत्परता से जर्मन पूंजीपति वर्ग को आर्थिक प्रश्न के क्षेत्र में अनुग्रहीत करता रहा तथा संसद के अधिकार क्षेत्र-सम्बन्धी प्रश्नों में भी वह अपना लोहे का घूंसा मख़मली दस्ताने के अन्दर रखकर ही दिखाता था। यह उसका सर्वोत्तम समय था; कभी-कभी तो इस बात पर भी सन्देह होने लगता था कि उसमें विशिष्ट प्रशियाई संकीर्ण

*अगस्त बेबेल तथा विल्हेल्म लीब्कनेख़्त।—सं०

मनोवृत्ति है, कि वह यह अनुभव करने में असमर्थ है कि विश्व इतिहास में सेनाओं तथा उनका सहारा लेनेवाली राजनयिक साज़िशों से भी बड़ी शक्तियां हैं।

आस्ट्रिया के साथ शान्ति के गर्भ में फ़्रांस के साथ युद्ध अन्तर्निहित है, बिस्मार्क को न केवल इसका ज्ञान था अपितु वह यह चाहता भी था। यही युद्ध उस प्रशियाई-जर्मन साम्राज्य के निर्माण को पूर्ण करने का साधन मुहैया करता जिसकी पूंजीपति वर्ग ने उससे मांग की थी।* सीमाशुल्क संसद[122] को धीरे-धीरे राइख़स्टाग में परिणत करने और इस तरह दक्षिणी राज्यों को एक-एक कर उत्तर जर्मन महासंघ में लाने की चेष्टाओं पर दक्षिण जर्मन सदस्यों के इन तीक्ष्ण आह्वानों ने पानी फेर दिया – अधिकार क्षेत्र का कोई विस्तार नहीं! लड़ाई के मैदान में अभी-अभी परास्त सरकारों की चित्तप्रवृत्ति भी ज्यादा अनुकूल नहीं थी। यह इस बात का एक नया, ज़ोरदार प्रमाण है कि प्रशा इन सरकारों से ज्यादा ताक़तवर ही नहीं, वरन् इतना ताक़तवर भी है कि उनकी रक्षा कर सकता है, अर्थात् एक नया अखिल जर्मन यद्ध ही उनकी पराजय के क्षण को तेज़ी से समीप ला सकता है। इसके अलावा मेन नदी पर विभाजन रेखा[123], जिस पर बिस्मार्क तथा लूई नेपोलियन पहले से गुप्त रूप में सहमत हो गये थे, विजय के बाद प्रशा पर लूई नेपोलियन द्वारा थोपी गयी प्रतीत हो रही थी; उस सूरत में दक्षिण जर्मनी के साथ एकीकरण विखंडित जर्मनी पर फ़्रांस के औपचारिक रूप में मान्य अधिकार का उल्लंघन था, casus belli** था।

इस बीच लूई नेपोलियन के लिए जर्मन सीमा के पास ज़मीन का कोई ऐसा टुकड़ा ढूंढ़ना ज़रूरी था जिसे वह सादोवा के हरजाने के रूप में हथिया सके। जब उत्तर जर्मन महासंघ की स्थापना हुई तो लक्सेमबर्ग उसमें शामिल नहीं था

---

*आस्ट्रियाई युद्ध से भी पहले जब केन्द्रीय जर्मन राज्य के एक मंत्री ने बिस्मार्क से उसकी शब्दाडम्बरपूर्ण जर्मन नीति के बारे में सवाल किया तो उसने उत्तर दिया कि समस्त कथनों के बावजूद वह आस्ट्रिया को जर्मनी से बाहर खदेड़ेगा, तथा जर्मन महासंघ को भंग कर देगा। "और क्या आपका ख़्याल है कि केन्द्रीय राज्य ख़ामोशी से देखते रहेंगे?" – "आप, केन्द्रीय राज्य, कुछ भी नहीं करेंगे।" – "तो जर्मनों का क्या होगा?" – "मैं तब उनकी पेरिस तक रहनुमाई और वहां उनका एकीकरण करूंगा।" (केन्द्रीय राज्य के सम्बन्धित मंत्री द्वारा आस्ट्रियाई युद्ध से पहले कहे गये शब्द तथा «*Manchester Guardian*»[124] में उसकी पेरिस स्थित सम्वाददाता श्रीमती क्राफ़ोर्ड द्वारा युद्ध के समय प्रकाशित।)

**युद्ध करने का कारण। – सं०

जो वैसे तो निजी तौर पर हॉलैंड के साथ ऐक्यबद्ध था परन्तु अन्यथा पूर्णतः स्वतंत्र था। इसके अलावा उसका अल्सास जितना ही फ़्रांसीसीकरण किया गया था और वह प्रशा की तुलना में, जिससे उसे निश्चित रूप से घृणा थी, फ़्रांस की ओर कहीं अधिक आकृष्ट था।

मध्य युगों के अन्त से जर्मनी की राजनीतिक बदहाली के कारण जर्मन-फ़्रांसीसी सीमावर्ती क्षेत्र के साथ क्या कुछ हुआ लक्सेमबर्ग इसका ज्वलन्त प्रमाण है; इसलिए भी अधिक ज्वलन्त प्रमाण है कि लक्सेमबर्ग १८६६ तक औपचारिक रूप से जर्मनी का था। १८३० तक वह आधा फ़्रांसीसी और आधा जर्मन था, परन्तु जर्मन भाग ने श्रेष्ठ फ़्रांसीसी संस्कृति को अपना लिया था। लक्सेमबर्ग के जर्मन सम्राट भाषा तथा शिक्षा दोनों दृष्टि से फ़्रांसीसी थे। बारगण्डी क्षेत्र में मिलाये जाने के बाद से (१४४०) लक्सेमबर्ग नीदरलैंडस की भांति जर्मनी के साथ केवल नाममात्र के लिए जुड़ा रहा। १८१५ में जर्मन महासंघ में उसका सम्मिलन भी कोई तब्दीली नहीं लाया। १८३० के बाद उसका फ़्रांसीसी हिस्सा तथा जर्मन भाग का काफ़ी बड़ा अंश बेल्जियम के साथ मिला दिये गये। परन्तु लक्सेमबर्ग के शेष जर्मन हिस्से में सब कुछ फ़्रांसीसी ढंग के अनुसार होता रहा – अदालतों, सरकारी संस्थानों, सदन में सारी कार्रवाइयां फ़्रेंच भाषा में होती रहीं; सारी सार्वजनिक तथा निजी दस्तावेज़ें, सारा व्यापारिक हिसाब-किताब फ़्रेंच भाषा में रखा जाता था, माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम फ़्रेंच ही था; फ़्रेंच शिक्षितों की भाषा थी और बनी रही – कहना न होगा कि इस बेचारी फ़्रेंच को व्यंजनों के ऊपरी जर्मन क्रम-परिवर्तनों का बोझ सहना पड़ा। संक्षेप में लक्सेमबर्ग में दो भाषाएं बोली जाती थीं – राइन-फ़्रांक जन बोली तथा फ़्रेंच जबकि ऊपरी जर्मन परायी भाषा बनी रही। राजधानी में प्रशियाई गैरीज़न ने स्थिति को सुधारने के बजाय और भी बिगाड़ दिया। यह सब कुछ जर्मनी के लिए काफ़ी शर्मनाक है परन्तु यह तथ्य ही है। और लक्सेमबर्ग का स्वैच्छिक फ़्रांसीसीकरण अल्सास तथा जर्मन लोरेन में इस जैसी प्रक्रियाओं को सही रोशनी में पेश कर देता है।

हॉलैंड का राजा*, लक्सेमबर्ग का ड्यूक, जिसे उस समय नक़दी की सख़्त ज़रूरत थी, रियासत लूई नेपोलियन को बेच सकता था। लक्सेमबर्ग की जनता अपनी भूमि फ़्रांस में मिलाये जाने का निस्सन्देह अनुमोदन कर देती – इसका प्रमाण था १८७० में उसका रुख़। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के दृष्टिकोण से प्रशा कोई आपत्ति

* विल्हेल्म तृतीय। – सं०

नहीं कर सकता था क्योंकि उसने ख़ुद लक्सेमबर्ग को जर्मनी से बाहर कराया था। उसके सैनिक लक्सेमबर्ग की राजधानी में संघीय जर्मन दुर्ग के संघीय गैरीज़न के रूप में तैनात थे; ज्यों ही लक्सेमबर्ग संघीय दुर्ग नहीं रहा, उनके वहां सभी अधिकार ख़त्म हो गये थे। वे वहां से क्यों नहीं गये? बिस्मार्क क्यों इस अधिनहन पर सहमत नहीं हो सका?

केवल इसलिए कि वे अन्तर्विरोध, जिनमें वह उलझ गया था, अब स्पष्ट होते जा रहे थे। जहां तक प्रशा का सम्बन्ध है, १८६६ **से पहले** जर्मनी अधिनहनार्थ इलाक़ा मात्र था जिसे दूसरे देशों के साथ बांटना पड़ता था। १८६६ **के बाद** जर्मनी प्रशा का **संरक्षित इलाक़ा बन** गया जिसकी विदेशी पंजों से रक्षा करना ज़रूरी था। हां, प्रशा के हितार्थ, पूरे के पूरे जर्मन प्रदेशों को तथाकथित नवस्थापित जर्मनी से बाहर रखा गया। परन्तु अपने पूरे इलाक़े पर जर्मन राष्ट्र के अधिकार ने प्रशियाई सिंहासन पर यह कर्त्तव्य थोप दिया था कि वह भूतपूर्व संघीय इलाक़े के इन भागों को विदेशी राज्यों में मिलाये जाने से रोके, इन्हें भविष्य में नये प्रशियाई-जर्मन राज्य में मिलाने के लिये द्वार खुला रखे। इसी वजह से इटली को टिरोलियन सीमा पर रोक लिया गया था[124] और इसी वजह से लक्सेमबर्ग को लूई नेपोलियन के पक्ष में जाने की इजाज़त नहीं दी जा सकती थी। सही अर्थों में क्रान्तिकारी सरकार इसकी खुली घोषणा कर सकती थी, परन्तु शाही-प्रशियाई क्रान्तिकारी नहीं कर सकता था जो जर्मनी को अन्ततः मेट्टरनिख की "भौगोलिक अवधारणा"[125] में रूपान्तरित करने में सफल हो गया था। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के दृष्टिकोण से उसने अपने को क़ानून के उल्लंघनकर्त्ता की स्थिति में पहुंचा दिया था और कठिनाई से बचने के लिए एकमात्र रास्ता यह था कि वह अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की अपनी वह मनपसन्द परिभाषा करे जो किसी छात्र संघ के सदस्य मयख़ानों में करते हैं।

यदि ऐसा करते समय उसका मखौल नहीं उड़ाया गया तो इसकी वजह सिर्फ़ यह थी कि १८६७ के वसन्त में लूई नेपोलियन किसी बड़े युद्ध के लिए तैयार नहीं था। लन्दन कांफ़्रेंस में समझौता सम्पन्न हो चुका था। प्रशियाइयों ने लक्सेमबर्ग ख़ाली कर दिया था, क़िलेबन्दी गिरा दी गयी थी, रियासत तटस्थ घोषित कर दी गयी[126]। युद्ध फिर से स्थगित कर दिया गया।

लूई नेपोलियन इससे सन्तुष्ट होनेवाला नहीं था। वह प्रशा के दृढ़ीकरण के लिए तैयार था बशर्ते उसे राइन में कुछ निश्चित हरजाना मिल जाता। वह थोड़े पर ही सन्तुष्ट होने को तैयार था, वह उस न्यूनतम को भी घटा देता,

परन्तु उसे तो कुछ भी नहीं मिला था, पूरी तरह ठग लिया गया था। परन्तु फ़्रांस में बोनापार्ती साम्राज्य तभी टिका रह सकता था जब फ़्रांसीसी सीमा धीरे-धीरे राइन की ओर बढ़ती और जब फ़्रांस—वास्तविक रूप में या कम से कम काल्पनिक रूप में ही सही—यूरोप का पंच बना रहता। सीमा के प्रसार में सफलता नहीं मिली, पंच के रूप में फ़्रांस की स्थिति ख़तरे में थी, बोनापार्तपंथी अख़बार गला फाड़-फाड़कर सादोवा का प्रतिशोध लेने की मांग कर रहे थे; यदि लूई नेपोलियन अपना सिंहासन क़ायम रखना चाहता था तो यह जरूरी था कि वह अपनी भूमिका के प्रति निष्ठावान रहे तथा बल-प्रयोग से वह हासिल करे जो उसे अपनी सेवाओं के बावजूद शान्ति से नहीं मिल सका था।

दोनों पक्षों ने उत्सुकतापूर्वक युद्ध की तैयारियां शुरू कर दीं—राजनयिक तथा फ़ौजी, दोनों तरह की। इस बीच एक राजनयिक घटना हो गयी।

स्पेन सिंहासन के लिए एक उम्मीदवार की तलाश में था। मार्च* में बर्लिन स्थित फ़्रांसीसी राजदूत बेनेदेत्ती को यह अफ़वाहें सुनने को मिलीं कि होहेनज़ालर्न का राजकुमार लियोपोल्ड सिंहासन पर दावा कर रहा है; उसे पेरिस से मामले की छानबीन करने का आदेश मिला। उपविदेश मंत्री फ़ोन टाइल ने उससे शपथपूर्वक कहा कि प्रशियाई सरकार को इस बारे में कुछ भी मालूम नहीं है। पेरिस में बेनेदेत्ती को सम्राट की यह राय मालूम हुई—"यह उम्मीदवारी स्पष्टतः राष्ट्र विरोधी है, देश इससे सहमत नहीं होगा, इसे रोका जाना चाहिए।"

इस तरह लूई नेपोलियन ने यह दिखा दिया कि उसकी स्थिति कमज़ोर होती जा रही है। वस्तुतः "सादोवा का" इससे बेहतर "प्रतिशोध" और क्या हो सकता था कि स्पेन में सिंहासन पर प्रशियाई राजकुमार बैठे, इसके परिणामस्वरूप अनिवार्यतः मनोमालिन्य पैदा हो, प्रशा स्पेनी पार्टियों के आन्तरिक सम्बन्धों की लपेट में आ जाये, सम्भवतः युद्ध तक हो जाये, बौनी प्रशियाई नौसेना पराजित हो जाये, पर कुछ भी हो यूरोप की नज़रों में प्रशा की स्थिति उपहासास्पद हो जाये। परन्तु इस तरह का नाटक रचना लूई बोनापार्त की सामर्थ्य के बाहर की चीज़ हो गयी थी। उसकी साख इतनी गिर चुकी थी कि उसे विवश होकर वह परम्परागत दृष्टिकोण अंगीकार करना पड़ा जिसके अनुसार स्पेन के सिंहासन पर जर्मन सम्राट के आसीन होने से फ़्रांस एक ओर कुआँ और दूसरी ओर आग

* १८६९। —सं०

के बीच होगा और इसलिए यह स्थिति अस्वीकार्य है—यह दृष्टिकोण १८३० के बाद एक बचकाना दृष्टिकोण था।

बेनेदेत्ती और जानकारी लेने तथा फ़्रांस की स्थिति स्पष्ट करने के लिए बिस्मार्क से मिला (११ मई १८६९)। उसे बिस्मार्क से कोई निश्चित जानकारी नहीं मिली। परन्तु बिस्मार्क को बेनेदेत्ती से वह जानकारी मिल गयी जो वह मालूम करना चाहता था—यह कि लियोपोल्ड की नामज़दगी का अर्थ फ़्रांस के साथ तत्काल युद्ध होगा। इस तरह बिस्मार्क को यह सम्भावना उपलब्ध हो गयी कि युद्ध को ऐसे समय छिड़ने दिया जाये जब यह उसके लिए उपयुक्त हो।

वस्तुतः, लियोपोल्ड की उम्मीदवारी जुलाई १८७० में फिर उभरकर सामने आयी और फलस्वरूप लूई नेपोलियन के कितने ही प्रतिरोध के बावजूद युद्ध छिड़ गया। उसने केवल यही नहीं देखा कि वह सीधे जाल में फंस गया है अपितु वह यह भी जान गया कि उसका सम्राटत्व दांव पर लगा दिया गया है। उसे अपने बोनापार्तपंथी बदमाशों के गिरोह[127] की निष्ठा पर बहुत कम विश्वास था जिन्होंने उसे यक़ीन दिलाया था कि ऊपर से लेकर नीचे तक सब कुछ तैयारी की स्थिति में है। और उनके फ़ौजी तथा प्रशासनिक कौशल में तो उसका विश्वास और भी कम था। परन्तु उसके अपने अतीत के तर्कसंगत परिणामों ने उसे सर्वनाश की ओर धकेला; उसकी हिचकिचाहट भी उसके अन्त को समीप ले आयी।

दूसरी ओर, बिस्मार्क युद्ध के लिए फ़ौजी दृष्टि से तैयार ही नहीं था, इस बार तो उसे सचमुच अपनी जनता का समर्थन प्राप्त था जो दोनों पक्षों की राजनयिक झूठी बातों के बीच केवल एक चीज़ पहचान रही थी, यानी यह कि यह युद्ध केवल राइन के लिए ही नहीं, वरन् राष्ट्रीय अस्तित्व के लिए भी है। १८१३ के बाद पहली बार रिज़र्व सैनिक और लैंडवेहर के सैनिक फिर एकजुट हुए, वे लड़ने के लिए इच्छुक तथा उत्सुक थे। यह महत्त्व की चीज नहीं थी कि यह सब कैसे हुआ, यह महत्त्व की चीज़ नहीं थी कि बिस्मार्क ने दो हज़ार वर्ष पुरानी राष्ट्रीय विरासत का कौनसा अंश लूई नेपोलियन को अपनी ज़िम्मेदारी पर देने का वचन दिया था या नहीं दिया था,—असल चीज़ थी दूसरे देशों को सदा-सर्वदा के लिए यह सिखा देना कि उन्हें आगे से जर्मनी के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना है और जर्मन भूमि का एक अंश देकर लूई नेपोलियन के डांवांडोल हो रहे सिंहासन को सहारा देना जर्मन मिशन नहीं है। इस राष्ट्रीय उभार के सामने सारे वर्ग-भेद लुप्त हो गये, दक्षिण जर्मन राजदरबारों के एक

राइनी संघ के लिए सारी आकांक्षाएं, निर्वासित सम्राटों को पुनः प्रतिष्ठित करने की सारी चेष्टाएं विलीन हो गयीं।

दोनों पक्ष मित्र राष्ट्रों की तलाश में थे। लूई नेपोलियन को आस्ट्रिया तथा डेनमार्क पर पूरा-पूरा, और कुछ हद तक इटली पर भरोसा था। बिस्मार्क की ओर रूस था। परन्तु हमेशा की तरह आस्ट्रिया तैयार नहीं था तथा २ सितम्बर तक कारगर ढंग से भाग नहीं ले सका, पर २ सितम्बर तक लूई नेपोलियन जर्मनों का युद्धबन्दी बन चुका था; फिर रूस आस्ट्रिया को सूचित कर चुका था कि वह उसी क्षण उस पर हमला कर देगा जिस क्षण आस्ट्रिया प्रशा पर हमला करेगा। इटली में नेपोलियन को अपनी दोमुंही नीति की क़ीमत चुकानी पड़ी; वह राष्ट्रीय एकता को गतिशील करना चाहता था परन्तु साथ ही पोप की ठीक उसी राष्ट्रीय एकता से रक्षा भी करना चाहता था; उसने रोम पर अपने उन सैनिकों की मदद से आधिपत्य क़ायम रखा जिनकी उसे देश में ज़रूरत थी और जिन्हें वह रोम तथा पोप की प्रभुसत्ता का सम्मान करने के लिए इटली को बाध्य किये बिना नहीं हटा सकता था। इस चीज़ ने उधर इटली को उसे समर्थन देने से रोक दिया। डेनमार्क को रूस से आदेश मिला कि वह ठीक से पेश आये।

श्पीख़र्न और वोर्थ से सेदान तक[128] जर्मन सेनाओं के द्रुत आघात युद्ध को सीमित रखने के लिए तमाम राजनयिक वार्ताओं से ज़्यादा निर्णायक सिद्ध हुए। लूई नेपोलियन की फ़ौज हर लड़ाई में परास्त हुई और अन्ततः उसके तीन-चौथाई हिस्से ने अपने को जर्मन युद्धबन्दियों के रूप में पाया। यह सैनिकों का दोष नहीं था जो काफ़ी बहादुरी से लड़े थे। यह तो नेताओं तथा प्रशासन का दोष था। परन्तु जो कोई नेपोलियन की तरह बदमाशों के एक गिरोह की मदद से अपने साम्राज्य की स्थापना करे, जो कोई फ़्रांस को शोषण के लिए उस गिरोह के हवाले करके ही साम्राज्य पर अठारह वर्षों तक अपनी सत्ता क़ायम रखे, जो कोई राज्य के तमाम उच्च पदों को उस गिरोह के लोगों से और मातहत पदों को उन लोगों के संगी-साथियों से भरे तो फिर असहाय स्थिति में न पहुंचने का भय दिखाकर ज़िंदगी और मौत की लड़ाई नहीं छेड़ी जानी चाहिए। साम्राज्य का पूरा ढांचा, जिसे वर्षों तक यूरोपीय कूपमंडूक प्रशंसा भरी दृष्टि से देखते रहे, पांच सप्ताह से कम समय में ढह गया। ४ सितम्बर की क्रान्ति[129] ने कूड़ा-करकट साफ़ कर दिया और बिस्मार्क ने जो एक छोटे जर्मन साम्राज्य की स्थापना के लिए युद्ध के मैदान में उतरा था, एक दिन अपने को फ़्रांसीसी जनतंत्र का संस्थापक पाया।

बिस्मार्क की अपनी घोषणानुसार युद्ध फ़्रांसीसी जनता के खिलाफ़ नहीं, वरन् लूई नैपोलियन के खिलाफ़ किया गया था। उसके पतन के साथ युद्ध जारी रखने की कोई वजह नहीं रह गयी थी। ४ सितम्बर की सरकार भी, जो दूसरे मामलों में इतनी भोली नहीं थी, यही सोचती थी और उसे अत्यन्त आश्चर्य हुआ जब बिस्मार्क ने एकाएक अपने को प्रशियाई युंकर के रूप में प्रकट किया।

दुनिया में फ़्रांसीसियों से प्रशियाई युंकरों से अधिक घृणा और कोई नहीं करता। यह इसलिए नहीं कि तब तक कर मुक्त युंकर ने अपने ही घमंड के कारण फ़्रांसीसियों द्वारा दंडित किये जाने की अवधि में (१८०६ से १८१३ तक) भारी कष्ट उठाया था, बल्कि इसलिए भी कि – और वह और भी बुरी बात थी – निरीश्वरवादी फ़्रांसीसियों ने अपनी डरावनी क्रान्ति से जनता को इतना दिग्भ्रमित किया था कि पुराने प्रशा तक में युंकरों की पुरानी भव्यता नष्ट हो गयी थी और उस भव्यता से जो कुछ बचा रह गया था, उसे सम्भालने के लिए बेचारे युंकरों को वर्ष प्रति वर्ष भारी संघर्ष करना पड़ा था और उनमें से बहुत-से दयनीय परजीवी अभिजातों के स्तर पर जा पहुंचे थे। इसके लिए फ़्रांस से बदला लेना ही था और इस बात को बिस्मार्क के नेतृत्व में सेना के युंकर अफ़सरों ने ध्यान में भी रखा। फ़्रांस द्वारा प्रशा से वसूल किये गये युद्ध के हरजानों की फ़ेहरिस्त तैयार की गयी तथा अलग-अलग नगरों तथा ज़िलों पर उसी हिसाब से थोपे जानेवाले युद्ध के हरजानों का परिमाण निर्धारित किया गया और इसमें स्वभावतया फ़्रांस की कहीं अधिक सम्पदा को ध्यान में रखा गया। खाद्य पदार्थ, चारा, कपड़े, जूते, आदि प्रत्यक्ष निर्ममता के साथ हथियाये गये। आर्देनीज़ के किसी एक मेयर ने जब कहा कि वह डिलीवरियां करने में असमर्थ है तो आगे कुछ भी कहे-सुने बिना उस पर पच्चीस कोड़े लगाये गये; यह बात पेरिस सरकार अधिकृत रूप से सिद्ध कर चुकी है। फ़्रैंक तिरयुरों को[130], जिन्होंने १८१३ के प्रशियाई "लैंडस्टूम अध्यादेश"[131] के अनुरूप इतनी कड़ाई के साथ काम किया था मानो उन्होंने उसका विशेष अध्ययन किया हो, ज़रा भी रहम दिखाये बिना गोली से उड़ा दिया गया। दीवार घड़ियां उठाकर ले जाने के क़िस्से भी सही हैं, «*Kölnische Zeitung*»[132] तक ने यह ख़बर छापी है। उधर प्रशियाइयों के अनुसार ये घड़ियां चुरायी नहीं गयी थीं, वे तो पेरिस के उपनगरीय घरों में परित्यक्तावस्था में मिलीं जिन्हें अपने देश में प्रियजनों की ख़ातिर ज़ब्त कर लिया गया था। इस तरह बिस्मार्क के मातहत युंकरों ने यह सुनिश्चित किया कि सैनिकों तथा बहुसंख्य

अफ़सरों के निष्कलंक आचरण के बावजूद युद्ध का विशिष्ट प्रशियाई चरित्र अक्षुण्ण बना रहे और यह बात फ़्रांसीसियों को समझा दी जाये जिन्होंने युंकरों की टुच्ची नीचता के लिए पूरी सेना को उत्तरदायी ठहराया।

इस सब के बावजूद फ़्रांसीसी जनता को इतिहास में अतुलनीय गौरव प्रदान करने का काम ठीक इन्हीं युंकरों के हिस्से में आया। पेरिस की घेराबन्दी उठाने के लिए दुश्मन को मजबूर करने की जब तमाम कोशिशें नाकाम हो गयीं, सारी फ़्रांसीसी फ़ौजों को पीछे धकेल दिया गया और जर्मन संचार-लाइन पर बूर्बाकी का अन्तिम प्रत्याक्रमण भी निष्फल सिद्ध हुआ; जब यूरोप की सारी कूटनीति ने ज़रा भी उंगली उठाये बिना फ़्रांस को उसके भाग्य के सहारे छोड़ दिया, भूखों मरते पेरिस को घुटने टेकने पड़े। युंकरों के हृदयों की धड़कनें उस समय तेज़ हो गयीं जब उनके लिए अन्ततः विजेताओं के रूप में नास्तिकों के इस घोंसले में घुसने की और पेरिस के विप्लवियों से प्रतिशोध लेने की, ऐसा प्रतिशोध लेने की सम्भावना पैदा हो गयी जिसकी १८१४ में रूसी सम्राट अलेक्सान्द्र ने तथा १८१५ में वेलिंगटन ने मनाही कर दी थी। अब वे क्रान्ति के अड्डे तथा जन्मभूमि को जी भरकर दंडित कर सकते थे।

पेरिस ने घुटने टेक दिये; उसने २० करोड़ का हरजाना दिया; क़िले प्रशियाइयों के हवाले कर दिये गये; गैरीज़न ने विजेताओं के आगे हथियार डाल दिये और अपनी मैदानी तोपें भी सौंप दीं; पेरिस की दीवारों पर रखी तोपों को तोपगाड़ियों से अलग कर दिया गया; प्रतिरोध के लिए राज्य के तमाम साधन एक-एक कर सौंप दिये गये। परन्तु पेरिस के वास्तविक रक्षक—नेशनल गार्ड, पेरिस की सशस्त्र जनता—को स्पर्श नहीं किया गया, कोई उनसे यह अपेक्षा नहीं कर सकता था कि वे अपने हथियार—राइफ़लें भी और तोपें* भी—छोड़ देंगे। दुनिया भर को यह दिखाने के लिए कि विजयी जर्मन सेना पेरिस की सशस्त्र जनता के सामने श्रद्धापूर्वक रुक गयी है, विजेता पेरिस में दाख़िल नहीं हुए पर वे तीन दिन तक चैम्पस एलिज़े मैदान—सार्वजनिक पार्क!—पर अपना क़ब्ज़ा रहने दिये जाने से सन्तुष्ट हो गये जहां उन्होंने अपने को चारों ओर से पेरिस

*ये ही वे तोपें थीं जो राष्ट्रीय गार्ड की थीं, राज्य की नहीं। इसलिए उन्हें प्रशियाइयों के हवाले नहीं किया गया, उन्हें पेरिसवासियों के पास से थियेर ने १८ मार्च १८७१ को **चुराने** का आदेश दिया था, जो विद्रोह का प्रत्यक्ष कारण बना जिससे फिर पेरिस कम्यून ने जन्म लिया।

प्रहरियों द्वारा रक्षित तथा घिरा हुआ पाया! एक भी जर्मन सैनिक ने पेरिस सिटी हाल में पांव नहीं रखा, एक भी बुलेवार में चहलक़दमी नहीं की; जिन चन्द लोगों को लूव्रे में कला भंडार की सराहना करने के लिए प्रवेश करने दिया गया, उन्हें इसकी इजाज़त लेनी पड़ी थी वरना यह आत्मसमर्पण की शर्तों का उल्लंघन होता। फ़्रांस पराजित हो गया था, पेरिस भूखों मर रहा था परन्तु पेरिस की जनता अपने कीर्तिमय अतीत के बल पर ऐसे सम्मान का पात्र बनी कि एक भी विजेता उसके निरस्त्रीकरण की मांग करने की हिम्मत नहीं कर सका, एक की भी उनके घर की तलाशी लेने या उन सड़कों पर विजयपूर्वक मार्च करने की हिम्मत नहीं हुई जो इतनी सारी क्रान्तियों का रणक्षेत्र रह चुकी थीं। ऐसे प्रतीत होता था मानो छिछोरे जर्मन सम्राट ने* पेरिस के सजीव क्रान्तिकारियों के आगे उसी तरह अपना शीश नवा दिया था जिस तरह उसके भाई ने** कभी बर्लिन के मृत मार्च योद्धाओं[133] के आगे शीश नवाया था और मानो पूरी जर्मन सेना सम्राट के पीछे खड़ी होकर सलामी दे रही हो।

परन्तु यही वह एकमात्र क़ुर्बानी थी जो बिस्मार्क को देनी पड़ी थी। इस बहाने से कि फ़्रांस में उसके साथ शान्ति संधि सम्पन्न करने में समर्थ कोई सरकार नहीं है – यह बात ४ सितम्बर तथा २८ जनवरी दोनों मौक़ों पर उतनी ही सच थी जितनी कि झूठी[134] – उसने अपनी सफलताओं को सच्चे प्रशियाई ढंग से, अन्तिम मात्रा तक इस्तेमाल किया और फ़्रांस के पूरी तरह कुचले जाने के बाद ही शान्ति के लिए तैयार हुआ। शान्ति संधि में उसने फिर शुद्ध प्रशियाई ढंग के अनुसार "अनुकूल स्थिति का निर्ममतापूर्वक उपयोग किया"। हरजाने के रूप में पांच अरब की अश्रुतपूर्व राशि ही नहीं वसूली गयी, वरन् दो प्रान्त मेत्ज़ तथा स्ट्रासबुर्ग सहित अल्सास तथा जर्मन लोरेन भी फ़्रांस से अलग कर जर्मनी में मिला दिये गये। यह अधिनहन करके बिस्मार्क ने पहली बार एक स्वतंत्र राजनीतिज्ञ के रूप में काम किया जो बाहर से निर्देशित कार्यक्रम पर अपने ढंग से अमल ही नहीं कर रहा था, वरन् अपने दिमाग़ की उपज को मूर्त्त रूप दे रहा था; पर इस तरह उसने अपनी पहली भयानक भूल की।

अल्सास मूलतया फ़्रांस ने तीसवर्षीय युद्ध में ही जीता था। रिशेले ने इस तरह हेनरी चतुर्थ के इस कारगर सिद्धान्त का परित्याग कर दिया था –

---

* विल्हेल्म प्रथम। – सं०

** फ़्रेडरिक-विल्हेल्म चतुर्थ। – सं०

"जिस भूमि पर स्पेनी भाषा बोली जाती है, वह स्पेनियों की ही रहे, जिस भूमि पर जर्मन भाषा बोली जाती है, वह जर्मनों की रहे, लेकिन जिस भूमि पर फ़्रेंच भाषा बोली जाती है, वह मेरी है।"

इस मामले में रिशेले ने राइन पर प्राकृतिक सीमा के, पुराने गाल की ऐतिहासिक सीमा के सिद्धान्त को अपना आधार बनाया। यह मूर्खता थी; परन्तु जर्मन साम्राज्य को, जिसने लोरेन और बेल्जियम के फ़्रेंच भाषाभाषी क्षेत्रों को, और यही नहीं, फ़्रांश-कोम्ते तक को अपनी भूमि में शामिल किया था, जर्मन भाषाभाषी क्षेत्रों को अपनी भूमि में मिलाने के लिए फ़्रांस को उलाहना देने का कोई अधिकार नहीं था। और यदि १६८१ में भी, शान्ति काल में, लूई चौदहवें ने फ़्रांसीसियों का समर्थन करनेवाली पार्टी[135] की मदद से स्ट्रासबुर्ग को हथियाया था तो प्रशा को उस पर रोष नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसने १७९६ में स्वतंत्र शाही नगर नूरेम्बर्ग पर बिल्कुल उसी तरह का—असफलतापूर्वक ही सही—बलात्कार किया था, जिसमें आने का उसे किसी प्रशियाई पार्टी ने आमंत्रण नहीं दिया।*

---

*लूई चौदहवें को यह उलाहना दिया जाता है कि उसने शान्ति काल में भी उन जर्मन क्षेत्रों की ओर, जो उसके अपने नहीं थे, अपने "एकीकरण सदनों"[136] को लक्षित कर दिया था। यह कुछ ऐसी बात है जो प्रशियाइयों के बारे में नहीं कही जा सकती, उन लोगों द्वारा भी जिनके मन में उनके प्रति घोर कुत्सापूर्ण ईर्ष्या थी। बात इसके विपरीत थी। शाही संविधान का प्रत्यक्ष उल्लंघन करते हुए १७९५ में फ़्रांस के साथ पृथक् शान्ति संधि सम्पन्न कर चुकने तथा पहले उत्तर जर्मन महासंघ में सीमा रेखा के पीछे अपने उतने ही ग़ैरवफ़ादार पड़ोसियों को अपने साथ गोलबन्द कर चुकने के बाद उन्होंने फ़्रैंकोनिया के इलाक़े का अधिनहन करने के लिए उस विकट स्थिति का उपयोग किया जिसमें आस्ट्रिया के साथ मिलकर अकेले युद्ध जारी रखने के परिणामस्वरूप साम्राज्य के दक्षिण जर्मन पदाधिकारियों ने अपने को पाया। उन्होंने आंसबाख़ तथा बाइरेइत में (जो तब प्रशियाई थे) लूई के माडेल के अनुसार "एकीकरण सदन" स्थापित किये, और पड़ोस के कई इलाक़ों पर अपना दावा किया जिसकी तुलना में लूई के क़ानूनी दावे बिल्कुल सही और विश्वासयोग्य जंचते थे। और जब जर्मन मार खाने के बाद पीछे हटे और फ़्रांसीसी फ़्रांकोनिया में आये तो प्रशियाई परित्राताओं ने नूरेम्बर्ग पर—नगर दीवार तक—क़ब्ज़ा कर डाला तथा भय से कांपते नूरेम्बर्ग के कूपमंडकों

१७३५ में आस्ट्रिया ने वियेना की शान्ति संधि के अन्तर्गत सौदेबाज़ी में लोरेन को फ़्रांस के हवाले कर दिया और १७६६ में उस पर पूर्ण रूप से फ़्रांसीसी स्वामित्व स्थापित हो गया। शताब्दियों तक वह नाम मात्र के लिए ही जर्मन साम्राज्य का अंग था; उसके ड्यूक हर दृष्टि से फ़्रांसीसी होते थे तथा प्रायः सदैव फ़्रांस के साथ संघबद्ध रहते थे।

फ़्रांसीसी क्रान्ति तक वोगेज़ में बहुत-सी छोटी-छोटी रियासतें थीं जो जर्मनी के प्रति सम्राट के अधीनस्थ क्षेत्र जैसा व्यवहार करते थे परन्तु वे फ़्रांस की प्रभुसत्ता स्वीकार करते थे। ये रियासतें इस दुहरी स्थिति का लाभ उठाती थीं। यदि जर्मन साम्राज्य इन राजाओं का जवाब-तलब करने के बजाय यह स्थिति सहन करता रहा तो वह उस समय शिकायत नहीं कर सकता था जब फ़्रांस ने अपनी प्रभुसत्ता के आधार पर इन इलाक़ों के निवासियों को निर्वासित राजाओं के विरुद्ध संरक्षण प्रदान किया।

कुल मिलाकर, क्रान्ति से पहले इस जर्मन इलाक़े का प्रायः फ़्रांसीसीकरण नहीं हुआ था। जर्मन भाषा स्कूली और सरकारी भाषा बनी रही, कम से कम अलसास में। फ़्रांसीसी सरकार जर्मन प्रान्तों को संरक्षण प्रदान करती थी जो कई वर्षों तक युद्धों द्वारा ढायी जानेवाली बरबादी के बाद अब, १८ वीं शताब्दी के आरम्भ से अपनी भूमि पर कोई शत्रु नहीं देख रहे थे। निरन्तर आन्तरिक युद्धों में फंसा जर्मन साम्राज्य वस्तुतः ऐसा राज्य नहीं रह गया था जो अलसासवासियों को फिर मां की गोद की ओर आकृष्ट कर पाता। अब उन्हें कम से कम अमन-चैन प्राप्त था; उन्हें वस्तुस्थिति का ज्ञान था, और कूपमंडूकों ने, जो स्वर निर्धारित करते थे, इसमें प्रभु के अबोधगम्य पथ को स्वीकार कर लिया, ख़ास तौर पर इसलिए भी कि उनकी नियति निराली नहीं थी – होल्स्टिन के निवासी भी विदेशी, डेनिश शासन के अधीन थे।

फिर आयी फ़्रांसीसी क्रान्ति। अलसास तथा लोरेन जर्मनी से जिस चीज़ की

से (२ सितम्बर १७९६ को) उस संधि पर हस्ताक्षर करा दिये जिसमें नगर को इस शर्त पर प्रशियाइयों के हवाले किया जाता कि यहूदियों को कभी नगर की दीवारों के अन्दर नहीं घुसने दिया जाये। उसके तत्काल बाद आर्कड्यूक कार्ल ने फिर आक्रमण का रास्ता अपनाया तथा ३ और ४ सितम्बर १७९६ को वुर्ज़बर्ग में फ़्रांसीसियों को परास्त कर दिया और इस तरह अपने जर्मन मिशन की बात नूरेम्बर्ग के नगर निवासियों के दिमाग़ में बिठाने की प्रशा की यह चेष्टा भी पूरी तरह विलीन हो गयी।

प्राप्ति की आशा करने की हिम्मत भी नहीं कर सकते थे, वह उन्हें फ़्रांस से उपहारस्वरूप प्राप्त हो गयी। सामन्ती बेड़ियां चकनाचूर कर दी गयीं। भूदास, बेगारी से बंधा हुआ सामन्ती किसान आज़ाद इन्सान बन गया, कई मामलों में अपने मकान तथा खेत का आज़ाद मालिक बन गया। शहरों से पैट्रीशियनों का राज तथा शिल्प संघों के विशेषाधिकार लुप्त हो गये। अभिजातों को भगा दिया गया। छोटे-छोटे राजाओं और बैरनों की ज़मीन पर किसानों ने अपने पड़ोसियों के उदाहरण का अनुकरण किया तथा राजाओं, सरकारी सदनों और अभिजातों को निकाल बाहर किया तथा अपने को स्वतंत्र फ़्रांसीसी नागरिक घोषित कर दिया। फ़्रांस के किसी भी भाग में लोगों ने क्रान्ति में इतने जोश से हिस्सा नहीं लिया जितना कि जर्मन भाषाभाषी भाग के लोगों ने। और अब, जब जर्मन साम्राज्य ने क्रान्ति के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया, जब जर्मनों ने, जिन्होंने अपने को मूकभाव से बेड़ियों में जकड़े ही नहीं रहने दिया, अपितु फ़्रांसीसियों पर पुरानी दासता फिर से लादने और अलसास के किसानों पर उन सामन्ती प्रभुओं को, जिन्हें उन्होंने अभी-अभी मार भगाया था, फिर से थोपने के लिए अपने को इस्तेमाल होने दिया, तभी अलसास और लोरेन के लोगों के लिए जर्मनवाद पूरी तरह ख़त्म हुआ, तभी उन्होंने जर्मनों से घृणा करना, उनसे नफ़रत करना सीखा, तभी स्ट्रासबुर्ग में 'मार्सेइयेज़' लिखा गया, संगीतबद्ध किया गया तथा अलसासवासियों द्वारा पहली बार गाया गया, तभी जर्मन भाषाभाषी फ़्रांसीसी अपनी भाषा तथा अतीत के बावजूद क्रान्ति के लिए सैकड़ों संघर्षों में मूल फ़्रांसीसियों के साथ घुल-मिल गये।

क्या महान क्रान्ति ने डंकर्क के फ़्लेमिशों, ब्रिटनी प्रांत के केल्टों, कोर्सिका के इतालवियों के मामले में भी ऐसा ही चमत्कार नहीं किया था? और यदि हम यह शिकायत करें कि यही जर्मनों के साथ भी हुआ तो क्या इससे यह पता नहीं चलता कि हम अपने उस पूरे इतिहास को भूल गये हैं जिसने इसे सम्भव बनाया? क्या हम भूल गये हैं कि राइन का पूरा बायां तट, जिसने क्रान्ति में केवल निष्क्रिय भाग लिया था, फ़्रांसीसियों के प्रति वफ़ादार था जब १८१४ में वहां फिर से जर्मनों ने प्रवेश किया था, और १८४८ तक, उस समय तक उनके प्रति वफ़ादार रहा, जब क्रान्ति ने राइन के तटवर्ती इलाक़ों वाले लोगों की नज़रों में जर्मनों की प्रतिष्ठा पुनःस्थापित कर दी थी? क्या हम यह भूल गये हैं कि फ़्रांसीसियों के प्रति हाइने का उत्साह, यही नहीं, उसका बोनापार्तवाद भी राइन के बायें तट पर आम जन भावना की प्रतिध्वनि मात्र था?

१८१४ में मित्र राष्ट्रों की सेनाओं ने जब प्रवेश किया तो उन्हें ठीक अलसास तथा जर्मन लोरेन में ही सबसे अधिक वैमनस्यपूर्ण रुख़ का, स्वयं जनता के सबसे घोर प्रतिरोध का सामना करना पड़ा क्योंकि वहां फिर से जर्मन नागरिक बनने का ख़तरा सबसे अधिक महसूस किया गया। और यह तब, जब उस समय वहां प्राय: केवल जर्मन बोली जाती थी। परन्तु जब फ़्रांस से पृथक् होने का ख़तरा दूर हो गया, जब जर्मन रोमांटिक अंधराष्ट्रवादियों की अधिनहनवादी लालसाओं का अन्त कर दिया गया, तब भाषा के मामले में भी फ़्रांस के साथ निकटतर संयोजन आवश्यक अनुभव हुआ। और तब स्कूलों का उसी तरह फ़्रांसीसीकरण लागू किया गया, जिस तरह लक्सेमबर्गवासियों ने स्वेच्छया अपने यहां लागू किया था। फिर भी रूपान्तरण की प्रक्रिया बहुत धीमी थी; पूंजीपति वर्ग की मौजूदा पीढ़ी ही पूरी तरह फ़्रांसीसीकृत है जबकि किसान तथा मजदूर जर्मन भाषा बोलते हैं। स्थिति लगभग लक्सेमबर्ग जैसी ही है – साहित्यिक जर्मन भाषा फ़्रांसीसी भाषा द्वारा बाहर धकेली जा चुकी है (अंशत: चर्च मंच को छोड़कर), परन्तु आम जर्मन बोली ने केवल भाषा सीमा पर ही आधार खोया है, जर्मनी के अधिकांश भागों की तुलना में उसे कहीं बड़े पैमाने पर आम भाषा के रूप में इस्तेमाल किया जाता है।

ऐसा था वह देश जिसे बिस्मार्क तथा प्रशियाई युंकरों ने अंधराष्ट्रवादी रोमांटिसिज़्म के पुनरुत्थान का, जो सारी जर्मन समस्याओं से अविच्छेद्य प्रतीत होता है, समर्थन पाकर फिर से जर्मन बनाने का बीड़ा उठाया था। स्ट्रासबर्ग को, 'मार्सेइयेज़' की जन्मभूमि को जर्मन बनाने की इच्छा उतनी ही उपहासास्पद थी जितनी उपहासास्पद नाइस को, गैरीबाल्डी की जन्मभूमि को फ़्रांसीसी बनाने की इच्छा थी। परन्तु नाइस में लूई नेपोलियन ने कम से कम शराफ़त दिखायी, उसने अधिनहन के प्रश्न पर मतदान कराया तथा तिकड़म कामयाब रही। यह ज़िक्र करने की ज़रूरत नहीं है कि प्रशियाई ठोस कारणों से ऐसे क्रान्तिकारी पगों से नफ़रत करते हैं, – एक भी ऐसी मिसाल कहीं भी और कभी भी नहीं मिल सकती जिससे पता चलता हो कि व्यापक जनसमुदाय प्रशा द्वारा अधिनहन किये जाने के पक्ष में रहे हों। यह तो सुविदित था कि ठीक यहीं पूरी आबादी का स्वयं देशी फ़्रांसीसी आबादी की तुलना में फ़्रांस से अधिक निकट अनुराग था। इस तरह यह मनमानी कार्रवाई बल-प्रयोग द्वारा पूरी की गयी। यह फ़्रांसीसी क्रान्ति के विरुद्ध प्रतिशोध की कार्रवाई थी; वह हिस्सा छीन लिया गया जो ठीक क्रान्ति के फलस्वरूप फ़्रांस के साथ घुल-मिल गया था।

यह सच है कि सैन्य दृष्टिकोण से अलसास-लोरेन के अधिनहन के पीछे एक निश्चित उद्देश्य था। मेत्ज़ तथा स्ट्रासबुर्ग के हथियाये जाने से जर्मनी को प्रतिरक्षा की एक सुदृढ़ लाइन मिल जाती। जब तक बेल्जियम तथा स्विट्ज़रलैंड तटस्थ रहते हैं, बड़े पैमाने पर फ़ांसीसी आक्रमण मेत्ज़ तथा वोगेज़ के बीच एक संकीर्ण पट्टी पर ही आरम्भ किया जा सकता था। इसके अलावा कोब्लेन्ज़, मेत्ज़, स्ट्रासबुर्ग तथा माएन्ज़ मिलकर क़िलों का संसार में सबसे मज़बूत चतुष्कोण बन जाते हैं। परन्तु क़िलों के इस चतुष्कोण का आधा भाग लोम्बार्डी में आस्ट्रियाई* की ही तरह दुश्मन के इलाक़े में स्थित है और वह आबादी को दबाये रखने का गढ़ का रूप धारण कर लेता है। यही नहीं, चतुष्कोण को पूरा करने के लिए जर्मन भाषाभाषी सीमा के पार के क्षेत्रों को हथियाना तथा ढाई लाख फ़ांसीसियों का अधिनहन करना आवश्यक था।

इस तरह अत्यधिक सामरिक लाभ अधिनहन का औचित्य सिद्ध करने का एकमात्र कारण है। परन्तु क्या इस लाभ की तुलना किसी तरह इससे हुई हानि से की जा सकती है?

प्रशियाई युंकरों ने उस बहुत बड़ी नैतिक हानिप्रद स्थिति को ध्यान में रखने से इन्कार कर दिया जो तरुण जर्मन साम्राज्य ने खुलेआम तथा स्पष्टतापूर्वक यह घोषित कर अपने लिए पैदा कर दी थी कि पाशविक बल-प्रयोग उसका पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त है। इसके विपरीत बलपूर्वक नियंत्रण में रखे जानेवाले उपद्रवी प्रजाजन युंकरों के लिए आवश्यक हैं; वे बढ़ती हुई प्रशियाई शक्ति के प्रमाण हैं; और मूलतः युंकरों के पास और कोई कभी थे ही नहीं। परन्तु युंकर अधिनहन के राजनीतिक परिणामों को ध्यान में रखने के लिए बाधित थे। और ये परिणाम सुस्पष्ट थे। अधिनहन के लागू होने से पहले ही मार्क्स ने इस ओर इंटरनेशनल की अपील में दुनिया का ध्यान आकृष्ट किया था: **अलसास तथा लोरेन का अधिनहन रूस को यूरोप का पंच बना देता है****। और सामाजिक-जनवादियों द्वारा राइख़स्टाग के मंच से इसे बहुधा तब तक दुहराया जाता रहा, जब तक इस कथन की सच्चाई को अन्ततः ६ फ़रवरी १८८८ के अपने राइख़स्टाग भाषण में स्वयं बिस्मार्क द्वारा, सर्वशक्तिमान ज़ार के सामने, युद्ध तथा शान्ति के प्रभु के आगे उसकी पिनपिनाहट द्वारा स्वीकार नहीं कर लिया गया।

---

*उत्तर इटली के क़िले – वेरोना, लेन्यागो, मांटुया तथा पेस्क्येरा। – **सं०**

** देखें प्रस्तुत संस्करण, खण्ड २, भाग २। – **सं०**

सच तो यह है कि स्थिति दिन के उजाले की भांति स्पष्ट थी। फ़्रांस से उसके दो कट्टर देशभक्त प्रान्तों को अलग करने का अर्थ था उसे किसी की भी बांहों की ओर, जो उसे उनकी वापसी की आशा दिला सके, धकेल देना तथा उसे सदा के लिए अपना शत्रु बना देना। हां, बिस्मार्क ने, जो इस मामले में जर्मन कूपमंडूकों का योग्य तथा सचेत प्रतिनिधि था, मांग की कि फ़्रांसीसी लोग अलसास तथा लोरेन का संवैधानिक ही नहीं, वरन् नैतिक रूप से भी त्याग करें। इसके अलावा वह भी चाहता था कि वे इस बात से पूर्णतया प्रसन्न हों कि क्रान्तिकारी फ़्रांस के ये दो भाग "पुरानी पितृभूमि को लौटा दिये गये हैं", जिसके बारे में वे कुछ भी सुनना नहीं चाहते थे। परन्तु दुर्भाग्यवश फ़्रांसीसी ऐसा नहीं करते, उसी तरह जिस तरह जर्मनों ने नेपोलियनीय युद्धों के दौरान राइन के बायें तट का नैतिक रूप से त्याग नहीं किया था हालांकि उस इलाक़े की भी तब उनके पास लौटने की लेशमात्र इच्छा नहीं थी। अलसास तथा लोरेन के लोग जब तक फ़्रांस के पास वापस जाने के लिए इच्छुक रहेंगे, फ़्रांस को उन्हें लौटाने की कोशिश करनी होगी, और वह ऐसा करेगा भी तथा इसके लिए साधनों की और इस कारण मित्र राष्ट्रों की तलाश करेगा। और जर्मनी के विरुद्ध रूस स्वाभाविक मित्र राष्ट्र है।

यदि पश्चिमी महाद्वीप के सबसे बड़े तथा सबसे शक्तिशाली राष्ट्र अपनी शत्रुता द्वारा एक दूसरे को निष्प्रभावित कर देते हैं, यदि उनके बीच झगड़े की स्थायी जड़ बची रहती है जो उन्हें एक दूसरे से लड़ने के लिए भड़काये तो उसका लाभ केवल रूस को पहुंचता है जिसके हाथ तब कहीं अधिक मुक्त हो जाते हैं। रूस अपनी विजय-प्राप्ति की आकांक्षाओं में फ़्रांस की ओर से समर्थन पर जितना ही ज़्यादा भरोसा कर सकता है, जर्मनी की ओर से उतनी ही कम रुकावट होगी। और क्या यह बिस्मार्क ही नहीं था जिसने फ़्रांस को एक ऐसी स्थिति में पहुंचाया कि वह रूस से मैत्री की याचना करे, और खोये हुए प्रान्तों को वापस मिलने पर स्वेच्छया कुस्तुन्तुनिया रूस के हवाले करे? और यदि इन सब बातों के बावजूद शान्ति सत्रह वर्षों तक बरक़रार रही, तो क्या इसलिए नहीं कि फ़्रांस तथा रूस में लागू क्षेत्रीय प्रतिरक्षा प्रणाली को उपयुक्त आयु वाले प्रशिक्षित सैनिकों के दस्तों की पूरी संख्या मुहैया करने के लिए कम से कम सोलह साल और हाल के जर्मन सुधारों के बाद तो पच्चीस साल तक की ज़रूरत है? और अब, क्या अलसास-लोरेन का अधिनहन, जो पूरी यूरोपीय राजनीति में सत्रह वर्षों से प्रमुख तथ्य

रहा है, उस संकट का मुख्य कारण नहीं है जो यूरोप में युद्ध का ख़तरा पैदा रहा है? इस एक तथ्य को हटा दीजिये, शान्ति सुनिश्चित हो जायेगी!

अलसासी पूंजीपति, जो उत्तरी जर्मन उच्चारण के साथ फ़्रेंच बोलता है, यह दोगला छैला, जो देशी फ़्रांसीसी की तरह अपनी फ़्रांसीसी चाल-ढाल प्रदर्शित करता है, जो गेटे को तुच्छ समझता है तथा रासीं पर रीझा हुआ है, जो अपने अन्तःकरण को गुप्त रूप से सतानेवाली इस अनुभूति से मुक्त नहीं कर पाया है कि उसका मूल जर्मन है, और जिसे ठीक इस वजह से जो कुछ जर्मन है, उसकी निन्दा करनी पड़ती है, इसलिए जो जर्मनी तथा फ़्रांस के बीच मध्यस्थ की भूमिका के लिए भी उपयुक्त नहीं है, वह अलसासी पूंजीपति – चाहे म्युलहाउसेन का उद्योगपति हो अथवा पेरिस का पत्रकार – वस्तुतः तिरस्कारयोग्य व्यक्ति है। और यदि जर्मनी के गत तीन सौ वर्षों के इतिहास ने नहीं, तो और किस चीज़ ने उसे वह बनाया है जो वह है? और क्या अभी हाल तक विदेशों में सारे जर्मन, ख़ास तौर पर व्यापारी, वास्तविक अलसासी नहीं थे जो अपने नये देश की राष्ट्रीयता ग्रहण करने के लिए अपने को यंत्रणा दिया करते थे और इस तरह जिन्होंने अपने को उन सच्चे अलसासवासियों से कम उपहासास्पद नहीं बनाया जो कम से कम ऐसा करने के लिए न्यूनाधिक रूप से परिस्थितियों द्वारा मजबूर किये गये हैं? उदाहरण के लिए इंगलैंड में तमाम जर्मन व्यापारी, जिन्होंने १८१५ तथा १८४० के बीच उत्प्रवास किया था, अंग्रेज़ बन गये थे, अपने बीच बातचीत में प्रायः विशिष्ट रूप से अंग्रेज़ी को व्यवहार में लाते थे, और आज भी उदाहरणार्थ मानचेस्टर स्टाक एक्सचेंज में ऐसे पुराने जर्मन कूपमंडूक भरे पड़े हैं जो सच्चे अंग्रेज़ माने जाने की ख़ातिर अपनी आधी दौलत देने के लिए तैयार हैं। केवल १८४८ के बाद ही परिवर्तन आया। और १८७० से, जब रिज़र्व सेना के लेफ़्टिनेंट तक इंगलैंड आने लगे तथा जब बर्लिन अपने दस्तों को वहां भेजने लगा, पहले की ताबेदारी का स्थान प्रशियाई अहंकार लेने लगा है जो हमें विदेशियों की नज़रों में कम उपहासास्पद नहीं बनाता।

और क्या अलसासवासियों के लिए जर्मनी के साथ एकीकरण १८७१ के बाद से अधिक आकर्षक हो गया है? जी नहीं, बात इसके उलट है। उन्हें अधिनायकत्व के अन्तर्गत रख दिया गया है जबकि उनके पड़ोसी के यहां, फ़्रांस में जनतंत्र था। उनके यहां पंडिताऊ क़िस्म की, नाक में दम करनेवाली प्रशियाई लांडराट प्रणाली लागू की गयी जिसकी तुलना में प्रीफ़ेक्टों की बदनाम फ़्रांसीसी प्रणाली, जो कठोर क़ानूनों द्वारा नियमित है, एक वरदान है। प्रेस की आज़ादी, सभा करने और

संघबद्ध होने के अधिकारों के अन्तिम अवशेष तेज़ी से मिटा दिये गये हैं; ढीठ नगरपालिकाएं भंग कर दी गयी हैं तथा जर्मन नौकरशाह मेयर नियुक्त कर दिये गये हैं। परन्तु दूसरी ओर, "महत्त्वपूर्ण लोगों" की, यानी ऊपर से लेकर नीचे तक फ़्रांसीसीकृत सामन्तों तथा पूंजीपतियों की चापलूसी की गयी है तथा उनके शोषणकारी हितों की किसानों तथा मज़दूरों से रक्षा की गयी है जिनकी यद्यपि जर्मनी के प्रति बहुत अच्छी भावना नहीं थी, फिर भी जो कम से कम जर्मन बोलते थे और जो एकमात्र ऐसे तत्त्व थे जिनके साथ मेल-मिलाप का प्रयत्न किया जाना सम्भव था। और नतीजा क्या रहा? नतीजा यह रहा कि फ़रवरी १८८७ में जब पूरे जर्मनी ने अपने को डराया-धमकाया जाने दिया तथा बिस्मार्क के कार्टेल[137] के बहुमत को राइख़्स्टाग में भेज दिया तो अलसास और लोरेन ने केवल कट्टर फ़्रांसीसियों को ही निर्वाचित किया और जिस किसी पर यह शक किया गया कि उसमें जर्मनी के प्रति ज़रा भी सहानुभूति है, उसे ठुकरा दिया गया।

यदि अलसासवासी वही हैं जो वे हैं तो क्या हमें उस पर नाराज़ होने का कोई अधिकार है? बिल्कुल नहीं। अधिनहन का उनके द्वारा विरोध एक ऐतिहासिक तथ्य है जिसकी निन्दा नहीं की जानी चाहिए परन्तु जिसे समझाया जाना चाहिए और अब समय आ गया है कि हम अपने से पूछें—अलसास में इस तरह की भावना द्वारा गहरी जड़ें पकड़े जाने से पहले जर्मनी द्वारा किये गये पाप कितने अधिक तथा कितने विशाल रहे होंगे? और हमारा नया जर्मन साम्राज्य बाहर से किस तरह दिखाई देता है यदि सत्तरह साल तक पुनः जर्मनीकरण करने की चेष्टाओं के बाद भी अलसासवासी हमसे कहते हैं—हमें इससे बख़्श दें। क्या हमें यह कल्पना करने का कोई अधिकार है कि दो सौभाग्यपूर्ण सैन्य अभियान तथा सत्तरह वर्षों का बिस्मार्क का अधिनायकत्व तीन सौ वर्षों के कलंकपूर्ण इतिहास के तमाम परिणामों को मिटाने के लिए काफ़ी हैं?

बिस्मार्क अपना लक्ष्य पूरा कर चुका था। उसका नया प्रशियाई-जर्मन साम्राज्य वर्साई में लूई चौदहवें के शानदार राजकीय कक्ष में औपचारिक रूप से उद्घोषित हो चुका था।[138] फ़्रांस उसके पांवों के आगे असहाय लेटा हुआ था। अवज्ञाकारी पेरिस को, जिसे वह स्वयं स्पर्श नहीं कर सका था, थियेर द्वारा कम्यून विद्रोह की स्थिति तक पहुंचा दिया गया और फिर भूतपूर्व शाही सेना के बन्दी अवस्था से लौटे सैनिकों द्वारा कुचल दिया गया। यूरोप के सारे कूपमंडूकों ने बिस्मार्क की उसी तरह प्रशंसा की जिस तरह उन्होंने छठे दशक में बिस्मार्क के प्रतिरूप लूई नेपोलियन की थी। रूस की मदद से जर्मनी यूरोप की सर्वप्रथम शक्ति बन

गया और जर्मनी की सारी सत्ता तानाशाह बिस्मार्क के हाथों में केन्द्रित थी। अब सब कुछ इस बात पर निर्भर करता था कि वह इस सत्ता का क्या करेगा। यदि वह अभी तक पूंजीपति वर्ग की एकीकरण योजनाएं – भले ही पूंजीवादी तरीक़ों से नहीं, बल्कि बोनापार्तपंथी तरीक़ों से – पूरा करता रहा तो अब यह कार्यभार काफ़ी हद तक पूरा हो चुका था। अब उसे अपनी योजनाएं बनानी थीं, यह दिखाना था कि उसका अपना दिमाग़ क्या कुछ पैदा कर सकता है। और इसे स्वभावतया नये साम्राज्य के आन्तरिक संघटन में अभिव्यक्ति पाना था।

जर्मन समाज बड़े ज़मींदारों, किसानों, पूंजीपतियों, निम्नपूंजीपतियों तथा मज़दूरों को लेकर बना हुआ है; इन्हें तीन प्रमुख वर्गों में समूहबद्ध किया जा सकता है।

बड़ी भू-सम्पत्ति के मालिक चन्द बहुत बड़े धनी (विशेष रूप से सिलेशिया में) और बहुत बड़ी तादादवाले मझोले ज़मींदार हैं जो अधिकतर एल्ब नदी के पूर्व में पुराने प्रशियाई प्रान्तों में रहते हैं। इन प्रशियाई युंकरों का ही भू-स्वामियों के पूरे वर्ग पर न्यूनाधिक प्रभुत्व है। जहां तक वे मुख्यतः अपने कारिंदों द्वारा अपनी जागीरों की काश्त करते हैं, वे स्वयं फ़ार्मर हैं; इसके अलावा वे मदिरा उत्पादनशालाओं और चुक़न्दर से चीनी बनानेवाले कारख़ानों के मालिक हैं। जहां कहीं सम्भव होता है, उनकी भू-सम्पत्ति कुल के लिए ज्येष्ठाधिकार के रूप में दर्ज होती है। कनिष्ठ पुत्र सेना या असैनिक सेवा में शामिल होते हैं, इस तरह अफ़सरों तथा असैनिक कर्मचारियों को लेकर और भी कम दौलतमन्द निम्न अभिजाततंत्र इस निम्न भू-स्वामी कुलीन वर्ग से चिपका रहता है तथा उसमें पूंजीवादी मूल के बड़े अफ़सरों तथा सरकारी अधिकारियों के बीच से अभिजातों की द्रुत पदोन्नति द्वारा वृद्धि होती है। अभिजातों के इस सारे गुट के निचले स्तरों में स्वभावतया बहुत बड़ी तादाद वाला परजीवी अभिजात वर्ग, अभिजातीय लम्पट सर्वहारा प्रकट होता है जो क़र्ज़ों, बेईमानभरी जुएबाज़ी, आग्रहपूर्ण भिक्षावृत्ति तथा राजनीतिक जासूसी द्वारा जीवित रहता है। इस समाज की समग्रता को लेकर प्रशियाई युंकरशाही बनी हुई है तथा पुराने प्रशियाई राज्य के मुख्य स्तम्भों में से एक है। परन्तु युंकरशाही के भू-स्वामित्व वाले नाभिक के पांव सरासर मिट्टी के होते हैं। अपनी हैसियत के अनुसार जीवित रहने का कर्त्तव्य दिनोंदिन महंगा पड़ता जा रहा है; लेफ़्टिनेंट या असेसर पद हासिल करने तक छोटे बेटों का भरण-पोषण, बेटियों की शादियां – इस सब पर ख़र्च होता है; चूंकि इन कर्त्तव्यों के सामने दूसरे सारे विषय पृष्ठभूमि में चले जाते हैं, इसलिए इस पर आश्चर्य

करने की कोई वजह नहीं है कि आय अपर्याप्त हो जाती है, और प्रोमिज़री नोटों पर दस्तख़त करने पड़ते हैं अथवा सम्पत्ति गिरवी तक रखनी पड़ती है। कहने का मतलब है कि पूरी युंकरशाही सदैव कगार पर खड़ी रहती है; कोई भी बदक़िस्मती – वह चाहे आपत्ति, युद्ध या ख़राब फ़सल अथवा व्यापार संकट हो – उसके लिए बरबादी का ख़तरा पैदा करती है; इसलिए इस पर आश्चर्य करने का कोई कारण नहीं है कि सौ वर्षों से भी अधिक समय से उसे केवल सब तरह की राजकीय सहायता ही बर्बादी से बचाती आयी है और वस्तुतः उसी सहायता की बदौलत उसका अस्तित्व क़ायम है। कृत्रिम रूप से क़ायम इस वर्ग का नष्ट होना अवश्यम्भावी है तथा कोई भी राजकीय सहायता उसका जीवन देर तक नहीं बढ़ा सकती। परन्तु उसके साथ पुराने प्रशियाई राज्य का भी लोप हो जायेगा।

किसान राजनीतिक दृष्टि से बहुत कम सक्रिय तत्त्व है। जहां तक वह स्वयं मालिक बना रहता है, वह छोटे किसानों की, जो पुराने समान मार्क या सामुदायिक चरागाह से वंचित होने की वजह से पशु-पालन नहीं कर सकता, प्रतिकूल उत्पादन अवस्थाओं के कारण अधिकाधिक बर्बादी की ओर जा रहा है। काश्तकार के रूप में उसकी हालत और भी बुरी है। लघु कृषक उत्पादन प्रधानतया विनिमयहीन अर्थव्यवस्था की परिकल्पना करता है, मुद्रा अर्थव्यवस्था उस पर मौत की मुहर लगा देती है। इसीलिए क़र्ज़ का बोझ बढ़ता है, रेहनों के ज़रिए बहुत बड़े परिमाण में स्वामित्वहरण होता है तथा घरेलू उद्योग का आश्रय लिया जाता है ताकि अपनी धरती से बेदख़ली न हो। राजनीतिक दृष्टि से कृषक समुदाय मुख्यतया उदासीन अथवा प्रतिक्रियावादी होता है; राइन प्रदेश में वह प्रशियाइयों के प्रति अपनी पुरानी घृणा के कारण घोर कैथोलिक है; दूसरे क्षेत्रों में वह विशिष्टतावादी अथवा प्रोटेस्टेंट अनुदारतावादी होता है। धार्मिक भावना सामाजिक या राजनीतिक हितों की अभिव्यक्ति के रूप में अब भी इस वर्ग का हितसाधन करती है।

हम **पूंजीपति वर्ग** के बारे में पहले ही कह चुके हैं। १८४८ से उसने अभूतपूर्व आर्थिक प्रगति की। १८४७ के व्यापार संकट के बाद जर्मनी ने उद्योग के ज़बर्दस्त विकास में, जो उस ज़माने में महासागरीय जहाज़रानी की स्थापना, रेलों के अत्यधिक विस्तार और कैलिफ़ोर्निया तथा आस्ट्रेलिया में सोने की खोज के कारण हुआ, अधिकाधिक भाग लिया। छोटे-छोटे राज्यों की प्रणाली के कारण व्यापार की राह में आनेवाली रुकावटों को ख़त्म करने तथा विश्व मंडी में दूसरे विदेशी

प्रतियोगियों की बराबरी की स्थिति प्राप्त करने की पूंजीपति वर्ग की आकांक्षा ने बिस्मार्क की क्रान्ति को उत्प्रेरित किया था। अब चूंकि अरबों की फ़्रांसीसी धनराशि[139] जर्मनी में प्रवाहित होने लगी थी, पूंजीपति वर्ग के सामने ज़ोरदार उद्यमशीलता की एक नयी अवधि के द्वार खुल गये और जर्मनी ने – राष्ट्रीय-जर्मन पैमाने पर आयी मन्दी द्वारा[140] – यह पहली बार सिद्ध कर दिया कि वह एक महान औद्योगिक राष्ट्र है। पूंजीपति वर्ग आर्थिक दृष्टि से उस समय भी सबसे शक्तिशाली वर्ग था; राज्य को उसके आर्थिक हितों का पालन करना पड़ता था; १८४८ की क्रान्ति ने राज्य को बाहरी संवैधानिक रूप दिया था जिसके ढांचे के अन्दर पूंजीपति वर्ग राजनीतिक दृष्टि से भी राज कर सकता था तथा अपने इस प्रभुत्व का विकास कर सकता था। फिर भी वह वास्तविक राजनीतिक प्रभुत्व से कोसों दूर था। बिस्मार्क से संघर्ष में वह विजय प्राप्त नहीं कर पाया; ऊपर से जर्मनी में क्रान्ति सम्पन्न करने के ज़रिए संघर्ष की समाप्ति ने उसे यह भी सिखाया था कि कार्यकारी सत्ता फ़िलहाल उस पर हद से हद बहुत ही परोक्ष रूप में निर्भर करती है, कि वह न तो मंत्रियों को नियुक्त कर सकता है और न बर्ख़ास्त, न वह सेना पर हुक्म चला सकता है। इसके अलावा वह उत्साही कार्यकारी सत्ता के सामने कायर तथा निर्बल था, परन्तु युंकर भी तो ऐसे ही थे हालांकि पूंजीपति वर्ग के लिए यह अधिक क्षम्य था क्योंकि उसका क्रान्तिकारी औद्योगिक मज़दूर वर्ग से प्रत्यक्ष आर्थिक विरोध था। परन्तु इसमें कोई शक नहीं था कि उसके लिए युंकरों को आर्थिक दृष्टि से धीरे-धीरे नष्ट करना आवश्यक था, कि वही एकमात्र सम्पत्तिधारी वर्ग था जो भविष्य पर दावा कर सकता था।

निम्नपूंजीपति वर्ग में पहले तो बचे-खुचे मध्ययुगीन दस्तकार थे जो पिछड़े हुए जर्मनी में शेष पश्चिम यूरोप की तुलना में कहीं अधिक संख्या में थे; दूसरे उनमें बिल्कुल बर्बाद पूंजीपति और तीसरे, सम्पत्तिहीन आबादी के ऐसे तत्त्व थे जो छोटे तिजारती बन गये थे। बड़े पैमाने के उद्योग के विकास के साथ ही साथ पूरे निम्नपूंजीपति वर्ग अपने अस्तित्व की स्थिरता के अन्तिम अवशेषों से भी हाथ धो बैठा था; व्यवसायों को बदलते रहना तथा समय-समय पर दिवाला पिटना आम बात हो गयी थी। एक समय का इतना स्थिर वर्ग जो जर्मन कूपमंडूकों का नाभिक था सन्तोष, दब्बूपन, ताबेदारी, धर्मपरायणता तथा इज़्ज़त के साथ रहने के लिए मशहूर था, अब वह सरासर हक्का-बक्का था, ईश्वर ने उसकी क़िस्मत में जो लिख दिया था, उससे वह बहुत असन्तुष्ट था। बचे-खुचे दस्तकार ज़ोर-शोर से पुराने शिल्प-संघीय विशेषाधिकारों की वापसी की मांग कर रहे

थे; कुछ अन्य ज़रा-सा जनवादी-प्रगतिवादी[141] बन गये थे। कुछ तो सामाजिक-जनवादियों के पास तक पहुंच जाते तथा यत्र-तत्र मज़दूर वर्ग आन्दोलन में शामिल हो जाते।

अन्ततः **मज़दूर**। खेत मज़दूर, ख़ास तौर पूर्व जर्मनी के खेत मज़दूर अब भी अर्द्ध-भूदासत्व की स्थिति में थे और उन पर ग़ौर नहीं किया जा सकता था। दूसरी ओर, सामाजिक-जनवाद ने शहरी मज़दूरों के बीच अत्यधिक प्रगति की और जिस परिमाण में बड़े पैमाने के उद्योग ने व्यापक जन-समुदाय का सर्वहाराकरण किया तथा पूंजीपतियों और मज़दूरों के बीच वर्ग-विरोध को उग्र बनाया, उसी परिमाण में सामाजिक-जनवाद भी बढ़ा। अगर सामाजिक-जनवादी मज़दूर फ़िलहाल एक दूसरे से लड़नेवाली दो पार्टियों के बीच विभक्त थे[142] तो मार्क्स की 'पूंजी' के प्रकाशन के उपरान्त उनके बीच सैद्धांतिक मतभेद प्रायः ख़त्म हो चुके थे। "राजकीय सहायता प्राप्त उत्पादक संघों" की मांग करनेवाले विशुद्ध लासालपंथ धीरे-धीरे लुप्त होता जा रहा था तथा बोनापार्तपंथी-राजकीय-समाजवादी मज़दूर पार्टी का नाभिक बनने में उसकी अक्षमता उत्तरोत्तर प्रत्यक्ष होती जा रही थी। इस मामले में पृथक्-पृथक् नेताओं द्वारा पहुंचायी गयी हानि जनसाधारण की सहजबुद्धि ने दूर कर दी थी। दोनों सामाजिक-जनवादी प्रवृत्तियों के एकीकरण को, जिसे प्रायः विशिष्टतया वैयक्तिक स्वरूप के प्रश्नों ने विलम्बित कर दिया था, निकट भविष्य में यक़ीनन सम्पन्न होना था। लेकिन फूट के दौरान ही और फूट के बावजूद आन्दोलन औद्योगिक पूंजीपति वर्ग में कंपकंपी पैदा करने तथा सरकार के विरुद्ध जो अब भी उससे स्वतंत्र थी, उसके संघर्ष में उसे गतिहीन बनाने के लिए पर्याप्त रूप से सुदृढ़ था। वैसे तो १८४८ के बाद जर्मन पूंजीपति वर्ग लाल भूत के भय से कभी अपने को स्वतंत्र नहीं कर पाया।

संसद तथा विधान सभाओं में पार्टी-विभाजन के अन्तर्गत वर्ग-विभाजन अन्तर्निहित था। बड़े भूस्वामी तथा कृषक समुदाय का एक भाग रूढ़िवादियों का विशालतम समूह था; औद्योगिक पूंजीपति वर्ग से पूंजीवादी उदारतावादियों का – राष्ट्रीय-उदारतावादियों का – दक्षिणपंथ बना था, जबकि उसका वामपंथ – निर्बल जनवादी या तथाकथित प्रगतिवादी पार्टी – निम्नपूंजीपति वर्ग को लेकर बना था जो पूंजीपति वर्ग तथा मज़दूरों के एक भाग द्वारा समर्थित था। अन्ततः मज़दूरों की अपनी स्वतंत्र पार्टी – सामाजिक-जनवादी पार्टी – थी जिसमें कुछ निम्नपूंजीपति भी थे।

बिस्मार्क की स्थिति का और बिस्मार्क के अतीत वाला व्यक्ति, जो वस्तुस्थिति

को थोड़ा-बहुत समझता था, यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकता था कि युंकर, जिस रूप में वे थे, जीवन्त वर्ग नहीं थे, तमाम सम्पत्तिधारी वर्गों में भविष्य पर केवल पूंजीपति वर्ग ही दावा कर सकता था (हम यहां मजदूर वर्ग की बात नहीं कर रहे हैं जिसके ऐतिहासिक मिशन के बारे में समझ की हम बिस्मार्क से अपेक्षा नहीं कर सकते) और इस कारण उसके नये साम्राज्य का स्थायित्व उतना ही अधिक सुनिश्चित होता जितना अधिक वह उसे आधुनिक पूंजीवादी राज्य में संक्रमण के लिए तैयार करने में सफलता प्राप्त करता। हमें उससे वह अपेक्षा नहीं करनी चाहिए जो परिस्थितियों को देखते हुए असम्भव थी। राइख़स्टाग को निर्णायक सत्ता सौंपकर (ब्रिटिश हाउस आफ़ कामन्स की तरह) तत्काल संसदीय सरकार में संक्रमण न तो सम्भव था तथा न उस समय वांछनीय ही था; संसदीय रूपों में बिस्मार्क का अधिनायकत्व उसे फ़िलहाल अब भी आवश्यक प्रतीत हुआ होगा, और हम उसे इसे कुछ समय के लिए टिके रहने देने के लिए ज़रा भी दोषी नहीं ठहराते, हम केवल यही पूछते हैं कि उसे किस उद्देश्य के लिए इस्तेमाल किया जाना था। इसमें लेशमात्र सन्देह नहीं हो सकता कि ब्रिटिश संविधान के अनुरूप प्रणाली एकमात्र ऐसा पथ था जिससे नये साम्राज्य के लिए ठोस आधार तथा निर्विघ्न आन्तरिक विकास की अपेक्षा की जा सकती थी। युंकरों के एक बड़े भाग को, जिसके निस्तार की कोई गुंजाइश नहीं रह गयी थी, उसकी अवश्यम्भावी नियति के सहारे छोड़ने के बाद अब भी यह सम्भव लगता था कि उनके बचे-खुचे भाग तथा नये तत्त्वों को लेकर स्वतंत्र बड़े भू-स्वामियों का एक ऐसा वर्ग बनाना सम्भव होगा जो स्वयं पूंजीपति वर्ग का मात्र अलंकरणमय शीर्ष भाग होगा और जिसे पूंजीपति वर्ग को सत्तारूढ़ होने पर भी राज्य में सरकारी प्रतिनिधित्व और उसके साथ ख़ूब आय और प्रभाव देनेवाले पद प्रदान करने पड़ेंगे। पूंजीपति वर्ग को राजनीतिक रियायतें देकर, जिन्हें वैसे भी आगे चलकर नहीं रोका जा सकता था (सम्पत्तिधारी वर्गों के दृष्टिकोण से कम से कम ऐसा ही तर्क पेश किया जाना चाहिए था), ये रियायतें धीरे-धीरे, यही नहीं कभी-कभार और छोटी-छोटी मात्राओं में देकर नये साम्राज्य को ऐसी दिशा की ओर बढ़ा दिया जाता जो उसे दूसरे, राजनीतिक दृष्टि से कहीं उन्नत पश्चिम यूरोपीय राज्यों की बराबरी पर पहुंचने, सामन्तवाद के अन्तिम अवशेषों तथा नौकरशाही को अब भी जकड़े रहनेवाली कूपमंडूकतावादी परम्पराओं से छुटकारा पाने और उसके कभी के नौजवान न रह जानेवाले संस्थापकों द्वारा इस जीवन से विदा लेने के समय तक अपने पांवों पर खड़ा होने में समर्थ बना देती।

यह कठिन भी नहीं था। युंकरों और पूंजीपति वर्ग में से किसी में भी औसत दर्जे की स्फूर्ति नहीं थी। यह युंकरों ने पिछले साठ वर्षों के दौरान सिद्ध कर दिया था जिनके दौरान राज्य ने इन डान क्विक्ज़ोटों के विरोध के बावजूद वह सब कुछ किया जो उनके लिए सबसे अधिक हितकर था। पूंजीपति वर्ग भी, जिसे उसके लम्बे इतिहास ने आघातसह बना दिया था, संघर्ष के बाद अपने घावों को अब भी सहला रहा था। तब से बिस्मार्क को मिलनेवाली सफलताओं ने उसकी प्रतिरोध क्षमता को और भंग कर दिया था तथा बाक़ी काम ज़ोरदार ढंग से बढ़ते मज़दूर वर्ग आन्दोलन के भय ने पूरा कर दिया। इन परिस्थितियों में पूंजीपति वर्ग की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को मूर्त्त रूप देनेवाले व्यक्ति के लिए उसकी राजनीतिक मांगों के, जो यों भी अत्यन्त साधारण ही थीं, कार्यान्वियन में इच्छानुसार पग उठाना मुश्किल न होता। इसके लिए केवल इतना आवश्यक था कि उसके सामने अपने उद्देश्य की तस्वीर साफ़ हो।

सम्पत्तिधारी वर्गों के दृष्टिकोण से यही एकमात्र विवेकसम्मत मार्ग था। मज़दूर वर्ग के दृष्टिकोण से यह स्पष्ट था कि टिकाऊ पूंजीवादी शासन की स्थापना करने में अब बहुत देर हो चुकी थी। बड़े पैमाने का उद्योग तथा उसके साथ पूंजीपति वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग जर्मनी में ऐसे समय गठित हुए जब सर्वहारा वर्ग एक स्वतंत्र शक्ति के रूप में पूंजीपति वर्ग के प्रायः साथ ही राजनीतिक रंगमंच में प्रवेश कर सकता था यानी जब दो वर्गों के बीच संघर्ष पूंजीपति वर्ग द्वारा विशिष्टतया अथवा मुख्यतया राजनीतिक सत्ता हासिल किये जाने से पहले ही आरम्भ हो गया था। पर यदि जर्मनी में पूंजीपति वर्ग के निर्विघ्न तथा टिकाऊ शासन का समय गुज़र भी गया है, तब भी १८७० में सम्पत्तिधारी वर्गों के हितार्थ इस पूंजीवादी शासन की ओर बढ़ना ही सर्वोत्तम नीति था। केवल इसी मार्ग पर चलते ही ह्रासोन्मुख सामन्तवाद के समय से चले आ रहे अनगिनत अवशेषों को, जो क़ानून तथा प्रशासन के क्षेत्र में फूल-फल रहे थे, मिटाना सम्भव हुआ; केवल इसी तरह महान फ़्रांसीसी क्रान्ति की सारी उपलब्धियों को जर्मनी में धीरे-धीरे रोपना, संक्षेप में जर्मनी की बहुत लम्बी, पुराने फ़ैशन की चोटी को काटना तथा उसे जानबूझकर और अपरिवर्तनीय रूप से आधुनिक विकास के मार्ग पर पहुंचाना, उसकी राजनीतिक प्रणाली को उसके औद्योगिक विकास के अनुरूप बनाना सम्भव था। जब अन्ततः पूंजीपति वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग के बीच अपरिहार्य संघर्ष शुरू हो जाता तो वह कम से कम सामान्य परिस्थितियों में अग्रसर होता जिनमें हरेक अनुभव करता कि यह संघर्ष किसलिए है, वह अव्यवस्था,

अस्पष्टता और हितों की आपसी टकराहट और घबराहट के उस वातावरण में न होता जो हमें १८४८ में जर्मनी में दिखायी दिया था। अन्तर केवल यह होता कि इस बार घबराहट मात्र सम्पत्तिधारी वर्गों के लिए होती; मज़दूर वर्ग तो जानता ही है कि उसे क्या चाहिए।

१८७१ में जर्मनी में जो परिस्थिति थी, उसमें बिस्मार्क जैसा व्यक्ति निस्सन्देह विभिन्न वर्गों के बीच पैंतरेबाज़ी पर आश्रित था। इसमें उसकी भर्त्सना नहीं की जा सकती। प्रश्न केवल यह है कि यह नीति किस उद्देश्य का अनुसरण करती थी। रफ़्तार कुछ भी रही हो, यदि वह सचेत रूप से तथा दृढ़तापूर्वक अन्ततः पूंजीपति वर्ग के शासन की ओर लक्षित थी तो उसका ऐतिहासिक विकास से उस हद तक सामंजस्य होता जिस हद तक यह सम्पत्तिधारी वर्गों के दृष्टिकोण से चलायी जानेवाली नीति के लिए सामान्यतया सम्भव था। यदि इसका लक्ष्य मात्र पुराने प्रशियाई राज्य को बरक़रार रखना, जर्मनी का धीरे-धीरे प्रशाकरण करना था तो वह प्रतिक्रियावादी नीति होती और उसकी अन्ततः विफलता अवश्यम्भावी थी। यदि वह मात्र बिस्मार्क की सत्ता को बरक़रार रखने के लक्ष्य का अनुसरण करती तो वह बोनापार्तपंथी होती और उसका हर बोनापार्तपंथ जैसा अन्त होना अनिवार्य था।

* * *

तात्कालिक कार्यभार था शाही संविधान। उपलब्ध सामग्री थी एक ओर उत्तर जर्मन महासंघ का संविधान तथा दूसरी ओर दक्षिण जर्मन राज्यों के साथ संधियां[143]। संविधान तैयार करने में बिस्मार्क को सहायता देनेवाले उपादान थे एक ओर फ़ेडरल कौंसिल (बुंडेस्राट) में प्रतिनिधित्वप्राप्त राजवंश तथा दूसरी ओर राइख़्स्टाग में प्रतिनिधित्वप्राप्त जनता। उत्तर जर्मन महासंघ के संविधान तथा संधियों ने राजवंश के दावों को सीमित किया। दूसरी ओर, जनता राजनीतिक सत्ता में अपने हिस्से में काफ़ी वृद्धि का दावा करती थी। विदेशी हस्तक्षेप से स्वतंत्रता तथा एकीकरण (जिस हद तक एकीकरण की बात की जा सकती थी) उसने रणक्षेत्रों में हासिल की थी और उसे ही यह तय करना था कि इस स्वतंत्रता का किस तरह उपयोग किया जाना है, यह एकीकरण किस तरह विस्तारपूर्वक अमल में लाया जाना तथा उसका किस तरह उपयोग किया जाना है। यदि जनता उत्तर जर्मन महासंघ के संविधान तथा संधियों में अन्तर्निहित क़ानूनी आधारों को स्वीकार भी करती, तो यह चीज़ पुराने संविधान की तुलना

में नये संविधान के अन्तर्गत उन्हें सत्ता में अधिक भाग प्रदान करने से कदापि नहीं रोकती। राइख़्स्टाग एकमात्र ऐसा निकाय था जो वस्तुतः इस नयी "एकता" का मूर्त्त रूप था। राइख़्स्टाग की आवाज़ जितनी ज़्यादा प्रभावकारी होती, पृथक्-पृथक् राज्यों के संविधानों की तुलना में शाही संविधान जितना अधिक स्वतंत्र होता, नये साम्राज्य को उतना ही अधिक एकीकृत होना था, बवारियाइयों, सैक्सनों तथा प्रशियाइयों को जर्मनों के साथ उतना ही अधिक घुलना-मिलना था।

जिस किसी में ज़रा-सा आगे देख पाने की शक्ति होती, उसके लिए यह चीज़ साफ़ होनी चाहिए थी। परन्तु बिस्मार्क की दूसरी राय थी। उसने युद्ध के बाद के देशभक्ति के उन्माद का राइख़्स्टाग में बहुमत को यह मनाने के लिए उपयोग किया कि जनता के अधिकारों में वृद्धि का ही नहीं, अपितु उनकी स्पष्ट परिभाषा का भी परित्याग किया जाये तथा उत्तर जर्मन महासंघ के संविधान तथा संधियों में अन्तर्निहित क़ानूनी आधार का शाही संविधान में महज़ प्रतिरूप तैयार किया जाये। संविधान में जनता के स्वातंत्र्यों को अभिव्यक्ति देने की छोटी पार्टियों की सभी चेष्टाएं विफल कर दी गयीं जिनमें अख़बारों की आज़ादी, सभाएं करने तथा संघबद्ध होने के अधिकार तथा धर्म की स्वतंत्रता की गारंटी करनेवाली प्रशियाई संविधान की धाराएं शाही संविधान में शामिल करने का केन्द्र की कैथोलिक पार्टी का प्रस्ताव तक शामिल था। प्रशियाई संविधान काट-छांट होने के बावजूद शाही संविधान से अधिक उदारतावादी था। करों पर वार्षिक मतदान नहीं होता था, वरन् "क़ानून द्वारा" हमेशा के लिए तय किये जाते थे, इसलिए राइख़्स्टाग द्वारा करों को अस्वीकृत किया जाना असम्भव हो गया था। इस तरह जर्मनी में प्रशियाई सिद्धान्त, जो जर्मनेतर संवैधानिक विश्व के लिए अकल्पनीय था, लागू किया गया जिसके अनुसार जन-प्रतिनिधियों को केवल काग़ज़ पर ही व्यय अस्वीकृत करने का अधिकार था, जबकि सरकार राजस्व को नक़द रूप में हथियाती थी। राइख़्स्टाग को जहां संघर्ष के सबसे कारगर साधनों से वंचित कर दिया गया तथा उसे १८४९ और १८५० के संशोधनों, मानटेइफ़ेलिज़्म, संवैधानिक संघर्ष तथा सादोवा द्वारा चकनाचूर किये जाने के बाद प्रशियाई सदन की नगण्य स्थिति में पहुंचा दिया गया था, वहां फ़ेडरल कौंसिल को पूर्ण सत्ता उपलब्ध है जिसका पुरानी फ़ेडरल संसद (बुंडेस्टाग) केवल नाम मात्र के लिए उपभोग करती थी, और फ़ेडरल कौंसिल इसका यथार्थ रूप में उपभोग करती है क्योंकि वह उन बेड़ियों से मुक्त है जिनसे फ़ेडरल संसद के पांव कसे हुए थे। राइख़्स्टाग के साथ-साथ फ़ेडरल कौंसिल की क़ानून बनाने में केवल निर्णायक

आवाज़ ही नहीं है, वह उस हद तक सर्वोच्च प्रशासनिक निकाय भी है जिस हद तक शाही क़ानूनों के कार्यान्वयन के लिए आदेश जारी करती है, इसके अलावा वह "शाही क़ानूनों के कार्यान्वयन के दौरान सामने आनेवाली त्रुटियों पर", अर्थात् उन त्रुटियों पर फ़ैसला देती है जिन्हें अन्य सभ्य देशों में केवल एक नये क़ानून द्वारा मिटाया जा सकता है (धारा ७, अनुच्छेद ३ जो क़ानूनी छल अधिक प्रतीत होता है)।

इस प्रकार बिस्मार्क ने राइख़स्टाग से नहीं, जो राष्ट्रीय एकता का प्रतिनिधित्व करता था, वरन् फ़ेडरल कौंसिल से, जो विशिष्टतावादी फूट का प्रतिनिधित्व करती थी, अपना मुख्य अवलम्ब प्राप्त करने का प्रयास किया है। उसने भले ही राष्ट्रीय विचार के पक्षधर की भूमिका सम्भाली थी, उसमें ईमानदारी से राष्ट्र का अथवा उसके प्रतिनिधियों का नेता बनने के साहस का अभाव रहा है; जनवाद को उसका हितसाधन करना था, उसे जनवाद का नहीं; जनता पर निर्भर करने के बजाय वह पर्दे के पीछे कुत्सित प्रच्छन्न षड्यंत्रों पर, कूटनीति के ज़रिए, केक और कोड़े के ज़रिए फ़ेडरल कौंसिल में बहुमत – भले ही दुराग्रहपूर्ण बहुमत – प्राप्त करने की अपनी क्षमता पर निर्भर रहा। उसके दृष्टिकोण की तुच्छता, उसके विचारों में निहित नीचता, जो यह हमारे सामने प्रकट होती है, इस व्यक्ति के – जहां तक हम उसे जान सके हैं – चरित्र के सर्वथा अनुरूप हैं। फिर भी यह हैरानी की बात है कि उसकी बड़ी-बड़ी सफलताएं भी उसे एक क्षण के लिए भी उसके अपने औसत स्तर से ऊपर नहीं उठा सकीं।

परन्तु विद्यमान परिस्थिति में मुख्य बात थी शाही संविधान के लिए एक धुरी मुहैया करना – अर्थात् शाही चांसलर। फ़ेडरल कौंसिल को ऐसी स्थिति में पहुंचाना आवश्यक था जहां शाही चांसलर के अलावा और कोई उत्तरदायी कार्यकारी सत्ता न हो, और जो उत्तरदायी शाही मंत्रियों की नियुक्ति को असम्भव बना दे। वस्तुतः उत्तरदायी मंत्रिमंडल की स्थापना कर शाही प्रशासन को व्यवस्थित करने की प्रत्येक चेष्टा को फ़ेडरल कौंसिल के अधिकारों का अतिक्रमण माना गया तथा उसे अलंघ्य प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। जैसा कि जल्द पता चला, संविधान की "बिस्मार्क के नाप के अनुसार" काट-छांट की गयी थी। यह राइख़स्टाग में पार्टियों के बीच तथा फ़ेडरल कौंसिल में विशिष्टतावादी राज्यों के बीच सन्तुलन क़ायम रखकर अपने एकच्छत्र वैयक्तिक शासन की राह में एक और पग था, बोनापार्तपंथ की राह में एक और पग था।

हां, यह नहीं कहा जा सकता कि नया शाही संविधान – बवारिया तथा वुर्टेम्बर्ग को दी गयी पृथक्-पृथक् रियायतों को छोड़कर – प्रत्यक्षतया पीछे की ओर पग था। परन्तु उसके पक्ष में बस यही एक अच्छी बात कही जा सकती है। पूंजीपति वर्ग की आर्थिक आवश्यकताओं की मुख्यतया पूर्ति हो चुकी थी, उसकी राजनीतिक मांगों को – जहां तक उसने कोई राजनीतिक मांग पेश की हो – संवैधानिक संघर्ष के दौरान वैसी ही बाधाओं का सामना करना पड़ा।

पूंजीपति वर्ग ने तो अभी तक राजनीतिक दावे छोड़े ही नहीं थे! दरअसल इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि राष्ट्रीय-उदारतावादियों के मामले में ये दावे संकुचित होकर बहुत मामूली आकार के हो गये थे और वे नित्यप्रति संकुचित होते जा रहे थे। ये सज्जन यह मांग करना तो रहा बहुत दूर कि बिस्मार्क उनके साथ सहयोग का पथ प्रशस्त करे, वे उसे – वहां भी जहां सम्भव था तथा प्रायः वहां भी जहां असम्भव था अथवा असम्भव होना चाहिए था – प्रसन्न करने के लिए अधिक चिन्तित रहते थे। बिस्मार्क उन्हें तिरस्कृत करता था, इसके लिए कोई उसे दोषी नहीं ठहरायेगा – परन्तु क्या उसके युंकर किसी भी अर्थ में बेहतर या अधिक साहसी थे?

दूसरे क्षेत्र को, जिसमें साम्राज्य की एकता को स्थापित किया जाना था, मुद्रा प्रणाली के क्षेत्र को मुद्रा तथा बैंक-व्यवसाय-सम्बन्धी क़ानूनों ने व्यवस्थित किया जो १८७३ तथा १८७५ के बीच पास किये गये थे। सोने की करेंसी का प्रचलन काफ़ी प्रगति का द्योतक था, परन्तु उसे केवल धीरे-धीरे और अस्थिरतापूर्वक लागू किया गया। आज भी वह दृढ़तापूर्वक स्थापित नहीं हुई है। स्वीकृत मुद्रा प्रणाली – मार्क के नाम से टालर का तीसरा हिस्सा, दशमिक विभाजन वाली इकाई – का सुझाव चौथे दशक के अन्त में ज़ेटबर ने दिया था; वास्तविक इकाई २० मार्क का सोने का सिक्का थी। मूल्य में कोई ख़ास परिवर्तन किये बिना भी उसे ब्रिटिश अशर्फ़ी, सोने के २५ फ़्रांक के सिक्के अथवा सोने के पांच अमरीकी डालर के सिक्के की बिल्कुल बराबरी पर पहुंचाया जा सकता था तथा इस तरह विश्व मंडी की तीन प्रमुख मुद्रा प्रणालियों से जोड़ा जा सकता था। लेकिन एक पृथक् मुद्रा प्रणाली को तरजीह दी गयी और इस तरह व्यापार तथा विनिमय दरों के हिसाब-किताब को अनावश्यक रूप से उलझा दिया गया। शाही सरकारी नोटों तथा बैंकों से सम्बन्धित क़ानूनों ने छोटे राज्यों तथा उनके बैंकों में हुंडियों में सट्टेबाज़ी को सीमित किया और इस बीच ज़ोरों से आयी मन्दी को ध्यान में रखते हुए कुछ निश्चित सतर्कता बरतने की गुंजाइश रखी गयी थी जो इस क्षेत्र में अभी

अनुभवहीन जर्मनी के लिए बहुत उपयुक्त थी। यहां पूंजीपति वर्ग के हित कुल मिलाकर पर्याप्त रूप से सुरक्षित थे।

अन्ततः अदालती अधिकार के क्षेत्र में समरूप क़ानूनों पर अमल आवश्यक था। वास्तविक नागरिक अधिकारों पर शाही अधिकार क्षेत्र के विस्तार का मध्य जर्मन राज्यों द्वारा प्रतिरोध पर क़ाबू पा लिया गया। परन्तु दीवानी संहिता तो अब भी तैयार हो रही थी, जबकि दंड संहिता, फ़ौजदारी और दीवानी कार्यविधिक क़ानून, व्यापार क़ानून, दिवालियापन-सम्बन्धी अधिनियम तथा न्यायिक प्रणाली को सर्वत्र एकीकृत कर दिया गया है। छोटे राज्यों में पंचमेली औपचारिक तथा भौतिक प्रतिमानों का उन्मूलन पूंजीवादी समाज के और आगे विकास के लिए तात्कालिक रूप से आवश्यक था। और यही उन्मूलन नये क़ानूनों का मुख्य गुण है – उनकी अन्तर्वस्तु से कहीं बड़ा।

अंग्रेज विधिशास्त्री उस क़ानून के विकास के इतिहास पर निर्भर करता है जिसने मध्य युगों के दौरान पुराने जर्मन स्वातंत्र्यों के एक अच्छे-ख़ासे भाग को अक्षुण्ण रखा है, जो पुलिस राज्य से, जिसे बीज रूप में ही १७ वीं शताब्दी की दो क्रान्तियों में कुचल दिया गया था, अनभिज्ञ है और जो नागरिक अधिकारों के दो शताब्दी के निर्बाध विकास में अपने चरम शिखर पर पहुंच गया है। फ़्रांसीसी विधिशास्त्री महान क्रान्ति पर निर्भर करता है जिसने सामन्तवाद और निरंकुश पुलिस स्वेच्छाचारिता का पूर्ण विनाश करके नवोदित आधुनिक समाज के जीवन की आर्थिक अवस्थाओं को नेपोलियन द्वारा उद्घोषित क्लासिकी नेपोलियनी विधि संहिता के क़ानूनी प्रतिमानों की भाषा में रूपान्तरित किया है। इनकी तुलना में हमारे जर्मन विधिशास्त्री किस क़ानूनी आधार पर निर्भर करते हैं? और कुछ नहीं सिवाय मध्ययुगीन अवशेषों के विघटन की कई शताब्दियों की निष्क्रिय प्रक्रिया के, अधिकतर बाहर के आघातों से गतिशील होनेवाली परन्तु अभी तक पूर्ण न होनेवाली प्रक्रिया के; आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए समाज के, जिसमें सामन्ती युंकर तथा शिल्प-संघों के उस्ताद किसी नये अवतार की तलाश में प्रेतों की भांति चक्कर काट रहे हैं; एक ऐसी क़ानून व्यवस्था के, जिसमें – यद्यपि राजाओं का रहस्य के आवरण में लिपटा न्याय १८४८ में विलुप्त हो गया था – पुलिस स्वेच्छाचारिता रोज़-ब-रोज़ दरारें बना रही है। नयी शाही विधि संहिताओं के रचयिता तमाम ख़राब पंथों में से सबसे ख़राब पंथ से आये हुए हैं और उनकी कृतियों पर इसकी छाप मौजूद है। विशुद्ध क़ानूनी पहलू की बात न भी करें, तब भी राजनीतिक स्वतंत्रता को इन विधि संहिताओं में काफ़ी कस दिया गया

था। यदि शोफ़ेन अदालतें[144] पूंजीपति वर्ग तथा निम्नपूंजीपति वर्ग को मज़दूर वर्ग का दमन करने में सांठगांठ करने की सम्भावना मुहैया करती हैं तो जूरियों की अदालतों के अधिकारों में कटौती कर राज्य पूंजीवादी विरोध के ख़तरे से अपना अधिक से अधिक बचाव करता है। दंड संहिता के राजनीतिक अनुच्छेद बहुधा इतने अस्पष्ट तथा लचीले हैं मानो उन्हें वर्तमान शाही अदालत के नाप के अनुसार और शाही अदालत को उनके नाप के अनुसार विशेष रूप से तैयार किया गया हो। ज़ाहिर है, नयी विधि संहिताएं प्रशियाई आम क़ानून की तुलना में आगे की ओर बढ़ाया गया क़दम हैं – आज तो स्टोकर यदि अपनी सुन्नत भी करा ले, तब भी वह उस संहिता जितनी वीभत्स वस्तु तैयार नहीं कर पायेगा। परन्तु जो प्रान्त अब तक फ़्रांसीसी क़ानून के अन्तर्गत रहते थे, वे धुंधली पड़ चुकी प्रतिलिपि और क्लासिकी मूल के बीच अन्तर को बहुत बुरी तरह अनुभव करते हैं। राष्ट्रीय-उदारतावादियों द्वारा अपने कार्यक्रम के परित्याग ने ही नागरिक स्वातंत्र्यों की क़ीमत पर राजकीय सत्ता के इस दृढ़ीकरण को, पीछे हटने के इस पहले क़दम को सम्भव बनाया था।

शाही अख़बार क़ानून की भी चर्चा की जानी चाहिए। इससे सम्बन्धित वास्तविक नागरिक अधिकार दंड संहिता द्वारा मूलतया नियमित हो चुका है; पूरे साम्राज्य के लिए एक जैसी औपचारिक परिभाषाओं की स्थापना और यत्र-तत्र विद्यमान बांड तथा स्टाम्प शुल्कों के उन्मूलन की कार्रवाई क़ानून की मुख्य अन्तर्वस्तु और साथ ही एकमात्र हासिल की गयी प्रगति थीं।

प्रशा को फिर से आदर्श राज्य बना सकने के लिए वह तथाकथित स्वशासन लागू किया गया। उद्देश्य था सामन्तवाद के सबसे आपत्तिजनक अवशेषों को मिटाने पर साथ ही सब कुछ मूलतया पहले जैसा रहने देना। ज़िला अध्यादेश[145] इस उद्देश्य की पूर्ति करता था। युंकरों की अपनी जागीरों में पुलिस सत्ता पुरानी पड़ चुकी थी। सामन्ती विशेषाधिकार के रूप में उसका औपचारिक ख़ात्मा कर दिया गया परन्तु व्यवहार में उसे स्वतंत्र ग्राम्य ज़िलों (Gutsbezirke) के रूप में फिर से प्रतिष्ठापित कर दिया गया जिनमें भू-स्वामी ग्राम-समुदाय के मुखिया (Gemeindevorsteher) के अधिकारों सहित या तो स्वयं ग्राम के सुपरिंटेंडेंट (Gutsvorsteher) के रूप में काम करता है अथवा इस सुपरिंटेंडेंट को नियुक्त करता है। युंकरों की यह सत्ता प्रशासनिक ज़िले (Amtsbezirk) की पूरी पुलिस सत्ता और पुलिस अधिकार क्षेत्र एक ऐसे ज़िला प्रधान (Amtsvorsteher) को सौंपकर भी वास्तव में पुनः प्रतिष्ठापित कर दी गयी, ज़िला प्रधान का यह पद ग्राम्य

क्षेत्रों में प्रायः सदैव विशिष्टतया बड़े भू-स्वामियों के पास होता था; इस तरह वह ग्राम-समुदाय पर भी नियंत्रण रखता था। अलग-अलग व्यक्तियों के सामन्ती विशेषाधिकारों का उन्मूलन कर दिया गया। परन्तु इन विशेषाधिकारों से जुड़ी हुई सत्ता पूरे वर्ग के पास चली गयी। इसी तरह की बाज़ीगरी की मदद से बड़े अंग्रेज़ भू-स्वामी ग्राम्य प्रशासन, पुलिस तथा निम्न अदालती निकायों में न्यायाधीश तथा स्वामी बन गये और इस तरह उन्होंने एक नये, आधुनिकीकृत उपाधि के अन्तर्गत अपने लिए सत्ता की तमाम महत्त्वपूर्ण स्थितियों का और उपभोग करने का अधिकार प्राप्त कर लिया जिन्हें वे पुराने सामन्ती रूप के अन्तर्गत बरक़रार नहीं रख सकते थे। परन्तु अंग्रेज़ तथा जर्मन "स्वशासन" के बीच बस यही एकमात्र समानता है। मैं कोई ऐसा ब्रिटिश मंत्री देखना चाहूंगा जो संसद में यह प्रस्ताव करने की हिम्मत कर सके कि निर्वाचित स्थानीय अधिकारी अनुमोदित होने चाहिए, कि किसी अवांछनीय व्यक्ति के निर्वाचित होने की दशा में उसके स्थान पर सरकार द्वारा नियुक्त व्यक्ति बिठाया जाना चाहिए, कि राजकीय अधिकारियों को प्रशियाई लांडराटों, ज़िला प्रशासन के प्रमुखों और लार्ड-लेफ़्टिनेन्टों की सत्ता सौंपी जानी चाहिए, कि ज़िला अध्यादेश में प्रदत्त अधिकार राज्य के प्रशासनिक निकायों को समुदायों, छोटी प्रशासनिक इकाइयों तथा ज़िलों के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप करने और अन्ततः क़ानूनी संरक्षण की सहायता लेने पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए – यह एक ऐसी चीज़ है जो समस्त अंग्रेज़ी भाषाभाषी देशों और अंग्रेज़ क़ानून में अश्रुतपूर्व है परन्तु जिसे हम ज़िला अध्यादेश के लगभग प्रत्येक पृष्ठ पर देखते हैं – प्रदान किये जायें। जहां जिला सभाएं और प्रान्तीय लांडटाग अब भी पुराने सामन्ती ढंग से तीन सामाजिक श्रेणियों – बड़े भू-स्वामी, नगरों और ग्राम-समुदायों – के प्रतिनिधियों को लेकर बने हुए हैं, वहां इंगलैंड में कट्टरतम अनुदारपंथी मंत्रिमंडल तक काउंटी का पूरा प्रशासन प्रायः सार्वजनिक मताधिकार द्वारा निर्वाचित निकायों के हाथों में सौंपने का क़ानून पास करता है[146]।

६ पूर्वी प्रान्तों के लिए ज़िला अध्यादेश का मसौदा (१८७१) इस बात का पहला संकेत था कि बिस्मार्क ने प्रशा को जर्मनी में विलयित किये जाने की बात सोची भी नहीं थी, इसके विपरीत उसने इन ६ प्रान्तों को, पुराने प्रशावाद के दुर्ग को और मज़बूत बनाने का प्रयास किया। सत्ता के तमाम महत्त्वपूर्ण पद परिवर्तित नामों के अन्तर्गत युंकरों के पास रहने दिये गये, जबकि जर्मनी के हीलोट[147], इन इलाक़ों के खेत मज़दूर तथा दिहाड़ीदार जैसे देहाती मज़दूर अपनी

पुरानी वास्तविक भू-दासत्व की स्थिति में ही रहे। उन्हें केवल दो सार्वजनिक कार्यों के क्षेत्र में प्रवेश करने दिया गया – सैनिक बनना और राइख़स्टाग के चुनावों के दौरान मतदान करनेवाली भीड़ के रूप में युंकरों की सेवा करना। इस तरह बिस्मार्क ने क्रान्तिकारी समाजवादी पार्टी की जो सेवा की, वह अवर्णनीय है तथा हार्दिक कृतज्ञता प्राप्त करने योग्य है।

युंकरों की मूर्खता के बारे में क्या कहा जाये जो बिगड़े हुए साहबज़ादों की तरह इस ज़िला अध्यादेश को लतियाने लगे जो विशिष्टतया उनके हितार्थ, कुछ आधुनिकीकृत नाम के अन्तर्गत उनके सामन्ती विशेषाधिकारों को बरक़रार रखने के हितार्थ तैयार किया गया था? प्रशियाई हाउस आफ़ लार्डस ने – हाउस आफ़ युंकर कहना ज़्यादा सटीक होगा – पहले तो इस मसौदे को, जिसे पेश करने में पूरे एक साल की देरी हो चुकी थी, ठुकरा दिया तथा २४ नये "लार्डों" के नामज़द होने के बाद ही उसे मंज़ूर किया। प्रशियाई युंकरों ने एक बार फिर सिद्ध कर दिया कि वे टुच्चे, दुराग्रही, सुधारे न जा सकनेवाले प्रतिक्रियावादी हैं, ऐसी बड़ी स्वतंत्र पार्टी का केन्द्रक बनने में असमर्थ हैं जो राष्ट्र के जीवन में वैसी ही ऐतिहासिक भूमिका अदा कर सके जो बड़े ब्रिटिश भू-स्वामी वस्तुतः अदा कर रहे हैं। इस तरह उन्होंने साबित कर दिया कि उनमें विवेक-बुद्धि का सर्वथा अभाव है। बिस्मार्क को दुनिया को इतना बताना बाक़ी था कि उनमें चरित्र का पूर्ण अभाव है, और ज़रा ठीक ढंग से डाले गये दबाव ने उन्हें sans phrase* बिस्मार्क पार्टी बना दिया। यह काम Kulturkampf को सम्पन्न करना था।

प्रशियाई-जर्मन साम्राज्य की योजना के कार्यान्वियन के कारण प्रत्याघात के रूप में तमाम प्रशाविरोधी तत्त्वों को, जो पहले पृथक् विकास पर निर्भर करते थे, एक पार्टी में मिल जाना चाहिए था। इन पंचमेली तत्त्वों को ultramontanism[148] के रूप में एक समान झंडा मिल गया। एक ओर पोप के अमोघत्व के नये जड़सूत्र के विरुद्ध बहुत बड़ी तादाद वाले आर्थोडोक्स कैथोलिकों तक की ठोस सहजबुद्धि का विद्रोह और दूसरी ओर पोप-राज्य के नाश तथा रोम में पोप की तथाकथित क़ैद ने[149] कैथोलिक मत की तमाम संघर्षशील शक्तियों को एकजुट होने के लिए विवश किया। इस तरह लड़ाई के समय ही, १८७० के शरद काल में ही प्रशियाई लांडटाग में विशिष्टतया कैथोलिक केन्द्र पार्टी का निर्माण हो गया था; १८७१

---

* बिला शर्त। – सं०

की पहली जर्मन राइख़्स्टाग में उसके पास केवल ५७ सीटें थीं, परन्तु अब वह हर नये चुनाव के साथ मज़बूत होती जा रही थी तथा अन्त में उसकी सदस्य संख्या १०० से ऊपर पहुंच गयी थी। यह पार्टी पंचमेली तत्त्वों की खिचड़ी थी। प्रशा में इसकी मुख्य शक्ति थे राइनी छोटे किसान जो अब भी अपने को "ज़बर्दस्ती बनाये गये प्रशियाई" मानते थे, मून्स्टर तथा पाडेरबोर्न और कैथोलिक सिलेशिया के वेस्टफ़ालियाई धर्मप्रान्तों के कैथोलिक भू-स्वामी तथा किसान। दूसरा बड़ा दस्ता दक्षिण जर्मन कैथोलिकों ने, ख़ास तौर पर बवारियाइयों ने मुहैया किया था। केन्द्र पार्टी की शक्ति का स्रोत इतना कैथोलिक धर्म नहीं, जितना यह तथ्य था कि वह हर विशिष्टतया प्रशियाईपन के विरुद्ध, जो अब जर्मनी पर प्रभुत्व का दावा कर रहा था, जनसाधारण के वैरभाव का प्रतिनिधित्व करती थी। यह वैरभाव कैथोलिक क्षेत्रों में ख़ास तौर पर प्रबल था; साथ ही वहां जर्मनी से अलग कर दिये गये आस्ट्रिया के प्रति सहानुभूति भी विद्यमान थी। इन दो आम प्रवृत्तियों के अनुकूल केन्द्र पार्टी ने निश्चित रूप से विशिष्टतावादी तथा संघवादी स्थिति अपनायी।

केन्द्र पार्टी की इस मूलतया प्रशाविरोधी अभिलाक्षणिकता को राइख़्स्टाग के अन्य छोटे धड़ों ने तुरंत पहचान लिया जो सामाजिक-जनवादियों की तरह राष्ट्रीय तथा सार्वत्रिक कारणों से नहीं, वरन् स्थानीय कारणों से प्रशाविरोधी थे। कैथोलिक पोल और अल्सासवासी ही नहीं, वरन् प्रोटेस्टेंट वेल्फ़[150] तक केन्द्र पार्टी के साथ घनिष्ठ रूप से संघबद्ध हो गये। पूंजीवादी-उदारतावादी धड़े यद्यपि तथाकथित अल्ट्रामोंटांओं के वास्तविक चरित्र को कभी पूरी तरह नहीं समझ पाये, उन्होंने वास्तविक स्थिति को तब कुछ समझ लिया था जब उन्होंने केन्द्र को "अदेशभक्त" तथा "साम्राज्य के प्रति शत्रुतापूर्ण" बताया*...

दिसम्बर १८८७ के अन्त और मार्च १८८८ के बीच लिखित।

सबसे पहले «*Die Neue Zeit*» पत्रिका (खण्ड १, अंक २२–२६, १८९५–१८९६) में प्रकाशित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

---

*पांडुलिपि यहीं रुक जाती है।—सं०

फ़्रेडरिक एंगेल्स

१८९१ के सामाजिक-जनवादी कार्यक्रम के मसौदे की एक समीक्षा[151]

मौजूदा मसौदा पिछले कार्यक्रम की तुलना में काफ़ी अच्छा है[152]। पुरानी पड़ चुकी परम्पराओं के – विशिष्ट लासालपंथी तथा बाज़ारू ढंग की समाजवादी दोनों तरह की परम्पराओं के – प्रबल अवशेष मिटा दिये गये हैं; जहां तक मसौदे के सैद्धान्तिक पहलू का सम्बन्ध है, वह कुल मिलाकर समकालीन विज्ञान पर आधारित है और इस आधार पर उस पर विचार किया जा सकता है।

यह तीन अनुभागों में विभक्त है – १. प्रस्तावना। २. राजनीतिक मांगें। ३. मज़दूरों के अधिकारों की सुरक्षा-सम्बन्धी मांगें।

१. दस अनुच्छेदों में प्रस्तावना

सामान्यतया वह दो कदापि न मिलायी जा सकनेवाली वस्तुओं को – कार्यक्रम और साथ ही उस पर टीका – मिलाने की चेष्टा का शिकार है। इस आशंका के कारण कि संक्षिप्त तथा सारगर्भित व्याख्या पर्याप्त रूप से बोधगम्य न हो, स्पष्टीकरण जोड़ दिये गये हैं जिनके फलस्वरूप पाठ शब्दों से भरा पड़ा तथा लम्बा खिंच गया है। मेरी दृष्टि से कार्यक्रम को यथासम्भव संक्षिप्त तथा नपा-तुला होना चाहिए। यदि उसमें कभी-कभी विदेशी शब्द अथवा कोई ऐसा वाक्य भी, जिसका पूर्ण अर्थ पहली नज़र में समझ में न आये, जोड़ना भी पड़े तो कोई हानि नहीं होती। सभाओं में मौखिक व्याख्या तथा अख़बारों में लिखित टिप्पणियां यह सब काम पूरा कर देती हैं तथा संक्षिप्त और प्रभावपूर्ण वाक्य एक बार समझ में आ जाने पर स्मृति-पटल पर जम जाता है तथा नारा बन जाता है, यह चीज़ लम्बी-चौड़ी व्याख्याओं के साथ कभी नहीं होती। जनसुलभता की ख़ातिर ज़रूरत से ज़्यादा बलि नहीं दी जानी चाहिए और हमारे मज़दूरों की मानसिक

योग्यता तथा शैक्षणिक स्तर को घटाकर नहीं आंकना चाहिए। वे तो उससे कहीं अधिक कठिन बातें समझ चुके हैं जो संक्षिप्ततम, सबसे सारपूर्ण कार्यक्रम उनके सामने प्रस्तुत कर सकता है। और अगर समाजवाद विरोधी क़ानून[153] की अवधि ने आन्दोलन में शामिल होनेवाले जनसाधारण के बीच व्यापक ज्ञान का प्रसारण कठिन बनाया है और यही नहीं यत्र-तत्र उसे रोका भी है तो अब, जबकि हमारा प्रचारात्मक साहित्य कोई ख़तरा उठाये बिना रखा और पढ़ा जा सकता है, पुराने कार्यकर्त्ताओं के नेतृत्व के अन्तर्गत कमी जल्दी से पूरी की जा सकती है।

मैं इस पूरे अनुभाग को कुछ छोटा करने की कोशिश करूंगा और यदि सफल हो गया तो इसे संलग्न कर दूंगा या बाद में भेज दूंगा। इस समय मैं १ से लेकर १० तक अनुच्छेदों की अलग-अलग चर्चा करूंगा।

अनुच्छेद १। "पृथक्करण", आदि, "खान, गर्त्त तथा खदान",—एक ही चीज़ के लिए तीन शब्द। मैं **खान** शब्द (Bergwerke) को रहने दूंगा जो देश के सबसे मैदानी भागों तक में प्रचलित है और मैं उन सब को इस सर्वाधिक प्रयुक्त शब्द से पुकारूंगा। परन्तु मैं इतना और जोड़ूंगा—"**रेलें** तथा संचार के **अन्य** साधन।"

अनुच्छेद २। इसमें मैं ये शब्द जोड़ूंगा—"श्रम के सामाजिक साधन **उन्हें हड़पनेवालों** (अथवा **उनके मालिकों**) के हाथों में", और फिर नीचे "श्रम के साधनों के '**मालिकों** (अथवा हड़पनेवालों) पर... निर्भरता", आदि।

अनुच्छेद १ में यह पहले ही कहा जा चुका है कि इन लोगों ने ये चीज़ें "**निजी** सम्पत्ति" के रूप में हड़प ली हैं और यदि कोई "इजारेदार" शब्द जोड़ने पर तुला हुआ है तो यह यहां पुनरावृत्ति मात्र होगा। न तो यह और न कोई दूसरा शब्द यहां अर्थ में कुछ भी जोड़ता। किसी कार्यक्रम में कोई भी अनावश्यक वस्तु उसे केवल निर्बल ही बनाती है।

"समाज के **अस्तित्व** के लिए **आवश्यक** श्रम के साधन"

—ठीक वे ही, जो उपलब्ध हैं। भाप-इंजन के अस्तित्व में आने से पहले इनके बिना काम चल सकता था। अब यह सम्भव नहीं। चूंकि श्रम के तमाम साधन आजकल प्रत्यक्षतया अथवा परोक्ष रूप में—अपनी बनावट अथवा सामाजिक श्रम-विभाजन के कारण—**श्रम के सामाजिक साधन हैं**, ये शब्द समय विशेष पर

उपलब्ध वस्तुओं को पर्याप्त स्पष्टता के साथ, सही-सही, बिना किसी गलत व्याख्या के, व्यक्त कर देते हैं।

यदि इरादा यह है कि यह निष्कर्ष इंटरनेशनल की नियमावली की प्रस्तावना के अनुरूप हो तो मैं चाहूंगा कि वह **पूरी तरह** उसके अनुरूप हो – "सामाजिक तंगहाली" (यह नं० १), "मानसिक पतन तथा राजनीतिक पराधीनता"।* शारीरिक पतन सामाजिक तंगहाली का अंग है तथा राजनीतिक **पराधीनता** एक तथ्य है, जबकि राजनीतिक **अधिकारहीनता** एक शब्दाडंबरपूर्ण पद है जो केवल **सापेक्ष** सत्य है और इस कारण जिसे कार्यक्रम में नहीं होना चाहिए।

अनुच्छेद ३। मेरी राय में पहला वाक्य बदला जाना चाहिए।

"**निजी स्वामियों के प्रभुत्व** के अन्तर्गत"।

सबसे पहले, जिस बात की चर्चा की जानी चाहिए, वह एक आर्थिक तथ्य है जिसे आर्थिक दृष्टि से समझाया जाना चाहिए। "निजी स्वामियों का **प्रभुत्व**" की अभिव्यंजना यह मिथ्या धारणा पैदा करती है कि इसे डाकुओं के इस गिरोह का **राजनीतिक** प्रभुत्व जन्म देता है। दूसरे, इन निजी स्वामियों में केवल "पूंजीपति तथा बड़े ज़मींदार" ही नहीं हैं (यहां आगे "बुर्जुआ" का क्या अर्थ है? क्या यह निजी स्वामियों का एक तीसरा वर्ग है? क्या बड़े ज़मींदार भी "बुर्जुआ" हैं? और यदि हम एक बार बड़े ज़मींदारों की बात करते हैं तो क्या हम सामन्तवाद के उन विशाल अवशेषों की उपेक्षा कर सकते हैं जो जर्मनी में पूरी राजनीतिक गन्दगी को उसका विशिष्ट प्रतिक्रियावादी स्वरूप प्रदान करते हैं?)। **किसान तथा निम्नपूंजीपति** भी "निजी स्वामी" हैं, कम से कम इस समय तो हैं; परन्तु कार्यक्रम में उनकी चर्चा कहीं नहीं है। इसलिए इस प्रकार लिखा जाना चाहिए कि वे चर्चित निजी स्वामियों की श्रेणी में शामिल न किये जायें।

"श्रम के साधनों **तथा** शोषितों द्वारा पैदा की गयी सम्पदा का संचय।"

"सम्पदा" में ये शामिल हैं – १) श्रम के साधन, २) आजीविका के साधन। इसलिए सम्पदा के एक भाग की दूसरे के बिना और समग्र रूप में सम्पदा की

*देखें प्रस्तुत संस्करण, खण्ड २, भाग १। – सं०

चर्चा करना, फिर इन दोनों को **तथा** शब्द से जोड़ना व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध और असंगत भी है।

"...**पूंजीपतियों** के हाथों में अधिकाधिक द्रुत गति से... वृद्धि होती है।"

"बड़े भू-स्वामी" और "बुर्जुआ" कहां चले गये हैं जिनकी ऊपर चर्चा की गयी है? यदि यहां केवल पूंजीपतियों की बात करना काफ़ी है तो ऊपर भी ऐसा ही होना चाहिए था। परन्तु यदि बारीकी से उल्लेख किया जाना है तो अकेले पूंजीपतियों की चर्चा करना काफ़ी नहीं है।

"सर्वहारा की संख्या और **तंगहाली** निरन्तर बढ़ती जा रही है"।

जितने निरपेक्ष रूप में यह बात यहां कही गयी है, वह ठीक नहीं है। मज़दूरों का संगठन और उनका निरन्तर बढ़ता हुआ प्रतिरोध **तंगहाली** में **वृद्धि** को कुछ हद तक रोक देंगे। परन्तु जो चीज़ **यक़ीनन** बढ़ती है, वह है **आजीविका की अनिश्चितता**। मैं यह बात शामिल करूं।

अनुच्छेद ४ –

"योजना का **अभाव** जो पूंजीवादी निजी उत्पादन के स्वरूप का अभिन्न अंग है"।

यह वाक्य काफ़ी सुधार की अपेक्षा करता है। मैं पूंजीवादी उत्पादन से सामाजिक रूप में अथवा एक आर्थिक दौर के रूप में परिचित हूं; पूंजीवादी **निजी** उत्पादन जो एक **घटना-व्यापार** होने के कारण इस दौर में इस या उस रूप में सामने आता है। पूंजीवादी **निजी** उत्पादन क्या है? **पृथक्** उद्यमकर्त्ता द्वारा उत्पादन, जो अधिकाधिक अपवाद बनता जा रहा है। **संयुक्त स्टाक कम्पनियों** द्वारा किया जानेवाला पूंजीवादी उत्पादन अब **निजी** उत्पादन नहीं रह गया है बल्कि अनेक ऐक्यबद्ध लोगों द्वारा किया जानेवाला उत्पादन बन गया है। और यदि हम संयुक्त स्टाक कम्पनियों से ट्रस्टों तक पहुंचते जो उद्योग की पूरी की पूरी शाखाओं पर प्रभुत्व और इजारेदारी क़ायम करते हैं तो **निजी उत्पादन** की ही नहीं, **वरन् योजना के अभाव** की बात भी ख़त्म हो जाती है। यदि **"निजी"** शब्द हटा दिया जाये तो वाक्य ठीक हो जायेगा।

"आबादी के व्यापक स्तरों की बरबादी"।

इस शब्दाडम्बरपूर्ण वाक्यांश के स्थान पर, जो ऐसे लगता है मानो हमें पूंजीपतियों तथा निम्नपूंजीपतियों की बरबादी पर खेद हो रहा हो, मैं यह सीधा-सादा तथ्य कहना चाहूंगा, "जो शहरी तथा देहाती मध्यम श्रेणियों की, निम्नपूंजीपतियों तथा छोटे किसानों की बरबादी के फलस्वरूप सम्पत्तिवानों तथा सम्पत्तिहीनों के बीच खाई को और भी चौड़ी (अथवा गहरी) बनाता है।"

अन्तिम दो वाक्यांश एक ही बात दुहराते हैं। अनुभाग १ के परिशिष्ट में मैं एक संशोधन का मसौदा दे रहा हूं।*

अनुच्छेद ५। "कारण" के स्थान पर "**उसके** कारण" शब्द होने चाहिए – यह भूल शायद लिखते समय हो गयी है।

अनुच्छेद ६। "खान, गर्त्त, खदान" – ऊपर अनुच्छेद १ देखें। "**निजी** उत्पादन" – ऊपर देखें। मैं यह कहता, "अलग-अलग व्यक्तियों या संयुक्त स्टाक कम्पनियों के हितार्थ वर्तमान पूंजीवादी उत्पादन का समाज के हितार्थ तथा एक पूर्वकल्पित योजना के अनुसार समाजवादी उत्पादन में रूपान्तरण, ऐसा रूपान्तरण, जिसके लिए... सृजन किया जाता है... तथा केवल जिसके द्वारा ही मज़दूर वर्ग की मुक्ति और उसके साथ बिना किसी अपवाद के समाज के तमाम सदस्यों की मुक्ति हासिल हो सकती है।"

अनुच्छेद ७। मैं वही कहता जो अनुभाग १ के परिशिष्ट में कहा गया है।**

अनुच्छेद ८। "वर्ग सचेत" शब्द के स्थान पर, जो हमारे हल्क़ों में आसानी से समझी जानेवाली संक्षिप्त अभिव्यक्ति है, मैं उसे बोधगम्य बनाने और विदेशी भाषाओं में अनुवाद करने की सुगमता की दृष्टि से यह कहता, "अपनी वर्ग स्थिति से सचेत मज़दूरों के साथ", या कुछ इस तरह और।

अनुच्छेद ९। अन्तिम वाक्य "...आर्थिक शोषण और राजनीतिक उत्पीड़न की शक्ति एक ही हाथों में सौंपता... और इस तरह संकेन्द्रित भी करता है"।

अनुच्छेद १०। "वर्ग शासन" के बाद ये शब्द जोड़े जाने चाहिए – "तथा स्वयं वर्ग"। वर्गों का उन्मूलन हमारी बुनियादी मांग है जिसके बिना वर्ग शासन का उन्मूलन आर्थिक दृष्टि से अकल्पनीय है। "सब के वास्ते समानाधिकार के

---

*देखें प्रस्तुत खंड, पृष्ठ ३४१। – **सं०**

पूर्वोक्त, पृष्ठ ३४१। – **सं०

लिए" की जगह मैं ये शब्द रखने का सुझाव देता हूं, "सब के वास्ते समानाधिकार तथा **समान कर्त्तव्य**", आदि। **समान कर्त्तव्य** हमारे लिए पूंजीवादी-जनवादी **समानाधिकारों** में विशेष महत्त्व का अनुपूरक है जो उनके विशिष्ट पूंजीवादी **अर्थ** को मिटा देता है।

अन्तिम वाक्य "अपने संघर्ष में... समर्थ हैं" शब्दों को हटा देना बेहतर होगा। "जो सामान्यतया **जनता** की स्थिति (यह मतलब किससे है?) सुधारने में समर्थ हैं और..."—इस असुनिश्चित वाक्य में सब चीज़ें—संरक्षण शुल्क और मुक्त व्यापार, शिल्प संघ और औद्योगिक उद्यम की स्वतंत्रता, भूमि-ऋण, विनिमय बैंक, अनिवार्य टीके और टीकों का निषेध, मद्य-व्यसन और शराबबन्दी, आदि, आदि—शामिल मानी जा सकती हैं। यहां जो कहा जाना **चाहिए था**, वह पहले कहा जा चुका है और विशिष्ट रूप से यह चर्चा करना अनावश्यक है कि समग्र की मांग में हर पृथक् भाग शामिल है, क्योंकि मेरी राय में इससे प्रभाव कम हो जाता है। लेकिन इरादा यदि यह है कि यह वाक्य पृथक-पृथक मांगों की ओर बढ़ने का सूत्र बने तो कुछ इससे मिलती-जुलती बात कही जा सकती है, "सामाजिक-जनवाद उन तमाम मांगों के लिए संघर्ष करता है **जो उसे इस लक्ष्य की ओर बढ़ने में मदद देती हैं** ("उपाय तथा प्रबन्ध" शब्दों की चूंकि पुनरावृत्ति हुई है, इसलिए उन्हें निकाल दिया जाना चाहिए)। अन्यथा यह और भी अच्छा होगा—यह सब जिस बारे में है, उसे सीधे कहा जाये, अर्थात् यह कि उसे पूरा करना आवश्यक है जिसे करने में पूंजीपति वर्ग चूक गया है; मैंने इस आशय का अन्तिम वाक्य परिशिष्ट १ में जोड़ दिया है।* मैं इसे अगले अनुभाग के लिए अपनी टिप्पणियों के सिलसिले में और उसमें प्रस्तुत अपने प्रस्तावों की अभिपुष्टि के लिए महत्त्वपूर्ण मानता हूं।

२. राजनीतिक मांगें

मसौदे की राजनीतिक मांगों में एक बहुत बड़ा दोष है। उसमें ठीक **उसका अभाव है** जो कहा जाना चाहिए था। यदि सभी दस मांगें स्वीकृत हो जाती हैं तो हमें अपने मुख्य राजनीतिक ध्येय की पूर्त्ति के लिए सचमुच अधिक विविधतापूर्ण साधन मिल जायेंगे परन्तु स्वयं ध्येय की कदापि पूर्त्ति नहीं होगी। जहां तक जनता

---

*पूर्वोक्त, पृष्ठ ३४२।—सं०

और उसके प्रतिनिधियों को अधिकार प्रदान करने का मामला है, जर्मन साम्राज्य का संविधान तथ्यतः १८५० के प्रशियाई संविधान की नक़ल मात्र है, एक ऐसा संविधान, जिसकी धाराएं अत्यन्त प्रतिक्रियावादी हैं, और जो सरकार को सारी सत्ता प्रदान करती हैं परन्तु जिसमें सदनों को कर ठुकराने तक की इजाज़त नहीं दी गयी है; एक ऐसा संविधान, जिसने संवैधानिक संघर्ष के दौरान सिद्ध कर दिया था कि सरकार उसके साथ जो चाहती, कर सकती थी। राइख़स्टाग के अधिकार प्रशियाई सदन के अधिकार जैसे ही हैं। यही कारण है कि लीब्कनेख़्त ने उसे निरंकुशतावाद को ढंकने का पर्दा बताया था। इस संविधान और इस द्वारा स्वीकृत छोटे राज्यों की प्रणाली के आधार पर तथा प्रशा और रेइस-ग्रेइज़-श्लेइज़-लोबेनस्टेइन के बीच "संघबद्धता" के[154], – जिसमें एक के पास उतने ही वर्ग मील हैं जितने दूसरे के पास वर्ग इंच – आधार पर "श्रम के तमाम साधनों को सार्वजनिक सम्पत्ति में रूपान्तरित करने" की इच्छा स्पष्टतया उपहासास्पद है।

इस विषय को स्पर्श करना ख़तरनाक है। कुछ भी हो, उसे तो किसी न किसी रूप में हाथ में लेना ही होगा। यह कितना आवश्यक है, इसे ठीक इस समय अवसरवाद प्रदर्शित कर देता है जो सामाजिक-जनवादी अख़बारों के एक बड़े भाग में फैलता जा रहा है। समाजवाद विरोधी क़ानून के फिर से लागू किये जाने के भय से अथवा उस क़ानून के प्रभुत्व के ज़माने में बहुत जल्दबाज़ी में की गयी नाना प्रकार की उद्घोषणाओं को स्मरण कर वे अब चाहते हैं कि तमाम पार्टी मांगों को शान्तिपूर्ण ढंग से पूरा करने के लिए वह जर्मनी में विद्यमान क़ानूनी व्यवस्था को पर्याप्त माने। अपने को तथा पार्टी को यह यक़ीन दिलाया जाता है कि "समकालीन समाज समाजवाद में रूपान्तरित हो रहा है", परन्तु ऐसा करते समय अपने से यह नहीं पूछा जाता कि इस तरह समाज पुरानी सामाजिक व्यवस्था से क्या अनिवार्यतः आगे बढ़ नहीं पाता, क्या उसे बलपूर्वक उस पुराने खोल को उसी तरह नहीं तोड़ना होगा जिस तरह केकड़ा अपना खोल तोड़ता है, क्या इसके अतिरिक्त जर्मनी में उसे अब भी अर्द्धनिरंकुशतावादी और इससे भी बढ़कर अवर्णनीय रूप से उलझी हुई राजनीतिक व्यवस्था की बेड़ियों को चकनाचूर नहीं करना होगा। इस बात की कल्पना की जा सकती है कि पुराना समाज उन देशों में शान्तिपूर्वक नये समाज में रूपान्तरित हो सकता है जहां जनता के प्रतिनिधि सारी सत्ता अपने हाथों में सम्भाले हुए हैं, जहां जनता की बहुसंख्या का समर्थन प्राप्त होने की दशा में संवैधानिक ढंग से सब कुछ किया जा सकता है: फ़्रांस तथा संयुक्त राज्य अमरीका जैसे जनवादी जनतंत्रों में, ब्रिटेन

जैसे राजतंत्र में जहां वित्तीय क्षतिपूर्त्ति के बदले राजवंश द्वारा गद्दी के परित्याग पर रोज़ अख़बारों में बहस होती है और जहां यह राजवंश जनता के समक्ष असहाय है। परन्तु जर्मनी में, जहां सरकार प्रायः सर्वशक्तिमान है तथा जहां राइख़्स्टाग और सारे दूसरे प्रतिनिधिमूलक निकायों के पास कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, इस तरह की घोषणा करने का–जबकि ऐसा करने की कोई ज़रूरत ही नहीं है–मतलब है निरंकुशतावाद को ढंकने का पर्दा हटाना और स्वयं उसे ढंकने का पर्दा बन जाना।

इस तरह की नीति के फलस्वरूप पार्टी ठीक रास्ते से भटक सकती है। आम, अमूर्त राजनीतिक प्रश्नों को सामने लाया जाता है, और इस तरह उन तात्कालिक ठोस प्रश्नों को छुपाया जाता है जो पहली ही बड़ी घटनाओं के समय, पहले ही राजनीतिक संकट के समय खड़े हो जाते हैं। इसके अलावा और क्या परिणाम निकलेगा कि निर्णायक घड़ी में पार्टी अपने को सहसा असहाय पाती है और सबसे निर्णायक मामलों पर अनिश्चितता और मतभेदों का इसलिए बोलबाला हो जाता है कि उन पर कभी बहस ही नहीं की गयी थी? क्या वह दुहराया नहीं जायेगा जो संरक्षण शुल्कों के साथ हुआ था जिनके बारे में यह ऐलान किया गया था कि वे केवल पूंजीपतियों की ही चिन्ता का मामला हैं तथा उनका मज़दूरों के हितों पर ज़रा भी असर नहीं पड़ता, अर्थात् वे एक ऐसा मामला हैं जिस पर हर कोई इच्छानुसार मतदान कर सकता है? क्या अब बहुत-से लोग बिल्कुल दूसरे छोर पर नहीं पहुंच रहे हैं और पूंजीपति वर्ग के विपरीत, जो संरक्षण शुल्कों का आदी हो गया है, काबडेन और ब्राइट के आर्थिक कूटतर्कों को नया रूप नहीं दे रहे हैं तथा विशुद्ध समाजवाद के रूप में विशुद्ध मानचेस्टरवाद[155] की वकालत नहीं कर रहे हैं? समय विशेष के क्षणिक हितों की ख़ातिर महान, प्रमुख विचारों की यह विस्मृति, आगे के परिणामों की चिन्ता किये बिना क्षणिक सफलता के लिए यह प्रयास तथा उनके लिए संघर्ष, वर्तमान के लिए आन्दोलन के भविष्य की यह बलि–हो सकता है कि इस सब के पीछे "नेक" इरादे हों, परन्तु यह अवसरवाद है और अवसरवाद बना रहता है तथा "नेक" अवसरवाद शायद सारे अवसरवादों से सबसे ज़्यादा ख़तरनाक होता है।

ये नाज़ुक परन्तु बहुत महत्त्वपूर्ण मुद्दे क्या हैं?

पहला। यदि कोई चीज़ निश्चित है तो वह यह है कि हमारी पार्टी तथा मज़दूर वर्ग केवल जनवादी जनतंत्र के रूप में ही सत्तारूढ़ हो सकता है। जैसा

कि महान फ़्रांसीसी क्रान्ति पहले ही दिखा चुकी है, यह तो सर्वहारा अधिनायकत्व के लिए विशिष्ट रूप तक है। हमारे सर्वोत्तम लोगों के लिए माइकेल की तरह किसी सम्राट के मातहत मंत्री बनने की बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह सच है कि विशुद्ध क़ानूनी दृष्टिकोण से जनतंत्र की मांग को सीधे कार्यक्रम में शामिल करना अनुपयुक्त है हालांकि यह फ़्रांस में लूई फ़िलिप के अधीन तक सम्भव था और इटली में इस समय भी है। परन्तु यह तथ्य कि जर्मनी में एक जनतंत्रीय पार्टी कार्यक्रम तक खुले रूप से पेश करने की इजाज़त नहीं है, सिद्ध करता है कि यह धारणा कितनी ग़लत है कि जनतंत्र, और जनतंत्र ही नहीं, बल्कि कम्युनिस्ट समाज भी आराम से बैठकर, शान्तिपूर्ण ढंग से स्थापित किया जा सकता है।

हां, जनतंत्र का प्रश्न सम्भवतः लांघा भी जा सकता है। परन्तु जिसे, मेरी राय में, कार्यक्रम में शामिल किया जा सकता है तथा किया जाना चाहिए, वह है **सारी राजनीतिक सत्ता जनता के प्रतिनिधियों के हाथों में संकेन्द्रित करने** की मांग। यदि इससे आगे बढ़ना असम्भव है तो फ़िलहाल इतना ही काफ़ी होगा।

दूसरा। जर्मनी के राजकीय ढांचे का पुनर्गठन। एक ओर, छोटे राज्यों की प्रणाली मिटायी जानी चाहिए—बवेरिया तथा वुर्टेम्बर्ग के आरक्षित अधिकारों के रहते समाज का क्रान्तिकरण करने का ज़रा प्रयत्न तो करें—और उदाहरण के लिए वर्तमान थुरिंगिया का नक़्शा एक दयनीय दृश्य प्रस्तुत करता है! दूसरी ओर, प्रशा का अस्तित्व लुप्त हो जाना चाहिए, उसे स्वशासित प्रान्तों में विभक्त किया जाना चाहिए ताकि विशिष्ट प्रशावाद जर्मनी के ऊपर न मंडराये। छोटे राज्यों का अस्तित्व तथा विशिष्ट प्रशावाद प्रतिपक्षता के—जिसमें जर्मनी अब भी जकड़ा हुआ है—दो पहलू हैं जिनमें से एक को सदैव दूसरे के अस्तित्व के बहाने तथा उसका औचित्य सिद्ध करने का काम करना होता है।

वर्तमान जर्मनी का स्थान क्या ले? मेरी राय में सर्वहारा एकीकृत तथा अखंड जनतन्त्र के रूप का ही उपयोग कर सकते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका के विशाल भूभाग में संघीय जनतंत्र कुल मिलाकर अब भी एक आवश्यकता है हालांकि पूर्वी राज्यों में वह बाधक बनने लगा है। ब्रिटेन में यह आगे की ओर एक पग होगा जहां दो द्वीपों पर चार जातियों के लोग बसे हुए हैं और जहां एक संसद होने के बावजूद क़ानून की तीन भिन्न-भिन्न प्रणालियां साथ-साथ अस्तित्वमान हैं। छोटे-से स्विट्ज़रलैंड में यह दीर्घकाल से बाधक है, उसे वहां केवल इसलिए सहन किया जा रहा है कि स्विट्ज़रलैंड यूरोपीय राजकीय प्रणाली का विशुद्ध रूप से

निष्क्रिय सदस्य बने रहने से सन्तुष्ट है। जर्मनी के लिए स्विट्ज़रलैंड के नमूने पर संघीकरण बहुत बड़ा प्रतिगामी पग होता। दो मुद्दे संघीय राज्य और पूरी तरह एकीकृत राज्य का भेद निश्चित करते हैं–एक तो प्रत्येक सदस्य राज्य, प्रत्येक प्रान्त की अपनी दीवानी और फ़ौजदारी क़ानूनी तथा न्यायिक प्रणाली होती है; और दूसरे, एक जन सदन के अलावा राज्यों के प्रतिनिधियों का एक सदन भी होता है जिसमें प्रत्येक प्रान्त, चाहे छोटा हो या बड़ा, मतदान करता है। पहले पर हम सौभाग्यवश क़ाबू पा चुके हैं और ऐसा बचकानापन नहीं दिखायेंगे कि उसे फिर से लागू कर दें। दूसरा हमारे संघ संसद के रूप में है और उसके बिना हम आसानी से काम चला सकते हैं क्योंकि यों भी हमारा "संघीय राज्य" सामान्यतया एकीकृत राज्य में संक्रमण मात्र है। १८६६ तथा १८७० में ऊपर से हुई क्रान्ति को पीछे नहीं मोड़ा जाना चाहिये, बल्कि नीचे से किये जानेवाले आन्दोलन द्वारा उसका अनुपूरण तथा सुधार किया जाना चाहिए।

तो फिर एकीकृत जनतंत्र। पर वर्तमान फ़्रांसीसी जनतंत्र के अर्थ में नहीं, जो १७९८ में स्थापित सम्राटरहित साम्राज्य के अलावा और कुछ नहीं है[156]। १७९२ से १७९८ तक प्रत्येक फ़्रांसीसी ज़िला, प्रत्येक समुदाय अमरीकी नमूने के पूर्ण स्वशासन का उपभोग कर रहा था। और यही हमारे पास भी होना चाहिए। स्वशासन कैसे संगठित हो, कैसे नौकरशाही के बिना काम किया जाये, यह हमारे सामने अमरीका तथा प्रथम फ़्रांसीसी जनतंत्र[157] प्रदर्शित कर चुके हैं और आज भी आस्ट्रेलिया, कनाडा तथा अन्य ब्रिटिश उपनिवेश प्रदर्शित कर रहे हैं। और इस क़िस्म का प्रान्तीय तथा सामुदायिक स्वशासन उदाहरणार्थ स्विस संघवाद से कहीं अधिक स्वतंत्र संस्थान है जिसके अन्तर्गत यह सच है कि प्रान्त संघीय राज्य से सम्बन्ध के मामले में अत्यन्त स्वतंत्र है परन्तु साथ ही वह ज़िला तथा समुदाय से सम्बन्ध के मामले में भी स्वतंत्र है। प्रान्तीय सरकारें ज़िला गवर्नरों और प्रीफ़ेक्टों को नियुक्त करती हैं जो अंग्रेज़ी भाषाभाषी देशों के लिए अज्ञात वस्तु है और जिसे हमें अपने यहां भी भविष्य में प्रशियाई लांडराटों और रेगिरूंगसराटों की ही तरह दृढ़तापूर्वक मिटाना चाहिए।

इन सब बातों में से कार्यक्रम में थोड़ा-सा शामिल किया जाना चाहिए। मैं उनकी चर्चा मुख्यतया जर्मनी में, जहां ऐसे मसलों पर मुक्त रूप से विचार-विमर्श नहीं किया जा सकता, मौजूद प्रणाली का वर्णन करने तथा उन लोगों की आत्म-प्रवंचना पर ज़ोर डालने के लिए कर रहा हूं जो इस तरह की प्रणाली को क़ानूनी ढंग से कम्युनिस्ट समाज में रूपान्तरित करना चाहते हैं। इसके अलावा मैं पार्टी

की कार्यकारिणी समिति को यह याद दिलाना चाहता हूं कि जनता द्वारा प्रत्यक्ष विधि-निर्माण तथा निःशुल्क न्याय के अलावा, जिनके बिना हम अन्ततः काम चला सकते हैं, और भी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्न हैं। विद्यमान अस्थिर परिस्थितियों को देखते हुए ये प्रश्न किसी भी समय तात्कालिक महत्त्व ग्रहण कर सकते हैं, और यदि उन पर पहले ही विचार-विमर्श न कर लिया जाये और उन पर कोई सहमति न हासिल हो सके, तब क्या होगा?

फिर भी जो चीज़ कार्यक्रम में शामिल की जा सकती है तथा जो कम से कम ऐसे संकेत के रूप में, जिसे सीधे न कहा जा सके, काम कर सकती है, वह निम्नलिखित मांग है—

"प्रान्तों, जिलों तथा समुदायों में सार्वजनिक मताधिकार द्वारा निर्वाचित अधिकारियों के माध्यम से पूर्ण स्वशासन। राज्य द्वारा नियुक्त समस्त स्थानीय और प्रान्तीय सत्ता का उन्मूलन।"

ऊपर चर्चित मुद्दों के सिलसिले में कार्यक्रम-सम्बन्धी अन्य मांगों को निरूपित किया जा सकता है या नहीं, इस पर यहां से कोई निर्णय देना मेरे लिए आप लोगों की तुलना में कठिन है जो वहां मौजूद हैं। परन्तु इससे पहले कि बहुत विलम्ब हो जाये, इन प्रश्नों पर पार्टी के अन्दर विचार-विमर्श करना वांछनीय होगा।

१) मैं "निर्वाचन अधिकार तथा मतदान अधिकार" के बीच, "निर्वाचन और मतदान" के बीच कोई अन्तर नहीं देख पा रहा हूं। यदि इस तरह का भेद किया जाना है तो इसे अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त किया जाना चाहिए अथवा मसौदे के साथ संलग्न परिशिष्ट में समझाया जाना चाहिए।

२) "प्रस्ताव प्रस्तुत करने तथा अस्वीकृत करने का जनता का अधिकार"। **यह किससे सम्बन्धित है?** तमाम क़ानूनों अथवा जन-प्रतिनिधियों के फ़ैसलों से—यह जोड़ा जाना चाहिए।

५) धर्म का राज्य से पूर्णतः सम्बन्ध विच्छेद। राज्य बिना किसी अपवाद के तमाम धार्मिक समुदायों के साथ निजी संस्थाओं के रूप में व्यवहार करता है। उन्हें राजकीय साधनों के समर्थन से और राजकीय स्कूलों पर प्रभाव से वंचित किया जाना चाहिए। (उन्हें **अपने** साधनों द्वारा **अपने** स्कूल स्थापित करने से और उनमें अपनी बकवास भरी बातें पढ़ाने से नहीं रोका जा सकता।)

६) ऐसी स्थिति में "स्कूल के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप" से सम्बन्धित मुद्दे की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि वह पूर्ववर्ती अनुच्छेद से सम्बन्धित है।

८) और ९) यहां मैं इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहूंगा – निम्न मुद्दे यह तक़ाज़ा करते हैं कि राज्य इन्हें अपने हाथ में ले – १) **वकालत**, २) **चिकित्सा सेवा**, ३) **औषधालय, दन्त-चिकित्सा, प्रसूति-विद्या, अस्पताल व्यवस्था, आदि, आदि**। फिर यह मांग पेश की जाये कि मज़दूरों की बीमा व्यवस्था पूर्णतया राज्य की देखरेख का विषय बने। क्या यह सब काम श्री कापरिवी को सौंपे जा सकते हैं? क्या यह ऊपर उद्घोषित सारे राजकीय समाजवाद की अस्वीकृति से मेल खाता है?

१०) यहां मैं यह कहना चाहूंगा – "आरोही ... करों की परिधि में राज्य, ज़िला और समुदाय के सारे व्यय उस हद तक आ जायें जिस हद तक उसके लिए करों की ज़रूरत है। तमाम परोक्ष राजकीय तथा स्थानीय करों, शुल्कों, आदि का उन्मूलन।" शेष अनावश्यक टीका या प्रस्तावना है जो प्रभाव को कम करती है।

३. आर्थिक मांगें

मुद्दा २ के लिए। संघबद्धता के अधिकार की राज्य द्वारा गारंटी किये जाने की जितनी भी आवश्यकता जर्मनी में है, उतनी और कहीं नहीं।

अन्तिम वाक्य – "अधिनियम के लिए", आदि को **मुद्दा ४ के रूप में** अनुपूरित किया जाना चाहिए और तदनुकूल रूप दिया जाना चाहिए। इस सिलसिले में यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि ऐसे श्रम सदनों के होने पर, जिनमें आधे मज़दूर तथा आधे उद्यम-मालिक होंगे, हम मूर्ख बन जायेंगे। ऐसी हालतों में कई वर्षों तक उद्यम-मालिकों का ही बहुमत रहेगा क्योंकि इसके लिए मज़दूरों के बीच एक भी पाजी की मौजूदगी पर्याप्त होगी। यदि यह सम्भव न हो कि विवादास्पद परिस्थितियों में **दोनों भाग पृथक्-पृथक्** रायें प्रकट करें तो यह कहीं बेहतर होगा कि उद्यम-मालिकों का एक सदन हो और **इसके अलावा मज़दूरों का एक स्वतंत्र सदन हो**।

अन्त में मैं यह अनुरोध करना चाहूंगा कि मसौदे की एक बार फिर फ़्रांसीसी कार्यक्रम[158] से तुलना की जाये जिसमें ठीक अनुभाग ३ के सम्बन्ध में कुछ चीज़ें बेहतर लगती हैं। समय की कमी होने की वजह से मैं दुर्भाग्यवश स्पेनी कार्यक्रम[159] की तलाश नहीं कर सकता, वह भी कई मामलों में बहुत अच्छा है।

अनुभाग १ का परिशिष्ट

१) "गर्त्त, खदान" निकाल दें – "रेलें तथा संचार के अन्य साधन" जोड़ें।

२) अपहर्ताओं के (अथवा उनके मालिकों के) हाथों में श्रम के सामाजिक साधन शोषण के साधन बन गये हैं। श्रम के साधनों, यानी आजीविका के साधनों के अपहर्ता द्वारा मजदूर को आर्थिक दास बनाया जाना दासता के तमाम रूपों का – सामाजिक तंगहाली, मानसिक पतन तथा राजनीतिक पराधीनता का – आधार है।

३) इस शोषण के प्रभुत्व के अन्तर्गत शोषितों द्वारा पैदा की गयी सम्पदा का अधिकाधिक तीव्र गति से शोषकों – पूंजीपतियों तथा बड़े भू-स्वामियों – के हाथों में संचय होता जाता है; शोषकों तथा शोषितों के बीच श्रम के उत्पाद का वितरण और भी असमान होता जाता है तथा सर्वहारा की संख्या और असुरक्षा निरन्तर बढ़ती जा रही है, आदि।

४) "निजी" (उत्पादन) निकाल दें... शहरी और देहाती मध्यम श्रेणियों की निम्नपूंजीपतियों तथा छोटे किसानों की बरबादी के फलस्वरूप स्थिति और भी बिगड़ती है, सम्पत्तिवानों तथा सम्पत्तिहीनों के बीच खाई और भी चौड़ी (अथवा गहरी) होती है, आम अस्थिरता समाज की सामान्य दशा बन जाती है तथा यह सिद्ध होता है कि श्रम के सामाजिक साधनों को हड़पनेवालों का वर्ग आर्थिक तथा राजनीतिक नेतृत्व का रुझान और योग्यता खो बैठा है।

५) "उसके" कारण।

६) ...अलग-अलग व्यक्तियों या संयुक्त स्टाक कम्पनियों के हितार्थ वर्तमान पूंजीवादी उत्पादन का समाज के हितार्थ तथा एक पूर्वकल्पित योजना के अनुसार समाजवादी उत्पादन में रूपान्तरण, ऐसा रूपान्तरण जिसके लिए पूंजीवादी समाज स्वयं भौतिक तथा आत्मिक अवस्थाओं का सृजन करता है तथा केवल जिसके द्वारा ही मजदूर वर्ग की मुक्ति और उसके साथ बिना किसी अपवाद के समाज के तमाम सदस्यों की मुक्ति हासिल हो सकती है।

७) मजदूर वर्ग की मुक्ति केवल स्वयं मजदूर वर्ग का कार्य हो सकती है। यह स्वतःस्पष्ट है कि मजदूर वर्ग अपनी मुक्ति का कार्य न तो पूंजीपतियों और न बड़े भू-स्वामियों के लिए, अपने विरोधियों तथा शोषकों के लिए छोड़ सकता है और न निम्नपूंजीपतियों और छोटे किसानों के लिए, जिनके लिए बड़े शोषकों

द्वारा गला घोंटे जाने के कारण इसके अलावा और कोई चारा नहीं रहता कि वे या तो उनके पक्ष में हों या मज़दूरों के।

८) ...अपनी वर्ग स्थिति से सचेत मज़दूरों के साथ , आदि।

९) ...मज़दूरों का आर्थिक शोषण और राजनीतिक उत्पीड़न की शक्ति एक ही हाथों में सौंपता... और इस तरह संकेन्द्रित भी करता है।

१०) ...वर्ग शासन तथा स्वयं वर्ग तथा बिना भेदभाव के सब के वास्ते समानाधिकार तथा समान कर्त्तव्य, आदि ... मूल (अन्तिम भाग को निकाल दें)। मानवजाति के... के लिए अपने संघर्ष में जर्मनी की पिछड़ी हुई राजनीतिक व्यवस्था उसकी राह में बाधक बनती है। सर्वप्रथम और सर्वोपरि उसे आन्दोलन के लिए कार्य-क्षेत्र हासिल करना होगा, सामन्तवाद तथा निरंकुशतावाद के अवशेष मिटाने होंगे, संक्षेप में वह कार्य पूरा करना जिसे सम्पन्न करने में जर्मन पूंजीवादी पार्टियों ने बहुत कायरता दिखायी और दिखा रही हैं। इसलिए उसे अपने कार्यक्रम में कम से कम ऐसी मांगें शामिल करनी होंगी जिन्हें दूसरे सुसंस्कृत देशों में पूंजीपति वर्ग पहले ही क्रियान्वित कर चुका है।

१८ और २९ जून १८९१ के बीच लिखित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

सबसे पहले
«Die Neue Zeit»
(खंड १, अंक १, १९०१–१९०२) में बिना परिशिष्ट के प्रकाशित।

फ़्रेडरिक एंगेल्स

'इंगलैंड में मज़दूर वर्ग की दशा' पुस्तक की भूमिका

यह पुस्तक, जिसका अंग्रेज़ी अनुवाद यहां पुनः प्रकाशित किया गया है, पहले पहल १८४५ में छपी थी। लेखक उस समय नौजवान, २४ वर्ष का था। इसलिए उसकी रचना पर उसकी तरुणाई की, उसके अच्छे तथा बुरे लक्षणों की छाप है, जिनमें से किसी पर भी वह शर्मिंदा नहीं है। १८८५ में अमरीकी श्रीमती फ़्लोरेंस केली-विश्नेवेट्ज़्की ने उसका अंग्रेज़ी अनुवाद किया था जो अगले वर्ष न्यूयार्क में प्रकाशित हुआ था। अमरीकी संस्करण की प्रतियां एक तरह ख़त्म हो चुकने पर और अटलांटिक महासागर के इस पार उनका कभी वितरण न होने के कारण मौजूदा अंग्रेज़ी कापीराइट संस्करण तमाम सम्बद्ध पक्षों की पूर्ण सहमति से प्रकाशित किया जा रहा है।

अमरीकी संस्करण के लिए लेखक ने अंग्रेज़ी में नयी भूमिका तथा नया परिशिष्ट लिखा था। भूमिका का स्वयं पुस्तक से बहुत कम सरोकार था; उसमें उस समय के अमरीकी मज़दूर वर्ग आन्दोलन की चर्चा की गयी थी, इसलिए उसे अप्रासंगिक मानकर यहां शामिल नहीं किया गया है; प्रस्तुत प्रस्तावनात्मक टिप्पणी में अधिकतर दूसरी – मूल भूमिका – का उपयोग किया गया है।

इस पुस्तक में वर्णित परिस्थितियां, जहां तक इंगलैंड का सम्बन्ध है, कई मामलों में अतीत की हैं। हमारे मान्य निबन्धों में भले ही सुस्पष्ट रूप से न कहा गया हो, यह अब भी आधुनिक राजनीतिक अर्थशास्त्र का एक नियम है कि पूंजीवादी उत्पादन जितने बड़े पैमाने पर किया जायेगा, वह छोटी-मोटी ठगबाज़ी तथा झांसेबाज़ी का, जो उसकी आरम्भिक मंज़िल के अभिलक्षण होती हैं, उतना ही कम सहारा ले सकेगा। पोलिश यहूदी, जो यूरोपीय व्यापार के विकास की सबसे निचली मंज़िल का प्रतिनिधि है, हैम्बर्ग या बर्लिन पहुंचने पर अपनी टुच्ची

व्यापारिक तिकड़मों को, उन तिकड़मों को, जो उसके अपने देश में उसका इतनी अच्छी तरह हितसाधन करती हैं और जो वहां आम तौर पर व्यवहार में आती हैं, अप्रचलित तथा असमयानुरूप पाता है। उधर बर्लिन या हैम्बर्ग का कमीशन एजेंट, यहूदी अथवा ईसाई चन्द महीनों तक मानचेस्टर स्टाक एक्सचेंज जाते रहने के बाद अनुभव करता है कि सूती धागा या वस्त्र सस्ता ख़रीदने के वास्ते उसके लिए भी उन कुछ अधिक परिष्कृत परन्तु इसके बावजूद दयनीय छल-कपटों तथा चालबाज़ियों का परित्याग करना बेहतर है जिन्हें उसके अपने देश में चतुराई का शिखर माना जाता है। वास्तविकता यह है कि वे तिकड़में बड़ी मंडी में अब काम नहीं देतीं जहां समय ही धन है, जहां महज़ समय बचाने तथा झंझटों से बचने के साधन के रूप में वाणिज्यिक नैतिकता के एक ख़ास प्रतिमान का अनिवार्यतः विकास होता है। और यही बात इंगलैंड में कारख़ानेदारों तथा उसके मज़दूरों पर लागू होती है।

१८४७ के संकट के बाद व्यापार का पुनरुज्जीवन नये औद्योगिक युग का प्रभात था। अनाज क़ानून [160] के ख़ात्मे तथा उसके बाद वित्तीय सुधारों ने ब्रिटिश उद्योग तथा वाणिज्य को पांव टिकाने के लिये आवश्यक स्थान प्रदान किया। फिर कैलिफ़ोर्निया तथा आस्ट्रेलिया में सोने की खानों की खोज हुई। औपनिवेशिक मंडियों ने ब्रिटिश औद्योगिक वस्तुओं को खपाने के लिए अपनी क्षमता अधिकाधिक द्रुत गति से विकसित की। भारत में लाखों-लाख बुनकरों को लंकाशायर के यंत्रीकृत करघों ने बरबाद कर दिया। चीन के दरवाज़े अधिकाधिक खुलते चले गये। सर्वोपरि अमरीका का, जो उस समय तक वाणिज्यिक अर्थ में मात्र औपनिवेशिक मंडी होते हुए भी सबसे बड़ी मंडी था, इतना आर्थिक विकास हुआ जो तेज़ी से प्रगति कर रहे उस देश तक के लिए आश्चर्यजनक था।

और अन्ततः पूर्ववर्ती काल के अन्त में चालू होनेवाले संचार के नये साधनों—रेलों तथा महासागरगामी जलयानों—का अब अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर उपयोग होने लगा था; उन्होंने वस्तुतः **विश्व मंडी** को मूर्त्त रूप दे दिया जो तब तक केवल सम्भावना के रूप में विद्यमान थी। इस विश्व मंडी में शुरू-शुरू में अनेक मुख्यतया अथवा पूर्णतया कृषि-प्रधान देश शामिल थे जो एक ही बड़े औद्योगिक केन्द्र—इंगलैंड—के चारों ओर समूहबद्ध थे। इंगलैंड उनके अतिरिक्त कच्चे माल के बड़े भाग का उपभोग करता था तथा बदले में औद्योगिक वस्तुओं की उनकी आवश्यकताओं के एक बड़े भाग की पूर्त्ति करता था। इसलिए इसमें आश्चर्य की बात नहीं है कि इंगलैंड की औद्योगिक प्रगति अपरिमित तथा अभूतपूर्व थी, ऐसी

थी कि १८४४ की उसकी हैसियत आज हमें तुलनात्मक दृष्टि से प्रायः आदिम और तुच्छ प्रतीत होती है।

जिस अनुपात में यह वृद्धि हुई, उसी अनुपात में कारख़ाना उद्योग ने प्रतीयमान रूप से नैतिकता ग्रहण की। कारख़ानेदारों के बीच होनेवाली प्रतिद्वन्द्विता में मज़दूरों की टुच्चे ढंग से लूट-खसोट अब लाभप्रद नहीं रह गयी थी। व्यवसाय का आकार अब इतना बड़ा हो गया था कि पैसा कमाने के ये टुच्चे साधन छोटे पड़ गये थे। ये तिकड़में करोड़पति कारख़ानेदारों के लिए समय की बर्बादी हो गयी थीं, वे तो केवल छोटे कारोबारियों को प्रतिद्वन्द्विता से बचाने का काम देती थीं, जो एक-एक धेला उठाकर अपना भाग्य सराहा करते थे। इस तरह जिंस मज़दूरी की प्रणाली ख़त्म कर दी गयी, दस घंटे के कार्य दिवस का विधेयक[161] पास कर दिया गया तथा दूसरे कई आनुषंगिक सुधार लागू किये गये जो मुक्त व्यापार तथा बेलगाम प्रतिद्वन्द्विता की भावना के प्रतिकूल होते हुए भी प्रतिद्वन्द्विता में कम ख़ुशक़िस्मत भाई की तुलना में बड़े पूंजीपति का अधिक हितसाधन करते थे।

यही नहीं, प्रतिष्ठान जितना बड़ा होता तथा उसमें काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या जितनी अधिक होती, मालिक और मज़दूरों के बीच हर संघर्ष से हानि तथा असुविधा उतनी ही अधिक होतीं। इस तरह कारख़ानेदारों में, ख़ासकर बड़े कारख़ानेदारों में एक नयी भावना ने जन्म लिया। उसने उन्हें अनावश्यक कलहों से बचना, ट्रेड यूनियनों के अस्तित्व तथा शक्ति को चुपचाप सहना और अन्ततः यह समझना तक सिखाया कि समयोचित हड़तालें तक उनके हितों की पूर्ति का सशक्त साधन बन सकती हैं। सबसे बड़े कारख़ानेदार, जो पहले मज़दूर वर्ग के विरुद्ध संघर्ष के हिरावल थे, अब शान्ति तथा सौहार्द का प्रचार करने में सबसे आगे थे। इसका बहुत अच्छा कारण भी था।

न्याय तथा लोकोपकारिता की ये सारी रियायतें चन्द लोगों के वास्ते, जिनके लिए गुज़रे वर्षों की तुच्छ अतिरिक्त लूट-खसोट अपना सारा महत्त्व खो चुकी थी और अब वस्तुतः बेकार का जंजाल बन गयी थी, अपने हाथों में पूंजी का संकेन्द्रण त्वरित करने तथा अपने छोटे प्रतिद्वन्द्वियों को, जिनका ऐसे अनुलाभों के बिना गुज़ारा नहीं हो सकता था, और भी जल्दी तथा बिना जोखिम उठाये ख़त्म करने का साधन मात्र बन गयी थीं। इस तरह पूंजीवादी उत्पादन का विकास – कम से कम अग्रणी उद्योगों में, इसलिए कि कम महत्त्वपूर्ण शाखाओं में ऐसा क़तई नहीं हुआ है – उन सारी छोटी-मोटी शिकायतों को दूर करने के लिए

पर्याप्त था जो पूर्ववर्ती मंज़िलों में मज़दूरों की नियति को और विषम बनाया करती थीं। इस तरह इससे यह मुख्य तथ्य अधिकाधिक सिद्ध हो जाता है कि मजदूर वर्ग की दुखद स्थिति का कारण इन छोटी-मोटी शिकायतों में नहीं, वरन् **स्वयं पूंजीवादी प्रणाली** में ढूंढ़ा जाना चाहिए। मज़दूर पूंजीपति को अपनी श्रम-शक्ति एक ख़ास रक़म के लिए बेच देता है। चन्द घंटों के काम के बाद वह उस रक़म का मूल्य पुनरुत्पादित कर देता है। परन्तु उसके क़रार का सार यह है कि उसे अपना कार्य दिवस पूरा करने के लिए इसके बाद भी कई घंटे काम करना पड़ता है; अतिरिक्त श्रम के बाक़ी घंटों में वह जो मूल्य उत्पादित करता है, वह अतिरिक्त मूल्य होता है जिस पर पूंजीपति का कोई ख़र्चा नहीं होता पर जो उसकी जेब में पहुंच जाता है। यह है ऐसी प्रणाली का आधार जो सभ्य समाज को दो भागों में विभक्त करने की ओर प्रवृत्त है—एक ओर मुट्ठी भर राथशिल्ड तथा वाण्डरबिल्ट, जो उत्पादन तथा जीवन निर्वाह के तमाम साधनों के स्वामी हैं, दूसरी ओर उजरती मज़दूरों का विशाल समुदाय, जो अपनी श्रम-शक्ति के अलावा और किसी चीज़ के स्वामी नहीं हैं। और इस परिणाम को यह या वह आनुषंगिक कारण नहीं, वरन् स्वयं प्रणाली जन्म देती है, इस तथ्य को इंगलैंड में पूंजीवाद के विकास ने ख़ूब उजागर कर दिया है।

यही नहीं, हैज़ा, टाइफ़स, चेचक तथा दूसरी महामारियों के बारंबार प्रकोप ने ब्रिटिश पूंजीपति के समक्ष यह स्पष्ट कर दिया है कि यदि वह चाहता है कि वह तथा उसका परिवार इन बीमारियों का शिकार नहीं बने तो उसके शहर का स्वच्छ रहना एक तात्कालिक आवश्यकता है। इसलिए इस पुस्तक में वर्णित सबसे ज्वलन्त बुराइयां या तो लुप्त हो चुकी हैं या फिर उनकी तीक्ष्णता कम कर दी गयी है। जल-निकास की व्यवस्था कर दी गयी है या उसे सुधारा गया है; सबसे गन्दी बस्तियों के आर-पार चौड़ी सड़कें बन गयी हैं। "लिटिल आयरलैंड"[162] लुप्त हो चुका है, अब "सेवन डायल्स"[163] की बारी है। परन्तु इससे क्या होता है? वे पूरे के पूरे ज़िले, जिन्हें मैंने १८४४ में प्रायः रमणीक बताया था, वे भी आज नगरों की संवृद्धि के साथ जीर्णशीर्णता, बर्बादी तथा तंगहाली की उसी हालत में पहुंच गये हैं। अन्तर केवल यह है कि सूअरों तथा कूड़े के ढेर अब नहीं मिलते। पूंजीपति वर्ग ने मज़दूर वर्ग की ग़रीबी छुपाने की कला में और प्रगति की है। परन्तु उनके आवास में कोई पर्याप्त सुधार नहीं हुआ है और यह 'ग़रीबों के आवास के सम्बन्ध में' शीर्षक रायल कमीशन की १८८५ की रिपोर्ट से काफ़ी हद तक सिद्ध हो जाता है। दूसरे सभी मामलों में भी यही

स्थिति है। पुलिस अधिनियमों की बरसाती खुमियों की तरह प्रचुरता है; परन्तु वे मज़दूरों की तंगहाली को केवल सीमित कर सकते हैं, उसे दूर नहीं कर सकते।

परन्तु इंगलैंड जहां पूंजीवादी शोषण की किशोरावस्था से, जिसका मैंने वर्णन किया था, आगे बढ़ चुका है, दूसरे देशों ने उसे अभी-अभी हासिल किया है। फ़्रांस, जर्मनी और ख़ासकर अमरीका ऐसे सशक्त प्रतिद्वन्द्वी हैं जो इस समय – जैसा कि मैंने १८४४ में पहले ही देख लिया था – इंगलैंड की औद्योगिक इजारेदारी को अधिकाधिक तोड़ते जा रहे हैं। उनका उद्योग इंगलैंड की तुलना में तरुण है परन्तु वह उससे अधिकाधिक द्रुत गति से बढ़ रहा है और इस समय वह विकास की उस मंज़िल में पहुंच गया है जहां ब्रिटिश उद्योग १८४४ में था। अमरीका के मामले में यह तुलना वस्तुतः अत्यन्त उल्लेखनीय है। यह सच है कि अमरीका में मज़दूर वर्ग जिस बाह्य परिवेश में है, वह बहुत भिन्न है, परन्तु वहां भी एक ही तरह के आर्थिक नियम कार्यरत हैं और परिणाम भी एक जैसे ही होने चाहिए भले ही वे हर मामले में एक जैसे न हों। यही कारण है कि हमें छोटे कार्य दिवस के लिए, कार्य दिवस के – ख़ास तौर पर फ़ैक्टरियों में नारियों तथा बच्चों के लिए – क़ानूनी परिसीमन के लिए अमरीका में उसी तरह के संघर्ष देखने को मिलते हैं; हम जिंस मज़दूरी की प्रणाली और ग्राम्य क्षेत्रों में कुटीर प्रणाली[164] को पूरी तरुणाई में देखते हैं, जिनका "बॉस" मज़दूरों पर प्रभुत्व के साधन के रूप में उपयोग करते हैं। मुझे १८८६ में जब कानेल्सविल क्षेत्र में पेनसिल्वानिया के कोयला मज़दूरों की बहुत बड़ी हड़ताल[165] का वृत्तान्त देनेवाले अमरीकी अख़बार मिले तो मुझे लगा कि मैं और कुछ नहीं १८४४ में उत्तरी इंगलैंड के कोयला मज़दूरों की हड़ताल का स्वयं अपना वृत्तान्त पढ़ रहा हूं। जाली माप-तौल की मदद से मेहनतकश लोगों को उसी तरह ठगना; वही जिंस मज़दूरी की प्रणाली; पूंजीपतियों के अन्तिम परन्तु निर्णायक साधन द्वारा – मज़दूरों को अपने घरों से, कम्पनियों के स्वामित्वान्तर्गत मकानों से बेदख़ली द्वारा – कोयला मज़दूरों की हड़ताल तोड़ने की वही कोशिश।

पुस्तक के इस संस्करण में मैंने पुस्तक को नवीनतम बनाने अथवा १८४४ से हुए परिवर्तनों की ओर विस्तारपूर्वक लक्षित करने का प्रयास नहीं किया है। इसकी दो वजहें थीं – पहली वजह तो यह है कि यह काम उपयुक्त ढंग से करने का अर्थ होता पुस्तक का आकार दुगुना बना देना, और दूसरी वजह यह है कि कार्ल मार्क्स की 'पूंजी' के प्रथम खंड में लगभग १८६५ तक, अर्थात् ब्रिटिश

औद्योगिक समृद्धि के अपने चरम बिन्दु तक पहुंचने के समय तक, ब्रिटिश मज़दूर वर्ग की हालत का अत्यन्त पर्याप्त वर्णन है। उस सूरत में मुझे फिर से वह सब करना पड़ता जो मार्क्स की लब्ध-प्रतिष्ठ कृति में पहले से मौजूद है।

यह लक्षित करने की ज़रा भी आवश्यकता नहीं है कि इस पुस्तक का आम सैद्धान्तिक दृष्टिकोण – दार्शनिक, आर्थिक तथा राजनीतिक – मेरे आज के दृष्टिकोण के हू-ब-हू नहीं है। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद, जो मुख्यतया तथा लगभग विशिष्टतया मार्क्स के प्रयासों के ज़रिए अब एक विज्ञान के रूप में पूर्णतः विकसित हो चुका है, १८४४ में विद्यमान नहीं था। मेरी पुस्तक उसके भ्रूणीय विकास के एक दौर का प्रतिनिधित्व करती है; और चूंकि मानव भ्रूण अपनी आरम्भिक मंज़िलों में अब भी हमारे पूर्वज – मछली – के क्लोम-चाप की नक़ल है, इसलिए इस पुस्तक में भी सर्वत्र आधुनिक समाजवाद की अपने एक पूर्वज – जर्मन दर्शन – से उत्पत्ति की छाप देखने को मिलती है। इसलिए पुस्तक में इस प्रस्थापना पर बहुत ज़ोर दिया गया है कि कम्युनिज़्म मज़दूर वर्ग का पार्टी मत मात्र नहीं है, वह तो ऐसा सिद्धान्त है जो पूंजीपति वर्ग समेत पूरे समाज की वर्तमान संकीर्ण अवस्थाओं से मुक्ति को अपनी परिधि में ले आता है। अमूर्त्त चिन्तन में यह प्रस्थापना सही है परन्तु व्यवहार में सर्वथा निरर्थक और कभी-कभी तो इससे भी बुरा है। चूंकि सम्पत्तिवान वर्ग मुक्ति की आवश्यकता अनुभव नहीं करते, यही नहीं, चूंकि वे मज़दूर वर्ग की आत्म-मुक्ति का भी जी-जान से विरोध करते हैं, इसलिए मज़दूर वर्ग को अकेले ही सामाजिक क्रान्ति की तैयारी करनी होगी और उसके लिए लड़ना भी होगा। १७८९ के फ़्रांसीसी पूंजीपतियों ने भी पूंजीपति वर्ग की मुक्ति को पूरी मानवजाति की मुक्ति घोषित किया था; परन्तु सामन्त तथा पादरी लोग इससे सहमत नहीं थे; और यह प्रस्थापना – भले ही वह सामन्तवाद के मामले में कुछ समय तक अमूर्त्त ऐतिहासिक सत्य बनी रही – शीघ्र कोरी भावुकता बन गयी तथा क्रान्तिकारी संघर्ष की ज्वाला में भस्म होकर पूरी तरह लुप्त हो गयी। और आज भी जो लोग, जो अपने श्रेष्ठ दृष्टिकोण की "निष्पक्षता" के आधार पर मज़दूरों के सामने सभी वर्ग-विरोधों तथा वर्ग-संघर्षों से बहुत ऊपर उड़ान भरनेवाले समाजवाद का प्रचार करते हैं, वे या तो नौसिखुए हैं जिन्हें अभी बहुत कुछ सीखना है या फिर वे मज़दूरों के सबसे भयानक शत्रु, भेड़ की खाल में भेड़िये हैं।

विराट औद्योगिक संकटों की आवर्ती अवधि पुस्तक में पांच वर्ष की बतायी गयी है। यह अवधि प्रतीयमानतः १८२५ से लेकर १८४२ तक की घटनाओं ने

लक्षित की थी। परन्तु १८४२ से लेकर १८६८ तक के इतिहास ने यह सिद्ध किया है कि वास्तविक अवधि दस वर्ष की है; मध्यवर्ती संकट आनुषंगिक स्वरूप के थे और १८४२ से लेकर उनमें अधिकाधिक विलुप्त होने की प्रवृत्ति थी। १८६८ से फिर हालात बदल गये हैं जिनके बारे में चर्चा नीचे की जायेगी।

मैंने मूलपाठ से कई भविष्यवाणियां अलग न करने में सावधानी बरती है। इनमें से एक इंगलैंड में आसन्न सामाजिक क्रान्ति के बारे में थी जो मैंने अपने तरुणाई के जोश में की थी। अचरज की बात यह नहीं है कि उनमें से कई ग़लत साबित हुई हैं, अचरज तो इस बात पर है कि उनमें से कई सच्ची साबित हुई हैं और ब्रिटिश उद्योग की संकटपूर्ण स्थिति जिसे महाद्वीपीय, विशेष रूप से अमरीकी प्रतिद्वन्द्विता ने जन्म दिया, जिसे उस समय मैंने पहले ही—यह सच है कि अत्यन्त अल्प समय के अन्दर—देख लिया था, अब वस्तुतः आ पहुंची है। इस सम्बन्ध में मैं यहां एक लेख* शामिल करके, जो १ मार्च १८८५ को लन्दन की *«Commonweal»*[166] पत्रिका तथा उसी साल जून जर्मन में *«Neue Zeit»* (अंक ६) में प्रकाशित हुआ था, पुस्तक को आधुनिक स्थिति के अनुरूप बना सकता हूं और ऐसा करने के लिए कर्त्तव्यबद्ध हूं।

"चालीस वर्ष पहले इंगलैंड संकट के सामने खड़ा था जो प्रतीयमानतः केवल बल-प्रयोग द्वारा हल हो सकनेवाला लगता था। उद्योगों के अत्यन्त तथा द्रुत विकास ने विदेशी मंडियों के विस्तार तथा मांग में बढ़ोतरी को पीछे छोड़ दिया है। हर दस वर्ष में उद्योग की अग्रगति के क्रम को आम वाणिज्यिक संकट बुरी तरह भंग कर देता था, फिर दीर्घकालिक मन्दी के बाद चन्द वर्षों की समृद्धि आती और उसका अन्त हमेशा सरगर्म अत्युत्पादन में होता तथा फलस्वरूप नये सिरे से सहसा गिरावट आती। पूंजीपति वर्ग अनाज के स्वतंत्र व्यापार की ज़ोरदार मांग करता, धमकी देता कि वह उसे लागू करने के लिए शहरों की भूखों मरती आबादी को फिर से देहाती इलाक़ों में, जहां से वह आयी थी, वापस भेजेगा ताकि वह जान ब्राइट के शब्दों में 'रोटी की भीख मांगनेवाले ग़रीबों के रूप में नहीं, वरन् शत्रु की भूमि पर खड़ी फ़ौज के रूप में' उन पर धावा कर सके। शहरों के श्रमिक जनसमुदाय ने राजनीतिक सत्ता में अपने हिस्से की मांग—पीपुल्स चार्टर[167] की मांग की। उनका निम्नपूंजीपतियों की बहुसंख्या ने समर्थन किया, दोनों में मतभेद केवल इस बात पर था कि चार्टर बल-प्रयोग से पूरा

* फ़्रे० एंगेल्स, 'इंगलैंड १८४५ तथा १८८५ में'।—सं०

कराया जाये अथवा क़ानूनी तरीक़े से। फिर आया १८४७ का व्यापार संकट और आयरिश दुर्भिक्ष और साथ ही प्रकट हुई क्रान्ति की सम्भावना।

"१८४८ की फ़्रांसीसी क्रान्ति ने अंग्रेज पूंजीपति वर्ग को बचाया था। विजयी फ़्रांसीसी मज़दूरों की समाजवादी उद्घोषणाओं ने इंगलैंड के निम्नपूंजीपति वर्ग को डरा दिया तथा अंग्रेज मज़दूर वर्ग के काफ़ी संकुचित परन्तु अधिक व्यावहारिक स्वरूप वाले आन्दोलन को विसंगठित कर दिया। ठीक उस समय, जब चार्टिज़्म अवश्यम्भावी रूप से अपने को प्रतिष्ठापित करता, वह १० अप्रैल १८४८ को[168] बाह्य रूप से पराजित होने से पहले ही आन्तरिक रूप से ढह गया। मज़दूर वर्ग की राजनीतिक कार्रवाई को पृष्ठभूमि में धकेल दिया गया। पूंजीपति वर्ग की सर्वत्र विजय हुई।

"१८३१ का संसदीय सुधार[169] भू-स्वामियों के सामन्त वर्ग पर पूरे पूंजीपति वर्ग की विजय था। अनाज क़ानूनों की समाप्ति औद्योगिक पूंजीपतियों की भू-स्वामियों पर ही नहीं, वरन् पूंजीपतियों के उन समूहों पर भी विजय थी जिनके हित कमोबेश भू-स्वामित्व के, अर्थात् बैंकपतियों, आढ़तियों, राज्य-ऋणों में पूंजी लगानेवालों, आदि के हितों से जुड़े हुए थे। मुक्त व्यापार का अर्थ था इंगलैंड की पूरी घरेलू तथा विदेशी वाणिज्यिक तथा वित्तीय नीति को औद्योगिक पूंजीपतियों के, उस वर्ग के हितों के अनुरूप परिवर्तित करना जो अब राष्ट्र का प्रतिनिधित्व कर रहा था। और यह कार्य उन्होंने उत्साहपूर्वक शुरू किया। औद्योगिक उत्पादन की राह में हर अड़चन को निर्ममतापूर्वक हटा दिया गया। टैरिफ़ों तथा पूरी कराधान प्रणाली में आमूल परिवर्तन कर दिया गया। हर चीज़ को एक ही ध्येय के मातहत कर दिया गया परन्तु वह औद्योगिक पूंजीपतियों के लिए सर्वाधिक महत्त्व का था। यह ध्येय था सारे कच्चे मालों को, ख़ास तौर पर मज़दूर वर्ग के आजीविका साधनों को सस्ता बनाना, कच्चे माल की लागत घटाना तथा मज़दूरी को यदि घटाना नहीं, तो कम से कम उसे यथास्तर पर रखना। इंगलैंड को 'विश्व का वर्कशाप' बनना था; तमाम अन्य देशों को इंगलैंड के लिए वही बनना था जो आयरलैंड पहले से ही था, अर्थात् उसकी औद्योगिक वस्तुओं की मंडियां बनना जिसके बदले इंगलैंड को कच्चे माल तथा खाद्यान्न मुहैया करना था। इंगलैंड – कृषिप्रधान विश्व का महान औद्योगिक केन्द्र, वह औद्योगिक सूर्य, जिसके चारों ओर अनाज तथा कपास का उत्पादन करनेवाले अधिकाधिक उपग्रह घूमते हैं। कितना भव्य परिप्रेक्ष्य!

"औद्योगिक पूंजीपति अपने इस बड़े लक्ष्य की पूर्त्ति में उस गहन विवेक-

बुद्धि तथा परम्परागत सिद्धान्तों के प्रति उस तिरस्कार भावना से जुट गये जो महाद्वीप में उनके अधिक संकीर्णमना प्रतिद्वन्द्वियों की तुलना में उन्हें विशिष्ट बनाती हैं। चार्टिज़्म मरणासन्न था। वाणिज्यिक समृद्धि का, जो १८४७ की सहसा गिरावट के दौर के ख़ात्मे के बाद स्वाभाविक थी, पूरा-पूरा श्रेय मुक्त व्यापार को दिया गया। इन दोनों परिस्थितियों ने अंग्रेज़ मज़दूर वर्ग को राजनीतिक दृष्टि से 'महान लिबरल पार्टी' का, उस पार्टी का पुच्छल्ला बना दिया जिसका नेतृत्व उद्योगपति कर रहे थे। एक बार हासिल हो चुकने के बाद इस लाभ को बरक़रार रखना था। स्वयं मुक्त व्यापार का नहीं, वरन् मुक्त व्यापार को एक जीवन्त राष्ट्रीय प्रश्न में रूपान्तरित किये जाने का चार्टिस्टों द्वारा विरोध से कारख़ानेदार अधिकाधिक यह सीखते गये कि मज़दूर वर्ग से सहायता पाये बिना पूंजीपति वर्ग राष्ट्र पर पूर्ण सामाजिक तथा राजनीतिक प्रभुत्व कभी प्राप्त नहीं कर सकता। इस तरह दोनों वर्गों के सम्बन्धों में धीरे-धीरे परिवर्तन होता गया। कारख़ाना क़ानूनों का, जो सारे कारख़ानेदारों के लिए कभी हौवा थे, अब स्वेच्छया पालन ही नहीं होने लगा अपितु उद्योग की प्राय: तमाम शाखाओं में उनके न्यूनाधिक विस्तार को सहन भी किया जाने लगा। ट्रेड यूनियनों को, जिन्हें अभी हाल तक शैतान का आविष्कार माना जाता था, अब पुचकारा तथा सर्वथा वैध संस्थानों के रूप में और मज़दूरों के बीच सही आर्थिक सिद्धान्तों के प्रसार साधनों के रूप में संरक्षण प्रदान किया जाने लगा। हड़तालों तक को, जिनसे अधिक घृणित वस्तु १८४८ तक और कोई नहीं थी, अब कभी-कभी ख़ास तौर पर उस समय बहुत उपयोगी पाया जाने लगा जब मालिक उन्हें अपने लिए उपयुक्त अवसरों पर स्वयं भड़काया करते। जो क़ानून मालिक के मुक़ाबले मज़दूर को निचले स्तर पर अथवा असुविधाजनक स्थिति में रखते थे, उनमें से कम से कम सबसे अधिक घिनौने क़ानूनों को ख़त्म कर दिया गया और व्यवहारत: वही भयावह पीपुल्स चार्टर उन्हीं कारख़ानेदारों का राजनीतिक कार्यक्रम बन गया जिसका उन्होंने एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाकर विरोध किया था। **सम्पत्ति अर्हताओं का उन्मूलन** और **गुप्त मतदान** अब देशाचार बन चुके हैं। १८६७[170] और १८८४[171] के संसदीय सुधार क़ानून **सार्वजनिक मताधिकार** के – कम से कम उस रूप में जिस रूप में वह इस समय जर्मनी में अस्तित्वमान है – काफ़ी समीप हैं; संसद में इस समय विचारार्थ पुनर्वितरण विधेयक **समान निर्वाचन ज़िलों का** निर्माण करता है, कुल मिलाकर फ़्रांस या जर्मनी के निर्वाचन ज़िलों से ज़्यादा असमान नहीं; **सदस्यों का पारिश्रमिक** तथा यदि वास्तविक **वार्षिक**

संसदें नहीं तो कम से कम अल्पतर अवधि की संसदें निकट भविष्य की सम्भावना के रूप में दृष्टिगोचर होने लगी हैं; और फिर भी ऐसे लोग हैं जो कहते हैं कि चार्टिज़्म की मृत्यु हो चुकी है।

"१८४८ की क्रान्ति के भी अपने कई पूर्वजों की भांति अजीब-अजीब संगी-साथी तथा उत्तराधिकारी रहे। जिन लोगों ने उसे कुचला, ठीक वे ही लोग, जैसा कि कार्ल मार्क्स कहा करते थे, उसकी वसीयत के निष्पादक बन गये हैं। लूई नेपोलियन को एक स्वतंत्र तथा ऐक्यबद्ध इटली का निर्माण करना पड़ा, बिस्मार्क को जर्मनी का क्रान्तिकरण करना पड़ा तथा हंगरी की स्वतंत्रता की पुन:प्रतिष्ठापना करनी पड़ी तथा अंग्रेज कारख़ानेदारों को पीपुल्स चार्टर को क़ानून की शक्ति देनी पड़ी।

"इंगलैंड के लिए औद्योगिक पूंजीपतियों के इस प्रभुत्व के प्रभाव आरम्भ में भौंचक्का कर देनेवाले थे। उद्योग पुनरुज्जीवित हो उठा तथा उसका इतना विस्तार हुआ जो आधुनिक उद्योग के इस पालने तक के लिए अश्रुतपूर्व था; भाप तथा मशीन के पूर्ववर्ती विस्मयकारी सृजन १८५० से लेकर १८७० तक के बीस वर्षों के दौरान उत्पादन के ज़बर्दस्त उभार की तुलना में, आयात और निर्यात के हैरतंगेज़ आंकड़ों के सामने, पूंजीपतियों के हाथों में संचित अपार सम्पदा तथा बड़े शहरों में संकेन्द्रित मनुष्य की श्रम-शक्ति की तुलना में नगण्य रह गये। निस्सन्देह इस प्रगति में हर दस वर्ष में आनेवाले – १८५७ में तथा १८६६ में – संकटों ने व्याघात भी पहुंचाया। परन्तु इन पुनरावर्त्तनों को अब ऐसी प्राकृतिक, अवश्यम्भावी घटनाएं माना जाने लगा जिन्हें नियतिनिर्दिष्ट समझकर स्वीकार किया जाना चाहिए तथा जिनके बाद अन्ततोगत्वा सब कुछ पुन: व्यवस्थित हो जाता है।

"इस अवधि में मज़दूर वर्ग की स्थिति क्या थी? समय-समय पर व्यापक जन-समुदाय तक की स्थिति में अस्थायी सुधार हुआ। परन्तु यह सुधार भी हमेशा बहुत बड़ी तादाद में बेरोज़गार लोगों के आगमन से, नयी मशीनों द्वारा निरन्तर मज़दूरों का स्थान ग्रहण किये जाने से, कृषक आबादी के, जिसका स्थान भी अब मशीनें अधिकाधिक लेने लगी थीं, आप्रवासन से हमेशा पुराने स्तर पर पहुंच जाता था।

"मज़दूर वर्ग की केवल दो विशेषाधिकारप्राप्त श्रेणियों की स्थिति में स्थायी सुधार देखा जा सकता है। पहली श्रेणी कारख़ाना मज़दूरों की है। क़ानून के ज़रिए अपेक्षाकृत युक्तिसंगत सीमाओं के अन्तर्गत उनका कार्य दिवस नियत होने

से उनकी शारीरिक अवस्था का पुनरुद्धार हो गया है और उन्हें नैतिक श्रेष्ठता भी प्राप्त हुई है जिसे उनके स्थानीय जमाव ने बढ़ाया है। १८४८ से पहले की तुलना में उनकी यक़ीनन बेहतर हालत है। इसका सर्वोत्तम प्रमाण यह है कि उनकी प्रत्येक दस हड़तालों में से नौ ऐसी होती हैं जिन्हें कारख़ानेदार उत्पादन घटाने के एकमात्र साधन के रूप में अपने हितार्थ भड़काते हैं। आप मालिकों को कभी कार्य समय घटाने पर सहमत नहीं कर सकते भले ही उनका माल कभी न बिके; पर मज़दूरों को हड़ताल करने के लिए विवश किया नहीं कि सारे पूंजीपति अपने कारख़ाने बन्द कर देते हैं।

"दूसरी श्रेणी बड़ी ट्रेड यूनियनों की है। वे उन व्यवसायों के संगठन हैं जिनमें वयस्क पुरुषों के श्रम का या तो प्रभुत्व होता है या केवल वही व्यवहार में आता है। यहां न तो नारियों तथा बच्चों की और न मशीनों की प्रतिद्वन्द्विता उनकी संगठित शक्ति को अब तक दुर्बल बना सकी है। मिस्तरियों, बढ़इयों, जुड़ाईगीरों तथा राजगीरों में से हरेक एक शक्ति है, यहां तक कि उदाहरणार्थ राजगीरों के मामले में वे मशीनों के प्रचलन तक का सफलतापूर्वक विरोध कर सकते हैं। उनकी हालत १८४८ से उल्लेखनीय रूप से सुधरी है और इसका सर्वोत्तम प्रमाण यह तथ्य है कि पन्द्रह वर्षों से अधिक समय से उनके मालिक ही नहीं अपितु वे भी अपने मालिकों से काफ़ी सन्तुष्ट रहे हैं। वे मज़दूर वर्ग के बीच अभिजात वर्ग हैं; वे अपने लिए अपेक्षाकृत सुविधाजनक स्थिति हासिल करने में सफल रहे हैं और इसे वे अन्तिम मानते हैं। वे सर्वश्री लियों लेवी और जिफ़ेन (तथा आदरणीय लूइयो ब्रेंतानो) के आदर्श मज़दूर हैं, और वास्तव में वे आम तौर पर किसी भी समझदार पूंजीपति के लिए तथा विशेष रूप से पूरे पूंजीपति वर्ग के लिए निस्सन्देह बहुत अच्छे लोग हैं।

"परन्तु जहां तक विशाल मज़दूर जन-समुदाय का सम्बन्ध है, वह इस समय कंगाली और असुरक्षा की जिस स्थिति में है, वह सदा की तरह निम्न स्तर पर है भले ही उससे निम्नतर न हो। लन्दन का ईस्ट एंड इलाक़ा बेरोज़गारी की अवधि में घोर कंगाली और निराशा और कामकाज के समय शारीरिक और नैतिक पतन का निरन्तर फैलता हुआ दलदल है। ऐसा ही तमाम अन्य बड़े नगरों में है, बशर्ते मज़दूरों की विशेषाधिकारप्राप्त अल्पसंख्या को ध्यान में न रखा जाये; और ऐसा ही छोटे नगरों तथा कृषि क्षेत्रों में है। वह क़ानून, जो श्रम-शक्ति के मूल्य को आजीविका के आवश्यक साधनों के स्तर पर पहुंचा दे, और वह दूसरा क़ानून, जो उसकी औसत क़ीमत को घटाकर नियमतः आजीविका के उन

साधनों के न्यूनतम पर पहुंचा दे – ये दोनों क़ानून मज़दूरों के विरुद्ध उस स्वचालित इंजन की अरोध्य शक्ति के साथ काम करते हैं जो उन्हें अपने पहियों के बीच पीस देता है।

"तो यह थी १८४७ की मुक्त व्यापार नीति तथा औद्योगिक पूंजीपतियों के २० वर्षों के शासन द्वारा पैदा की गयी स्थिति। परन्तु तब परिवर्तन आरम्भ हुआ। १८६६ के संकट के बाद १८७३ के आसपास मामूली और अल्पकालिक उभार आया। पर वह देर तक नहीं टिका। यह सच है कि हम पूर्ण संकट के बीच से नहीं गुज़रे जिसे उस समय, १८७७ या १८७८ में, आना चाहिए था। परन्तु १८७६ से उद्योग की तमाम प्रमुख शाखाओं में स्थायी गतिहीनता की स्थिति बनी रही है। न तो पूर्ण गिरावट आयी और न वह समृद्धि की अभिलिप्सित अवधि ही जिसकी इस संकट से पूर्व तथा उसके बाद अपेक्षा की जाती थी। निश्चल मन्दी, तमाम व्यवसायों के लिए तमाम मंडियों में माल की स्थायी भरमार – लगभग दस वर्षों से हम इस स्थिति में रहते आये हैं। इसके क्या कारण हैं?

"मुक्त व्यापार सिद्धान्त एक मान्यता पर आधारित था; वह यह कि इंगलैंड को कृषि संसार का एकमात्र बड़ा औद्योगिक केन्द्र बनना है। परन्तु वास्तविक तथ्य यह है कि यह मान्यता विशुद्ध भ्रम सिद्ध हुई है। आधुनिक उद्योग के अस्तित्व की अवस्थाएं – भाप शक्ति तथा मशीनें – वहीं स्थापित की जा सकती हैं जहां ईंधन, ख़ास तौर पर कोयला है। और इंगलैंड के अलावा अन्य देशों में – फ़्रांस, बेल्जियम, जर्मनी तथा अमरीका, यहां तक कि रूस तक में भी – कोयला है। और उन देशों के लोगों को इसमें कोई लाभ नहीं दिखायी दिया कि वे महज़ अंग्रेज़ पूंजीपतियों की और सुख-समृद्धि तथा कीर्ति की ख़ातिर अपने को कंगाल आयरिश किसानों में परिणत करें। उन्होंने अपने लिए ही नहीं, वरन् बाक़ी दुनिया के लिए भी दृढ़तापूर्वक उत्पादन शुरू कर दिया। और उसका परिणाम यह हुआ कि इंगलैंड लगभग एक शताब्दी से जिस औद्योगिक इजारेदारी का उपभोग कर रहा है, उसे वह सदा के लिए खो बैठा है।

"परन्तु इंगलैंड की औद्योगिक इजारेदारी उसकी सामाजिक व्यवस्था की धुरी है। इस इजारेदारी के रहते भी मंडियां ब्रिटिश उद्योग की बढ़ती हुई उत्पादकता के साथ क़दम से क़दम नहीं मिला सकीं; परिणाम था हर दस वर्ष के बाद संकट। और अब नयी मंडियां अधिकाधिक विरल होती जा रही हैं, यहां तक कि कांगो के नीग्रो लोगों तक को मानचेस्टर के सूती कपड़े, स्टैफ़ोर्डशायर के मृद्भांडों तथा बर्मिंघम की धातु की वस्तुओं से जुड़ी सभ्यता में प्रवेश करने

के लिए विवश किया जा रहा है। तब क्या होगा जब महाद्वीपीय और ख़ास तौर पर अमरीकी माल अधिकाधिक मात्रा में प्रवाहित होने लगेगा, जब वह बड़ा हिस्सा, जो अब भी अंग्रेज़ कारख़ानेदारों के पास है, वर्ष प्रति वर्ष घटता जायेगा? उत्तर है–मुक्त व्यापार, यह विश्वव्यापी रामबाण!

"यह लक्षित करनेवाला मैं पहला व्यक्ति नहीं हूं। १८८३ में ही ब्रिटिश एसोसियेशन[172] की साउथपोर्ट मीटिंग में उसके आर्थिक विभाग के अध्यक्ष श्री इंगलिस पालग्रेव ने साफ़-साफ़ कहा था कि

'इंगलैंड में व्यापार से दोनों हाथ मुनाफ़े बटोरने के दिन लद चुके हैं और उद्योग की कई बड़ी-बड़ी शाखाओं में प्रगति रुक गयी है। **कहा जा सकता है कि देश गतिहीनता की अवस्था में प्रवेश कर रहा है।**'

"परन्तु परिणाम क्या होगा? पूंजीवादी उत्पादन रुक **नहीं सकता।** उसे बढ़ते और फैलते रहना होगा या फिर काल-कवलित होना पड़ेगा। इस समय भी विश्व की मंडियों के लिए पूर्त्ति में इंगलैंड के बड़े हिस्से में कमी का अर्थ है गतिहीनता, विपदा, एक ओर पूंजी का आधिक्य, दूसरी ओर बेरोज़गार मज़दूरों का आधिक्य। और तब क्या होगा जब वार्षिक उत्पादन की वृद्धि पूरी तरह रुक जायेगी?

"यह है पूंजीवादी उत्पादन के शरीर का सहजभेद्य स्थान। उसका मूल आधार है निरन्तर विस्तार। और यह निरन्तर विस्तार अब असम्भव हो गया है। पूंजीवादी उत्पादन अंधेरी बन्द गली में जा पहुंचता है। इंगलैंड को हर वर्ष इस प्रश्न का आमना-सामना करना पड़ता है–या तो देश का सर्वनाश हो अथवा पूंजीवादी उत्पादन का। इनमें से क्या होगा?

"और मज़दूर वर्ग? यदि १८४८ से लेकर १८६८ तक अपूर्व वाणिज्यिक तथा औद्योगिक विस्तार के अन्तर्गत भी उसे ऐसी कंगाली का मुंह देखना पड़ा, यदि उसके व्यापक भाग ने अपनी स्थिति में हद से हद अस्थायी सुधार ही अनुभव किया जबकि केवल मामूली, विशेषाधिकारप्राप्त, 'रक्षित' अल्पसंख्या को ही स्थायी लाभ प्राप्त हुआ, तो उस समय क्या होगा जब आंखों को चकाचौंध करनेवाली इस अवधि का अन्ततः अन्त हो जायेगा, जब मौजूदा भयावह गतिहीनता गहन ही नहीं बनेगी अपितु गतिहीनता की यह स्थिति ब्रिटिश उद्योग की स्थायी तथा सामान्य दशा बन जायेगी?

"सच्चाई यह है—इंगलैंड की औद्योगिक इजारेदारी की अवधि में अंग्रेज़ मज़दूर वर्ग इस इजारेदारी के लाभों में कुछ हद तक भागीदार रहा है। ये लाभ उनके बीच अत्यन्त असमान रूप से विभाजित हुए: विशेषाधिकारप्राप्त अल्पसंख्या ने अधिकांश लाभ हथिया लिये, इसके बावजूद व्यापक समुदाय को भी कम से कम यदा-कदा हिस्सा मिलता रहा। और यही कारण है कि ओवेनवाद के अवसान के बाद इंगलैंड में समाजवाद नहीं रहा। इंगलैंड की औद्योगिक इजारेदारी के भंग होने से अंग्रेज़ मज़दूर वर्ग वह विशेषाधिकारप्राप्त स्थिति खो बैठेगा, वह—और बिना किसी अपवाद के, विशेषाधिकारप्राप्त तथा अग्रणी अल्पसंख्या भी—अपने को उसी स्तर पर पायेगा जहां विदेशों में उसके साथी मज़दूर हैं। और यही कारण है कि इंगलैंड में समाजवाद फिर से प्रकट होगा।"

यही मैंने १८८५ में लिखा। ११ जनवरी १८९२ को अंग्रेज़ी संस्करण की भूमिका में मैंने यह भी जोड़ा—

"वस्तुस्थिति के विषय में, जो मुझे १८८५ में प्रतीत हुई थी, इस बयान में मुझे ज्यादा नहीं जोड़ना है। यह बताने की कोई ख़ास जरूरत नहीं है कि वस्तुत: 'इंगलैंड में समाजवाद फिर से प्रकट हो गया है', और वह भी बहुत बड़े पैमाने पर। यह समाजवाद हर रंग और आकार का है—चेतन और अचेतन समाजवाद, गद्यात्मक तथा पद्यात्मक समाजवाद, मज़दूर वर्ग का समाजवाद और पूंजीपति वर्ग का समाजवाद। और वस्तुत: यह घृणितों में घृणित यह समाजवाद सम्मानित ही नहीं बना है अपितु उसने सायंकालीन पोशाक पहन ली है और वह दीवानख़ाने के सोफ़ों पर आराम से विराजमान है। यह 'समाज' के उस भयावह स्वेच्छाचारी की, पूंजीवादी जनमत की असाध्य चंचलता दर्शाता है और एक बार फिर उस घृणा को न्यायोचित सिद्ध करता है जो पिछली पीढ़ी के हम समाजवादियों के मन में उसके प्रति थी। फिर भी स्वयं इस नये लक्षण पर बड़बड़ाहट करने के लिए हमारे पास कोई कारण नहीं है।

"परन्तु मैं पूंजीवादी क्षेत्रों में समाजवाद को पानी मिलाकर हल्का बनाने के इस क्षणिक फ़ैशन से, इंगलैंड में समाजवाद द्वारा आम तौर पर की गयी वास्तविक प्रगति तक से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण जिस चीज़ को मानता हूं, वह इंगलैंड में ईस्ट एंड का पुनरुज्जीवन है। कंगाली का यह बहुत बड़ा जमाव अब वह निश्चल दलदल नहीं रह गया है जो छ: साल पहले था। उसने उदासीनता भरी निराशा को तिलांजलि दे दी है, उसने पुन: जीवन धारण कर लिया है तथा 'नव यूनियनिज़्म', अर्थात् 'ग़ैर हुनरमन्द' मज़दूरों के विशाल समुदाय के

संगठन की जन्मभूमि बन गया है। बहुत सम्भव है कि यह संगठन 'हुनरमन्द' मज़दूरों की पुरानी ट्रेड यूनियनों का रूप ग्रहण कर ले परन्तु वह अपने स्वरूप में मूलतः भिन्न है। पुरानी ट्रेड यूनियनें अपनी स्थापना के ज़माने की परम्पराएं क़ायम रखी हुई हैं और वे उजरती श्रम की प्रणाली को सदा-सर्वदा के लिए स्थापित तथा अन्तिम व्यवस्था मानती हैं जिसे वे अपने सदस्यों के हितार्थ हद से हद संशोधित कर सकती हैं। नयी ट्रेड यूनियनें ऐसे समय स्थापित हुईं जब उजरती श्रम की प्रणाली की शाश्वतता में आस्था डिग गयी थी। उनके संस्थापक तथा नेता या तो सचेतन रूप में अथवा सहज भावना के कारण समाजवादी थे; जनसाधारण, जिनकी संलग्नता उन्हें शक्ति प्रदान करती थी, उजड्ड और उपेक्षित थे तथा मज़दूरों का अभिजात वर्ग उन्हें घृणा की दृष्टि से देखता था; परन्तु उन्हें एक अपार लाभ प्राप्त था, वह यह कि उनके मस्तिष्क अछूती धरती थे, विरासत में मिलनेवाले उन 'सम्मानित' पूंजीवादी पूर्वाग्रहों से सर्वथा मुक्त जो बेहतर स्थिति वाले 'पुराने यूनियनिस्टों' के मस्तिष्कों को काम नहीं करने देते थे। इस तरह हम इन नयी यूनियनों को सामान्यतया मज़दूर वर्ग के आन्दोलन की बागडोर सम्भालते हुए और समृद्ध तथा गर्वीली 'पुरानी' यूनियनों को अधिकाधिक अपने वश में करते हुए देख रहे हैं।

"निस्सन्देह ईस्ट एंड के लोगों ने ज़बर्दस्त ग़लतियां की हैं; परन्तु वही ग़लतियां उनके पूर्ववर्तियों ने कीं और वही उनका तिरस्कार करनेवाले जड़सूत्रवादी समाजवादी कर रहे हैं। कोई भी महान वर्ग किसी भी महान राष्ट्र की ही भांति अपनी ग़लतियों के परिणाम भुगते बिना न तो कभी अच्छी तरह और न जल्दी सीखता है। और भूत, वर्तमान तथा भविष्य की तमाम ग़लतियों के बावजूद लन्दन के ईस्ट एंड का पुनरुज्जीवन fin de siècle* का एक सबसे बड़ा तथा सबसे फलप्रद तथ्य है और मुझे प्रसन्नता और गर्व है कि मैं उसे देखने के लिए जीवित हूं।"

मैंने छः माह पहले जब उपरोक्त पंक्तियां लिखी थीं, तब से अंग्रेज़ मज़दूर वर्ग आन्दोलन लम्बा डग भर चुका है। कुछ ही दिन पहले हुए संसदीय चुनावों ने दोनों प्रतिष्ठापित पार्टियों–कंज़रवेटिवों तथा लिबरलों–को औपचारिक रूप से बता दिया है कि उन्हें अब से एक तीसरी पार्टी, मज़दूरों की पार्टी को भी ध्यान में रखना पड़ेगा। इस मज़दूर पार्टी का गठन अभी-अभी शुरू हुआ है;

---

*शाब्दिक अर्थ–शताब्दी का अन्त।–सं०

उसके अलग-अलग तत्त्व हर तरह के—पूंजीवादी, पुराने ट्रेड यूनियनवादी, यही नहीं जड़सूत्रवादी समाजवादी—परम्परागत पूर्वाग्रहों से मुक्ति पाने में अब भी व्यस्त हैं ताकि वे अन्ततः एक समान आधार प्राप्त कर सकें। और इसके बावजूद ऐक्यबद्ध होने की उनमें व्याप्त प्रवृत्ति इतनी सशक्त है कि उसने इंगलैंड में अश्रुतपूर्व निर्वाचन परिणाम प्रस्तुत किये हैं। लन्दन में दो मजदूर* चुनाव के लिए खड़े हुए और वह भी खुलेआम समाजवादी उम्मीदवारों के रूप में; लिबरलों ने उनके ख़िलाफ़ अपने उम्मीदवार खड़े करने की हिम्मत नहीं की। ये दो समाजवादी भारी तथा अप्रत्याशित बहुमत से विजयी हुए। मिडिलस्बोरो में एक मजदूर उम्मीदवार** ने एक सीट पर लिबरल तथा कंजरवेटिव के विरुद्ध चुनाव लड़ा और उन दो के मुक़ाबले में विजयी हो गया। दूसरी ओर एक को छोड़कर बाक़ी वे सब नये मज़दूर उम्मीदवार, जिन्होंने लिबरलों के साथ गठबन्धन किया था, चुनाव में बुरी तरह हार गये। पुराने तथाकथित मजदूर प्रतिनिधियों में, अर्थात् उन लोगों में, जिनकी मजदूर वर्ग सदस्यता को इसलिए ताक़ पर रख दिया जाता था कि वे अपने मजदूर होने के गुण को स्वयं अपने लिबरलिज़्म के सागर में डुबा देना चाहते हैं, पुराने यूनियनिज़्म का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधि हेनरी ब्राडहर्स्ट पूरी तरह पराजित हो गया क्योंकि उसने आठ घंटे के कार्य दिवस का विरोध किया था। ग्लास्गो के दो, साल्फ़ोर्ड के एक तथा कई अन्य निर्वाचन क्षेत्रों में स्वतंत्र मज़दूर उम्मीदवार दोनों पुरानी पार्टियों के ख़िलाफ़ चुनाव लड़े। वे हार गये परन्तु साथ ही लिबरल भी हारे। कहने का मतलब यह है कि अनेक बड़े शहरों तथा औद्योगिक निर्वाचन क्षेत्रों में मज़दूरों ने दो पुरानी पार्टियों के साथ अपना नाता निश्चित रूप में तोड़ लिया है तथा इस प्रकार उन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में ऐसी सफलताएं हासिल की हैं जो पहले किसी भी चुनाव में नज़र नहीं आयी थीं। इसलिए मज़दूरों में इस विजय पर असीम उल्लास है। उन्होंने पहली बार देखा तथा अनुभव किया है कि अपने वर्ग के हित में मताधिकार का उपयोग करके वे क्या-क्या हासिल कर सकते हैं। "महान लिबरल पार्टी" में अन्धविश्वास का जो जादू अंग्रेज़ मजदूरों पर चालीस वर्षों से छाया हुआ था, वह ख़त्म हो गया है। मज़दूरों ने ज्वलन्त उदाहरणों के बल पर देख लिया है कि वे इंगलैंड में निर्णायक शक्ति हैं बशर्ते वे चाहें और यह जान लें कि उन्हें

*जेम्स के० हार्डी तथा जान बर्न्स।—सं०

**जोसेफ एच० विल्सन।—सं०

क्या चाहिए। १८९२ के निर्वाचन इसका श्रीगणेश हैं। बाक़ी काम महाद्वीपीय मज़दूर आन्दोलन पूरा कर लेगा। जर्मन तथा फ़्रांसीसी, जिन्हें अपनी संसदों तथा स्थानीय परिषदों में इतनी बड़ी संख्या में पहले से ही प्रतिनिधित्व प्राप्त है, अपनी आगे की सफलताओं की मदद से अंग्रेज़ों में प्रतियोगिता की भावना को सर्वथा पर्याप्त गति से आगे बढ़ाते रहेंगे। और यदि अनतिदूर भविष्य में ऐसा प्रतीत होगा कि नयी संसद श्री ग्लैडस्टन के साथ कुछ हासिल नहीं कर पायेगी, तथा श्री ग्लैडस्टन इस संसद के साथ कुछ हासिल नहीं कर सकते,— तो अंग्रेज़ों की मज़दूर पार्टी इतनी पर्याप्त मात्रा में गठित हो जायेगी कि वह दो पुरानी पार्टियों का, जो बारी-बारी से सत्तारूढ़ होती रही हैं और ठीक इस साधन से पूंजीपति वर्ग के शासन को बरक़रार रखती आयी हैं, झूमाझूमी खेल ख़त्म कर देगी।

लंदन, २१ जुलाई १८९२

फ़्रे० एंगेल्स

F. Engels, «*Die Lage der Arbeitenden Klasse in England*» Zweite Auflage. Stuttgart, 1892, पुस्तक में प्रकाशित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

फ्रेडरिक एंगेल्स

भावी इतालवी क्रान्ति तथा समाजवादी पार्टी[173]

मुझे इटली में स्थिति निम्न प्रकार प्रतीत होती है।

राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की अवधि में तथा उसके बाद सत्तारूढ़ होने पर पूंजीपति वर्ग न तो अपनी विजय को पूर्ण कर सका है और न उसके लिए इच्छुक ही रहा है। उसने न तो सामन्तवाद के अवशेष नष्ट किये हैं और न राष्ट्रीय उत्पादन को आधुनिक पूंजीवादी ढर्रे पर पुनर्गठित ही किया है। पूंजीवादी शासन के सापेक्ष तथा अस्थायी लाभ देश को मुहैया करने में असमर्थ होने के साथ ही उसने उस व्यवस्था के सारे बोझ, सारी कठिनाइयां देश पर थोप दी हैं। इतना ही नहीं, उसने बैंक कारोबार में घृणित घोटालेबाज़ियों के कारण वह सारी इज्ज़त तथा साख खो दी है जो उसे अब भी प्राप्त थीं।

मेहनतकश जनता – किसान, दस्तकार, खेत मज़दूर तथा औद्योगिक मज़दूर – अपने को एक ओर सामन्तवाद के ज़माने से ही नहीं, वरन् पुरातन काल से भी विरासत में मिली बुराइयों के (पट्टेदारी पर खेती, दक्षिण में बड़ी जागीरें, जहां मवेशियों ने मनुष्यों का स्थान ले लिया है) और दूसरी ओर पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा बनाये गये राजकोषीय क़ानूनों के, जो पहले किसी भी समय की तुलना में सबसे अधिक लूटखसोट करनेवाले हैं, बोझ के नीचे दबी जाती पा रही है। यहां हम मार्क्स की तरह कह सकते हैं: "यूरोपीय महाद्वीप के पश्चिमी भाग के अन्य सब देशों की तरह, हमें भी न सिर्फ़ पूंजीवादी उत्पादन के विकास के कष्ट ही सहन करने पड़ रहे हैं, बल्कि इस विकास की अपूर्णता से पैदा होनेवाली तकलीफ़ें भी सहन करनी पड़ रही हैं। आधुनिक बुराइयों के साथ-साथ विरासत में मिली हुई बुराइयों की बड़ी तादाद भी हमारे ऊपर सितम ढा रही है। ये बुराइयां उत्पादन की उन प्राचीन प्रणालियों के निष्क्रिय रूप से अभी तक बचे रहने के फलस्वरूप पैदा होती हैं जिनके साथ अनेक सामाजिक एवं राजनीतिक

असंगतियां अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई हैं। हम न केवल जीवित, बल्कि मुर्दों से भी पीड़ित हैं। मुर्दे जिन्दों के लिए बोझा बने हुए हैं।"*

स्थिति संकट की ओर बढ़ रही है। उत्पादन करनेवाले जनसाधारण विक्षुब्ध हैं; यत्र-तत्र वे विद्रोह कर रहे हैं। यह संकट हमें कहां पहुंचायेगा?

ज़ाहिर है, समाजवादी पार्टी अभी अत्यन्त किशोरावस्था में है और आर्थिक स्थिति के कारण इतनी कमज़ोर है कि वह समाजवाद की तात्कालिक विजय की कोई आशा नहीं कर सकती। देश भर में खेतिहर आबादी शहरी आबादी से कहीं ज़्यादा है। नगरों में विकसित उद्योग बहुत कम हैं और इस कारण **वास्तविक** सर्वहारा विरल हैं; दस्तकारों, छोटे दुकानदारों तथा वर्गच्युत तत्वों – निम्नपूंजीपति वर्ग तथा सर्वहारा के बीच का व्यापक समुदाय – की बहुसंख्या है। यह मध्ययुग का निम्न तथा मध्यम पूंजीपति वर्ग है जो ह्रासावस्था तथा विघटनावस्था में है, अधिकतर भविष्य का सर्वहारा है परन्तु वर्तमान का नहीं। केवल यही वर्ग है जो सदैव आर्थिक बर्बादी का सामना करने और अब हताशा के मुंह में पहुंचने के कारण क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए बेशुमार योद्धा तथा नेता मुहैया कर सकेगा। इस मार्ग पर किसान उसका अनुसरण करेंगे, जो अपनी अत्यन्त बिखरी हुई खेती तथा निरक्षरता के कारण किसी कारगर पहल का परिचय नहीं दे सकते, परन्तु जो किसी भी सूरत में सशक्त तथा अपरिहार्य साथी होंगे।

कम या अधिक शान्तिपूर्ण सफलता की सूरत में मंत्रिमंडल में परिवर्तन होगा तथा "धर्मान्तरित" जनतन्त्रवादी[174] – कावालोत्ती और उनकी मंडली – सत्तारूढ़ होंगे; क्रान्ति की सूरत में वहां पूंजीवादी जनतंत्र होगा।

ऐसी स्थिति के पैदा होने पर समाजवादी पार्टी का कर्त्तव्य क्या होगा?

१८४८ से ही समाजवादियों को सबसे बड़ी सफलताएं दिलानेवाली कार्यनीति वह थी जिसे '**कम्युनिस्ट घोषणापत्र**' में निरूपित किया गया था –

"पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ सर्वहारा वर्ग का संघर्ष जिन विभिन्न मंज़िलों से गुज़रता हुआ आगे बढ़ता है उनमें हमेशा और हर जगह समाजवादी** समग्र आन्दोलन के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं... वे मज़दूर वर्ग के तात्कालिक

---

*'पूंजी' के प्रथम खंड के पहले जर्मन संस्करण के लिए मार्क्स द्वारा लिखित भूमिका। (देखें प्रस्तुत संस्करण, खंड २, भाग १)। – **सं०**

'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' को उद्धृत करते हुए एंगेल्स ने "कम्युनिस्ट" शब्द के स्थान पर "समाजवादी" शब्द का प्रयोग किया है। – **सं०

लक्ष्यों के लिए लड़ते हैं, उनके सामायिक हितों की रक्षा के लिए प्रयत्न करते हैं; किन्तु वर्तमान के ग्रान्दोलन में वे इस ग्रान्दोलन के भविष्य का भी प्रतिनिधित्व करते हैं ग्रौर उसका ध्यान रखते हैं।"* इसलिए वे इन दो वर्गों के बीच संघर्ष के विकास के हर दौर में सक्रिय भाग लेते हैं, ग्रौर इस तथ्य को कभी नज़र से ग्रोझल नहीं होने देते कि ये दौर भी सर्वोच्च महान लक्ष्य – समाज के पुनर्गठन के साधन के रूप में सर्वहारा द्वारा सत्ता पर विजय – की ग्रोर ले जानेवाली मंज़िलें मात्र हैं। उनका स्थान उन लोगों की बग़ल में होता है जो मज़दूर वर्ग के हितार्थ तात्कालिक लाभ प्राप्त करने के लिए लड़ते हैं। वे इन तमाम राजनीतिक या सामाजिक सफलताग्रों को मात्र **किश्तों में ग्रदायगी मानते हैं**। इसलिए वे प्रत्येक क्रान्तिकारी या प्रगतिशील ग्रान्दोलन को उस दिशा में एक पग मानते हैं जिधर वे स्वयं सफ़र कर रहे हैं। यह उनका विशेष कार्यभार है कि वे ग्रन्य क्रान्तिकारी पार्टियों को ग्रागे बढ़ने के लिए प्रेरित करें ग्रौर यदि उनमें से एक विजयी हो जाये तो उन्हें सर्वहारा के हितों की रक्षा करनी चाहिए। यह कार्यनीति, जो भव्य लक्ष्य को कभी नज़र से ग्रोझल नहीं होने देती, ग्रपनाये जाने से समाजवादी उस निराशा से बच जाते हैं जो सदैव दूसरी, कम निर्मल दृष्टिवाली पार्टियों के – वे चाहे शुद्ध जनतंत्रवादी पार्टियां हों या भावुक समाजवादी जो मात्र एक मंज़िल को भूल से ग्रपनी ग्रग्रगति का ग्राख़िरी पड़ाव मान बैठती हैं – हिस्से में ग्राती है।

ग्राइये, यह सब इटली पर लागू करें।

विघटित हो रहे निम्नपूंजीपति वर्ग तथा कृषक समुदाय की विजय सम्भवतः "धर्मान्तरित" जनतन्त्रवादियों के मंत्रिमंडल की स्थापना करा दे। उससे हमें सार्विक मताधिकार, ग्रान्दोलन की काफ़ी ग्रधिक स्वतंत्रता (ग्रख़बार, सभाएं, संघबद्धता, पुलिस निगरानी का ख़ात्मा, ग्रादि), – ऐसे नये ग्रस्त्र मिल जायेंगे जिनका तिरस्कार नहीं किया जाना चाहिए।

या हो सकता है कि हमें वैसे ही लोगों समेत वही पूंजीवादी जनतंत्र मिले तथा उसमें कुछ माज्ज़िनीपंथी हों। उससे कम से कम कुछ समय के लिए हमारी स्वतंत्रता तथा हमारी कार्रवाई का क्षेत्र काफ़ी बढ़ जायेगा। मार्क्स ने कहा था कि पूंजीवादी जनतंत्र एकमात्र ऐसा राजनीतिक रूप है जिसमें सर्वहारा तथा

*देखें प्रस्तुत संस्करण, खंड १, भाग १।– सं०

पूंजीपति वर्ग के बीच निर्णायक संघर्ष चलाया जा सकता है*। इसका यूरोप पर पड़नेवाले प्रभाव की तो बात ही क्या है।

इसलिए वर्तमान क्रान्तिकारी आन्दोलन की विजय द्वारा हमें और मज़बूत बनाया जाना और हमें अधिक अनुकूल परिस्थितियों में रखा जाना अवश्यम्भावी है। यदि हम एक किनारे खड़े रहें, यदि "सम्बन्धित" पार्टियों के प्रति अपने आचरण में हम अपने को विशुद्ध नकारात्मक आलोचना तक सीमित रखें तो यह सबसे बड़ी भूल होगी। ऐसा भी मौक़ा आ सकता है जब उनके साथ हमें सकारात्मक रूप में सहयोग करना पड़ेगा। और कौन जाने वह कब होगा?

ज़ाहिर है, हमारा काम ऐसे आन्दोलन की सीधे तैयारी करना नहीं है जो सटीक अर्थों में उस वर्ग का आन्दोलन नहीं है जिसका हम प्रतिनिधित्व करते हैं। यदि जनतंत्रवादी तथा आमूल परिवर्तनवादी यह मानते हैं कि कार्रवाई करने की घड़ी आ चुकी है तो उन्हें अपनी व्यग्रता को बेलगाम छोड़ने दीजिये। जहां तक हमारा सम्बन्ध है, हम इन सज्जनों के शब्दाडम्बरपूर्ण वचनों से इतनी बार धोखा खा चुके हैं कि हम अब फिर धोखा खाने नहीं जा रहे हैं। उनकी उद्घोषणाओं से और उनके षड्यंत्रों से हमें लेशमात्र विचलित होने की ज़रूरत नहीं। यदि हम प्रत्येक **वास्तविक** जन-आन्दोलन का समर्थन करने के लिए कर्त्तव्यबद्ध हैं तो हम यह देखने के लिए भी कम कर्त्तव्यबद्ध नहीं हैं कि हमारी सर्वहारा पार्टी के अभी मुश्किल से गठित नाभिक की बेकार में बलि न होने दी जाये और निरर्थक स्थानीय विद्रोहों में सर्वहारा का संहार न होने दिया जाये।

परन्तु यदि आन्दोलन सही मानों में राष्ट्रीय होगा तो हमारे लोग छुपकर नहीं बैठेंगे और न उन्हें किसी आह्वान की ज़रूरत पड़ेगी – इस आन्दोलन में हमारी शिरकत स्वाभाविक ही होगी। परन्तु ऐसी स्थिति में यह साफ़-साफ़ समझ लिया जाना चाहिए और हमें यह ज़ोरों से घोषित भी करना होगा कि हम एक **स्वतंत्र पार्टी के रूप में** भाग लेते हैं, आमूल परिवर्तनवादियों तथा जनतंत्रवादियों से कुछ समय के लिए संघबद्ध हैं परन्तु उनसे आधारभूत रूप में भिन्न हैं, कि विजय की स्थिति में हमें परिणाम के बारे में किसी तरह का भ्रम नहीं है; कि इससे हमें सन्तुष्ट होना तो रहा बहुत दूर, इस परिणाम का हमारे लिए केवल यह अर्थ होगा कि एक मंज़िल फ़तह हुई है, और आगे फ़तहों के लिए एक नया आधार जीता गया है; ठीक विजय के दिन हमारे रास्ते अलग-अलग होंगे; कि

*देखें प्रस्तुत संस्करण, खण्ड १, भाग २। – **सं०**

उस दिन से हम नयी सरकार का **नया विपक्ष** होंगे, ऐसा विपक्ष होंगे जो प्रतिक्रियावादी नहीं, वरन् प्रगतिशील होगा, हम ऐसा घोर वामपंथी विपक्ष होंगे जो हासिल की जा चुकी भूमि के पार नयी विजय प्राप्त करने पर ज़ोर देता रहेगा।

समान विजय के उपरान्त हमारे सामने नयी सरकार में कुछ सीटों की पेशकश की जा सकती है परन्तु इस तरह कि हम **अल्पसंख्या** में ही हों। **यही सबसे बड़ा ख़तरा है।** फ़रवरी १८४८ के बाद फ़्रांसीसी समाजवादी जनवादियों (*«Réforme»* अख़बार[175] के लेद्रू-रोलें, लूई ब्लां, फ़्लोकोन, आदि) ने ऐसे ओहदे स्वीकार करके ग़लती की थी[176]। सरकार में अल्पसंख्या की स्थिति अपनाकर वे स्वेच्छया उन तमाम कुकृत्यों तथा ग़द्दारी में सहभागी बने जो विशुद्ध जनतंत्रवादियों को लेकर बननेवाली बहुसंख्या ने मज़दूर वर्ग के विरुद्ध की थीं; उधर सरकार में उनकी मौजूदगी ने मज़दूर वर्ग की, जिसका वे प्रतिनिधित्व करने का दावा करते थे, क्रान्तिकारी कार्रवाई को संज्ञाहीन बना दिया।

उपरोक्त तमाम बातों में मैंने आपको महज़ अपनी निजी राय बतायी है, इसलिए कि आपने मेरी राय मांगी थी। ऐसा मैंने बहुत संकोच के साथ किया है। जहां तक आम कार्यनीति का सम्बन्ध है, मैं उसकी कारगरता जीवन भर अनुभव करता रहा हूं। इस कार्यनीति ने मुझे कभी धोखा नहीं दिया। परन्तु जहां तक उसे इटली में मौजूदा परिस्थितियों में लागू करने का सम्बन्ध है, बात दूसरी है; उसे कार्यस्थल पर ही और उन लोगों द्वारा तय किया जाना चाहिए जो घटनाओं के बीचोंबीच खड़े हैं।

२६ जनवरी १८६४ को लिखित। इतालवी पत्रिका *«Critica Sociale»* के अंक ३ में १ फ़रवरी १८६४ को प्रकाशित।

हस्ताक्षर : **फ़्रेडरिक एंगेल्स**

अंग्रेज़ी से अनूदित।

फ़्रेडरिक एंगेल्स

फ़्रांस और जर्मनी में किसानों का सवाल[177]

पूंजीवादी और प्रतिक्रियावादी पार्टियां बड़ी हैरान हैं कि क्यों समाजवादियों के मध्य सर्वत्र किसानों का सवाल इस समय सहसा कार्यसूची पर ला दिया गया है। दर-असल उन्हें हैरान इस बात पर होना चाहिए कि बहुत दिन पहले ही ऐसा क्यों नहीं किया गया। आयरलैंड से सिसिली तक और अंडालूसिया से रूस तथा बुल्गारिया तक किसान आबादी का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग, उत्पादन और राजनीतिक शक्ति का एक अत्यन्त आवश्यक कारक-तत्त्व है। अपवाद केवल पश्चिमी यूरोप के दो प्रदेश हैं। ख़ास ग्रेट ब्रिटेन में स्वावलम्बी किसानों का स्थान पूर्णतया बड़ी-बड़ी ज़मींदारियों और बड़े पैमाने की कृषि ने ले लिया है। प्रशा में एल्ब नदी के पूरब में यही प्रक्रिया सदियों से जारी है। यहां भी किसान अधिकाधिक "हटाये जा रहे हैं" या कम से कम आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से पृष्ठभूमि में खदेड़े जा रहे हैं।

राजनीतिक शक्ति के एक तत्त्व के रूप में किसानों ने अभी तक अधिकतर अपने को केवल अपनी उदासीनता के द्वारा ही प्रकट किया है। इस उदासीनता का मूल ग्रामीण जीवन का अलगाव है। आबादी के उस विराट जनसमुदाय की यह उदासीनता न केवल पेरिस और रोम के संसदीय भ्रष्टाचार का ही, बल्कि रूसी निरंकुश शासन का भी सबसे प्रबल आधार स्तम्भ है। पर यह उदासीनता कदापि अलंघ्य नहीं है। जब से मज़दूर आन्दोलन का जन्म हुआ है, पश्चिमी यूरोप में, ख़ास कर उसके उन भागों में जहां किसानों की छोटी जोतों का बोलबाला है, पूंजीपति वर्ग के लिए किसानों के मस्तिष्क में समाजवादी मज़दूरों के प्रति सन्देह और घृणा के बीज बोना ख़ास कठिनाई का काम नहीं रहा है। उन्होंने किसानों को बरग़लाया है कि ये मज़दूर partageux लोग हैं, ऐसे लोग हैं जो "सब कुछ बांट लेना" चाहते हैं, कामचोर और लालची शहरी लोग

हैं, जो किसानों की सम्पत्ति पर दांत गड़ाये हुए हैं। फ़रवरी १८४८ की क्रान्ति की अस्पष्ट समाजवादी आकांक्षाओं को फ़ांस के किसानों के प्रतिगामी मतदान ने शीघ्र ही दफ़ना दिया। मानसिक शान्ति के इच्छुक किसानों ने अपनी संचित स्मृति निधियों में से किसान सम्राट नेपोलियन की कल्पना ढूंढ़ निकाली और द्वितीय साम्राज्य का सृजन किया। यह सर्वविदित है कि किसानों के अकेले इस एक कारनामे की ही फ़्रांस की जनता को कैसी भारी क़ीमत चुकानी पड़ी। वह आज भी उसके पश्चाद्प्रभाव से पीड़ित है।

लेकिन तब से बहुत सारे परिवर्तन हो चुके हैं। पूंजीवादी उत्पादन के विकास ने कृषि क्षेत्र के छोटे पैमाने के उत्पादन के जीवन सूत्र काट दिये हैं, और छोटे पैमाने का उत्पादन असाध्य रूप से तबाह और बरबाद हो रहा है। उत्तर और दक्षिण अमरीका में तथा भारत में प्रतिद्वन्द्वियों ने यूरोप के बाज़ार को सस्ते ग़ल्ले से पाट दिया है। यह ग़ल्ला इतना सस्ता है कि कोई यूरोपीय उत्पादक इसका मुक़ाबला नहीं कर सकता। बड़े भू-स्वामी और छोटे-छोटे किसान दोनों ही अपने को विनाश के द्वार पर खड़ा पाते हैं। और चूंकि दोनों भूमि के स्वामी और देहात के निवासी हैं, इसलिए बड़े भू-स्वामी छोटे-छोटे किसानों के हितों के हामी बनकर मैदान में उतरते हैं और छोटे किसान अधिकतर उन्हें इसी रूप में स्वीकार करते हैं।

इस बीच पश्चिम में मज़दूरों की एक शक्तिशाली समाजवादी पार्टी का जन्म और विकास हुआ है। फ़रवरी क्रान्ति के समय की धुंधली पूर्वकल्पनाओं और भावनाओं ने स्पष्टता प्राप्त कर ली है और उनका दायरा एक ऐसे कार्यक्रम का व्यापक और गहरा दायरा हो गया है, जो प्रत्येक वैज्ञानिक आवश्यकता की पूर्ति करता है और जिसमें निश्चित एवं ठोस मांगें उठायी गयी हैं। जर्मनी, फ़्रांस और बेल्जियम की संसदों में समाजवादी सदस्यों की एक लगातार बढ़ती हुई संख्या इन मांगों के लिए लड़ रही है। समाजवादी पार्टी द्वारा राजनीतिक सत्ता पर अधिकार बहुत ज़्यादा दूर भविष्य की चीज़ नहीं रह गया है। किन्तु राजनीतिक सत्ता पर अधिकार करने के लिए इस पार्टी को पहले नगरों से गांवों की ओर जाना होगा, देहातों में एक शक्ति बनना होगा। क्या यह पार्टी, जो अन्यों से इस बात में विशेष सुविधापूर्ण स्थिति में है कि उसे आर्थिक कारणों और राजनीतिक परिणामों के अन्त:सम्बन्धों की स्पष्ट समझ है और जिसने किसानों की दोस्ती का दम भरनेवाले बड़े ज़मींदारों को भेड़ की खाल में भेड़िये के रूप में बहुत पहले ही पहचान लिया था, अभागे किसानों को उनके झूठे संरक्षकों के

हाथों में उस दिन तक के लिए चुपचाप छोड़ दे सकती है, जब तक कि वे औद्योगिक मज़दूरों के निष्क्रिय विरोधियों से उनके सक्रिय विरोधियों में परिवर्तित हो जायेंगे? यह प्रश्न हमें किसान सवाल के मर्मस्थल पर पहुंचा देता है।

१

देहाती आबादी में, जिसकी तरफ़ हमें ध्यान देना है, कई सर्वथा भिन्न भाग हैं, जिनमें एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में बड़ा फ़र्क है।

जर्मनी के पश्चिम में फ़ांस और बेल्जियम की भांति, छोटी जोत वाले किसानों की छोटे पैमाने की खेती का बोलबाला है। इनका अधिकांश भूमि के अपने टुकड़ों का मालिक है और अल्पांश लगान पर भूमि लिये हुए है।

उत्तर-पश्चिम में – निम्न सैक्सनी और श्लेज़विग-होल्स्टिन में – बड़े और मध्यम किसानों का प्राधान्य है, जो अपने फ़ार्मों पर मर्द और औरत नौकरों के बिना, यहां तक कि दिहाड़ीदार मज़दूरों के बिना भी काम नहीं चला सकते। बवेरिया के एक भाग में भी यही बात है।

प्रशा में ऐल्ब नदी के पूरब और मैक्लेनबुर्ग में वह इलाक़ा है, जहां बड़ी-बड़ी जागीरें हैं और जहां सिरवारों, खेत मज़दूरों और दिहाड़ीदार मज़दूरों की मदद से बड़े पैमाने की खेती होती है। बीच-बीच में छोटे और मझोले किसान भी हैं, जिनका अनुपात अपेक्षाकृत महत्त्वहीन है, और लगातार घटता जा रहा है।

मध्य जर्मनी में उत्पादन और स्वामित्व के ये सभी रूप क्षेत्र विशेष के अनुसार विभिन्न अनुपातों में मिश्रित हैं। किसी भी बड़े क्षेत्र में किसी विशेष रूप का निश्चित प्राधान्य नहीं है।

इसके अलावा, विस्तार में कहीं बड़े, कहीं छोटे ऐसे इलाक़े भी हैं, जहां किसान की अपनी या लगान पर ली हुई कृषि योग्य भूमि परिवार के भरण-पोषण के लिए अपर्याप्त है, वह केवल किसी घरेलू उद्योग व्यवसाय का संचालन करने, उसे इतनी अल्प, अबोधगम्य रूप से अल्प मजूरी देने की सम्भावना प्रदान करने के आधार का काम देती है जो सारी विदेशी प्रतिद्वन्द्विता के बावजूद उसकी पैदावार की लगातार बिक्री सुनिश्चित करती है।

देहाती आबादी के इन हिस्सों में से किस को सामाजिक-जनवादी पार्टी अपने पक्ष में कर सकती है? स्वभावतया इस प्रश्न की समीक्षा हम केवल मोटे तौर

पर ही कर सकते हैं। हम केवल सुस्पष्ट रूपों को ही अलग करके इन पर विचार करेंगे। दरम्यानी मंज़िलों और मिली-जुली देहाती आबादियों पर विचार करने के लिए हमारे पास स्थान का अभाव है।

आइये, छोटे किसान से आरम्भ करें। किसान समुदाय के बीच छोटा किसान पश्चिमी यूरोप के लिए सामान्यतः सबसे महत्त्वपूर्ण ही नहीं है, बल्कि वह कसौटी भी है, जिसके आधार पर पूरे सवाल का फ़ैसला किया जा सकता है। छोटे किसानों के बारे में एक बार अपना रुख़ स्पष्ट कर लें, तो हमें वह सभी तथ्य सामग्री उपलब्ध हो जाये, जिसकी देहाती आबादी के अन्य संघटक अंगों के बारे में अपना रुख़ निश्चित करने के लिए हमें ज़रूरत है।

छोटे किसान से यहां हमारा तात्पर्य भूमि के एक ऐसे टुकड़े के मालिक या काश्तकार से है, जो आम तौर से उतने से बड़ा नहीं, जितना कि वह और उसका परिवार जोत सकता है, और उतने से छोटा भी नहीं, जितने से कि उसके परिवार का भरण-पोषण हो सकता है। अतः यह छोटा किसान छोटे दस्तकार की ही तरह मेहनतकश होता है। उसमें और आधुनिक सर्वहारा में अन्तर यह है कि वह अब भी उत्पादन के अपने साधनों का मालिक होता है, अतः वह अतीतकालीन उत्पादन पद्धति का अवशेष होता है। उसमें और उसके पूर्वज, भू-दास में, बंधुआ मज़दूर में या कभी-कभी बिल्कुल अपवादस्वरूप ही स्वतंत्र किसान में, जो लगान और सामन्ती सेवाएं प्रदान करने के लिए बाध्य होता था, तीन बातों का अन्तर है। एक तो फ़्रांसीसी क्रान्ति ने उसे ज़मींदार को सामन्ती सेवाएं और अन्य देय देने से मुक्त कर दिया, और अधिकतर मामलों में, कम से कम राइन नदी के बायें तटवर्ती क्षेत्र में, उसकी जोत उसे अपने मुक्त स्वामित्व के रूप में प्रदान की। दूसरे, उसने स्वशासी ग्राम समुदाय का संरक्षण और उसमें भाग लेने का अधिकार, और इसी लिए भूतपूर्व सामुदायिक आय में अपना हिस्सा गंवा दिया। सामुदायिक भूमि अंशतः उसके भूतपूर्व सामन्ती स्वामी द्वारा और अंशतः रोमन क़ानून पर आधारित उदारतावादी नौकरशाही क़ानूनों द्वारा छीन ली गयी। इससे आधुनिक छोटा किसान अपने भारवाही पशुओं को चारा ख़रीदे बिना खिलाने की सम्भावना से वंचित हो गया है। पर सामुदायिक भूमि के हाथ से निकल जाने से आर्थिक दृष्टि से जो हानि हुई, वह सामन्ती सेवाओं के उन्मूलन से प्राप्त लाभ से कहीं अधिक है। अपने निजी भारवाही पशु न रख सकनेवाले किसानों की संख्या लगातार बढ़ रही है। तीसरे, आज के किसान ने अपनी पहले की उत्पादकीय क्रिया का आधा भाग खो दिया है। पहले

वह और उसका परिवार अपने ही हाथों तैयार किये गये कच्चे माल से अपनी आवश्यकता के औद्योगिक सामानों का अधिकांश स्वयं उत्पादित कर लेता था। उसकी ज़रूरत के बाक़ी सामान गांव के पड़ोसियों से मिल जाते थे, जो खेती के अलावा कुछ दस्तकारी भी करते थे और जिन्हें क़ीमत अधिकतर विनिमय के सामानों या परस्पर सेवाओं के माध्यम से अदा की जाती थी। परिवार, और परिवार से भी अधिक ग्राम, स्वावलम्बी थे, वे अपनी ज़रूरत के प्रायः सभी सामान उत्पादित करते थे। यह प्रायः अमिश्रित स्वावलम्बी अर्थव्यवस्था थी, इसमें मुद्रा की प्रायः कोई आवश्यकता नहीं थी। पूंजीवादी उत्पादन ने अपनी मुद्रा व्यवस्था एवं बड़े पैमाने के उद्योग द्वारा इसका अन्त कर दिया। जहां सामुदायिक भूमि किसान के अस्तित्व की पहली मौलिक शर्त थी, वहां उसकी औद्योगिक उपवृत्ति उसके अस्तित्व की दूसरी मौलिक शर्त थी। फिर किसान की हालत बराबर गिरती जाती है। करों का भार, फ़सल का मारा जाना, वारिसों में जायदाद का बंटवारा और मुक़दमेबाज़ी किसानों को एक-एक कर सूदख़ोरों के मुंह में झोंके दे रहे हैं। ऋणग्रस्तता अधिकाधिक आम बनती जाती है और प्रत्येक के ऊपर ऋण की माला लगातार बढ़ती जाती है। संक्षेप में, अतीतकालीन उत्पादन पद्धति के अन्य सभी अवशेषों की भांति हमारे छोटे किसान का भी विनाश निश्चित है, उसके उद्धार की कोई आशा नहीं है। वह भावी सर्वहारा है।

इस नाते उसे समाजवादी प्रचार पर तत्परता से कान देना चाहिए था। किन्तु फ़िलहाल सम्पत्ति के प्रति उसका अनुराग उसे ऐसा करने से रोके हुए है। ख़तरे में पड़े ज़मीन के अपने नन्हे से टुकड़े की हिफ़ाज़त करना उसके लिए जितना ही अधिक कठिन होता जाता है, उतना ही अधिक वह उससे जी-जान से चिपटता जाता है, और उतना ही अधिक वह भू-सम्पत्ति को पूरे समाज को हस्तान्तरित करने की बातें करनेवाले सामाजिक-जनवादियों को सूदख़ोरों और वकीलों की तरह ख़तरनाक समझने लगता है। सामाजिक-जनवाद इस पूर्वाग्रह को किस प्रकार दूर करे? वह अपने प्रति ईमानदारी बरतते हुए छोटे किसानों को, जिनका विनाश निश्चित है, क्या दिलासा दे?

यहां हम मार्क्सवादी प्रवृत्ति के फ़्रांसीसी समाजवादियों के कृषि कार्यक्रम में एक व्यावहारिक आधार सूत्र पाते हैं। यह कार्यक्रम इसलिए और भी अधिक उल्लेखनीय है कि इसे छोटी किसानी के क्लासिकीय देश ने प्रस्तुत किया है।

१८९२ की मार्सेई कांग्रेस ने पार्टी का प्रथम कृषि कार्यक्रम पास किया।

उसमें भूमिहीन खेत **मज़दूरों** (यानी दिहाड़ीदार मज़दूरों और सिरवारों) के लिए ये मांगें की गयी हैं: ट्रेड यूनियनों और सामुदायिक परिषदों द्वारा निर्धारित न्यूनतम मजूरी लागू की जाये; ग्रामीण व्यावसायिक अदालतों की स्थापना की जाये, जिनमें आधे मज़दूर हों; सामुदायिक भूमि की बिक्री पर रोक लगायी जाये; सार्वजनिक भूमि समुदायों को पट्टे पर दी जाये; ये समुदाय सारी भूमि को, जिसके वे स्वामी हैं और जिसे उन्होंने लगान पर लिया है, भूमिहीन खेत मजदूरों के परिवारों के संघों को सम्मिलित कृषि के लिए इस शर्त के साथ लगान पर देंगे कि उजरती मज़दूरों को काम पर लगाना निषिद्ध होगा और इस भूमि पर समुदाय का ही नियंत्रण रहेगा; बूढ़े और असमर्थ लोगों को पेंशन दी जाये, जिसका ख़र्च बड़ी जागीरों पर विशेष कर लगाकर पूरा किया जाये।

छोटे किसानों के लिए, काश्तकार का ख़ास ख़याल रखते हुए, कार्यक्रम में ये मांगें की गयी हैं: समुदाय कृषि मशीनें प्राप्त करे और इन्हें लागत दामों पर किसानों को किराये पर दे; खाद, ड्रेन-पाइप, बीज, आदि की ख़रीद के लिए और उपज की बिक्री के लिए किसानों की सहकारी समितियों की स्थापना की जाये; यदि हस्तान्तरित की जानेवाली भूमि का मूल्य ५,००० फ्रैंक से अधिक न हो, तो उस पर भूमि-हस्तान्तरण कर न लगाया जाये; अत्यधिक लगान घटाने के लिए और भूमि छोड़नेवाले काश्तकारों और बंटाईदारों (métayers) को उनके द्वारा काश्त भूमि की मूल्य-वृद्धि के लिए मुआवज़ा दिलाने के लिए आयरिश नमूने के मध्यस्थता आयोग स्थापित किये जायें; दीवानी क़ानून की धारा २१०२, जिसके ज़रिये ज़मींदार फ़सल क़ुर्क़ करा सकते हैं, रद्द की जाये और उगती फ़सल से वसूली करने का ऋणदाताओं का अधिकार समाप्त किया जाये; कृषि औज़ारों को और फ़सल, बीज, खाद, भारवाही पशुओं को, संक्षेप में उन सभी चीज़ों को, जिनके बिना किसान अपना धन्धा चालू नहीं रख सकता, एक निश्चित परिमाण में, क़ुर्क़ी और वसूली से बरी करना; कभी का पुराना पड़ चुका आम रजिस्टर बन्दोबस्त संशोधित किया जाये और जब तक आम संशोधन नहीं होता, तब तक के लिए प्रत्येक समुदाय में स्थानीय पैमाने पर संशोधन किया जाये; अन्ततः कृषि की निःशुल्क शिक्षा दी जाये और प्रायोगिक कृषि केन्द्रों की स्थापना की जाये।

जैसा कि हम देखते हैं, किसानों के हितों में उठायी गयी मांगें (मज़दूरों के हितों में उठायी गयी मांगों से फ़िलहाल हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है) बहुत दूरगामी नहीं हैं। उनके कुछ अंश अन्य देशों में पूरे भी हो चुके हैं। काश्तकारों

की मध्यस्थता अदालतों के सम्बन्ध में तो साफ़ कहा ही गया है कि वे आयरिश जैसी हैं। किसानों की सहकारी समितियां राइन तटवर्ती प्रान्तों में क़ायम हो चुके हैं। रजिस्टर बन्दोबस्त का संशोधन कराने की शुभेच्छा समूचे पश्चिमी यूरोप में सभी उदारतावादी, और उदारतावादी ही क्या, नौकरशाह तक निरन्तर व्यक्त करते रहे हैं। कार्यक्रम के अन्य सूत्र भी ऐसे हैं, जिन्हें विद्यमान पूंजीवादी व्यवस्था को विशेष आघात पहुंचाये बिना ही कार्यान्वित किया जा सकता है। ये बातें हम कार्यक्रम के स्वरूप को बतलाने के लिए ही कह रहे हैं, उसकी भर्त्सना करने के लिए नहीं। उसकी भर्त्सना करने की हमारी मंशा नहीं है, बल्कि बात इसके विपरीत ही है।

इस कार्यक्रम से फ़्रांस के भिन्न से भिन्न भागों में भी पार्टी का कारबार ऐसा चमका कि – खाने का स्वाद मिलते ही भूख बढ़ जाती है वाली कहावत के अनुसार – कार्यक्रम को किसानों की पसन्द के और भी अनुरूप बनाने की ज़रूरत महसूस की जाने लगी। लेकिन यह भी महसूस किया गया कि ऐसा करना ख़तरनाक रास्ते पर पांव रखना होगा। किसान की – भावी सर्वहारा के रूप में नहीं, बल्कि आज के मिलकी किसान के रूप में – आम समाजवादी कार्यक्रम के बुनियादी सिद्धान्तों की अवहेलना किये बिना किस प्रकार मदद की जा सकती है? इस एतराज़ से निबटने के लिए नये व्यावहारिक प्रस्तावों के साथ एक सैद्धान्तिक प्रस्तावना जोड़ी गयी, जिसमें यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के अंतर्गत छोटी किसानी सम्पत्ति को नष्ट होने से बचाना समाजवाद के सिद्धान्तों के अनुकूल है, गोकि सब बख़ूबी जानते हैं कि उसका नष्ट होना अनिवार्य है। आइये, हम इस प्रस्तावना की तथा ख़ुद मांगों की, जो इस वर्ष सितम्बर में नांट कांग्रेस में स्वीकृत हुईं, ज़्यादा गहराई से छानबीन करें।

प्रस्तावना इस तरह आरम्भ होती है –

"चूंकि पार्टी के आम कार्यक्रम के पाठ के मुताबिक़ उत्पादक उसी हद तक आज़ाद हो सकते हैं, जिस हद तक वे उत्पादन साधनों के स्वामी हों

"चूंकि उद्योग के क्षेत्र में उत्पादन के इन साधनों का इतना अधिक पूंजीवादी केन्द्रीयकरण हो चुका है कि उन्हें उत्पादकों के हाथों में सामूहिक अथवा सामाजिक रूप में ही लौटाया जा सकता है, परन्तु चूंकि कृषि के क्षेत्र में – कम से कम आज के फ़्रांस में – ऐसी बात कदापि नहीं है, चूंकि वहां उत्पादन साधन, यानी भूमि, बहुतेरे इलाक़ों में अब भी निजी सम्पत्ति के रूप में स्वयं उत्पादकों के हाथों में है

"चूंकि छोटी किसानी सम्पत्ति की इस अवस्था का विनाश भले ही अवश्यंभावी हो (est fatalement appelé à disparaître), इस विनाश को समीप लाना कदापि समाजवाद का कार्य नहीं हो सकता, क्योंकि उसका कार्यभार सम्पत्ति को श्रम से अलग करना नहीं, बल्कि, उल्टे, समस्त उत्पादन के इन दोनों उपकरणों को, ऐसे उपकरणों को, जिनके विलग रहने से श्रमिक सर्वहारा बनकर दासत्व और दरिद्रता के शिकार होते हैं, एक ही हाथ में लाकर उन्हें संयुक्त करना है

"चूंकि एक ओर जहां समाजवाद का यह कर्त्तव्य है कि बड़ी-बड़ी ज़मींदारियों को उनके वर्तमान नाकारा स्वामियों के हाथों से छीनकर उन्हें फिर खेतिहर सर्वहारा के स्वामित्व (सामूहिक अथवा सामाजिक रूप के स्वामित्व) में ले आये, वहां दूसरी ओर उसका उतना ही अनिवार्य कर्त्तव्य यह भी है कि ज़मीन के अपने छोटे-छोटे टुकड़ों को जोतनेवाले किसानों को माल के महकमे, सूदख़ोरों तथा नवोदित बड़े-बड़े ज़मींदारों के अतिक्रमण से बचाकर अपनी ज़मीनों पर उनका क़ब्ज़ा बरक़रार रखे

"चूंकि यह संरक्षण उन उत्पादकों को भी प्रदान करना उपयुक्त है, जो काश्तकार या बंटाईदार (métayers) की हैसियत से दूसरों की ज़मीन जोतते हैं और जो यदि दिहाड़ीदार मज़दूरों का शोषण करते भी हैं, तो एक हद तक उस शोषण से बाध्य होकर ऐसा करते हैं, जिसके वे स्वयं शिकार हैं –

"इसलिए मज़दूरों की पार्टी, जो अराजकतावादियों की तरह सामाजिक व्यवस्था के कायापलट के लिए ग़रीबी की वृद्धि और प्रसार को अपना अवलम्ब नहीं बनाती, बल्कि देहात और शहर दोनों के मेहनतकशों के संगठन और सम्मिलित प्रयासों द्वारा ही, उनके द्वारा शासन एवं विधि-निर्माण पर अधिकार कर लिये जाने के द्वारा ही, श्रम की और पूरे समाज की मुक्ति की आशा करती है, निम्नलिखित कृषि कार्यक्रम स्वीकृत करती है, ताकि ग्रामीण उत्पादन के तत्त्वों को, विभिन्न अधिकारों एवं आगमों के ज़रिये राष्ट्रीय भूमि का उपयोग करनेवाले सभी धन्धों को सामान्य शत्रु – सामन्ती भू-स्वामित्व – के विरुद्ध समान संघर्ष करने के लिए सूत्रबद्ध किया जा सके।"

आइये, अब इन प्रस्तावनाओं की ज़रा ग़ौर से छानबीन करें।

पहली बात यह कि फ़्रांसीसी कार्यक्रम का यह वक्तव्य कि उत्पादकों की स्वतंत्रता के लिए उत्पादन साधनों का स्वामित्व पूर्वमान्य है, उसके बाद ही आनेवाले निम्नांकित वक्तव्य के साथ मिलाकर पढ़ा जाना चाहिए: उत्पादन साधनों का स्वामित्व दो ही रूपों में सम्भव है – या तो व्यक्तिगत स्वामित्व के रूप में, जो आम उत्पादकों के लिए कभी भी और कहीं भी नहीं रहा है और औद्योगिक प्रगति के द्वारा नित्यप्रति अधिकाधिक असम्भव बनाया जा रहा है,

या सम्मिलित स्वामित्व के रूप में, जिसकी भौतिक एवं बौद्धिक पूर्वावस्थाएं स्वयं पूंजीवादी समाज के विकास के द्वारा स्थापित हो चुकी हैं; इसलिए उत्पादन साधनों पर **सार्वजनिक** स्वामित्व स्थापित करने के लिए सर्वहारा को हर उपलब्ध उपाय के ज़रिये ज़रूर संघर्ष करना चाहिए।

अतः यहां उत्पादन साधनों का सम्मिलित स्वामित्व ही एकमात्र प्रधान लक्ष्य निश्चित किया गया है, जिसके लिए प्रयास करना है। और उद्योग में ही नहीं, जहां ज़मीन तैयार हो चुकी है, बल्कि सामान्यतः, अर्थात् कृषि में भी करना है। कार्यक्रम के अनुसार व्यक्तिगत स्वामित्व सभी उत्पादकों को कभी और कहीं भी आम तौर से उपलब्ध नहीं रहा है। इस कारण से और इसलिए भी कि औद्योगिक प्रगति हर सूरत में उसे समाप्त कर देती है, समाजवाद की दिलचस्पी उसे बरक़रार रखने में नहीं, बल्कि उसे समाप्त करने में है, क्योंकि वह जहां है और जिस हद तक है, वहां और उस हद तक वह सम्मिलित स्वामित्व को असम्भव बनाता है। अगर हम अपनी दलील के पक्ष में कार्यक्रम का हवाला देते हैं, तो पूरे कार्यक्रम का हवाला देना चाहिए, जो नांट में उद्धृत प्रस्थापना को बहुत कुछ संशोधित कर देता है, क्योंकि वह अपने में अभिव्यक्त सामान्य ऐतिहासिक सत्य को उन अवस्थाओं पर निर्भर बना देता है, जिनके अन्तर्गत ही वह आज पश्चिमी यूरोप और उत्तर अमरीका में सत्य बना रह सकता है।

अलग-अलग उत्पादकों द्वारा उत्पादन साधनों का स्वामित्व आज के ज़माने में इन उत्पादकों को असली स्वतंत्रता नहीं प्रदान करता। नगरों में दस्तकारी तबाह और बरबाद हो चुकी है, लन्दन जैसे महानगरों में तो वह सम्पूर्णतया लुप्त हो चुकी है, वहां उसकी जगह बड़े पैमाने के उद्योग, पसीना-निचोड़ मशक़्क़त प्रणाली और गोलमाल करनेवाले लोगों ने ले ली जो दिवालियेपन पर फूलते-फलते हैं। न तो स्वावलम्बी छोटे किसान का अपने नन्हे से खेत का स्वामित्व सुरक्षित है, न ही वह स्वतंत्र है। वह स्वयं, उसका घर, उसके खेत-खलिहान सूदख़ोर के हो चुके हैं; उसकी जीविका सर्वहारा की जीविका से भी अधिक अनिश्चित है— सर्वहारा के तो कभी-कभी कुछ दिन शान्ति से कट भी जाते हैं, पर ऋण-दास सदा यंत्रणा की चक्की में पिसता रहता है। दीवानी क़ानून की धारा २१०२ रद्द कर दीजिए, क़ानून द्वारा यह व्यवस्था कर दीजिए कि किसान के खेती के औज़ारों, पशुओं, आदि की एक निश्चित मात्रा क़ुर्क़ी और वसूली से बरी रहेगी, तब भी आप ऐसी आपदाओं से उसे सुरक्षित नहीं कर सकते, जिनमें उसे "स्वेच्छापूर्वक" अपने पशुओं को बेचने को बाध्य होना पड़ता है और अपने

शरीर तथा अपनी आत्मा दोनों को सूदख़ोर के हाथों में बन्धक रखना पड़ता है, ताकि वह थोड़ी-सी मोहलत पाकर आराम की सांस ले सके। छोटे किसान को उसकी सम्पत्ति के साथ सुरक्षित रखने की आपकी चेष्टा उसके स्वातंत्र्य को नहीं, बल्कि दासत्व के उसके ख़ास रूप को सुरक्षित बनाती है। वह एक ऐसी स्थिति को दीर्घता प्रदान करती है, जिसमें न वह जी सकता है, न मर सकता है। इसलिए अपने तर्क की पुष्टि के लिए अपने कार्यक्रम का पहला अनुच्छेद उद्धृत करना यहां सर्वथा असंगत है।

प्रस्तावना में कहा गया है कि वर्तमान फ़्रांस में उत्पादन साधन, यानी भूमि, अनेक इलाक़ों में अब भी व्यक्तिगत उत्पादकों के हाथों में उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति की हैसियत से है; लेकिन समाजवाद का काम यह नहीं है कि सम्पत्ति को श्रम से अलग करे, उल्टे, उसका काम यह है कि समग्र उत्पादन के इन दो उपकरणों को एक ही हाथ में रखकर उन्हें संयुक्त करे। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, श्रम को सम्पत्ति से मिलाने का काम इस सामान्य रूप में समाजवाद का काम कदापि नहीं है। बल्कि समाजवाद का काम उत्पादन साधनों को उत्पादकों के हाथ में, उनकी **सम्मिलित सम्पत्ति** के रूप में, अन्तरित करना है। इसे आंखों से ओझल कर देते ही उपरोक्त प्रस्थापना सीधे-सीधे भ्रामक बन जाती है, क्योंकि इसका मतलब यह हो जाता है कि समाजवाद का ध्येय मानो छोटे किसानों के वर्तमान मिथ्या भू-स्वामित्व को असली सम्पत्ति बनाना है, अर्थात् छोटे काश्तकार को स्वामी बनाना और ऋणग्रस्त स्वामी को ऋणमुक्त स्वामी बनाना है। निस्सन्देह समाजवाद किसानों के स्वामित्व के झूठे दिखावे को मिटाने में दिलचस्पी रखता है, पर इस ढंग से नहीं।

जो भी हो, हम अब वहां पहुंच गये हैं, जहां प्रस्तावना खुलेआम घोषणा करती है कि समाजवाद का यह कर्त्तव्य है, वस्तुतः उसका यह अनिवार्य कर्त्तव्य है कि

"ज़मीन के अपने छोटे-छोटे टुकड़ों को जोतनेवाले किसानों को माल के महकमे, सूदख़ोरों तथा नवोदित बड़े-बड़े ज़मींदारों के अतिक्रमण से बचाकर अपनी ज़मीनों पर उनका क़ब्ज़ा बरक़रार रखे।"

इस तरह प्रस्तावना समाजवाद के ऊपर एक ऐसा काम करने का अनिवार्य कर्त्तव्य लाद देती है, जिसे वह इसके पहले के अनुच्छेद में असम्भव घोषित कर

चुकी थी। वह उस पर छोटी जोतों पर किसानों के स्वामित्व को "बरक़रार" रखने का ज़िम्मा डालती है, जबकि वह ख़ुद यह घोषित करती है कि स्वामित्व के इस रूप का "विनाश अवश्यम्भावी है"। माल का महकमा, सूदख़ोर और नवोदित बड़े-बड़े ज़मींदार वे साधन ही तो हैं, जिनके ज़रिये पूंजीवादी उत्पादन यह अवश्यम्भावी विनाश निष्पन्न करता है। "समाजवाद" इस त्रिमूर्त्ति से किसानों की रक्षा के लिए क्या उपाय करे, इसे हम आगे देखेंगे।

पर केवल छोटे किसान के ही स्वामित्व की रक्षा नहीं करनी है। इसी प्रकार

"यह संरक्षण उन उत्पादकों को भी प्रदान करना उपयुक्त है, जो काश्तकार या बंटाईदार (métayers) की हैसियत से दूसरों की ज़मीन जोतते हैं और जो यदि दिहाड़ीदार मज़दूरों का शोषण करते हैं, तो एक हद तक उस शोषण से बाध्य होकर ऐसा करते हैं, जिसके वे स्वयं शिकार हैं।"

यहां पहुंचकर हमें दंग रह जाना पड़ता है। समाजवाद उजरती श्रम के शोषण का ख़ास तौर से विरोध करता है। पर यहां कहा जाता है कि समाजवाद का यह अनिवार्य कर्त्तव्य है कि फ़्रांसीसी काश्तकारों की तब रक्षा करे, जब वे "दिहाड़ीदार मज़दूरों का **शोषण करते हैं**"। (ये हूबहू मूलपठा के शब्द हैं!) और यह इसलिए किया जाये कि वे एक हद तक "उस शोषण से बाध्य होकर ऐसा करते हैं, जिसके वे स्वयं शिकार हैं"!

लेकिन बर्फ़ की गाड़ी को एक बार ढलान पर छोड़ देने पर नीचे फिसलते जाना बहुत ही सहज और सुखप्रद होता है। जर्मनी के बड़े और मझोले किसान अगर फ़्रांसीसी समाजवादियों के पास आकर कहें कि ज़रा जर्मन पार्टी की कार्यकारिणी समिति से कहकर हमें अपने फ़ार्मों के सेवक-सेविकाओं का शोषण करने में जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी का संरक्षण दिलवा दीजिये और यह दलील पेश करें कि हम सूदख़ोरों, तहसीलदारों, ग़ल्ले के सट्टेबाज़ों और मवेशियों के व्यापारियों के "शोषण के स्वयं शिकार हैं", तो ये लोग भला उनको क्या जवाब दे सकते हैं? और इसकी भी क्या गारंटी है कि हमारे बड़े-बड़े ज़मींदार इन लोगों के पास काउंट कानिट्ज़ को यह कहने के लिए नहीं भेजेंगे (उसने तो ग़ल्ले के आयात पर राज्य की इजारेदारी क़ायम करने का सुझाव पेश किया था) कि खेतिहर मज़दूरों के हमारे शोषण को समाजवादी संरक्षण प्रदान किया जाये, क्योंकि हम स्टॉक-एक्सचेंज के सट्टेबाज़ों, महाजनों और ग़ल्ले के आढ़तियों-सटोरियों के "शोषण के स्वयं शिकार हैं"?

हां, हम यहां यह भी कह दें कि हमारे फ़ांसीसी दोस्तों की नीयत वैसी बुरी नहीं है, जैसा कि समझा जा सकता है। हमें बताया गया है कि उपरोक्त वाक्य केवल एक विशेष स्थिति के लिए है, जो यह है: उत्तरी फ़ांस में, हमारे चुक़न्दर उपजानेवाले ज़िलों की तरह, किसानों को चुक़न्दर की ही खेती करने के लिए अत्यन्त दुःसह शर्तों पर ज़मीन पट्टे पर दी जाती है। उन्हें अपना चुक़न्दर निर्धारित मिल को मिल द्वारा निश्चित भाव पर देना होता है, ख़ास बीज ही ख़रीदना पड़ता है, किसी निर्धारित खाद की निश्चित मात्रा इस्तेमाल करनी होती है और इस सब के बाद जब वे मिल में चुक़न्दर पहुंचाते हैं, तो वहां बुरी तरह ठगे जाते हैं। जर्मनी में भी ऐसा ही होता है, और हम सभी इससे अवगत हैं। लेकिन यदि इसी कोटि के किसानों को संरक्षण प्रदान करना है, तो यह साफ़-साफ़ और खुलकर कहना चाहिए था। अभी जिस रूप में उपरोक्त वाक्य लिखा गया है, वह अपने असीमित आम रूप में, फ़ांस के कार्यक्रम का ही प्रत्यक्ष अतिक्रमण नहीं करता, बल्कि आम तौर पर समाजवाद के बुनियादी सिद्धान्त का भी अतिक्रमण करता है और अगर, उसके लेखकों की मंशा के विपरीत, कुछ हलक़ों में इस लापरवाहीभरे सम्पादन का उनके विरुद्ध इस्तेमाल किया जाये, तो उनके लिए शिकायत करने का कोई आधार नहीं रहेगा।

इसी तरह प्रस्तावना के अन्तिम शब्द भी ऐसे हैं कि उनकी ग़लत व्याख्या की जा सकती है। कहा गया है कि समाजवादी मजदूर पार्टी का काम है कि वह

"ग्रामीण उत्पादन के सभी तत्त्वों को, विभिन्न अधिकारों एवं आगमों के ज़रिये राष्ट्रीय भूमि का उपयोग करनेवाले सभी धन्धों को सामान्य शत्रु – सामन्ती भू-स्वामित्व – के विरुद्ध समान संघर्ष के लिए सूत्रबद्ध करे।"

मैं इसका स्पष्ट खण्डन करता हूं कि किसी देश की समाजवादी मज़दूर पार्टी का यह कर्त्तव्य है कि अपने अन्दर खेतिहर मज़दूरों और छोटे किसानों के अलावा, मझोले तथा बड़े किसानों को और शायद बड़ी-बड़ी जागीरों के काश्तकारों को भी तथा पूंजीवादी पशुपालकों और राष्ट्रीय भूमि के अन्य पूंजीवादी उपयोगकर्त्ताओं को सूत्रबद्ध करे। सामन्ती भू-स्वामित्व इन सभी को सामान्य शत्रु प्रतीत हो सकता है। ख़ास-ख़ास सवालों पर हम उनके साथ कन्धे से कन्धा मिला सकते हैं और कुछ निश्चित लक्ष्यों के लिए उनके साथ एक होकर लड़ सकते हैं। अपनी पार्टी में हम किसी भी सामाजिक वर्ग के व्यक्ति हो सकते हैं, पर पूंजीवादी, मध्यम-पूंजीवादी या

मझोला किसान हितों का प्रतिनिधित्व करनेवाला कोई भी समूह पार्टी में नहीं हो सकता। यहां भी असली मंशा ऐसी बुरी नहीं, जैसी कि वह ज्ञात होती है। ज़ाहिर है कि प्रस्तावना के लेखकों ने इन बातों को सोचा ही नहीं। दुर्भाग्यवश, उन्होंने सामान्यीकरण के अधिक उत्साह में अपने को बहे जाने दिया और अब यदि कोई उनके शब्दों को उनके ख़िलाफ़ इस्तेमाल करे, तो उनको चकित नहीं होना चाहिए।

प्रस्तावना के बाद स्वयं कार्यक्रम का नव-स्वीकृत परिशिष्ट आता है। प्रस्तावना की ही तरह परिशिष्ट में भी वही लापरवाहीभरा सम्पादन साफ़ दिखाई देता है।

वह धारा जिसमें कहा गया है कि समुदाय कृषि मशीनें ख़रीद करके इन्हें लागत ख़र्च पर किसानों को किराये पर दें, संशोधित करके यों बना दी गयी है कि प्रथमतः समुदाय इस कार्य के लिए राज्य से आर्थिक सहायता प्राप्त करें और द्वितीयतः छोटे किसानों को ये मशीनें उपयोग के लिए मुफ़्त दें। यह अतिरिक्त रियायत छोटे किसानों के लिए, जिनकी ज़मीन और उत्पादन पद्धति में मशीनों के इस्तेमाल की गुंजायश प्रायः नहीं होती, विशेष काम की चीज़ नहीं होगी।

इसके अलावा

"३,००० फ़्रैंक से ऊपर की आमदनी पर वर्तमान सभी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों को हटाकर केवल एक आरोही कर लगाने की" बात कही गयी है।

प्रायः सभी सामाजिक-जनवादी कार्यक्रमों में कई सालों से इस तरह की मांग शामिल की जाती रही है। लेकिन इस मांग का छोटे किसानों के विशेष हित में पेश किया जाना एक नयी चीज़ है और इससे ज़ाहिर होता है कि उसके वास्तविक दायरे को कितना कम समझा गया है। ब्रिटेन को ले लीजिए। वहां राज्य बजट की कुल रक़म ६ करोड़ पौंड स्टर्लिंग है, जिसमें से १ करोड़ ३५ लाख से लेकर १ करोड़ ४० लाख तक का स्रोत आय कर है। बाक़ी ७ करोड़ ६० लाख का अल्पतर भाग कारोबार पर कर लगाकर (डाक, तार, स्टाम्प टैक्स) प्राप्त किया गया है, पर उसका अधिकतर हिस्सा आम खपत के सामानों पर लगाये गये महसूलों से, आबादी के सभी सदस्यों की, ख़ासकर उसके ग़रीब हिस्सों की आमदनी में से छोटी-छोटी, न मालूम पड़नेवाली रक़मों की लगातार कटौती के ज़रिये करोड़ों पौंड जमा करके हासिल किया गया है। आधुनिक समाज

में किसी अन्य उपाय से राज्य-व्यय निकालना सम्भव ही नहीं है। मान लीजिए कि ब्रिटेन की ६ करोड़ पौंड की पूरी आमदनी १२० पौंड (३,००० फ्रैंक) और उससे अधिक की आयों से आरोही प्रत्यक्ष कर द्वारा प्राप्त की जाती है। औसत वार्षिक संचय, समग्र राष्ट्रीय सम्पदा की वार्षिक वृद्धि, जिफ़ेन के कथनानुसार १८६५ से १८७५ तक २४ करोड़ पौंड स्टर्लिंग रही। मान लीजिए कि यह अब ३० करोड़ वार्षिक हो गयी है; ऐसी हालत में ६ करोड़ कर का बोझ समग्र संचय का लगभग एक तिहाई खा जायेगा। दूसरे शब्दों में, सिवा समाजवादी सरकार के और कोई सरकार ऐसा कार्य करने का बीड़ा नहीं उठा सकती। पर जब सत्ता समाजवादियों के हाथ में होगी, तो उनके सामने ऐसे-ऐसे कार्य पूरे करने को रहेंगे, जिनके आगे यह कर-सुधार महज़ वक़्ती, और अत्यन्त महत्त्वहीन समाधान ज्ञात होगा। दूसरी ओर छोटे किसानों के लिए कुछ और ही प्रकार की सम्भावनाओं के द्वार उन्मुक्त हो जायेंगे।

पर लगता है कि कार्यक्रम के लेखकों ने यह महसूस किया है कि इस कर-सुधार के लिए किसानों को दीर्घ काल तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, इसलिए "तब तक के लिए" (en attendant) उन्हें निम्नलिखित आस बंधायी गयी है:

"अपने श्रम पर जीनेवाले सभी किसानों के लिए ज़मीन पर सभी कर मिटा दिये जायें तथा रेहन रखे सभी खेतों पर इन करों को घटा दिया जाये।"

इस मांग का दूसरा भाग ऐसे किसानों के फ़ार्मों के ही सम्बन्ध में हो सकता है, जो इतने बड़े हैं कि अकेला एक परिवार उन्हें नहीं चला सकता। अतः, यह व्यवस्था भी "दिहाड़ीदार मज़दूरों का शोषण करनेवाले" किसानों के हक़ में है।

फिर कहा गया है—

"शिकार और मछली मारने का अबाध अधिकार प्रदान किया जाये, सिर्फ़ इतना ही बन्धन रहे, जितना शिकार योग्य पशु-पक्षियों और मछलियों के अधिरक्षण के लिए और उगती फ़सल की हिफ़ाज़त के लिए आवश्यक हो।"

यह मांग बहुत लोकप्रिय ज्ञात होती है, पर वाक्य का पिछला भाग पहले भाग को मिटा देता है। आज भी सभी देहाती इलाक़ों को मिलाकर हर किसान

परिवार के पीछे कितने ख़रगोश, तीतर, पाइक तथा कार्प मछलियां होंगी? क्या इनकी संख्या इससे अधिक होगी कि हर किसान को शिकार करने और मछली मारने की साल में कुल **एक** दिन से अधिक की खुली छूट दी जा सके?

"सूद की क़ानूनी और रिवाजी दर को घटाया जाये"—

यानी सूदख़ोरी के विरुद्ध नये सिरे से क़ानून पास किया जाये। यह ऐसी आरक्षी कार्रवाई करने की नये सिरे से चेष्टा करना है, जो पिछले दो हज़ार वर्षों से सर्वत्र और सदा व्यर्थ सिद्ध होती आ रही है। यदि कोई छोटा किसान अपने को ऐसी स्थिति में पाये, जहां सूदख़ोर के पास जाना ही उसे कम अनिष्टकर ज्ञात होता हो, तो सूदख़ोर सूदख़ोरी-सम्बन्धी क़ानूनों के चंगुल में आये बिना उस किसान का ख़ून चूसने के तरीक़े हमेशा निकाल लेगा। अधिक से अधिक इस कार्रवाई से छोटे किसानों को सान्त्वना भर प्राप्त हो सकती है,—उन्हें कोई लाभ नहीं मिल सकता। बल्कि उन्हें सख़्त जरूरत के वक़्त ऋण प्राप्त करने में और भी कठिनाई हो जायेगी।

"निःशुल्क चिकित्सा सेवा और लागत दाम पर दवाएं"—

जो भी हो, यह ऐसा पग नहीं है, जिससे ख़ास तौर पर किसानों का संरक्षण होता हो। जर्मन कार्यक्रम इससे भी आगे जाता है—वह दवा भी मुफ़्त देने की मांग करता है।

"फ़ौजी सेवा के लिए बुलाये गये रिज़र्व सैनिकों की सेवा के दौरान उनके परिवारों को मुआवज़ा दिया जाये"—

जर्मनी और आस्ट्रिया में यह व्यवस्था पहले से ही है, अत्यन्त अपर्याप्त रूप में ही सही यह भी ख़ास किसानों से सम्बन्धित मांग नहीं है।

"खाद, कृषि मशीनों और उपज का परिवहन शुल्क घटाया जाये"—

निम्नतर शुल्क जर्मनी में लागू हो चुका है और वह भी मुख्यतः बड़े ज़मींदारों के हितार्थ।

"भूमि की उर्वरता बढ़ाने और कृषि उत्पादन का विकास करने के हेतु एक सार्वजनिक निर्माण योजना तैयार करने के लिए फ़ौरन आयोजनात्मक कार्य आरम्भ किया जाये" –

इस मांग में भी सब कुछ अनिश्चितता और सब्ज़ बाग़ की दुनिया में छोड़ दिया गया है। इसके अलावा इससे सर्वोपरि बड़ी ज़मींदारियों के हितों की पूर्त्ति होती है।

संक्षेप में, प्रस्तावना में भारी सैद्धान्तिक प्रयासों के बाद नये कृषि कार्यक्रम के व्यावहारिक सुझाव में यह बात और भी अस्पष्ट रह जाती है कि फ़ांसीसी मज़दूर पार्टी किस तरह छोटे किसानों को अपनी छोटी जोतों पर, जिनका उसके अपने कथनानुसार ही विनाश अवश्यम्भावी है, क़ायम रखने की उम्मीद रखती है।

२

एक बात हमारे फ़ांसीसी साथी सोलहों आना ठीक कहते हैं: छोटे किसानों की **इच्छा के विरुद्ध** फ़ांस में स्थायी प्रकार का कोई भी क्रांतिकारी रद्दोबदल सम्भव नहीं है। पर यदि वे सचमुच किसानों को अपने प्रभाव में लाना चाहते हैं, तो मेरा ख़याल है कि इसका सही साधन उनके पास नहीं है।

ऐसा लगता है कि वे झटपट, बन बड़े, तो अगले आम चुनाव तक ही, छोटे किसानों को अपनी ओर कर लेना चाहते हैं। ऐसा वे जोखिम भरे आश्वासनों के ज़रिये ही कर सकने की उम्मीद कर सकते हैं, और इन जोखिम भरे आश्वासनों के समर्थन में इनसे भी अधिक जोखिम भरे सैद्धान्तिक विचार पेश करने को मजबूर हैं। इसके बाद, ग़ौर से देखने पर प्रगट होता है कि ये आश्वासन परस्पर विरोधी हैं (ऐसी स्थिति को बरक़रार रखने का वादा किया जाता है, जिसका – जैसा कि वे स्वयं ही कहते हैं – विनाश अवश्यम्भावी है)। और जिन पगों की बात की जाती है, वे या तो पूरी तौर से बेकार हैं (जैसे, सूदख़ोरी विरोधी क़ानून) या वे मज़दूरों की आम मांगें हैं, या ऐसी मांगें हैं, जो बड़े ज़मींदारों के लिए भी हितकर हैं, अथवा वे ऐसी मांगें हैं, जो छोटे किसानों के हित-साधन के लिए कोई विशेष महत्त्व ही नहीं रखतीं। फलतः कार्यक्रम का प्रत्यक्ष व्यावहारिक अंश उसके ग़लत आरम्भिक अंश का संशोधन कर देता है

और प्रस्तावना के प्रतीयमान तड़कीले-भड़कीले शब्दजाल को व्यवहार में सर्वथा निरीह बना देता है।

आइये, साफ़-साफ़ कह दें: हम छोटे किसानों के आम जन-समुदाय को, उनकी सम्पूर्ण आर्थिक स्थिति, उनकी ख़ास ढंग की शिक्षा-दीक्षा और उनकी अलग-थलग जीवन-विधि से उत्पन्न पूर्वाग्रहों को देखते हुए, जिनको पूंजीवादी अख़बार और बड़े जमींदार यत्नपूर्वक जीवित रखते और पुष्ट करते हैं, तभी झटपट अपने साथ ला सकते हैं, जबकि उनसे ऐसे वादे करें, जिनके बारे में हम ख़ुद जानते हैं कि हम उनका पालन नहीं कर सकेंगे। यानी, हम उनसे यह वादा करें कि उन्हें आक्रान्त करनेवाली सभी आर्थिक शक्तियों से उनकी सम्पत्ति की हर हालत में रक्षा की जायेगी, बल्कि उन्हें उन भारों से भी मुक्त किया जायेगा, जिनसे वे पहले से ही दबे हुए हैं: काश्तकार को स्वतंत्र भूमिधर किसान बना दिया जायेगा और बन्धक के बोझ से दबकर दम तोड़ते हुए खेत के मालिकों के क़र्ज़ भरे जायेंगे। यदि हम ऐसा कर भी सकें, तो हम फिर उस बिन्दु पर पहुंच जायेंगे, जहां से वर्तमान स्थिति अनिवार्यतः फिर नये सिरे से उत्पन्न होगी। हम किसान को मुक्ति नहीं, सिर्फ़ मोहलत दिलायेंगे।

लेकिन हमारा हित इस बात में नहीं है कि किसानों को रातों रात अपनी ओर कर लें, ताकि अगले ही दिन हमारे अपने वादे पूरे न हो सकने के कारण वे हाथ से निकल जायें। जिस तरह सदा के लिए स्वामी बनने का स्वप्न देखनेवाला छोटा दस्तकार पार्टी सदस्य के रूप में हमारे लिए बेकार है, उसी तरह वह किसान भी बेकार है, जो यह आशा करता है कि हम छोटी जोत रूपी उसकी सम्पत्ति को स्थायित्व प्रदान करेंगे। ऐसे लोग तो यहूदी विरोधियों के उपयुक्त हैं। वे उन्हीं के पास जायें और उनसे अपने छोटे-छोटे उद्यमों के उद्धार के वादे हासिल करें। जब उनके भड़कीले शब्दजाल का वास्तविक अर्थ उनको मालूम हो जायेगा और वे देख लेंगे कि यहूदी विरोधियों के स्वर्गलोक से उनकी ओर कैसी संगीत-लहरी प्रवाहित की जाती है, तो वे अधिकाधिक मात्रा में अनुभव करेंगे कि कम वादे करनेवाले तथा बिल्कुल भिन्न दिशा से मुक्ति की आशा करनेवाले हम लोग अधिक विश्वसनीय हैं। यदि फ़ांसीसियों के यहां भी हमारे यहां की तरह यहूदी विरोधियों की गला-फाड़ नारेबाज़ी होती, तो वे नांट वाली ग़लती न होने देते।

तब फिर छोटे किसानों के प्रति हमारा क्या रुख़ हो? सत्तारूढ़ होने के दिन हमें उनके साथ किस तरह पेश आना होगा?

पहले, फ्रांसीसी कार्यक्रम का निम्नांकित कथन बिल्कुल सही है: हम पहले से जानते हैं कि छोटे किसानों का विनाश अवश्यम्भावी है, पर हमारा यह काम नहीं कि अपनी ओर से किसी तरह का हस्तक्षेप करके उस दिन को नज़दीक लायें।

दूसरे, यह भी उतना ही स्पष्ट है कि जब हमारे हाथों में राज्य-सत्ता आयेगी, तब हम बलपूर्वक छोटे किसानों की सम्पत्ति (बामुआवज़ा या बिला मुआवज़ा) छीनने की – जो काम हमें बड़े ज़मींदारों के मामले में करना पड़ेगा – बात भी नहीं सोचेंगे। छोटे किसानों के सम्बन्ध में हमारा कार्य प्रथमतः उनके निजी उद्यम और निजी स्वामित्व को सहकारी उद्यम और स्वामित्व में अंतरित करना होगा, और यह बलपूर्वक नहीं, बल्कि उदाहरण पेश करके तथा सामाजिक सहायता देकर किया जायेगा। कहने की ज़रूरत नहीं कि उस समय छोटे किसानों को ऐसे भावी लाभ, जो उन्हें आज भी स्पष्ट होंगे, दिखाने के हमारे पास प्रचुर साधन होंगे।

आज से प्रायः २० वर्ष पूर्व डेनमार्क के समाजवादी, जिनके देश में वस्तुतः एक ही शहर, कोपेनहेगेन, है, और इसलिए जिन्हें प्रायः सम्पूर्णतः उसके बाहर, किसानों के बीच प्रचार-कार्य पर निर्भर करना होता है, ऐसी ही योजनायें तैयार कर रहे थे। गांव या पैरिश* के किसान (डेनमार्क में अनेक बड़े-बड़े निजी फ़ार्म हैं) अपनी-अपनी ज़मीन मिलाकर एक बड़ा फ़ार्म संगठित करेंगे, जिस पर मिलजुलकर खेती की जायेगी और उपज उनकी भूमि, धन और श्रम के अनुपात से बांटी जायेगी। डेनमार्क में छोटी भूमि-सम्पत्ति गौण भूमिका अदा करती है। पर यदि उपरोक्त विचार को हम छोटी जोतों वाले किसी इलाक़े में प्रयोग में लायें, तो हम देखेंगे कि इन जोतों को मिलाकर कुल क्षेत्र में बड़े पैमाने की खेती करने से अभी तक लगी श्रम-शक्ति का एक भाग बेकार बच रहेगा। श्रम की यह बचत ही बड़े पैमाने की कृषि का एक प्रधान लाभ है। इस श्रम-शक्ति को दो तरीक़ों से काम में लगाया जा सकता है। या तो पड़ोस की बड़ी जागीरों से अतिरिक्त ज़मीन लेकर वह किसानों के सहकारी संस्थान के हाथों में दी जाये, या, किसानों को गौण धन्धों के रूप में, प्रथमतः और जहां तक सम्भव हो, अपने ही इस्तेमाल के लिए, औद्योगिक कारोबार करने के साधन और अवसर प्रदान किये जायें। दोनों ही हालतों में उनकी आर्थिक स्थिति सुधरती है और इसके

---

*एक गिरजाघर और एक पादरी के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आनेवाला इलाक़ा। – सं०

साथ ही ग्राम सामाजिक निर्देशन करनेवाले निकाय को यह सुनिश्चित प्रभाव प्राप्त होता है कि वह किसानों के सहकारी संस्थान को उच्चतर स्तर के संस्थान में परिवर्तित कर सके, और पूरे सहकारी संस्थान के तथा उसके अलग-अलग सदस्यों के अधिकारों और कर्त्तव्यों को समूचे समुदाय के अन्य भागों के अधिकारों और कर्त्तव्यों की बराबरी पर ला सके। अलग-अलग मामलों में इस पर किस तरह अमल किया जायेगा, यह उस मामले की परिस्थितियों पर तथा उन अवस्थाओं पर निर्भर करेगा, जिनके अन्तर्गत हम राजनीतिक सत्ता पर अधिकार करेंगे। शायद इस तरह हम इन सहकारी संस्थानों को और भी सुविधाएं प्रदान करने की स्थिति में हों: यानी उनके समूचे रेहन-क़र्ज़ को राष्ट्रीय बैंक अपने ज़िम्मे ले सकता है और साथ ही ब्याज की दर में बहुत बड़ी कटौती की जा सकती है; बड़े पैमाने का उत्पादन आरम्भ करने के लिए सार्वजनिक कोषों से ऋण दिया जा सकता है (यह ऋण लाज़िमी तौर से या मुख्यत: मुद्रा के रूप में न दिया जाकर आवश्यक सामानों – मशीनों, कृत्रिम खादों, आदि के रूप में दिया जा सकता है); इसी प्रकार अन्य सुविधाएं भी दी जा सकती हैं।

मुख्य बात यह है कि किसानों को साफ़-साफ़ समझा दिया जाये कि उनके घरों और खेतों को सहकारिता के आधार पर संचालित सहकारी सम्पत्ति में परिवर्तित करके ही हम उन्हें उनके लिए बचा सकते और बरक़रार रख सकते हैं। व्यक्तिगत स्वामित्व पर आधारित व्यक्तिगत कृषि ही किसानों का विनाश अवश्यम्भावी बनाती है। यदि वे व्यक्तिगत संचालन पर अड़े रहेंगे, तो वे अनिवार्यत: घर-द्वार से निकाल बाहर किये जायेंगे और बड़े पैमाने का पूंजीवादी उत्पादन उनकी पुरानी-धुरानी उत्पादन पद्धति का स्थान ग्रहण कर लेगा। यही वस्तुस्थिति है। हम तो उन्हें स्वयं बड़े पैमाने का उत्पादन करने का अवसर प्रदान करते हैं, पूंजीपतियों के उपयोग के लिए नहीं, बल्कि स्वयं अपने सम्मिलित उपयोग के लिए। क्या किसानों को यह समझाना असम्भव है कि यह उनके ही हित में है, कि यही उनके उद्धार का एकमात्र मार्ग है?

छोटी जोत वाले किसानों को हम न तो आज और न ही भविष्य में कभी यह आश्वासन दे सकते हैं कि पूंजीवादी उत्पादन की प्रचण्ड शक्ति से उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति और उनके व्यक्तिगत उद्यम की रक्षा की जा सकती है। हम उन्हें इतना ही आश्वासन दे सकते हैं कि हम बलपूर्वक, उनकी इच्छा के विरुद्ध, उनके स्वामित्व सम्बन्धों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। इसके अलावा हम इस बात की हिमायत कर सकते हैं कि आइन्दा छोटे किसानों के विरुद्ध पूंजीपतियों और बड़े

ज़मींदारों का संघर्ष अनुचित साधनों का कम से कम इस्तेमाल करते हुए चले और सीधे-सीधे की जानेवाली लूट-खसोट और ठगी, जो आजकल धड़ल्ले से चलती है, जहां तक सम्भव हो, बन्द हो जाये। अपने इस आग्रह में हम कुछ ही मामलों में, जो अपवादस्वरूप ही होंगे, सफल हो सकते हैं। विकसित पूंजीवादी उत्पादन पद्धति में यह कोई भी नहीं बता सकता कि ईमानदारी और ठगी की सीमारेखा कहां पर है। पर इससे अवश्य बहुत बड़ा फ़र्क़ पड़ेगा कि राजनीतिक सत्ता किस के पक्ष में है—ठगे जानेवालों के पक्ष में, या ठगनेवालों के पक्ष में। कहने की ज़रूरत नहीं कि हम निश्चित रूप में छोटे किसान के पक्ष में हैं; उसकी हालत को अधिक सह्य बनाने के लिए, यदि वह सहकारी रूप से खेती करने का निर्णय करता है, तो उसके लिए यह संक्रमण सहज और सुविधापूर्ण बनाने के लिए, यहां तक कि ऐसा निर्णय करने में उसके असमर्थ होने की सूरत में उसे इस मामले में ग़ौर करने का वक़्त देने के ख़याल से उसे एक लम्बे अरसे तक अपनी जोत पर क़ाबिज़ रहने देने के लिए भी वह सब कुछ करेंगे जो सम्भव है। हम यह सिर्फ़ इसलिए नहीं करेंगे कि छोटे किसान को जो अपना काम आप करता है, हम कार्यतः अपना समझते हैं, बल्कि इसलिए भी कि यह पार्टी के प्रत्यक्ष हित में है। सर्वहारा की पांतों में जबरन् ढकेले जाने से हम जितने ही अधिक किसानों को बचा सकें, जितने अधिक को किसान रहते हुए ही हम अपनी ओर कर सकें, उतनी ही जल्दी और आसानी से सामाजिक कायापलट सम्पन्न होगा। इस कायापलट को तब तक टालने से, जब तक कि पूंजीवादी उत्पादन सर्वत्र अपनी चरम परिणति पर न पहुंच जाये और हर छोटा दस्तकार और हर छोटा किसान बड़े पैमाने के पूंजीवादी उत्पादन का शिकार न बन जाये, हमारा कोई हितसाधन नहीं होगा। इसके लिए किसानों के हितार्थ जो माली क़ुर्बानी करनी होगी, जिसकी पूर्ति सार्वजनिक कोष से की जायेगी, वह पूंजीवादी अर्थतंत्र के दृष्टिकोण से पैसों की बरबादी मानी जा सकती है, किन्तु वस्तुतः वह धन का अत्युत्तम विनियोग है, क्योंकि उससे आम सामाजिक पुनःसंगठन के ख़र्च में सम्भवतः दस गुनी बचत होगी। अतः इस अर्थ में किसानों के साथ हम अत्यन्त उदारता का व्यवहार करने में समर्थ हैं। तफ़सील में जाने की, ठोस सुझाव रखने की यह जगह नहीं है, हम यहां आम सिद्धान्तों की ही विवेचना कर सकते हैं।

अतः ऐसे वादे करने से, जैसे कि यह कि हम छोटी जोत को स्थायी रूप से बरक़रार रखना चाहते हैं, हम पार्टी का और छोटे किसानों का और बड़ा अहित नहीं कर सकते। ऐसा करने का मतलब सीधे-सीधे किसानों की मुक्ति का

मार्ग अवरुद्ध कर देना और पार्टी को हुल्लड़बाज़ यहूदी विरोधियों के निम्न स्तर पर ले आना होगा। इसके विपरीत, हमारी पार्टी का यह कर्त्तव्य है कि किसानों को बारम्बार स्पष्टता के साथ जताये कि पूंजीवाद का बोलबाला रहते हुए उनकी स्थिति पूर्णतया निराशापूर्ण है, कि उनकी छोटी जोतों को इस रूप में बरक़रार रखना एकदम असम्भव है, कि बड़े पैमाने का पूंजीवादी उत्पादन उनके छोटे उत्पादन की अशक्त, जीर्ण-शीर्ण प्रणाली को उसी तरह कुचल देगा, जिस तरह रेलगाड़ी ठेलागाड़ी को कुचल देती है। ऐसा करके हम आर्थिक विकास की अनिवार्य प्रवृत्ति के अनुरूप कार्य करेंगे। और यह विकास एक न एक दिन छोटे किसानों के मन में हमारी बात को बैठाये बिना नहीं रह सकता।

प्रसंगवश यह भी कह दूं कि मैं विषय को अपना यह विश्वास व्यक्त किये बिना समाप्त नहीं कर सकता कि नांट कार्यक्रम के लेखक भी मूलभूत रूप में वही राय रखते हैं, जो मेरी है। उनकी पैनी दृष्टि उन्हें यह जताये बिना नहीं रह सकती कि इस समय छोटी जोतों में विभक्त क्षेत्रों का आगे चलकर समान सम्पत्ति बनना अवश्यम्भावी है। वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि छोटी जोत वाले स्वामित्व का मिट जाना अवश्यम्भावी है। लफ़ार्ग द्वारा तैयार राष्ट्रीय परिषद् की वह रिपोर्ट भी, जो नांट कांग्रेस में पेश की गयी, इस मत की पुष्टि करती है। यह रिपोर्ट इस वर्ष १८ अक्तूबर को बर्लिन के *«Sozialdemokrat»* में प्रकाशित हुई है[178]। नांट कार्यक्रम में जो परस्पर-विरोधी प्रस्थापनाएं हैं, वे स्वयं प्रगट करती हैं कि उसके लेखक दरअसल जो कहते हैं, वह वही नहीं है, जो वे कहना चाहते हैं। बेशक उनकी बात यदि समझी नहीं गयी और उनके वक्तव्यों का दुरुपयोग किया गया – जैसा कि सचमुच हो भी चुका है – तो यह उनकी अपनी ग़लती है। जो भी हो, उन्हें अपने कार्यक्रम का स्पष्टीकरण करना होगा और अगली फ़्रांसीसी कांग्रेस को उसमें संपूर्णतः संशोधन करना होगा।

अब हम अधिक बड़े किसानों के विषय पर आते हैं। यहां पैतृक सम्पत्ति के बंटवारे के तथा ऋणग्रस्तता और ज़मीन की मजबूरन् बिक्री के परिणामस्वरूप हम छोटी जोत वाले किसान से लेकर अपनी पैतृक सम्पत्ति को अक्षुण्ण रखने, यहां तक कि उसे बढ़ानेवाले बड़े भूमिधर किसान तक की दरम्यानी मंज़िलों की एक विविधतापूर्ण तसवीर पाते हैं। मझोला किसान जहां छोटी जोत वाले किसानों के बीच रहता है, वहां उसके हित और विचार उनके हित और विचारों से बहुत अधिक भिन्न नहीं होते। वह अपने तजरबे से जानता है कि उसके जैसे कितने ही लोग छोटे किसानों की हालत में पहुंच चुके हैं। पर जहां मझोले और

बड़े किसानों का प्राधान्य होता है और कृषि के संचालन के लिए आम तौर पर नौकरों और नौकरानियों की आवश्यकता होती है, वहां बात बिल्कुल दूसरी ही है। कहने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों की पार्टी को प्रथमतः उजरती मज़दूरों की ओर से, यानी इन नौकरों-नौकरानियों और दिहाड़ीदार मज़दूरों की ओर से ही लड़ना है। किसानों से ऐसा कोई वादा करना निर्विवाद रूप में निषिद्ध है, जिसमें मज़दूरों की उजरती ग़ुलामी को जारी रखना सम्मिलित हो। परन्तु जब तक बड़े और मझोले किसानों का अस्तित्व है, वे उजरती मज़दूरों के बिना काम नहीं चला सकते। इसलिए छोटी जोत वाले किसानों को हमारा यह आश्वासन देना कि वे इस रूप में सदा बने रह सकते हैं, जहां मूर्खता की पराकाष्ठा होगी, वहां बड़े और मझोले किसानों को यह आश्वासन देना ग़द्दारी की सीमा तक पहुंच जाना होगा।

यहां फिर हमारे सामने नगरों के दस्तकारों के समान उदाहरण मौजूद है। यह सही है कि वे किसानों से अधिक तबाह-बरबाद हैं, पर उनमें कुछ अब भी ऐसे हैं, जो शागिर्दों के अलावा मज़दूर कारीगर काम पर लगाते हैं या जिनके यहां शागिर्द मज़दूर कारीगर का काम करते हैं। उन उस्ताद कारीगरों को, जो इस रूप में अपना अस्तित्व चिरस्थायी बनाना चाहते हैं, तब तक के लिए यहूदी-विरोधियों के साथ जाने दीजिये, जब तक कि उन्हें स्वयं विश्वास नहीं हो जाता कि उधर से भी उन्हें कोई सहायता नहीं प्राप्त हो सकती। बाक़ी लोग, जो यह महसूस कर चुके हैं कि उनकी उत्पादन पद्धति का विनाश अवश्यम्भावी है, हमारे साथ आ रहे हैं! इसके अलावा, भविष्य में वे उस हालत के भागीदार बनने को तैयार हैं, जो सभी मज़दूरों की होनेवाली है। यही बात बड़े और मझोले किसानों पर लागू होती है। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि हमारी दिलचस्पी उनसे अधिक उनके नौकरों-नौकरानियों और दिहाड़ीदार मज़दूरों में है। यदि ये किसान यह गारंटी चाहते हैं कि उनका उद्यम जारी रहे, तो हम ऐसा आश्वासन उन्हें देने की स्थिति में नहीं हैं। वे तब यहूदी विरोधियों, किसान संघ वालों और ऐसी ही अन्य पार्टियों में शामिल होंगे, जिन्हें सब कुछ वादा करने और एक भी वादा पूरा न करने में मज़ा आता है। हमें आर्थिक दृष्टि से यह पक्का यक़ीन है कि छोटे किसानों की तरह बड़े और मझोले किसान भी अवश्य ही पूंजीवादी उत्पादन और सस्ते विदेशी ग़ल्ले की होड़ के शिकार बन जायेंगे। यह इन किसानों की भी बढ़ती हुई ऋणग्रस्तता और सभी जगह दिखायी पड़ रही अवनति से सिद्ध हो जाता है। इस अवनति का इसके सिवा हमारे पास

कोई इलाज नहीं है कि उन्हें भी सलाह दें कि वे अपने-अपने फ़ार्मों को एक में मिलाकर सहकारी उद्यमों की स्थापना करें, जिनमें उजरती श्रम के शोषण का अधिकाधिक उन्मूलन होता जायेगा, और जो धीरे-धीरे उत्पादकों के एक महान राष्ट्रीय सहकारी उद्यम के संघटक अंगों में परिवर्तित किये जा सकते हैं, जिनमें प्रत्येक शाखा के अधिकार और कर्त्तव्य समान होंगे। यदि ये किसान यह महसूस करें कि उनकी मौजूदा उत्पादन पद्धति का विनाश अवश्यम्भावी है और इससे आवश्यक सबक़ हासिल करें, तो वे हमारे पास आयेंगे और यह हमारा कर्त्तव्य हो जायेगा कि नयी उत्पादन पद्धति में उनके भी संक्रमण को शक्ति भर सुगम बनायें। अन्यथा हमें उन्हें अपने भाग्य के भरोसे छोड़ देना और उनके उजरती मज़दूरों के पास जाना होगा, जिनके बीच हम सहानुभूति पाये बिना नहीं रह सकते। बहुत सम्भव है कि यहां भी हमें बलात् सम्पत्तिहरण न करना पड़े, और हम इस बात का भरोसा कर सकेंगे कि भविष्य का आर्थिक विकास इन कड़ी खोपड़ियों में भी बुद्धि का प्रादुर्भाव करेगा।

केवल बड़ी-बड़ी ज़मींदारियों का मामला ऐसा है, जो बिल्कुल सीधा और साफ़ है। यहां हमारा सामना खुल पूंजीवादी उत्पादन से होता है, इसलिए यहां किसी भी तरह के संकोच में पड़ने की ज़रूरत नहीं है। यहां हमारे सामने ग्रामीण सर्वहारा का विशाल जन-समुदाय है और हमारा कर्त्तव्य स्पष्ट है। ज्यों ही हमारी पार्टी राज्य-सत्ता प्राप्त करती है, उसे बड़े भू-स्वामियों की सम्पत्ति उसी तरह से ले लेनी चाहिए, जिस तरह उद्योग में कारख़ानेदारों की सम्पत्ति ले ली जायेगी। इसके लिए मुआवज़ा दिया जायेगा या नहीं, यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करेगा कि हम किन परिस्थितियों में सत्ता प्राप्त करते हैं। ख़ासकर यह स्वयं इन सज्जनों के, यानी बड़े-बड़े ज़मींदारों के अपने रुख़ पर निर्भर करेगा। मुआवज़ा हर हालत में अनुचित है, ऐसा हम हरगिज़ नहीं सोचते। मार्क्स ने मुझसे (न जाने कितनी बार!) कहा था कि यदि हम उन सभी को क़ीमत देकर ख़रीद सकें, तो यह सबसे सस्ता पड़ेगा। लेकिन इससे हमारा यहां कोई सरोकार नहीं। इस तरह फिर समाज के हाथों में वापस आ जानेवाली बड़ी-बड़ी ज़मींदारियों को हम उन ग्रामीण मज़दूरों के हवाले करेंगे, जो उन्हें पहले से ही जोतते आये हैं, और जो सहकारी संस्थानों में संगठित किये जायेंगे। हम ज़मीन उनको समाज के नियंत्रण म उनके उपयोग के लिए देंगे। भूमि पर उनके अधिकार की शर्तें क्या होंगी, इसके बारे में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। जो भी हो, पूंजीवादी उद्यम के सामाजिक उद्यम में रूपान्तरण के लिए यहां उसी तरह ज़मीन तैयार

हो चुकी है, जिस तरह श्री क्रुप्प या श्री फ़ॉन स्टुम के कारख़ाने में हो चुकी है और उसे एकदम कार्यान्वित किया जा सकता है। इन कृषि सहकारिताओं का उदाहरण अभी तक अड़े हुए छोटी जोत वाले किसानों को ही नहीं, बल्कि निश्चय ही अनेक बड़े किसानों को भी सहकारी, बड़े पैमाने की कृषि के फ़ायदों के बारे में यक़ीन दिला देगा।

इस तरह हम ग्रामीण सर्वहाराओं के लिए उतना ही सुन्दर भविष्य इंगित कर सकते हैं, जितना सुन्दर भविष्य औद्योगिक मजदूरों के सामने है। और हमारे लिए प्रशा के एल्ब के पूरबी क्षेत्र के खेत मज़दूरों को अपनी ओर लाना सिर्फ़ वक़्त की, वह भी बहुत थोड़े वक़्त की, बात है। एल्ब के पूरबी क्षेत्र के खेत मज़दूरों के हमारे साथ आते ही समूचे जर्मनी में एक नयी हवा बहने लगेगी। एल्ब के पूरबी क्षेत्र के खेत मज़दूरों का वस्तुतः अर्द्ध-भूदासत्व की अवस्था में होना प्रशा की युंकरशाही के प्रभुत्व का मुख्य आधार है और साथ ही वह जर्मनी में प्रशा के विशिष्ट आधिपत्य का मुख्य आधार भी है। एल्ब के पूरबी क्षेत्र के युंकरों ने ही नौकरशाही और फ़ौजी अफ़सरों की जमात के विशिष्ट प्रशियाई स्वरूप को तैयार किया है और वे उसे क़ायम रखे हुए हैं। ऋणग्रस्तता, दरिद्रता और परोपजीविता – राज्य के ख़र्च पर और व्यक्तिगत ख़र्च पर भी – इन युंकरों को अधिकाधिक तबाह और बरबाद किये जा रही हैं, और इस वजह से ये अपने आधिपत्य से और भी बुरी तरह चिपके हुए हैं। इन युंकरों के घमण्ड, हठधर्मी और उद्दण्डता ने ही प्रशियाई जाति के जर्मन साम्राज्य[179] को देश के अन्दर – इस तथ्य के बावजूद कि वह राष्ट्रीय एकता की उपलब्धि का एकमात्र सम्भव रूप होने के नाते इस समय अनिवार्य है – इतना घृणास्पद बना दिया है और रणक्षेत्र में प्राप्त अनेक शानदार विजयों के बावजूद विदेशों में उसकी प्रतिष्ठा धूल में मिला दी है। इन युंकरों की सत्ता इस बात पर आधारित है कि सात पुराने प्रशियाई प्रान्तों के एकसाथ मिले हुए इलाक़े में, अर्थात् साम्राज्य के पूरे प्रदेश के लगभग एक तिहाई भाग में भू-सम्पत्ति – जो यहां सामाजिक और राजनीतिक, दोनों ही सत्ताओं का स्रोत है – उनके हाथों में है, और भू-सम्पत्ति ही नहीं, चुक़न्दर की चीनी के और शराब के कारख़ानों के भी वे ही मालिक हैं। अतः इस इलाक़े के सबसे महत्त्वपूर्ण उद्योग भी उनके ही हाथों में हैं। बाक़ी जर्मनी के न तो बड़े ज़मींदार और न ही बड़े उद्योगपति ऐसी अनुकूल स्थिति में हैं। दोनों में से किसी एक की पूरे राज्य में हुकूमत नहीं चलती। दोनों एक विस्तीर्ण प्रदेश में बिखरे हुए हैं तथा आर्थिक एवं राजनीतिक प्राधान्य प्राप्त करने

के लिए आपस में तथा अपने चारों ओर के अन्य सामाजिक तत्त्वों के साथ प्रतिद्वन्द्विता में जूझ रहे हैं। परन्तु प्रशियाई युंकरों के इस प्रभुत्व की आर्थिक बुनियाद लगातार धंसती जा रही है। यहां भी राज्य की सारी सहायता के बावजूद (फ्रेडरिक द्वितीय के समय से सहायता की यह मद युंकरों के हर बजट में नियमित रूप से स्थान पा रही है) ऋणग्रस्तता और कंगाली अबाध गति से बढ़ती जा रही हैं। वस्तुगत रूप में क़ायम भू-दासत्व, जिसके सिर पर क़ानून और प्रथा का वरदहस्त है, और इस भू-दासत्व के परिणामस्वरूप उपलब्ध खेत मज़दूरों का अबाध शोषण करने की सम्भावना ही डूबते युंकरों को एकदम विलुप्त होने से अभी तक बचाये हुए हैं। इन मज़दूरों में सामाजिक-जनवाद के बीज डाल दीजिए, उन्हें अपने अधिकारों पर डटने के लिए साहस और एकजुटता प्रदान कीजिए – युंकरों के गौरवपूर्ण दिन ख़त्म हो जायेंगे। वह प्रबल प्रतिक्रियावादी शक्ति, जो जर्मनी के लिए वैसा ही बर्बर, लुटेरा तत्त्व है, जैसा कि रूसी ज़ारशाही समूचे यूरोप के लिए है, पानी के बुलबुले की तरह लुप्त हो जायेगी। प्रशियाई सेना की "चुनिन्दा रेजिमेंटें" सामाजिक-जनवादी बन जायेंगी; इसके फलस्वरूप शक्ति-सन्तुलन में जो परिवर्तन होगा, उसमें संपूर्ण उथल-पुथल की संभावना निहित होगी। लेकिन इसी कारण एल्ब के पूरबी क्षेत्र के ग्रामीण सर्वहारा को अपनी ओर करना पश्चिमी जर्मनी के छोटे किसानों को या दक्षिणी जर्मनी के मझोले किसानों को अपनी ओर करने से कहीं अधिक भारी महत्त्व रखता है। एल्ब के पूरबी प्रशा में ही हमारे ध्येय की निर्णायक लड़ाई अनिवार्यतः लड़ी जायेगी। इसी लिए सरकार तथा युंकरशाही दोनों हमें वहां पहुंचने से रोकने के लिए कोई भी कोशिश उठा नहीं रखेंगी। और यदि हमारी पार्टी के प्रसार को रोकने के लिए नयी हिंसापूर्ण कार्रवाइयां की जायेंगी, जैसा कि हमें धमकाया गया है, तो उनका प्रधान उद्देश्य एल्ब के पूरबी क्षेत्र के ग्रामीण सर्वहारा को हमारे प्रचार से बचाना होगा। पर इससे हमारे लिए कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। इसके बावजूद हम विजयी होंगे।

१५ तथा २२ नवम्बर
१८९४ के बीच लिखित।
«*Die Neue Zeit*», Bd. 1,
अंक १०, १८९४–१८९५,
में प्रकाशित।
हस्ताक्षर: **फ्रेडरिक एंगेल्स**

अंग्रेज़ी से अनूदित।

कार्ल मार्क्स तथा फ़्रेडरिक एंगेल्स

चिट्ठी-पत्री

प० ल० लावरोव को एंगेल्स का पत्र

लन्दन में

लन्दन, १२–१७ नवम्बर, १८७५

प्रिय लावरोव,

जर्मनी से लौटने के बाद अन्ततः मुझे आपका लेख देखने का मौक़ा मिला। उसे मैंने बहुत दिलचस्पी से पढ़ा[180]। मैं इस लेख पर अपनी टीकाएं भेज रहा हूं। इन्हें जर्मन भाषा में लिखा है क्योंकि इस भाषा में मैं अधिक संक्षिप्त रूप से लिख सकता हूं।

१) डार्विन द्वारा प्रतिपादित शिक्षा में मैं **विकासक्रम के सिद्धान्त** को स्वीकार करता हूं। परन्तु प्रमाण की डार्विन की विधि (अस्तित्व के लिए संघर्ष, प्राकृतिक वरण) को मैं नये खोजे गये तथ्य की मात्र पहली, अस्थायी, असर्वांगपूर्ण अभिव्यक्ति मानता हूं। डार्विन के समय तक ठीक वे लोग, जो आज सर्वत्र अस्तित्व के लिए **संघर्ष** ही देख रहे हैं (फ़ोग्ट, बुख़नर, मोलेशात, आदि), जैव प्रकृति में ठीक **सहयोग** पर जोर दिया करते थे, यह लक्षित किया करते थे कि वनस्पति जगत पशु जगत को आक्सीजन तथा पोषक तत्त्व देता है, इसके उलट पशु जगत पौधों को कार्बनिक अम्ल और खाद मुहैया करता है जिस पर लिबिग ने ख़ास तौर पर जोर दिया था। दोनों अवधारणाएं एक ख़ास सीमा तक उचित हैं। लेकिन जितनी एकांगी तथा संकुचित एक अवधारणा है, उतनी ही एकांगी तथा संकुचित दूसरी अवधारणा है। प्रकृति में पिंडों की – निर्जीव तथा सजीव – अन्तःक्रिया में सामंजस्य तथा टकराव, संघर्ष तथा सहयोग दोनों शामिल हैं। इसलिए यदि कोई स्वयम्भू प्रकृति-विज्ञानी पूरे ऐतिहासिक विकास को उसकी सारी समृद्धि तथा विविधता समेत एकांगी बताने तथा महज़ "अस्तित्व के लिए संघर्ष" सूत्र तक, उस सूत्र तक, जिसे प्रकृति के क्षेत्र तक में केवल cum grano salis* स्वीकार किया जा सकता है, सीमित करने का साहस

---

* काफ़ी सावधानी के साथ। शाब्दिक अनुवाद – चुटकी भर नमक के साथ। – सं०

करता है तो उसकी इस विधि में वस्तुतः अपनी निन्दा निहित होती है।

२) आप जिन तीन "क़ायल डार्विनपंथियों" की चर्चा करते हैं, उनमें, ज़ाहिर है, केवल हेल्वाल्ड उल्लेखनीय हैं। सेइदलिट्ज़ तो हद से हद एक मामूली हस्ती हैं और राबर्ट बीर उपन्यासकार हैं जिनका 'तीन बार' नामक उपन्यास «*Über Land und Meer*»[181] पत्रिका में प्रकाशित हो रहा है। उनकी पूरी शेखियों के लिए वही उपयुक्त स्थान है।

३) आपने प्रहार की जो विधि अपनायी है, मैं उनके लाभों से इन्कार नहीं करता। उसे मैं मनोवैज्ञानिक कहूंगा। परन्तु मैं दूसरी विधि अपनाता। हममें से हर एक कमोबेश उस बौद्धिक परिवेश से प्रभावित होता है जिसमें हम अधिकतर रहते हैं। रूस के लिए, जहां आप अपनी जनता को मुझसे बेहतर जानते हैं, तथा एक प्रचार पत्रिका के लिए जो "संयतकारी प्रभाव"*, नैतिक भावना को स्पर्श करती है, आपकी विधि शायद बेहतर है। जर्मनी के लिए, जहां झूठी भावुकता इतनी हानि पहुंचा चुकी है तथा अब भी पहुंचा रही है, वह ठीक नहीं रहेगी, उसे ग़लत समझा जायेगा, भावुकतापूर्ण ढंग से तोड़ा-मरोड़ा जायेगा। हमारे देश में प्यार से ज़्यादा घृणा – कम से कम तात्कालिक भविष्य में – तथा किसी भी अन्य वस्तु की तुलना में जर्मन भाववाद के अन्तिम अवशेषों से मुक्त होने और भौतिक तथ्यों को उनके ऐतिहासिक अधिकारों के साथ स्थापित करने की आवश्यकता है। इसलिए मैं इन पूंजीवादी डार्विनपंथियों पर निम्नलिखित ढंग से प्रहार करना चाहूंगा – और शायद वक़्त आने पर करूंगा –

अस्तित्व के संघर्ष की डार्विन की पूरी शिक्षा हॉब्स के bellum omnium contra omnes** सिद्धान्त और माल्थस के आबादी के सिद्धान्त समेत प्रतिद्वन्द्विता-सम्बन्धी पूंजीवादी आर्थिक सिद्धान्त का समाज से सजीव प्रकृति के क्षेत्र में महज़ स्थानान्तरण है। यह बाज़ीगरी दिखायी जा चुकने के बाद (मैं इसकी निर्विवाद सत्यता को चुनौती दे चुका हूं, जैसा कि मैंने, जहां तक माल्थसियाई सिद्धान्त का सम्बन्ध है, पहले मुद्दे में लक्षित किया है), वही सिद्धान्त कार्बनिक प्रकृति से इतिहास में स्थानान्तरित किये जाते हैं, और अब

---

* यह अंश लावरोव के लेख से उद्धृत किया गया है; "संयतकारी" शब्द एंगेल्स द्वारा रूसी में लैटिनी अक्षरों में लिखा गया है। – सं०

** सब के विरुद्ध सब का युद्ध, – हॉब्स की कृति 'नागरिक' में पाठकों के लिए भूमिका तथा 'लेवियाथन' से उद्धृत, अध्याय १३–१४। – सं०

यह दावा किया जाता है कि मानव समाज के शाश्वत नियमों के रूप में उनकी वैधता सिद्ध हो चुकी है। इस क्रियाविधि में निहित भोलापन इतना स्पष्ट है कि इसके बारे में कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु अगर मैं मामले की और तह में जाना चाहता तो मुझे उनका सबसे पहले घटिया **अर्थशास्त्रियों** के रूप में और उसके बाद जाकर ही ख़राब प्रकृति-विज्ञानियों और दार्शनिकों के रूप में चित्रण करना चाहिए।

४) मानव तथा पशु समाज में मूल अन्तर इस तथ्य में निहित है कि पशु हद से हद **संग्रहीत करते** हैं जबकि मनुष्य **उत्पादित करते** हैं। यही एकमात्र परन्तु मौलिक अन्तर पशु जगत के नियमों को मानव समाज में स्थानान्तरित करना सरासर असम्भव बनाता है। जैसा कि आपने ठीक ही कहा है, यह

"मनुष्य के लिए अस्तित्व के वास्ते ही नहीं, वरन् अपने आनन्द के वास्ते तथा **आनन्द में वृद्धि के वास्ते** संघर्ष करना*... उत्कृष्ट आनन्द के हेतु निकृष्ट आनन्द का परित्याग करने के वास्ते तैयार होना"** सम्भव बनाता है।

इससे आपके आगे के निष्कर्षों को चुनौती दिये बिना मैं अपने पूर्वाधार से अग्रसर होते हुए ये निष्कर्ष प्रस्तुत करूंगा—एक ख़ास मंज़िल में मनुष्य द्वारा किया जानेवाला उत्पादन इतने ऊंचे स्तर पर पहुंच जाता है कि आवश्यक वस्तुओं का ही नहीं, वरन् विलास सामग्रियों का भी—निस्सन्देह आरम्भ में केवल अल्पसंख्या के लिए—उत्पादन होता है। अस्तित्व के लिए संघर्ष—यदि हम इस प्रवर्ग को कुछ देर के लिए वैध मान लें—इस तरह आनन्द के लिए संघर्ष में रूपान्तरित कर दिया जाता है, **आजीविका** के साधन मात्र के लिए नहीं, वरन् **विकास के,** विकास के **सामाजिक रूप से उत्पादित** साधनों के लिए। और पशु जगत से प्राप्त प्रवर्ग इस मंज़िल पर लागू होने योग्य नहीं रह जाते। परन्तु, जैसा कि अब हो चुका है, यदि अब उत्पादन अपने पूंजीवादी रूप में अस्तित्व तथा विकास के साधन पूंजीवादी समाज में हो सकनेवाली खपत से कहीं ज्यादा मात्रा में इसलिए पैदा करता है कि वह वास्तविक उत्पादकों के बहुत बड़े समूह को अस्तित्व तथा

---

*मोटे टाइप का एंगेल्स द्वारा उपयोग।—सं०

**यह अंश लावरोव के लेख से उद्धृत किया गया है और एंगेल्स द्वारा रूसी में लैटिनी अक्षरों में लिखा गया है।—सं०

विकास के इन साधनों से कृत्रिम रूप से पृथक रखता है; यदि यह समाज जीवन के स्वयं अपने नियमों द्वारा निरन्तर यह उत्पादन बढ़ाने के लिए विवश हो जाता है जो उसके लिए पहले से ही बहुत ज़्यादा हो और इसलिए समय-समय पर, हर दस वर्ष में, ऐसी जगह पहुंच जाता है जहां वह बहुत बड़ी मात्रा में उत्पाद ही नहीं, वरन् स्वयं उत्पादक शक्तियों तक को भी नष्ट करने के लिए विवश हो जाता है, तो फिर "अस्तित्व के लिए संघर्ष" की इन सारी बातों का अर्थ ही क्या रह जाता है? अस्तित्व के लिए संघर्ष तब केवल इसमें निहित हो सकता है कि उत्पादक वर्ग उत्पादन तथा वितरण का प्रबन्ध उस वर्ग से छीनकर अपने हाथ में ले ले जिसको यह काम अब तक सौंपा गया था परन्तु जो उसे सम्भालने में अब असमर्थ है, और ठीक यही समाजवादी क्रान्ति है।

प्रसंगतः, पूर्ववर्ती इतिहास पर मात्र क्रमिक वर्ग-संघर्षों के रूप में दृष्टिपात करने से ही इस अवधारणा का सतहीपन स्पष्ट हो जाता है कि यह इतिहास "अस्तित्व के लिए संघर्ष" का थोड़ा-सा ही परिवर्तित रूप है। इसलिए मैं इन मिथ्या प्रकृतिवेत्ताओं पर कभी यह अनुग्रह नहीं करूंगा।

५) इसी कारण मैं तदनुसार आपकी निम्नलिखित इस प्रस्थापना को, जो मूलतः सही है, बदल देता कि

"संघर्ष को सुगम बनाने के लिए ऐक्यबद्धता का विचार अन्ततः... इतना विकसित है कि वह पूरी मानवजाति को अपनी परिधि में ले आये तथा ऐक्यबद्ध होकर रहनेवाले भाई-बंधुओं के समाज के रूप में उसे शेष संसार के, खनिजों, पौधों तथा पशुओं के संसार के मुक़ाबले में खड़ा कर सके।"*

६) दूसरी ओर, मैं आपकी इस बात से सहमत नहीं हो सकता कि "सब के विरुद्ध सब का संघर्ष" मानव विकास का पहला दौर था। मेरी राय में सामाजिक सहजप्रवृत्ति वानर से मानव बनने के विकासक्रम में सबसे महत्त्वपूर्ण उत्तोलकों में से एक थी। प्रथम मानव झुंडों में जीवन यापन करते रहे होंगे और हम जहां तक अतीत में झांक सकते हैं, यही स्थिति पाते हैं।

*यह अंश लावरोव के लेख से उद्धृत किया गया है और एंगेल्स द्वारा रूसी में लैटिनी अक्षरों में लिखा गया है। —सं०

१७ नवम्बर।

मेरे काम में फिर से विघ्न पड़ा और मैं फिर से यह पत्र लिखना शुरू कर रहा हूं ताकि इसे आज ही भेज सकूं। आप देख ही रहे होंगे कि मेरी टीकाएं आपके प्रहार के सार से नहीं, वरन् उसके रूप तथा विधि से सम्बन्धित हैं। मुझे आशा है कि आप उन्हें पर्याप्त रूप से स्पष्ट पायेंगे। मैंने उन्हें जल्दी-जल्दी में लिखा है, और उन्हें दुबारा पढ़ने पर मेरे मन में उनमें काफ़ी परिवर्तन करने की इच्छा पैदा हुई। परन्तु मुझे डर है कि ऐसा करने से पत्र पढ़ने में बहुत दिक़्क़त होगी...

अंग्रेज़ी से अनूदित।

विल्हेल्म ब्लास को
मार्क्स का पत्र
हैम्बर्ग में

लन्दन, १० नवम्बर १८७७

...मैं "नाराज़ नहीं हूं" (जैसा हाइने कहते हैं)* और न ही एंगेल्स हैं।[182] हमें लोकप्रियता की रत्ती भर भी परवाह नहीं है। इसका एक सबूत, मिसाल के तौर पर, यह है कि व्यक्ति पूजा के प्रति विरक्ति के कारण मैंने यह कभी गवारा नहीं किया कि इंटरनेशनल के अस्तित्व के काल में मेरे पास विभिन्न देशों से प्रशंसा के जो अनगिनत संदेश आये वे प्रचार के क्षेत्र में पहुंच जायें, न ही मैंने, सिवा कभी-कभी झिड़की देने के, उनका कभी जवाब ही दिया। जब एंगेल्स ने और मैंने गुप्त कम्युनिस्ट समाज** में प्रवेश किया, हमने यह शर्त लगायी थी कि नियमावली से वे तमाम बातें निकाल दी जायेंगी जो सत्ता में अंधविश्वास को प्रोत्साहन देने की प्रवृत्ति रखती हैं (बाद में लासाल ने अपना असर उलटी दिशा में डाला)...

अंग्रेज़ी से अनूदित।

---

*हाइने, 'काव्य लहरिया', कविता १८।—सं०

**कम्युनिस्ट लीग, देखें प्रस्तुत संस्करण, खण्ड ३, भाग १।—सं०

कार्ल काउत्स्की को एंगेल्स का पत्र

वियेना में

लन्दन, १२ सितम्बर १८८२

...आपने पूछा है कि अंग्रेज़ मज़दूर औपनिवेशिक नीति के बारे में क्या सोचते हैं? ठीक वही, जो वे सामान्य राजनीति के बारे में सोचते हैं: वही कुछ, जो पूंजीपति सोचते हैं। यहां मज़दूरों की पार्टी नाम की कोई चीज़ नहीं, यहां केवल कन्ज़र्वेटिव और लिबरल-रेडिकल पार्टियां हैं, और मज़दूर उनसे मिलकर इंगलैंड के औपनिवेशिक एकाधिकार तथा उसके विश्व बाज़ार पर एकाधिकार का ख़ूब मज़े से उपभोग करते हैं। मेरा मत है कि जिन देशों को हम यथार्थ रूप से उपनिवेशों का नाम दे सकते हैं, अर्थात् ऐसे देश, जिनमें यूरोपीय आबादी जाकर बस गयी है, – कनाडा, केप*, आस्ट्रेलिया, – सभी स्वतंत्र हो जायेंगे। दूसरी ओर, ऐसे अधीनस्थ देशों की बागडोर, जहां देशी लोग बसते हैं, – अर्थात् भारत और अल्जीरिया तथा हालैण्ड, पुर्तगाल और स्पेन द्वारा अधिकृत देशों की बागडोर, – कुछ समय के लिए सर्वहारा वर्ग को अपने हाथ में लेनी चाहिये और उन देशों को जल्दी से जल्दी स्वाधीनता की ओर ले जाना चाहिए। यह प्रक्रिया कैसे विकसित होगी, कहना कठिन है। भारत में तो शायद – और सचमुच इसकी बड़ी सम्भावना है – क्रान्ति हो जायेगी और चूंकि मुक्ति के पथ पर जानेवाला सर्वहारा वर्ग औपनिवेशिक लड़ाइयां मोल नहीं ले सकता, इसलिये वहां पर क्रान्ति अपने क्रम में चलती रहेगी। इससे, बेशक तरह-तरह की तबाही मचेगी, लेकिन इस प्रकार की बातें क्रान्तियों में अनिवार्य होती हैं। यही कुछ शायद और स्थानों पर, मिसाल के तौर पर अल्जीरिया और मिस्र में भी होगा, और निश्चय ही, यह हमारे लिए सबसे अच्छी बात होगी। स्वदेश में हमारे करने के लिए बहुत कुछ होगा। एक बार यूरोप और उत्तरी अमरीका के पुनर्व्यवस्थित हो जाने पर इतनी अधिक शक्ति फूटेगी और वे ऐसी मिसाल पेश करेंगे कि अर्द्ध-सभ्य देश स्वयं ही उनका अनुकरण करने लगेंगे; आर्थिक ज़रूरतें ही उन्हें ऐसा

---

* केप प्रान्त। – सं०

करने पर मजबूर करेंगी। समाजवादी व्यवस्था तक पहुंचने से पहले इन देशों को कौनसी सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों में से गुज़रना पड़ेगा, हम आज इन बातों के बारे में केवल निरर्थक प्राक्कल्पना ही कर सकते हैं। केवल एक ही बात निश्चित है: विजयी सर्वहारा वर्ग अपनी विजय की जड़ खोदे बिना किसी विदेशी राष्ट्र पर किसी प्रकार के भी वरदान लाद नहीं सकता। परन्तु, बेशक, विभिन्न प्रकार की रक्षात्मक लड़ाइयां इस दायरे से बाहर नहीं हैं...

अंग्रेजी से अनूदित।

फ़्लोरेंस केली-विश्नेवेट्ज़्की को एंगेल्स का पत्र

न्यूयार्क में

लन्दन, २८ दिसम्बर १८८६

...मैं जो भूमिका* लिखूंगा, वह निस्सन्देह पूरी तरह गत दस माहों में अमरीकी मज़दूरों द्वारा की गयी प्रगति के बारे में होगी और स्वभावतः हेनरी जार्ज और उनके भूमि कार्यक्रम को भी स्पर्श करेगी। परन्तु वह उसका विस्तारपूर्वक विवेचन करने का दावा नहीं कर सकती। साथ ही मैं नहीं समझता कि इसके लिए समय आ गया है। बजाय इसके कि वह शुरू से ही सैद्धान्तिक दृष्टि से सर्वथा सही आधार पर आरम्भ हो और अग्रसर हो, यह कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण है कि आन्दोलन फैले, सामंजस्यपूर्ण ढंग से विकसित हो, गहरी जड़ पकड़े तथा अधिक से अधिक अमरीकी सर्वहारा को अपनी परिधि में लाये। बोधगम्यता की सैद्धान्तिक स्पष्टता के लिए इससे बेहतर और कोई रास्ता नहीं है कि स्वयं अपनी ग़लतियों से, अपने कटु अनुभव से सीखा जाये। अवबोधन की सैद्धान्तिक स्पष्टता के लिए एक पूरे बड़े वर्ग के वास्ते इससे और कोई बेहतर रास्ता नहीं है, ख़ास तौर पर सर्वथा व्यावहारिक, सिद्धान्त के प्रति सरासर

---

*एंगेल्स, 'अमरीका में मज़दूर आन्दोलन। "इंगलैंड में मज़दूर वर्ग की दशा" पुस्तक के अमरीकी संस्करण की भूमिका'।—सं०

तिरस्कार भाव अपनानेवाले ऐसे राष्ट्र के लिए जैसा कि अमरीकियों का है। सबसे बड़ी चीज़ यह है कि मज़दूर वर्ग को **एक वर्ग के रूप में** गतिशील बनाया जाये। एक बार यह हो जाने पर वह शीघ्र ही सही दिशा ढूंढ़ लेगा और जो कोई – वह चाहे हेनरी जार्ज हो या पाउडरली – बाधा डालेगा, वह अपने छोटे पंथ के साथ अपने को बाहर फेंका हुआ पायेगा। इसलिए मैं "श्रम-सूरमाओं"[183] को भी आन्दोलन में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारक मानता हूं जिनकी बाहर से हंसी नहीं उड़ायी जानी चाहिए अपितु उनका अन्दर से क्रान्तिकरण किया जाना चाहिए। मैं यह समझता हूं कि अमरीका में रहनेवाले बहुत-से जर्मनों ने एक सशक्त तथा गौरवमय आन्दोलन के, जो उनकी शिरकत के बिना निर्मित हुआ, मुक़ाबले में अपने आयातित सिद्धान्त को, जो सदा बोधगम्य नहीं होता था, एक तरह का एकमात्र जीवन-रक्षक जड़सूत्र बनाने का प्रयत्न कर, उस जड़सूत्र को स्वीकार न करनेवालों से अपने को दूर रखकर भयंकर भूल की। हमारा सिद्धान्त कोई जड़सूत्र नहीं है अपितु विकासक्रम की प्रक्रिया की व्याख्या है जो कई क्रमिक दौरों से गुज़रती है। यह अपेक्षा करना कि अमरीकी पुराने औद्योगिक देशों द्वारा तैयार सिद्धान्त की पूरी जानकारी के साथ आन्दोलन में शामिल होंगे, असम्भव की अपेक्षा करना है। जर्मनों को स्वयं अपने सिद्धान्त के – यदि वे उसे इस तरह समझते हों जिस तरह हमने १८४५–१८४८ में समझा था – अनुसार काम करना चाहिए – वस्तुतः आम मज़दूर वर्ग आन्दोलन में भाग लेना, उसके वास्तविक प्रस्थान-बिन्दु को उसी रूप में स्वीकार करते हुए और यह लक्षित करते हुए उसे धीरे-धीरे सैद्धान्तिक स्तर तक ऊपर उठाना चाहिए कि हर ग़लती, हर विफलता मूल कार्यक्रम की ग़लत सैद्धान्तिक प्रस्थापनाओं का आवश्यक परिणाम थी। 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' के शब्दों में उन्हें वर्त्तमान के आन्दोलन में आन्दोलन के भविष्य का प्रतिनिधित्व करना चाहिए*। परन्तु सर्वोपरि आन्दोलन को सुदृढ़ होने दीजिये, आरम्भ काल में अनिवार्य भ्रमों को लोगों पर जबरन् वह चीज़ जिसे वे इस समय ठीक तरह नहीं समझ सकते लेकिन जिसे वे जल्द ही समझ जायेंगे, थोपकर इन भ्रमों को और भी न उलझायें। सही अर्थों में मज़दूर पार्टी के लिए आगामी नवम्बर में १०–२० लाख वोट सैद्धांतिक दृष्टि से किसी सर्वांगपूर्ण कार्यक्रम के लिए एक लाख वोटों से बेहद महत्त्वपूर्ण हैं। जन आन्दोलन को राष्ट्रीय पैमाने पर एकजुट करने का प्रथम प्रयास – यदि आन्दोलन प्रगति करता है तो

---

*देखें प्रस्तुत संस्करण, खण्ड १, भाग १। – सं०

यह प्रयास शीघ्र किया जाना चाहिए – उन सब को : जार्जपंथियों, "श्रम-सूरमाओं", ट्रेड यूनियनवादियों तथा दूसरे सब को आमने-सामने ले आयेगा। यदि तब तक हमारे जर्मन मित्र वाद-विवाद कर सकने लायक़ देश की भाषा सीख जायेंगे तो फिर उनके पास दूसरों के विचारों की आलोचना करने के लिए समय होगा और विभिन्न दृष्टिकोणों की असंगतियां दिखाकर वे मज़दूरों को धीरे-धीरे अपनी वास्तविक स्थिति, पूंजी तथा उजरती श्रम के अन्तःसम्बन्ध द्वारा पैदा हुई स्थिति समझने की दिशा में ले जा सकेंगे। परन्तु मज़दूर पार्टी के इस राष्ट्रीय सुदृढ़ीकरण को – उसका आधार कोई भी कार्यक्रम क्यों न हो – विलम्बित या रोकनेवाली किसी भी चीज़ को मैं बहुत बड़ी ग़लती मानूंगा। इसलिए मैं नहीं समझता कि हेनरी जार्ज या "श्रम-सूरमाओं" में से किसी के बारे में पूरी तरह तथा विशद रूप से बात करने का समय आ गया है...

अंग्रेज़ी से अनूदित।

कोनराद श्मिद्त को एंगेल्स का पत्र

बर्लिन में

लन्दन, ५ अगस्त १८९०

...वियेना के *«Deutsche Worte»* में मैंने मनहूस मोरिस विर्थ[184] द्वारा पॉल बार्थ की पुस्तक[185] की समालोचना देखी है। इस समालोचना ने उस पुस्तक के बारे में भी मेरे मन में प्रतिकूल प्रतिक्रिया पैदा की है। मैं उसे पढ़ूंगा। लेकिन अगर मोरिस का यह कहना ठीक है कि बार्थ ने लिखा है कि दर्शन, आदि के अस्तित्व की भौतिक अवस्थाओं पर अवलम्बित होने का मार्क्स की समूची कृतियों में उन्हें एकमात्र उदाहरण यह मिला कि देकार्त ने जानवरों को मशीन कहा है, तो ऐसा लिखनेवाले आदमी पर मुझे तरस आता है। और अगर इस आदमी को अभी यह नहीं पता चल सका है कि यद्यपि अस्तित्व की भौतिक अवस्थाएं ही primum agens * हुआ करती हैं, तथापि इसका यह अर्थ

* मूल कारण। – सं०

नहीं है कि बौद्धिक क्षेत्र भौतिक अवस्थाओं पर जवाबी असर नहीं डालते – भले ही यह असर गौण हो, – तो वह सम्भवतः उस विषय को ही नहीं समझता जिस पर उसने क़लम उठायी है। पर जैसा कि मैं कह चुका हूं, ये सब बातें दूसरे के माध्यम से मिली हैं और मोरिस ख़तरनाक दोस्त है। इतिहास की भौतिकवादी धारणा के ऐसे दोस्तों की इन दिनों भरमार है जिनके लिए यह धारणा इतिहास का अध्ययन न करने के लिए एक बहाने का काम देती है। वही बात है जो मार्क्स आठवें दशक के अंत के फ़्रांसीसी "मार्क्सवादियों" के बारे में कहा करते थे: "मैं तो इतना ही जानता हूं कि मैं मार्क्सवादी नहीं हूं।"

«Volks-Tribüne» में भी भावी समाज में पैदावार के वितरण के सम्बन्ध में, इस बारे में कि यह वितरण काम की मात्रा के अनुसार होगा या किसी अन्य रीति से, एक बहस चली है।[186] प्रश्न पर न्याय-सम्बन्धी कुछ भाववादी शब्दावली के विपरीत, बड़े ही "भौतिकवादी" ढंग से विचार किया गया। लेकिन अजीब बात यह है कि किसी को यह नहीं सूझा कि वितरण की विधि अन्ततः सारतः इस बात पर निर्भर करती है कि वितरण करने को **कितना कुछ** है, और यह मात्रा निश्चय ही उत्पादन की प्रगति एवं सामाजिक संगठन के साथ परिवर्तित होती रहेगी, इसलिए वितरण की विधि भी बदल जायेगी। लेकिन बहस में हिस्सा लेनेवाले सभी लोगों के लिए "समाजवादी समाज" निरन्तर परिवर्तित होनेवाली और प्रगति करनेवाली वस्तु न होकर एक ऐसी स्थायी वस्तु बनी रही जो सदा के लिए स्थिर है, और इसलिए जिसकी अपनी एक सदा के लिए स्थिर वितरण विधि होनी आवश्यक है। पर बुद्धिसम्मत तो केवल यह कार्य हो सकता है कि हम १) **आरम्भ में** प्रयोग में लायी जानेवाली वितरण विधि को ज्ञात करने की कोशिश करें, और २) उस **सामान्य प्रवृत्ति** को जानने की कोशिश करें जिसके अनुसार आगे विकास होगा। लेकिन पूरी बहस में हम इसके बारे में एक शब्द भी नहीं पाते।

यों तो जर्मनी के अनेक तरुण लेखकों के लिए "भौतिकवादी" शब्द केवल एक खोखले फ़िक़रे का काम देता है जिसे लेबुल के रूप में हर चीज़ पर बिना उसका और अध्ययन किये चिपका दिया जाता है। वे यह लेबुल चिपका देते हैं और सोच लेते हैं कि समस्या निबट गयी। पर इतिहास की हमारी धारणा सर्वोपरि अध्ययन का पथनिर्देशक है, हेगेलीय ढंग से रचना करने का उत्तोलक नहीं। समस्त इतिहास का अवश्य ही नये सिरे से अध्ययन करना चाहिए, समाज की विभिन्न विरचनाओं के अस्तित्व की अवस्थाओं का तफ़सील के साथ अध्ययन

करने के बाद ही उनसे तदनुरूप राजनीतिक, नागरिक व विधि विषयक, सौंदर्य-बोधात्मक, दार्शनिक, धार्मिक, आदि अवधारणाएं निगमित करने की चेष्टा करनी चाहिए। अभी तक इस मामले में जो कुछ किया गया है, वह नगण्य है, क्योंकि बहुत थोड़े ही लोगों ने गम्भीरता के साथ इस काम को अपनाया है। इस क्षेत्र में हमें बड़ी सहायता की ज़रूरत है। यह एक बहुत बड़ा क्षेत्र है, और गम्भीरतापूर्वक काम करनेवाला कोई भी व्यक्ति बहुत कुछ उपलब्ध कर सकता और नाम कमा सकता है। लेकिन यह करने के बदले, हमारे बहुत से अपेक्षाकृत युवा जर्मन ऐतिहासिक भौतिकवाद के फ़िक़रे को (और हम हर चीज़ को फ़िक़रों में तबदील कर सकते हैं) केवल इस काम के लिए इस्तेमाल करते हैं कि अपने ऐतिहासिक ज्ञान से जो अपेक्षाकृत स्वल्प है (आर्थिक इतिहास अभी शैशवावस्था में ही है!) जल्द से जल्द एक पूरी पद्धति रच डालें। और फिर वे अपने को बड़ा मेधावी समझने लगते हैं। फिर कोई बार्थ प्रकट हो सकता है और इस चीज़ पर प्रहार कर सकता है, जिसे उसकी मण्डली के अन्दर सचमुच महज़ एक फ़िक़रा बना दिया गया है।

परन्तु यह सब कुछ ठीक हो जायेगा। जर्मनी में हम अब इतने शक्तिशाली हैं कि बहुत कुछ झेल सकते हैं। समाजवादियों के विरुद्ध क़ानून ने एक बहुत बड़ा काम यह किया था कि हमें उस ढीठ जर्मन अध्येता से छुटकारा दिला दिया था जिस पर समाजवाद का थोड़ा-सा रंग चढ़ गया था। पर अब तो हम इतने ताक़तवर हो चुके हैं कि जर्मन अध्येता को भी, जिसने फिर बहुत इतराना शुरू कर दिया है, पचा ले सकें। आपने तो ख़ुद ठोस काम किया है और देखा ही होगा कि पार्टी के साथ लग जानेवाले साहित्यिक नौजवानों में से कितने कम राजनीतिक अर्थशास्त्र, राजनीतिक अर्थशास्त्र के इतिहास, व्यापार, उद्योग और कृषि के इतिहास, समाज की विरचनाओं के इतिहास का अध्ययन करने की तकलीफ़ गवारा करते हैं। कितने हैं जो मारेर के नाम के सिवा उसके बारे में कुछ और जानते हों? एक पत्रकार के आत्माहंकार से सब काम हो जाने चाहिए; उसके परिणाम भी उसके ही अनुसार निकलते हैं। लगता है कि इन महानुभावों के ख़याल में मज़दूरों के सामने जैसा-तैसा कुछ भी पेश कर देना ही काफ़ी है। काश, उन्हें पता होता कि मार्क्स सोचा करते थे कि उनकी सर्वोत्तम कृति भी मज़दूरों के लिए पर्याप्त रूप से उत्तम नहीं है, वह मज़दूरों को सर्वोत्कृष्ट से कम कुछ भी देना अपराध समझते थे!

अंग्रेज़ी से अनूदित।

ओटो बयोनिग्क को एंगेल्स का पत्र

ब्रेस्लाऊ में

फ़ोल्कस्टोन, डोवर
के निकट, २१ अगस्त १८९०

...आपके प्रश्नों का[187] मैं संक्षेप में तथा सामान्य रूप से ही उत्तर दे सकता हूं, कारण, ऐसा न करूं तो पहले प्रश्न के ही सम्बन्ध में मुझे एक पोथी लिखनी पड़ जायेगी।

१. मेरे ख़याल में तथाकथित "समाजवादी समाज" कोई ऐसी चीज़ नहीं है, जो बदलती नहीं। अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं की ही तरह, उसे भी इसी रूप में समझना चाहिए कि वह सतत प्रवाह और परिवर्तन की अवस्था में होगा। वर्तमान व्यवस्था से वह स्वभावतया मुख्यतः इस बात में भिन्न है कि उसमें राष्ट्र द्वारा उत्पादन के सभी साधनों के सामूहिक स्वामित्व के आधार पर उत्पादन का संगठन किया जाता है। मेरी समझ में यह बिल्कुल ही व्यावहारिक है कि इस पुनःसंगठन को कल शुरू किया जाये पर उसे धीरे-धीरे पूरा किया जाये। ऐसा करने में हमारे मज़दूर समर्थ हैं, यह उनकी बहुत-सी उत्पादन तथा उपभोक्ता सहकारिताओं से साबित हो जाता है, जो उस सूरत में, जब वे पुलिस द्वारा जानबूझकर चौपट नहीं कर दी जातीं, पूंजीवादी स्टॉक कंपनियों जितनी अच्छी तरह और उनसे कहीं ज़्यादा ईमानदारी के साथ चलायी जाती हैं। मैं नहीं समझ पाता कि समाजवादियों के विरुद्ध क़ानून के ख़िलाफ़ अपने विजयी संघर्ष में मज़दूरों ने राजनीतिक परिपक्वता का जो अद्‌भुत प्रमाण दिया है, उसके बाद आप जर्मनी में जनसाधारण की अनभिज्ञता की बात कैसे कह सकते हैं। मेरी समझ में हमारे तथाकथित बुद्धिजीवियों द्वारा सरपरस्ती के भाव से बहके हुए उपदेश देना कहीं ज़्यादा बड़ी अड़चन है। यह सच है कि हमें अभी भी तकनीशियनों, कृषि-विज्ञानियों, इंजीनियरों, रसायन-विज्ञानियों, वास्तुकलाकारों, आदि की ज़रूरत है परन्तु ज़रूरत पड़ने पर हम हमेशा उन्हें बख़ूबी ख़रीद सकते हैं, जैसे पूंजीपति ख़रीदते हैं, और अगर उनके बीच चन्द ग़द्दारों – और उनके बीच ग़द्दार तो होंगे ही – के साथ सख़्ती की मिसाल पेश कर दी जाये तो वे यह देखेंगे कि हमारे साथ क़ायदे से पेश आना उनके ही हक़ में है। परन्तु इन विशेषज्ञों को – और इनमें मैं स्कूली

अध्यापकों का भी शुमार करता हूं – छोड़ दिया जाये तो हम बाक़ी "बुद्धिजीवियों" के बग़ैर बख़ूबी काम चला सकते हैं। उदाहरण के लिए, आजकल पार्टी के अंदर शिक्षितों और विद्यार्थियों की जो भीड़ चली आ रही है, वह, अगर इन सज्जनों पर क़ायदे के साथ पाबंदी न लगायी गयी, बड़ी अहितकर हो सकती है।

एल्ब नदी के पूर्व की बड़ी-बड़ी ज़मींदारियां सहज ही, समुचित तकनीकी प्रबंध के अधीन, आजकल के रोज़ाना मज़दूरों और खेत-मज़दूरों को पट्टे पर दी जा सकती हैं, और ये लोग इन ज़मींदारियों को मिल-जुलकर चलायेंगे। यदि उपद्रव होते हैं तो इसके लिए ज़मींदार ही ज़िम्मेदार हैं जिन्होंने तमाम मौजूदा स्कूली क़ानूनों का उल्लंघन कर लोगों को बेरहम बना दिया है।

छोटे किसान और आग्रही अति-चतुर बुद्धिजीवी जो जितना कम वे किसी चीज़ को समझते हैं उतना ही ज़्यादा उसे जानने का दावा करते हैं, सबसे बड़ी बाधा हैं।

जनसाधारण के बीच हमारे अनुयायियों की संख्या काफ़ी हो जाये तो बड़े उद्योग धंधों और बड़ी-बड़ी ज़मींदारियों का तेज़ी से राष्ट्रीयकरण किया जा सकता है, बशर्ते कि राजनीतिक सत्ता हमारे हाथ में रहे। थोड़े-बहुत समय के बाद बाक़ी बातें भी होंगी और बड़े पैमाने का उत्पादन पूरी तरह हमारी मर्ज़ी से पूरी-पूरी चलेगा।

आप कहते हैं कि आवश्यक चेतना का अभाव है। अभाव तो है परन्तु वह अभिजात वर्ग तथा पूंजीपति वर्ग से आनेवाले बुद्धिजीवियों के बीच है, जिन्हें इस बात का अनुमान भी नहीं है कि उन्हें मज़दूरों से कितना सीखना है...

अंग्रेज़ी से अनूदित।

जोज़ेफ़ ब्लाख़ को
एंगेल्स का पत्र

कनिग्सबर्ग में

लन्दन, २१ [–२२] सितम्बर १८९०

...इतिहास की भौतिकवादी धारणा के अनुसार, इतिहास का अन्तिम रूप से **चरम** निर्णायक तत्त्व वास्तविक जीवन का उत्पादन और पुनरुत्पादन है। इससे अधिक न मार्क्स ने और न मैंने ही कभी कहा है। अतः यदि कोई इसे तोड़मरोड़कर

यों कहे कि आर्थिक तत्त्व ही **एकमात्र** निर्णायक तत्त्व है, तो वह हमारी प्रस्थापना को निरर्थक, अमूर्त और खोखली शब्दावली मात्र बना देता है। आर्थिक परिस्थिति बुनियाद है, पर ऊपरी ढांचे के विविध तत्त्व – वर्ग-संघर्ष के राजनीतिक रूप और परिणाम – विजयी वर्ग द्वारा संघर्ष में सफलता प्राप्त करने के बाद संस्थापित संविधान, आदि, विधिशास्त्रीय रूप और इनके साथ इन वास्तविक संघर्षों का उन में भाग लेनेवालों के मस्तिष्कों पर अक्स – राजनीतिक, न्यायिक, दार्शनिक सिद्धान्त, धार्मिक मत और जड़सूत्री पद्धतियों के रूप में उनका विकास – ऐतिहासिक संघर्ष के प्रक्रम पर अपना प्रभाव डालते हैं और बहुत जगह तो उनके **रूप** के निर्धारण में इनका ही पलड़ा भारी रहता है। इन सारे तत्त्वों की अन्योन्यक्रिया चलती है जिसमें आकस्मिक घटनाओं के अनन्त समूह के मध्य से (अर्थात् ऐसी चीज़ों और घटनाओं के अनन्त समूह के मध्य से जिनका आन्तरिक सम्बन्ध इतना दूरवर्ती अथवा अप्रमेय होता है कि हम उसे अनुपस्थित अथवा नगण्य मान ले सकते हैं) आर्थिक गति अन्ततोगत्वा अनिवार्य गति के रूप में प्रगट होती है। ऐसा न हो तो इच्छानुसार इतिहास के किसी युग में इस सिद्धान्त को लागू करना गणित के सरलतम समीकरण को हल करने से भी अधिक आसान होता।

हम अपने इतिहास की रचना स्वयं करते हैं, पर प्रथमतः, अति-निश्चित मान्यताओं और अवस्थाओं के अन्तर्गत करते हैं। इनमें आर्थिक मान्यताएं और अवस्थाएं अन्तिम रूप से निर्णायक होती हैं। पर राजनीतिक और अन्य मान्यताएं एवं अवस्थाएं, आदि, यहां तक कि मानव मस्तिष्क पर छायी परम्पराएं भी, एक भूमिका अदा करती हैं, यद्यपि वह निर्णायक नहीं होती। प्रशियाई राज्य भी ऐतिहासिक कारणों से, अन्ततोगत्वा आर्थिक कारणों से, उद्भूत और विकसित हुआ। पर यह कहना कोरा पण्डिताऊपन बघारना होगा कि उत्तर जर्मनी के बहुत सारे छोटे-छोटे राज्यों में से केवल ब्रनदनबर्ग के ही भाग्य में महान शक्ति की भूमिका अदा करना लिखा था जहां उत्तर तथा दक्षिण के आर्थिक भाषागत और धर्म सुधार के उपरान्त धार्मिक अन्तर मूर्तिमान हुए, और ऐसा केवल आर्थिक आवश्यकता के कारण होना था तथा उसमें अन्य तत्त्वों का (सर्वप्रथम इस तथ्य का कि ब्रनदनबर्ग प्रशा के स्वामित्व की वजह से पोलैंड-सम्बन्धी मामलों से और इस कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सम्बन्धों से उलझा हुआ था – ये तत्त्व भी वस्तुतः आस्ट्रियाई राजवंश के गठन में निर्णायक सिद्ध हुए थे) कोई हाथ नहीं था। जर्मनी के अतीतकालीन और समकालीन हर नन्हे राज्य के अस्तित्व की व्याख्या केवल अर्थशास्त्र के ढंग से करने की चेष्टा करना अथवा उच्च जर्मन

व्यंजन-विवर्तन की, जिसे सुडेट से टानस तक फैले पर्वतों के भौगोलिक विभाजन ने चौड़ा करके जर्मनी के आरपार एक विस्तृत दरार का रूप दे दिया है, उत्पत्ति को अर्थशास्त्र के ढंग से समझा देने की कोशिश करना हास्यास्पद है।

दूसरी बात यह है कि इतिहास इस तरह निर्मित होता है कि अन्तिम परिणाम सदा अनेक वैयक्तिक इच्छाओं के द्वन्द्वों से आविर्भूत होता है, जो स्वयं जीवन की अनगिनत विशिष्ट अवस्थाओं द्वारा निर्मित हुई होती हैं। इस प्रकार असंख्य प्रतिच्छेदक शक्तियां होती हैं, शक्ति के समांतर चतुर्भुज की एक अनन्त शृंखला होती है जिससे एक परिणामी उत्पन्न होता है, यही है ऐतिहासिक घटना। इसे हम एक ऐसी शक्ति की उपज के रूप में भी देख सकते हैं जो कुल मिलाकर, **अचेतन रूप से** और इच्छा के अभाव में काम करती है। क्योंकि एक व्यक्ति जो इच्छा करता है, उसे बाक़ी सभी अवरुद्ध कर देते हैं, और जो परिणाम प्रगट होता है, वह ऐसा है जिसकी किसी ने इच्छा नहीं की थी। इस तरह अतीतकालीन इतिहास प्राकृतिक प्रक्रिया के ढंग से अग्रसर होता है और सारतः गति के उन्हीं नियमों के अधीन होता है। लेकिन इस बात से कि वैयक्तिक इच्छाएं, जिनमें से प्रत्येक व्यक्ति वही चाहता है जिसके लिए उस व्यक्ति का शारीरिक गठन और बाह्य, अन्ततः आर्थिक, परिस्थितियां (वैयक्तिक परिस्थितियां अथवा आम समाज की परिस्थितियां) इसे प्रेरित करती हैं, —वह नहीं प्राप्त करतीं जो वे चाहती हैं, बल्कि वे एक सामूहिक मध्यमान में, एक सम्मिलित परिणामी में विलयित हो जाती हैं, यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि उनका मूल्य शून्य के बराबर है। इसके विपरीत, उनमें से प्रत्येक इच्छा परिणामी में योगदान करती है और इस हद तक परिणामी में सम्मिलित होती है।

इसके अलावा मैं आपसे कहूंगा कि इस सिद्धान्त का उसके मूल ग्रंथों से अध्ययन करें, दूसरे के माध्यम से नहीं। ऐसा करना वस्तुतः अधिक आसान है। मार्क्स ने ऐसी कोई चीज़ नहीं लिखी जिसमें इस सिद्धान्त का हाथ न रहा हो। **'लूई बोनापार्त की अठारहवीं ब्रूमेर'*** ख़ास तौर से इसके प्रयोग का एक अति उत्कृष्ट नमूना है। 'पूंजी' में भी अनेक प्रसंग हैं। इसके अलावा आप मेरी कृतियां—'श्री यूजेन ड्यूहरिंग द्वारा विज्ञान में प्रवर्तित क्रान्ति' और 'लुडविग

---

* देखें प्रस्तुत संस्करण, खण्ड १, भाग २।—सं०

फ़ायरबाख़ तथा क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अन्त'* भी देख सकते हैं जिनमें मैंने ऐतिहासिक भौतिकवाद का विशद वर्णन प्रस्तुत किया है; जहां तक मेरी जानकारी है, इससे अधिक विशद वर्णन मौजूद नहीं है।

इसमें, अंशतः, स्वयं मार्क्स का और मेरा दोष है कि हमारे नौजवान लोग कभी-कभी आर्थिक पहलू पर ज़रूरत से ज़्यादा ज़ोर देते हैं। हम लोगों को मुख्य सिद्धान्त पर ज़ोर देना पड़ा था, क्योंकि हमारा सामना उन विरोधियों से था जो उसका खण्डन करते थे, और हम को इसके लिए सदा समय, स्थान और मौक़ा नहीं मिला कि अन्योन्यक्रिया में सम्मिलित अन्य तत्त्वों को अपना उचित स्थान ग्रहण करने देते। पर जहां इतिहास के किसी अंश को पेश करने का, अर्थात् सिद्धान्त के व्यावहारिक प्रयोग का प्रश्न आया, वहां बात और थी, वहां ग़लती की गुंजाइश न थी। पर दुर्भाग्यवश अक्सर ऐसा होता है कि किसी नये सिद्धान्त की मुख्य प्रस्थापनाओं को समझ लेने के बाद – उन्हें भी सदा सही नहीं समझा जाता – लोग यह सोचने लगते हैं कि अब हम पूरे पारंगत हो गये और इसी क्षण से, बिना अधिक बखेड़ा मोल लिये, उसे प्रयोग में ला सकते हैं। इधर हाल के हमारे बहुत-से "मार्क्सवादियों" को मैं इस दोष से मुक्त नहीं मान सकता, क्योंकि इस ओर से भी हैरानी में डाल देनेवाला कूड़ा-कचरा पैदा किया गया है...

अंग्रेज़ी से अनूदित।

कोनराद श्मिद्त को एंगेल्स का पत्र

बर्लिन में

लन्दन, २७ अक्तूबर १८९०

प्रिय श्मिद्त,

अवकाश पाते ही आपको लिख रहा हूं। मेरा ख़याल है कि आपको «*Züricher Post*» वाला काम ज़रूर ले लेना चाहिए। वहां अर्थशास्त्र के विषय में आप बहुत कुछ सीख सकते हैं, ख़ासकर अगर इस बात को बराबर ध्यान

* देखें प्रस्तुत खण्ड, पृ० २१० – २३४। – सं०

में रखें कि आखिर ज़ूरिच तीसरे दर्जे का मुद्रा और सट्टा बाज़ार है, अतः वहां दिमाग़ पर जो अक्स पड़ता है वह दो या तीन बार प्रतिबिम्बित हो चुकने के कारण क्षीण होता है या जानबूझकर विकृत किया हुआ होता है। पर वहां आपको पूरी प्रणाली का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होगा और आप लन्दन, न्यूयार्क, पेरिस, बर्लिन और वियेना के स्टॉक एक्सचेंज की रिपोर्टों का मूल रूप में अध्ययन करने को विवश होंगे जिससे विश्व बाज़ार आपके सामने अपने को मुद्रा और स्टॉक मार्केट के प्रतिबिम्बित रूप में प्रकट करेगा। आर्थिक, राजनीतिक और अन्य प्रतिबिम्ब उसी प्रकार के होते हैं जिस प्रकार मानव चक्षु के प्रतिबिम्ब। वे एक संग्राही लैंस से होकर गुज़रते हैं, इसलिए उल्टे, यानी सिर के बल खड़े दिखाई देते हैं। पर जो स्नायविक प्रणाली उन्हें फिर सीधा करके प्रस्तुत करती है, उसका वहां अभाव है। मुद्रा बाज़ार वाला आदमी उद्योग और विश्व बाज़ार की गति को केवल मुद्रा और स्टॉक मार्केट के प्रतिलोमित प्रतिबिम्ब रूप में ही देखता है, इसलिए परिणाम उसके लिए कारण बन जाता है। इसे मानचेस्टर में मैंने पांचवें दशक में ही देखा था। लन्दन स्टॉक एक्सचेंज की रिपोर्टें उद्योग की गति एवं उसके आवर्ती महत्तमों और अल्पतमों को समझने के लिए बिल्कुल बेकार हुआ करती थीं क्योंकि वहां के लोग सब कुछ की व्याख्या मुद्रा बाज़ार के संकटों से करने की कोशिश करते थे; कहने की ज़रूरत नहीं कि स्वयं ये संकट आम तौर से केवल लक्षण मात्र होते थे। उस समय असल बात यह सिद्ध करना था कि अस्थायी अति-उत्पादन औद्योगिक संकटों का मूल नहीं है। इसलिए इन रिपोर्टों में एक प्रच्छन्न प्रयोजन भी रहता था जो तोड़-मरोड़ के लिए उकसाता था। यह बात अब नहीं रही—कम से कम हमारे लिए तो सदा-सर्वदा के लिए नहीं रही। पर इसके साथ यह भी अवश्य ही सच है कि मुद्रा बाज़ार के अपने पृथक् संकट हो सकते हैं जिनमें उद्योग की प्रत्यक्ष गड़बड़ियों का योगदान गौण होता है या बिल्कुल नहीं होता। यहां, ख़ासकर पिछले बीस वर्षों के इतिहास में हमारे लिए बहुत कुछ है जिसे निश्चित करना और जांचना-परखना है।

जहां सामाजिक पैमाने पर श्रम-विभाजन होता है वहां विभिन्न श्रम प्रक्रियाएं एक दूसरे से स्वतंत्र हो जाती हैं। अन्ततः उत्पादन ही निर्णायक तत्त्व है। पर उत्पादित वस्तुओं का व्यापार ज्यों ही ख़ुद उत्पादन से स्वतंत्र हो जाता है, वह अपनी अलग गति प्राप्त कर लेता है जो कुल मिलाकर उत्पादन से शासित होते हुए भी, ख़ास-ख़ास मामलों में और सामान्य निर्भरता के दायरे में रहते हुए भी, इस नये तत्त्व की प्रकृति में अंतर्निहित अपने ही नियमों का अनुसरण करती है।

इस गति की अपनी अलग अवस्थाएं होती हैं और वह भी अपनी तरफ़ से उत्पादन की गति को प्रभावित करती है। अमरीका की खोज सोने की चाह के कारण हुई जिसने ही पुर्तगालियों को पहले अफ़्रीका जाने को प्रेरित किया था (देखें ज़ेटबर की पुस्तक 'बहुमूल्य धातुओं का उत्पादन'), क्योंकि १४ वीं और १५ वीं शताब्दियों में यूरोप के उद्योग का जो विराट् विस्तार हुआ था, उसने और उसी के अनुरूप अति-विस्तृत व्यापार ने विनिमय के साधन की इतनी बड़ी मांग पेश कर दी थी जिसकी पूर्ति १४५०–१५५० का चांदी का महान देश–जर्मनी–नहीं कर सकता था। १५०० से १८०० के बीच पुर्तगालियों, डचों और अंग्रेज़ों द्वारा भारत विजय का लक्ष्य भारत **से आयात** था–वहां निर्यात करने की बात कोई सपने में भी नहीं सोचता था। पर केवल व्यापार के हितों से प्रतिबंधित इन खोजों और विजयों ने उद्योग पर कितना प्रचण्ड प्रभाव डाला: इन देशों **में निर्यात** करने की आवश्यकताओं ने ही बड़े पैमाने के उद्योग की सृष्टि की और उसका विकास किया।

यही बात मुद्रा बाज़ार पर भी लागू होती है। ज्यों ही मुद्रा का व्यापार मालों के व्यापार से अलग हो जाता है, उसके–उत्पादन और मालों के व्यापार द्वारा लागू की गयी कतिपय अवस्थाओं के अन्तर्गत एवं इन सीमाओं के अन्दर–विकास की अपनी गति हो जाती है, उसके अपने विशेष नियम तथा अवस्थाएं विकसित होती हैं जो उसके अपने स्वरूप द्वारा निर्धारित होती हैं। इसके साथ यदि यह चीज़ भी जोड़ दी जाये कि मुद्रा व्यापार और आगे विकास करते हुए प्रतिभूतियों का व्यापार भी अपने में सम्मिलित कर लेता है और ये प्रतिभूतियां केवल सरकारी काग़ज ही नहीं, बल्कि उद्योग और परिवहन से सम्बन्धित शेयर भी हैं, जिनसे मुद्रा व्यापार उत्पादन के एक भाग के ऊपर, जिससे कुल मिलाकर वह ख़ुद नियंत्रित है, प्रत्यक्ष नियंत्रण प्राप्त कर लेता है, तो हम देखते हैं कि उत्पादन पर मुद्रा व्यापार का प्रतिक्रियामूलक प्रभाव और भी प्रबल एवं जटिल हो जाता है। मुद्रा के व्यापारी रेलों, खानों, इस्पात के कारख़ानों, आदि के स्वामी हैं। उत्पादन के ये साधन दो पहलू हासिल कर लेते हैं: इनका निर्देशन कभी-कभी प्रत्यक्ष उत्पादन के हित में करना पड़ता है, पर कभी-कभी शेयर होल्डरों के–जहां तक कि वे मुद्रा व्यापारी हैं–हित में भी उनका निर्देशन करना पड़ता है। इसका सबसे ज्वलन्त दृष्टान्त उत्तर अमरीकी रेलें है। उनका संचालन सर्वथा जै गोल्ड या वाण्डरबिल्ट जैसे किन्हीं लोगों के रोज़मर्रा के स्टॉक एक्सचेंज के कारोबार पर पूरी तरह आश्रित है, जबकि इस कारोबार का ख़ास रेलों से

ग्रौर परिवहन के साधन के रूप में उनके हितों से कोई लगाव नहीं है। ख़ुद यहां, इंगलैंड में हमने रेलवे कम्पनियों के बीच ग्रपने-ग्रपने प्रदेशों की सीमाग्रों को लेकर दशकों तक झगड़े चलते देखे हैं जिनमें न जाने कितना धन उत्पादन ग्रौर परिवहन के हित में नहीं, बल्कि महज़ ऐसे झगड़ों में फूंक दिया गया जिनका उद्देश्य ग्राम तौर पर इन रेलों में शेयर रखनेवाले मुद्रा व्यापारियों के स्टॉक एक्सचेंज कारोबार में सुविधा पहुंचाना मात्र था।

उत्पादन के माल व्यापार के साथ सम्बन्ध ग्रौर इन दोनों के मुद्रा व्यापार के साथ सम्बन्ध के बारे में ग्रपने विचार को उपरोक्त शब्दों में इंगित करके मैंने सामान्यत: ऐतिहासिक भौतिकवाद के बारे में ग्रापके प्रश्न का साररूप में उत्तर दे दिया है। श्रम-विभाजन के दृष्टिबिन्दु से इसे समझना सबसे ग्रासान है। समाज कुछ ग्राम क्रियाग्रों को जन्म देता है जिनके बिना वह ग्रपना काम नहीं चला सकता। इन क्रियाग्रों के लिए नियुक्त व्यक्ति **समाज के ग्रन्दर** श्रम-विभाजन की एक नयी शाखा गठित करते हैं। इससे उनके विशेष हित पैदा होते हैं जो उन लोगों के हितों से भी भिन्न हैं जिन्होंने उन्हें सत्ता प्रदान की है। वे उन लोगों से स्वतंत्र हो जाते हैं—ग्रौर इस प्रकार राज्य का ग्राविर्भाव होता है। इसके बाद वैसा ही क्रम चलता है जैसे माल व्यापार में ग्रौर बाद में मुद्रा व्यापार में चलता है। यानी नयी स्वतंत्र शक्ति, मुख्यरूपेण उत्पादन की गति का ग्रनुसरण करने के लिए बाध्य होते हुए भी, ग्रपनी ग्रन्तर्निहित सापेक्ष स्वतंत्रता की बदौलत, यानी उस स्वतंत्रता की बदौलत जो एक बार उसके हाथों में सौंपे जाने पर क्रमश: विकसित होती गयी थी, ग्रपनी ग्रोर से भी उत्पादन की ग्रवस्थाग्रों ग्रौर प्रक्रम पर प्रभाव डालती है। यह दो ग्रसमान शक्तियों की ग्रन्योन्यक्रिया है। एक ग्रोर है ग्रार्थिक गति ग्रौर दूसरी ग्रोर है नयी राजनीतिक शक्ति जो ग्रधिकतम स्वतंत्रता प्राप्त करने की कोशिश करती है ग्रौर जो, एक बार स्थापित हो जाने के बाद, ग्रपनी ग्रलग गति से युक्त हो जाती है। कुल मिलाकर, ग्रार्थिक गति ग्रपने मार्ग से ग्रग्रसर होती है, पर उसे राजनीतिक गति की प्रतिक्रिया को भी सहन करना पड़ता है, जिस गति को उसने स्वयं स्थापित किया ग्रौर सापेक्ष स्वतंत्रता प्रदान की। ग्रार्थिक गति को एक ग्रोर राज्य-सत्ता की गति की ग्रौर दूसरी ग्रोर संग-संग उत्पन्न विरोध पक्ष की प्रतिक्रिया को भी सहन करना पड़ता है। जिस तरह ग्रौद्योगिक बाज़ार की गति मुख्यतया तथा ऊपर बतायी जा चुकी शर्तों के साथ मुद्रा बाज़ार में प्रतिबिम्बित होती है, ग्रौर कहने की ज़रूरत नहीं कि **उल्टी होकर** प्रतिबिम्बित होती है, ठीक उसी प्रकार पहले ही से विद्यमान ग्रौर परस्पर

टकराते हुए वर्गों का संघर्ष सरकार और विरोध पक्ष के संघर्ष में प्रतिबिम्बित होता है। और यह भी उल्टा होकर—प्रत्यक्ष नहीं, वरन् अप्रत्यक्ष होकर, वर्ग-संघर्ष के रूप में नहीं, बल्कि राजनीतिक सिद्धान्तों के लिए संघर्ष के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। यह प्रतिबिम्ब इतना विकृत हो चुका होता है कि उसे पहचानने में हमें हज़ारों वर्ष लग गये।

आर्थिक विकास पर राज्य-सत्ता का प्रभाव इन तीनों में से किसी एक प्रकार का हो सकता है: यानी, वह उसी दिशा में चल सकता है जिसमें आर्थिक विकास हो रहा है, तब विकास और तेज़ी से होता है। वह आर्थिक विकास की विपरीत दिशा ग्रहण कर सकता है, तब आज के ज़माने में किसी भी बड़े देश में राज्य-सत्ता अन्ततः चूर-चूर हो जायेगी। या फिर, वह आर्थिक विकास के कुछ मार्गों को रोक सकता तथा कुछ नये मार्ग उसके लिये निर्धारित कर सकता है। इसमें अन्ततः उपरोक्त दो दिशाओं में से किसी एक का ही अनुसरण होता है। पर यह स्पष्ट है कि दूसरी और तीसरी दिशाएं अपनाने पर राज्य-सत्ता आर्थिक विकास को भारी क्षति पहुंचा सकती है, और इसके फलस्वरूप शक्ति और सामग्री का भीषण अपव्यय हो सकता है।

इसके अलावा, ऐसा भी होता है कि दूसरे देशों को जीता जाता है और आर्थिक संसाधनों को क्रूरतापूर्वक नष्ट किया जाता है। इससे, कतिपय स्थितियों में, पहले के ज़माने में पूरा का पूरा स्थानीय या राष्ट्रीय विकास विध्वस्त किया जा सकता था। पर आज के ज़माने में ऐसा मार्ग अपनाने का आम तौर पर उल्टा ही प्रभाव होता है—कम से कम बड़ी जातियों में। इसमें विजित जाति प्रायः विजेता से अधिक आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक लाभ प्राप्त करती है।

यही बात क़ानून के सम्बन्ध में लागू होती है। ज्यों ही पेशेवर वकीलों को पैदा करनेवाला नया श्रम-विभाजन आवश्यक हो जाता है, त्यों ही एक नया और स्वतंत्र क्षेत्र खुल जाता है जो उत्पादन और व्यापार पर सामान्य रूप से निर्भर होने के बावजूद, इन क्षेत्रों को प्रभावित करने की एक विशिष्ट क्षमता रखता है। आधुनिक राज्य में यही ज़रूरी नहीं है कि क़ानून सामान्य आर्थिक अवस्था के अनुरूप एवं उसकी अभिव्यक्ति हो, बल्कि यह भी ज़रूरी है कि वह **आन्तरिक रूप से सामंजस्यपूर्ण** अभिव्यक्ति हो जो आन्तरिक अंतर्विरोधों के कारण अपने को शून्य न बना ले। यह सामंजस्य प्राप्त करने में आर्थिक अवस्थाओं के सच्चे प्रतिबिम्ब में अधिकाधिक व्याघात पड़ता है। यह उतना ही अक्सर होता है जितनी कम विधि-संहिता में एक वर्ग के आधिपत्य की उग्र, अनम्य और

अविकृत अभिव्यक्ति हाती है क्योंकि ऐसा होना तो इस "विधि अवधारणा" के विपरीत होता। १७९२-१७९६ के क्रान्तिकारी पूंजीपति वर्ग की इस शुद्ध तथा तर्कसंगत विधि अवधारणा का तो नेपोलियनीय संहिता में ही काफ़ी हद तक मिथ्याकरण हो चुका था और जिस हद तक यह अवधारणा इस संहिता में मूर्तिमान हुई, वहां वह सर्वहारा वर्ग की नित्यप्रति बढ़ती शक्ति की बदौलत सब तरह से क्षीण होती रहती है। इसके बावजूद नेपोलियन संहिता वह संविधि पुस्तक है जो दुनिया के हर भाग में हर नयी विधि-संहिता के आधार का काम देती है। इस प्रकार एक बड़ी हद तक "अधिकार के विकास" का प्रक्रम केवल यह होता है कि, पहले, आर्थिक सम्बन्धों को क़ानूनी सिद्धान्तों में सीधे-सीधे उलथा करने से उत्पन्न अंतर्विरोधों को दूर करने की, और विधि की एक तालमेल युक्त पद्धति स्थापित करने की चेष्टा की जाती है, फिर इस पद्धति में आगे होनेवाले आर्थिक विकास के प्रभाव एवं दबाव से बार-बार दरारें पड़ती हैं, जिससे वह नये अन्तर्विरोधों में फंस जाती है। (यहां मैं फ़िलहाल केवल दीवानी क़ानून की बात कर रहा हूं।)

क़ानूनी सिद्धान्तों के रूप में आर्थिक सम्बन्धों की प्रतिच्छाया भी अनिवार्यतः उलटी होती है: वह क्रियाशील व्यक्ति के बोध के बिना ही चलती रहती है, विधिशास्त्री सोचता है कि वह पूर्वानुमानित प्रस्थापनाओं को लेकर चल रहा है, पर वस्तुतः वे आर्थिक प्रतिवर्त मात्र होती हैं, अतः सब कुछ औंधा रहता है। और मुझे स्पष्ट लगता है कि यह विपर्यास जो, न पहचाने जाने तक, **विचारधारात्मक अवधारणा** कही जानेवाली वस्तु होता है, अपनी ओर से आर्थिक आधार को प्रभावित करता है और, कुछ सीमाओं के भीतर, उसे संशोधित भी कर सकता है। उत्तराधिकार क़ानून का आधार—इसे मान लेते हुए कि परिवार के विकास में हासिल मंज़िलें बराबर हैं—आर्थिक है। फिर भी, उदाहरणार्थ, यह सिद्ध करना कठिन होगा कि इंगलैंड में वसीयत करनेवाले को पूरी आज़ादी हासिल होना और फ़्रांस में उसके ऊपर सख़्त पाबन्दियों का लगना सम्पूर्ण ब्योरे के साथ, केवल आर्थिक कारणों से है। पर दोनों ही बहुत बड़ी हद तक आर्थिक क्षेत्र को पुनः प्रभावित करते हैं, क्योंकि उनका सम्पत्ति के वितरण पर असर पड़ता है।

जहां तक विचारधारा के क्षेत्रों का, आकाश में और ऊपर उठते क्षेत्रों का, यानी धर्म, दर्शनशास्त्र, आदि का सवाल है, इनके पास प्रागैतिहासिक काल का एक भंडार है जो ऐतिहासिक काल में पहले से विद्यमान पाया गया तथा ग्रहण

कर लिया गया—उन चीजों का भंडार है जिन्हें आज हम निरर्थक ही कहेंगे। प्रकृति, मानव के अस्तित्व, भूत-प्रेत, जादू-टोने, आदि की इन अनेक मिथ्या अवधारणाओं का आर्थिक आधार केवल नकारात्मक है। प्रागैतिहासिक काल का निम्न आर्थिक विकास प्रकृति की मिथ्या अवधारणाओं द्वारा पूरित और उसके द्वारा अंशतः परिनियमित और यहां तक कि सर्जित भी हुआ। यद्यपि आर्थिक आवश्यकता प्रकृति के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए ज्ञान की मुख्य प्रेरक शक्ति थी और अधिकाधिक होती गयी थी, पर इस सारी आदिमकालीन बकवास के लिए आर्थिक कारण खोजने की चेष्टा करना निस्सन्देह कोरा पण्डिताऊपन होगा। विज्ञान का इतिहास इस बकवास के धीरे-धीरे मिटते जाने का, या यों कहें कि उसकी जगह एक नयी, किन्तु सदा कम बेतुकी बकवास के आते जाने का इतिहास है। जो लोग इसमें संलग्न हैं वे श्रम-विभाजन में विशेष क्षेत्रों के लोग हैं और उन्हें ज्ञात होता है कि वे स्वतंत्र क्षेत्र में काम कर रहे हैं। और जिस हद तक वे सामाजिक श्रम-विभाजन के अन्दर एक स्वतंत्र समूह होते हैं, उस हद तक उनकी कृतियां—इनमें उनकी गलतियां भी सम्मिलित हैं—पूरे समाज के विकास को, यहां तक कि उसके आर्थिक विकास को भी प्रभावित करती हैं। इस सब के बावजूद वे स्वयं फिर आर्थिक विकास के प्रभुत्वशाली प्रभाव के अधीन होते हैं। उदाहरणार्थ, दर्शनशास्त्र में यह बात पूंजीवादी काल के लिए तत्काल सिद्ध की जा सकती है। हॉब्स प्रथम आधुनिक भौतिकवादी थे (इस शब्द के अठारहवीं शताब्दी के अर्थ में), पर उस काल में जब निरंकुश राजतंत्र समूचे यूरोप में अपने चरम शिखर पर था और इंगलैंड में जब निरंकुश राजतंत्र और जनता के बीच लड़ाई का सूत्रपात हो रहा था, वह निरंकुशतावादी थे। लाक धर्म और राजनीति दोनों में १६८८ के वर्ग समझौते की सन्तान थे। इंगलैंड के निर्गुणवादी और उनके अधिक सुसंगत परम्परावाहक—फ़्रांसीसी भौतिकवादी—पूंजीपति वर्ग के सच्चे दार्शनिक थे, फ़्रांसीसी तो पूंजीवादी क्रान्ति के भी दार्शनिक थे। कांट से हेगेल तक, जर्मन दर्शन में जर्मन कूपमण्डूकता कभी सकारात्मक और कभी नकारात्मक रूप में एक सूत्र के रूप में व्याप्त है। पर प्रत्येक युग का दर्शन, चूंकि वह श्रम-विभाजन का निश्चित क्षेत्र है, इसलिए पूर्ववर्ती दर्शन से प्राप्त कुछ निश्चित चिन्तन सामग्री को पूर्वमान्यता के रूप में ग्रहण करता है और वही उसका प्रस्थान बिन्दु है। यही कारण है कि आर्थिक दृष्टि से पिछड़े देश दर्शन में अगुआई कर सकते हैं, जैसे १८वीं शताब्दी में इंगलैंड के दर्शन पर ही अपने दर्शन को आधारित करनेवाले फ़्रांस ने इंगलैंड के मुक़ाबले में किया, या जर्मनी ने इन दोनों

ही के मुक़ाबले में किया। पर फ़्रांस और जर्मनी में उस समय दर्शन और साहित्य का आम प्रस्फुटन ऊपर उठते आर्थिक विकास का नतीजा था। मेरे विचार में इन क्षेत्रों में भी अन्ततः आर्थिक विकास की ही प्रधानता प्रमाणित हो चुकी है परन्तु वह क्षेत्र विशेष द्वारा स्थापित अवस्थाओं के अन्दर ही चरितार्थ होती है। उदाहरण के लिए, दर्शनशास्त्र में वह पूर्ववर्त्तियों से प्राप्त विद्यमान दार्शनिक सामग्री के ऊपर आर्थिक प्रभावों की क्रिया द्वारा चरितार्थ होती है। (ये पुनः आम तौर से केवल राजनीतिक, आदि आवरणों में कार्य करते हैं।) अर्थशास्त्र यहां कोई नयी चीज़ नहीं उत्पन्न करता, बल्कि केवल उस तरीक़े को निर्दिष्ट करता है जिससे प्राप्त चिन्तन सामग्री परिवर्तित एवं और आगे विकसित की जाती है। यह काम भी अधिकांशतः वह अप्रत्यक्ष रूप से करता है, दर्शन पर सबसे अधिक प्रत्यक्ष प्रभाव राजनीतिक, क़ानूनी और नैतिक प्रतिवर्त डालते हैं।

धर्म के सम्बन्ध में सबसे आवश्यक बातें मैं फ़ायरबाख़-सम्बन्धी पुस्तिका के अन्तिम अध्याय में कह चुका हूं।*

इसलिए बार्थ ने यदि यह मान लिया हो कि आर्थिक गति के राजनीतिक, आदि किसी भी प्रतिवर्त का हम स्वयं इस गति पर प्रभाव पड़ना नहीं मानते, तो वह हवा में प्रहार कर रहे हैं। मार्क्स की '**अठारहवीं ब्रूमेर**'** पर दृष्टिपात करना ही उनके लिए काफ़ी होगा, जिसमें विशिष्टतया केवल उस भूमिका की चर्चा की गयी है जो राजनीतिक संघर्ष तथा घटनाएं निस्सन्देह उनकी आर्थिक अवस्थाओं पर आम निर्भरता के ढांचे के अन्दर अदा करती हैं। या फिर वह 'पूंजी' को ही ले लें, उसके कार्य दिवस-सम्बन्धी अध्याय को ले लें जहां बताया गया है कि विधि-निर्माण जो निश्चय ही एक राजनीतिक कार्य है, कैसी निर्णायक कार्रवाई होती है। या पूंजीपति वर्ग के इतिहास-सम्बन्धी अध्याय (अध्याय २४***) को ले लें। या फिर हम सर्वहारा के राजनीतिक अधिनायकत्व के लिए क्यों लड़ते हैं अगर राजनीतिक सत्ता आर्थिक रूप में निःसत्त्व है? बल-प्रयोग (यानी राज्य सत्ता) भी एक आर्थिक शक्ति ही है!

---

* देखें प्रस्तुत खण्ड, पृ० २५७–२६२।–सं०

** देखें प्रस्तुत संस्करण, खण्ड १, भाग २।–सं०

*** देखें प्रस्तुत संस्करण, खण्ड २, भाग १।–सं०

पर पुस्तक की आलोचना करने की मुझे अभी फ़ुरसत नहीं है। पहले मुझे तीसरा खण्ड * प्रकाशित कराना है। इसके अलावा कोई और, मसलन बर्न्सटीन इस काम को काफ़ी अच्छी तरह अंजाम दे सकते हैं।

दरअसल इन महानुभावों के पास द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण का अभाव है। वे कहीं तो केवल कारण को देखते हैं और कहीं सिर्फ़ परिणाम को। वे यह नहीं देखते कि यह निःसार विविक्ति है, कि वास्तविक जगत में ऐसे अधिभौतिक ध्रुवीय छोरों का अस्तित्व केवल संकट के समय में होता है, कि समूची विराट प्रक्रिया अन्योन्यक्रिया के रूप में चलती है (यद्यपि यह अति असमान शक्तियों की अन्योन्यक्रिया होती है, जिसमें आर्थिक गति अन्यों से कहीं प्रबल, अत्यन्त आद्य, अत्यन्त निर्णायक होती है), कि यहां सभी कुछ सापेक्ष है, निरपेक्ष कुछ भी नहीं। हेगेल मानो उनके लिए रहे ही न हों...

अंग्रेज़ी से अनूदित।

फ्रांज़ मेहरिंग को एंगेल्स का पत्र

बर्लिन में

लन्दन, १४ जुलाई १८९३

प्रिय मेहरिंग महोदय,

'लेसिंग कथा' भेजने की कृपा के लिए आपको धन्यवाद देने का आज यह पहला अवसर मिला है। केवल औपचारिक प्राप्ति स्वीकार करके मैं उत्तर नहीं देना चाहता था, बल्कि इरादा था कि इसके साथ ही आपको किताब के बारे में, उसकी विषय-वस्तु के बारे में भी कुछ लिखूंगा। इसी लिए विलम्ब हुआ।

मैं अन्त से, ऐतिहासिक भौतिकवाद[188]-सम्बन्धी परिशिष्ट से आरम्भ करूंगा जिसमें आपने मुख्य बातों को बहुत ही अच्छे ढंग से और इस तरह प्रस्तुत किया है कि कोई पूर्वाग्रह रहित व्यक्ति क़ायल हुए बिना नहीं रह सकता। यदि उसमें कुछ आपत्तिजनक है तो यह कि आपने मुझे उससे अधिक श्रेय प्रदान किया है, जिसका मैं पात्र हूं, भले ही आप उन सब बातों को भी गिनें जिन तक

* तात्पर्य मार्क्स की 'पूंजी' के तीसरे खण्ड से है। —सं०

मैं शायद समय बीतने के साथ स्वतंत्र रूप से पहुंच जाता लेकिन जिन तक मार्क्स अपनी अधिक तीक्ष्ण दृष्टि तथा अधिक व्यापक ग्रहणशक्ति के बल पर काफ़ी पहले ही पहुंच चुके हो। जब किसी को मार्क्स जैसे व्यक्ति के साथ चालीस वर्षों तक काम करने का सौभाग्य प्राप्त रहा हो, तो आम तौर से उसे उसके जीवन काल में वह मान्यता नहीं मिलती जिसका वह अपने को अधिकारी समझता है। फिर, महत्तर व्यक्ति का निधन हो जाने पर, लघुतर व्यक्ति सहज ही बढ़ा-चढ़ाकर आंका जाने लगता है। लगता है कि ठीक यही बात मेरे साथ की जा रही है। इतिहास इस सब को एक दिन ठीक-ठाक कर लेगा और उस समय तक मैं आराम से चिर निद्रा में सो रहा हूंगा तथा किसी चीज़ के बारे में कुछ नहीं जानूंगा।

इसके अलावा एक ही बात की पुस्तक में कमी है, पर उस बात पर मार्क्स ने और मैंने कभी अपनी रचनाओं में पर्याप्त बल नहीं दिया और उसके सम्बन्ध में हम सभी समान रूप में दोषी हैं। अर्थात् हम ने प्रथमतः मुख्य ज़ोर इस बात पर दिया—और हमारा यह **ज़ोर देना लाज़िमी भी था**—कि राजनीतिक, विधिशास्त्रीय एवं अन्य विचारधारात्मक धारणाएं तथा इन धारणाओं के माध्यम से उत्पन्न होनेवाली क्रियायें मूलभूत आर्थिक वास्तविकता से उद्भूत होती हैं। किन्तु ऐसा करते हुए हमने रूप-पक्ष की—उन मार्गों और विधियों की जिनके ज़रिये ये धारणाएं, आदि आविर्भूत होती हैं—विषय-वस्तु की ख़ातिर उपेक्षा की। इसने हमारे विरोधियों को ग़लतफ़हमी पैदा करने और तोड़ने-मरोड़ने का बढ़िया सुयोग दिया है। पॉल बार्थ इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

विचारधारा एक प्रक्रिया है जिसे, यह सही है कि, तथाकथित चिन्तक चेतन रूप से सम्पन्न करता है पर मिथ्या चेतना के साथ। उसे प्रेरित करनेवाली असल प्रेरक शक्तियां उसे अज्ञात रहती हैं। अन्यथा यह विचारधारात्मक प्रक्रिया ही न होगी। इसलिए वह झूठी या प्रतीयमान प्रेरक शक्तियों की कल्पना कर लेता है। चूंकि यह चिन्तन की प्रक्रिया है इसलिए इसका रूप एवं विषय-वस्तु भी वह अपने या अपने पूर्ववर्तियों के विशुद्ध चिन्तन से प्राप्त करता है। वह केवल चिन्तन सामग्री को लेकर कार्य करता है, जिसे बिना जांच-परख के ही वह चिन्तन फल के रूप में स्वीकार कर लेता है, और चिन्तन से स्वतंत्र किसी अधिक दूरवर्ती स्रोत की छानबीन नहीं करता। वस्तुतः यही उसके लिए सहज साधारण मार्ग है, क्योंकि सभी कार्य में चिन्तन की **मध्यस्थता होने के कारण** उसे वह अन्ततः चिन्तन पर **आधारित** ज्ञात होता है।

अतः ऐतिहासिक सिद्धान्तकार के पास (ऐतिहासिक से अर्थ यहां उन सभी राजनीतिक, विधिशास्त्रीय, दार्शनिक, धर्मशास्त्रीय क्षेत्रों से है जो **समाज** के हैं, केवल प्रकृति के नहीं हैं) विज्ञान के हर क्षेत्र में वह सामग्री है जो पिछली पीढ़ियों के चिन्तन से स्वतंत्र रूप से तैयार हुई है और जो एक के बाद एक आनेवाली इन पीढ़ियों के मस्तिष्कों में विकास की अपनी स्वतंत्र प्रक्रिया से होकर गुज़री है। यह सही है कि इस या उस क्षेत्र के बाह्य तथ्यों ने इस विकास पर सहनिर्धारक प्रभाव डाला हो परन्तु निहित पूर्वमान्यता यही है कि ये तथ्य स्वयं भी चिन्तन प्रक्रिया के फल मात्र हैं, अतः हम अब भी मात्र चिन्तन की दुनिया में बने रहते हैं, जिसने प्रगटतः कठोर से कठोर तथ्यों को भी आत्मसात् कर लिया है।

राज्य-संविधानों, विधि-पद्धतियों, अलग-अलग क्षेत्रों में विचारधारात्मक अवधारणाओं का यह स्वतंत्र दिखायी देनेवाला इतिहास ही सर्वोपरि लोगों को सबसे अधिक चकाचौंध करता है। यदि लूथर और काल्विन ने अधिकृत कैथोलिक धर्म को "अभिभूत" कर लिया, या हेगेल ने फ़िख़्ते और कांट को "अभिभूत" कर लिया, अथवा रूसो ने अपने जनतंत्रवादी सामाजिक समझौते द्वारा संवैधानिक मान्तेस्क्यू को अप्रत्यक्षतः "अभिभूत" किया तो यह एक प्रक्रिया थी जो धर्मशास्त्र, दर्शन या राजनीतिक विज्ञान के अन्दर रही, इन अलग-अलग चिन्तन क्षेत्रों के इतिहास की एक मंज़िल थी। उसने चिन्तन क्षेत्र की सीमा कभी नहीं लांघी। और चूंकि इसके साथ पूंजीवादी उत्पादन की नित्यता एवं अन्तिमता का पूंजीवादी भ्रम भी जुड़ गया है, इसलिए फ़िज़ियोक्रैटों एवं ऐडम स्मिथ द्वारा वाणिज्यवादियों के "अभिभूत" किये जाने तक को चिन्तन की ही विजय बताया जाता है। उसे चिन्तन में परिवर्तित आर्थिक तथ्यों का प्रतिबिम्ब नहीं, बल्कि सदा और सर्वत्र विद्यमान वास्तविक अवस्थाओं की अन्ततः उपलब्ध सही समझ माना जाता है। सच तो यह है कि यदि रिचार्ड "शेर-दिल" और फ़िलिप अगस्त ने धर्म-युद्धों में भाग लेने के बदले मुक्त व्यापार लागू किया होता, तो हम ५०० साल के कष्ट और मूर्खता से बच जाते।

मेरा ख़याल है कि इस पहलू की, जिसे हम यहां इंगित मात्र कर सकते हैं, हम सभी ने ज़रूरत से ज़्यादा उपेक्षा की है। यह वही पुराना क़िस्सा है— विषय-वस्तु की ख़ातिर आरम्भ में रूप की सदा उपेक्षा की जाती है। जैसा कि मैंने कहा, मैंने भी यही किया है और भूल का बोध सदा बाद में ही जाकर हुआ। इसलिए मैं आपको उलाहना बिल्कुल नहीं दे रहा हूं—ग़लती करनेवालों

में अधिक पुराना होने के कारण ऐसा करने का मुझे अधिकार नहीं है,– बल्कि बात उलटी ही है। फिर भी आगे के लिए मैं इस बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूंगा।

सिद्धान्तकारों का यह अहमक़ाना ख़याल इसके साथ ही जुड़ा हुआ है कि चूंकि हम इतिहास में भूमिका अदा करनेवाले विभिन्न विचारधारात्मक क्षेत्रों का स्वतंत्र ऐतिहासिक विकास होना नहीं मानते, इसलिए हम यह भी नहीं मानते कि इनका **इतिहास पर कुछ प्रभाव पड़ता है।** इस ख़ामख़याली का आधार कारण और कार्य को सर्वथा विरोधी ध्रुवीय छोर मानने की, अन्योन्यक्रिया की पूर्ण अवहेलना करने की सामान्य अद्वन्द्वात्मक धारणा है। ये महानुभाव प्रायः जानबूझ-कर यह भुला देते हैं कि जब कोई ऐतिहासिक तत्त्व अन्य, अन्ततः आर्थिक कारणों से, दुनिया में प्रगट हो चुकता है, तो वह अपने परिवेश पर और यहां तक कि उन कारणों पर भी जिन्होंने उसे जन्म दिया है, उलट कर प्रभाव डालता है और डाल सकता है। उदाहरण के लिए पुरोहिती और धर्म पर बार्थ, आपकी पुस्तक के पृष्ठ ४७५ पर। मुझे यह देखकर बड़ी ख़ुशी हुई कि आपने इस शख़्स की बख़िया उधेड़कर रख दी है। इस आदमी का चर्वित-चर्वण देखकर दंग रह जाना पड़ता है। तुर्रा यह है कि ऐसे आदमी को उन्होंने लाइप्ज़िग में इतिहास का प्रोफ़ेसर बना रखा है! मैं तो कहूंगा कि बूढ़ा वाक्समुथ इससे कहीं भिन्न था, काफ़ी कूढ़मग्ज़ होते हुए भी वह कम से कम तथ्यों की बहुत क़द्र करता था।

जहां तक बाक़ी चीज़ों का सवाल है, मैं पुस्तक के सम्बन्ध में अपने वे ही शब्द दुहरा सकता हूं जो मैंने «*Neue Zeit*» में लेखों के प्रकाशन के समय कहे थे, अर्थात् यह कि प्रशियाई राज्य की उत्पत्ति की यह अब तक की सर्वश्रेष्ठ विवेचना है। वस्तुतः मैं तो कहूंगा कि इस विषय की यह एकमात्र सुंदर विवेचना है, जिसमें अधिकांश मामलों में अन्तःसम्बन्धों को सूक्ष्मतम ब्योरों के साथ विकसित किया गया है। खेद की बात यही है कि आप आगे के, बिस्मार्क तक के पूरे घटनाक्रम को नहीं ले सके। मन में यह आशा जगती है कि आप दूसरी बार यह काम भी करेंगे, एलेक्टर फ़्रेडरिक विल्हेल्म से लेकर बूढ़े विल्हेल्म* तक का एक सम्पूर्ण संबद्ध चित्र प्रस्तुत करेंगे। प्रारम्भिक छानबीन आप कर ही चुके हैं और यह कार्य मुख्यतः समाप्त जैसा ही है। जो भी हो, इस जीर्ण-शीर्ण झोंपड़े के

* विल्हेल्म प्रथम। – **सं०**

भहरा पड़ने से पहले यह कार्य तो कभी न कभी कर ही डालना है। राजतंत्रीय-देशभक्तिपूर्ण गाथाओं को नष्ट करना यद्यपि वर्ग प्रभुत्व पर परदा डालनेवाले राजतंत्र को मिटाने के लिए प्रत्यक्षत: पूर्वापेक्षित नहीं है (क्योंकि जर्मनी में **विशुद्ध**, पूंजीवादी जनतंत्र के अस्तित्व में आने से पहले ही घटनाएं उसके आगे बढ़ जायेंगी), फिर भी इस काम के लिए वह एक अत्यन्त कारगर साधन होगा।

तब आपको प्रशा के इतिहास को उस सामान्य दुर्गति के अंश के रूप में, जिससे होकर जर्मनी गुज़रा है, चित्रित करने के लिए अधिक स्थान एवं सुयोग प्राप्त होगा। इसी स्थल पर मैं आपके और अपने मत में जहां-तहां थोड़ा-सा भेद पाता हूं। खासकर जर्मनी के विभाजन की पूर्वावस्थाओं की और सोलहवीं शताब्दी में जर्मन पूंजीवादी क्रान्ति की असफलता की धारणा के बारे में। जब मैं अपने 'किसान युद्ध' की ऐतिहासिक भूमिका में सुधार करने बैठूंगा – मुझे आशा है कि मैं अगले जाड़ों में यह कर सकूंगा – तो इन सूत्रों का विशदीकरण कर सकूंगा। ऐसी बात नहीं कि आपने जो सूत्र प्रस्तुत किये हैं, उन्हें मैं ग़लत समझता हूं, पर मैं उनके साथ कुछ और भी सूत्रों को रखता हूं और इनका वर्गीकरण थोड़ा भिन्न रूप से करता हूं।

जर्मन इतिहास का – लगातार दुरवस्था की उसकी गाथा का – अध्ययन करते समय मैंने हमेशा देखा है कि फ़्रांस की समकालीन ऐतिहासिक अवधियों के साथ तुलना करते जाने से ही सही सानुपातिक धारणा बनती है, क्योंकि हमारे देश में जो हुआ फ़्रांस में उसका ठीक उलटा ही होता रहा। ठीक उस समय जबकि हम अपनी सबसे घोर अवनति के काल से गुजर रहे थे, वहां सामन्ती राज्य के बिखरे हुए भागों से राष्ट्रीय राज्य की स्थापना हुई। वहां पूरी प्रक्रिया के दौरान विरल वस्तुगत तार्किकता रही है। हमारे यहां रही अधिकाधिक हौलनाक बेतरतीबी। वहां, मध्य युग में, विदेशी हस्तक्षेप का प्रतिनिधित्व अंग्रेज़ विजेता करते हैं जिन्होंने उत्तरी फ़्रेंच जाति के विरुद्ध प्रोवेंसीय जाति के हक़ में हस्तक्षेप किया। इंगलैंड विरोधी युद्ध एक प्रकार से तीसवर्षीय युद्ध का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनका अन्त विदेशी हस्तक्षेपकारियों के खदेड़ दिये जाने और उत्तर द्वारा दक्षिण पर प्रभुत्व की स्थापना के साथ हुआ। इसके बाद केन्द्रीय सत्ता और अपने विदेशी प्रदेशों पर अवलम्बित बारगण्डी के ताबेदार* के, जो ब्रनदनबर्ग – प्रशा[189] की

* कार्ल बहादुर। – सं०

भूमिका अदा करता है, बीच संघर्ष की बारी आयी। पर इस संघर्ष में केन्द्रीय सत्ता की जीत हुई और राष्ट्रीय राज्य निर्णायक रूप से स्थापित हो गया। लेकिन हमारे देश में ठीक इसी समय राष्ट्रीय राज्य (जहां तक कि पवित्र रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत "जर्मन राज्य" को हम राष्ट्रीय राज्य की संज्ञा दे सकते हैं) चूर-चूर हो गया और बड़े पैमाने पर जर्मन भूमि की लूट आरम्भ हुई। यह तुलना जर्मनों के लिए अत्यन्त अपमानजनक है, पर इस कारण से ही वह अधिक शिक्षाप्रद भी है। इसके अलावा, चूंकि हमारे मज़दूरों ने जर्मनी को फिर ऐतिहासिक गति की अगली पांत में ला खड़ा किया है, इसलिये बीते इतिहास के इस कलंक को बर्दाश्त करना हमारे लिए थोड़ा आसान हो गया है।

जर्मनी के विकास की एक और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन आंशिक राज्यों में से जिन्होंने जर्मनी को आपस में बांट लिया, कोई भी विशुद्ध जर्मन न था – दोनों ही विजित स्लाव प्रदेश में स्थापित उपनिवेश थे: आस्ट्रिया एक बवेरियाई और ब्रनदनबर्ग सैक्सन उपनिवेश था – और उन्होंने जर्मनी के अन्दर सत्ता विदेशी, ग़ैरजर्मन अधिकृत इलाक़ों के समर्थन पर निर्भर करके ही प्राप्त की। आस्ट्रिया ने हंगरी (बोहीमिया की तो बात ही छोड़ दें) के समर्थन से और ब्रनदनबर्ग ने प्रशा के समर्थन से सत्ता प्राप्त की थी। सबसे ज़्यादा ख़तरे में पड़ी पश्चिमी सरहद पर ऐसी कोई चीज़ नहीं हुई। उत्तरी सरहद पर जर्मनी की डेनों से रक्षा डेनों पर छोड़ दी गयी। और दक्षिण में बचाने को ही इतना कम था कि सीमा के संरक्षक – स्विस – जर्मनी से अपने को छुड़ाने में कामयाब हुए।

ख़ैर छोड़िये, मैं दुनिया भर की इधर-उधर की बातों में बह गया। पर मेरी यह बक-बक आपको कम से कम इस बात का सबूत तो देगी कि आपकी कृति ने मेरे ऊपर कैसा प्रेरणादायी प्रभाव डाला है।

एक बार फिर हार्दिक धन्यवाद।

सादर आपका
फ़्रे० एंगेल्स

अंग्रेज़ी से अनूदित।

न० फ़० डेनियलसन को एंगेल्स का पत्र

पीटर्सबर्ग में

लन्दन, १७ अक्तूबर १८९३

... Очерки[190] की प्रतियां भेजने के लिए आपको बहुत-बहुत धन्यवाद; उनमें से तीन मैंने उसके प्रशंसकों को भेज दी हैं। मुझे इस बात से प्रसन्नता हुई है कि इस पुस्तक ने काफ़ी हलचल, सनसनी तक पैदा कर दी है जिसकी वह सर्वथा पात्र है। जिन रूसियों से मैं मिला हूं, उनके साथ बातचीत का यही मुख्य विषय रहा। कल की ही बात है, उनमें से एक ने* मुझे लिखा: "у нас на Руси идёт спор о 'судьбах капитализма в России'** । बर्लिन के «*Sozialpolitisches Centralblatt*»*** में किन्हीं श्री प० फ़ोन स्त्रूवे का आपकी पुस्तक पर एक लम्बा लेख है; मुझे उनसे इस एक मुद्दे पर सहमत होना पड़ेगा कि मुझे भी रूस में विकास का पूंजीवादी दौर क्रीमियाई युद्ध द्वारा उत्पन्न की गयी ऐतिहासिक परिस्थितियों का, कृषि अवस्थाओं में १८६१ में किये गये परिवर्तनों के ढंग का तथा सामान्यतया यूरोप में राजनीतिक गतिहीनता का अपरिहार्य परिणाम प्रतीत होता है। परन्तु वह उस समय निश्चित रूप से ग़लती करते हैं जब वह रूस में वर्तमान अवस्था की तुलना संयुक्त राज्य अमरीका के साथ करते हैं ताकि भविष्य के विषय में उनके शब्दों में आपके निराशावादी विचार का खण्डन किया जा सके। वह कहते हैं कि रूस में समकालीन पूंजीवाद के कुपरिणामों पर अमरीका की ही तरह आसानी से क़ाबू पा लिया जायेगा। परन्तु वह यह बात बिल्कुल भूल जाते हैं कि संयुक्त राज्य अमरीका अपनी उत्पत्ति काल से ही आधुनिक पूंजीवादी देश है, उसकी स्थापना उन निम्नपूंजीपतियों तथा किसानों ने की थी जो विशुद्ध रूप से पूंजीवादी समाज की स्थापना करने की

---

* गोल्डेनबर्ग। – सं०

** रूस में पूंजीवाद की नियति पर हमारे बीच बहस चल रही है। – सं०

*** प्रकाशन का तृतीय वर्ष; अंक १, १ अक्तूबर १८९३।[191] (**एंगेल्स की टिप्पणी**)

ग़रज़ से यूरोपीय सामन्तवाद से अपना पीछा छुड़ाकर वहां भाग गये थे। यद्यपि रूस में हमारे पास आदिम कम्युनिस्टीय स्वरूप की आधारभूमि, सभ्यता के युग से पूर्व का गोत्र-समाज है, यह सच है कि वह ढह तो रहा है, परन्तु अब भी ऐसी आधारभूमि, ऐसी सामग्री का काम दे रहा है जिसे लेकर पूंजीवादी क्रान्ति (और रूस के लिए यह वास्तविक सामाजिक क्रान्ति है) कार्य करती है। अमरीका में मुद्रा-अर्थव्यवस्था को पूरी तरह स्थापित हुए एक शताब्दी से अधिक समय हो चुका है जबकि रूस में नैसर्गिक अर्थव्यवस्था प्रायः बिना किसी अपवाद के एक आम नियम थी। इसलिए यह स्वाभाविक है कि रूस में परिवर्तन कहीं अधिक उग्र, कहीं अधिक तीक्ष्ण होगा, और अमरीका की तुलना में वह कहीं असीम रूप में पीड़ादायी होगा।

इस सब के बावजूद मुझे लगता है कि आप स्थिति को उससे कहीं अधिक निराशावादी दृष्टिकोण से देखते हैं जितना तथ्य उचित ठहराते हैं। ज़ाहिर है, आदिम कृषि कम्युनिज़्म से पूंजीवादी औद्योगीकरण में संक्रमण समाज की भयंकर विश्रृंखलता के बिना, पूरे के पूरे वर्गों के विलोप और उनका अन्य वर्गों में रूपान्तरण के बिना नहीं हो सकता; और इसमें अनिवार्यतः कितनी अथाह यंत्रणा, मानव जीवन तथा उत्पादक शक्तियों की कितनी बड़ी क्षति निहित होती है, यह हम पश्चिम यूरोप में – छोटे पैमाने पर ही सही – देख चुके हैं। परन्तु उसके तथा एक महान और अत्यन्त प्रतिभाशाली राष्ट्र की पूरी बर्बादी के बीच काफ़ी लम्बा फ़ासला है। आप आबादी में जिस अत्यधिक वृद्धि के आदी हैं, उसे रोका जा सकता है; जंगलों के अंधाधुंध काटे जाने और उसके साथ ही पुराने помещики* तथा किसानों के सम्पत्तिहरण से उत्पादक शक्तियों की अपार बर्बादी हो सकती है; फिर भी दस करोड़ से ज़्यादा की आबादी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **बड़े पैमाने के उद्योग** के लिए अन्ततः काफ़ी बड़ी घरेलू मंडी मुहैया करेगी। और देशों की ही तरह आपके यहां भी सब कुछ ठीक तरह चलने लगेगा बशर्ते पश्चिम यूरोप में पूंजीवाद देर तक टिका रह सके।

आप स्वयं स्वीकार करते हैं कि

"क्रीमियाई युद्ध के बाद रूस में सामाजिक परिस्थितियां उत्पादन के उस रूप का, जो हमें अपने विगत इतिहास से विरासत में मिला, विकास करने के लिए अनुकूल नहीं थीं।"

---

* ज़मींदार। – सं०

मैं तो इससे भी आगे बढ़कर यह कहूंगा कि रूस में आदिम कृषि कम्युनिज़्म से अधिक उच्चतर सामाजिक रूप का विकास करना उससे ज़्यादा सम्भव न होता जितना किसी अन्य स्थान में, और यह सिर्फ़ तभी होता जब यह अधिक उच्चतर रूप किसी अन्य देश में **पहले से ही अस्तित्वमान होता** और एक उदाहरण का काम देता। यह अधिक उच्चतर रूप – ऐतिहासिक रूप से वह जहां कहीं सम्भव हो – उत्पादन तथा उस द्वारा उत्पन्न दुहरे सामाजिक विरोध का आवश्यक परिणाम होने के कारण कहीं और विद्यमान उदाहरण का अनुसरण न करने की दशा में सीधे कृषि समुदाय से विकसित नहीं हो सकता था। यदि १८६०–१८७० में पश्चिमी यूरोप इस प्रकार के रूपान्तरण के लिए परिपक्व होता, यदि यह रूपान्तरण इंगलैंड, फ़्रांस, आदि में पूरा होता तो रूसियों से भी यह दिखाने की अपेक्षा की जा सकती थी कि उनके समुदाय से, जो तब तक कमोबेश अक्षुण्ण था, क्या कुछ निर्मित किया जा सकता है। परन्तु पश्चिम गतिहीन रहा, ऐसे किसी रूपान्तरण के लिए प्रयास नहीं किया गया और पूंजीवाद का अधिकाधिक तीव्र गति से विकास किया गया। और रूस के लिए इसके अलावा कोई अन्य विकल्प नहीं था कि वह या तो समुदाय को उत्पादन के ऐसे रूप में विकसित करे जिस से वह कई ऐतिहासिक मंज़िलों से अलग हो जाता और जिसके लिए पश्चिम तक में परिस्थितियां परिपक्व नहीं थीं – स्पष्टतया यह असम्भव कार्य था – अथवा वह पूंजीवाद में विकसित हो। उसके लिए इस अन्तिम अवसर के लिए और क्या बचा रहा?

जहां तक समुदाय का सम्बन्ध है, यह तभी तक सम्भव है जब तक उसके सदस्यों की सम्पदा में अन्तर नाममात्र के हैं। ज्यों ही ये अन्तर बढ़ते हैं, ज्यों ही उसके कुछ सदस्य अमीर सदस्यों के क़र्ज़ से बंधे हुए ग़ुलाम बन जाते हैं, वह आगे जीवित नहीं रह सकता। एथेन्स के кулаки* और мироеды** ने सोलोन से पहले एथिनियाई **गोत्र** को उसी अडिगता के साथ नष्ट किया जिससे आपके देश के ये लोग समुदाय को नष्ट कर रहे हैं। मुझे डर है कि इस संस्थान का नष्ट होना अवश्यम्भावी है। परन्तु दूसरी ओर पूंजीवाद नयी सम्भावनाओं, नयी आशाओं के द्वार खोल रहा है। ज़रा देखिये तो वह पश्चिम में क्या-क्या कर चुका है तथा कर रहा है। आपके जैसा महान राष्ट्र प्रत्येक संकट से उभरकर

---

*धनी किसान (कुलक)। – **सं०**

गांव के शोषक। – **सं०

सामने आता है। ऐसी कोई बड़ी ऐतिहासिक विपदा नहीं होती जो मुआवज़े के रूप में उतनी ही ऐतिहासिक प्रगति प्रस्तुत न करे। केवल modus operandi* बदलता है। Que les destinées s'accomplissent! **

अंग्रेज़ी से अनूदित।

डब्ल्यू० बोरगियस को एंगेल्स का पत्र [192]

ब्रेस्लाऊ में

लन्दन, २५ जनवरी १८९४

प्रिय महोदय,

आपके प्रश्नों के उत्तर पेश हैं:

१. आर्थिक संबंधों से, जिन्हें हम समाज के इतिहास का निर्णायक आधार मानते हैं, हमारा अभिप्राय वह पद्धति है जिसके अनुसार समाज विशेष के लोग अपनी जीविका के साधनों को पैदा करते हैं और एक दूसरे के साथ पैदावार का विनिमय करते हैं (जहां तक कि समाज में श्रम-विभाजन का अस्तित्व है)। इस प्रकार उसमें उत्पादन तथा परिवहन की **सारी तकनीक** शामिल है। हमारी अवधारणा के अनुसार यही तकनीक विनिमय पद्धति को भी और पैदावार के वितरण को निश्चित करती है, और साथ ही, गोत्र-व्यवस्था के भंग होने के बाद, समाज के वर्गों में बंटवारे को, फलतः स्वामी-दास संबंधों को तथा इनके साथ राज्य, राजनीति, क़ानून, आदि को निश्चित करती है। आर्थिक संबंधों की अवधारणा में वह **भौगोलिक आधार** भी शामिल है जिसे ग्रहण कर ये संबंध क्रियाशील होते हैं, और आर्थिक विकास की पहले की अवस्थाओं के वे अवशेष भी हैं, जो वास्तव में–अधिकांशतः परंपरा या vis inertiae*** के बल पर–चलते आये हैं और वह बाह्य परिवेश तो उसमें शामिल है ही जो समाज के इस रूप के चतुर्दिक व्याप्त है।

* कार्यप्रणाली। – **सं०**

** नियति अपना रास्ता अपनाये! – **सं०**

*** जड़त्व की शक्ति। – **सं०**

यदि, जैसा आप कहते हैं, तकनीक अधिकांशतः विज्ञान की अवस्था पर निर्भर है, तो विज्ञान कहीं अधिक तकनीक की **अवस्था** और **आवश्यकताओं** पर निर्भर है। यदि समाज को कोई तकनीकी जरूरत है तो उससे विज्ञान की प्रगति में इतनी मदद मिलती है जितनी दसेक यूनिवर्सिटियां नहीं दे सकतीं। सारा हाइड्रोस्टैटिक्स (तोरिचेली, आदि) सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में इटली की पहाड़ी नदियों को नियंत्रित करने की आवश्यकता से उत्पन्न हुआ। जब तक विद्युत् की तकनीकी प्रयोज्यता का पता नहीं चला था, उसके बारे में हमारा ज्ञान नगण्य ही था। परंतु दुर्भाग्यवश जर्मनी में विज्ञानों के इतिहास के बारे में इस रूप में लिखना गोया वे आसमान से टपक पड़े हों, एक दस्तूर बन गया है।

२. हमारी दृष्टि में आर्थिक अवस्थायें ही अंततोगत्वा ऐतिहासिक विकास को निश्चित करती हैं। परंतु नसल स्वयं एक आर्थिक कारक है। लेकिन इस प्रसंग में दो बातों को नहीं भूलना चाहिए :

क) राजनीति, न्याय, दर्शन, धर्म, साहित्य, कला, आदि का विकास आर्थिक विकास पर आश्रित है। परंतु ये सब एक दूसरे को तथा आर्थिक आधार को भी प्रभावित करते हैं। बात यह नहीं है कि आर्थिक परिस्थिति ही **कारण** है, **एकमात्र सक्रिय** तत्त्व है, जबकि बाक़ी सभी चीज़ें निष्क्रिय परिणाम मात्र हैं। बल्कि बात यह है कि आर्थिक अनिवार्यता के आधार पर, जो सदा **अन्ततोगत्वा** प्रभावी होती है, अन्योन्य-क्रिया चलती है। उदाहरण के लिए राज्य संरक्षण-शुल्क, मुक्त व्यापार, अच्छी या बुरी वित्तीय व्यवस्था के द्वारा प्रभाव डालता है। यहां तक कि जर्मन कूपमंडूक की भीषण रिक्तता तथा पुंसत्वहीनता भी जो १६४८ से १८३० के काल में जर्मनी की आर्थिक दुरवस्था का परिणाम थीं और जो पहले धर्मानुराग, और फिर भावुकता तथा राजे-रजवाड़ों की जीहुज़ूरी और मुसाहिबी में व्यक्त हुईं, अर्थव्यवस्था पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहीं। नये उत्थान के रास्ते में वह एक बहुत बड़ी बाधा थी, और उसे तभी हिलाया जा सका जब क्रान्तिकारी तथा नेपोलियनी युद्धों ने चिर दरिद्रता को अत्यंत उग्र बना दिया। बात यह है कि आर्थिक परिस्थिति अपना प्रभाव अपने आप नहीं डालती, जैसा कि प्रायः लोग सुविधापूर्वक कल्पना कर लेने की कोशिश करते हैं। नहीं। मनुष्य अपने इतिहास की रचना स्वयं करते हैं परन्तु एक विशेष, उसे अभ्यनुकूलित करनेवाले परिवेश में, पहले से विद्यमान आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर, जिनमें आर्थिक सम्बन्ध, जो अन्य सम्बन्धों से—राजनीतिक तथा विचारधारात्मक—चाहे कितने ही प्रभावित क्यों न होते हों, अन्ततोगत्वा निर्णायक होते हैं, उस मुख्य

सूत्र का निर्माण करते हैं, जो उनके सारे विकास के बीच से गुजरता है तथा जिसकी सहायता से ही उसके बारे में समझदारी हासिल हो सकती है।

ख) मनुष्य अपने इतिहास की रचना स्वयं करते हैं, परंतु अभी तक वे ऐसा सामूहिक संकल्प के साथ, सामूहिक योजनानुसार नहीं करते, यहां तक कि एक निश्चित, परिसीमित समाज विशेष में भी नहीं करते। उनकी आकांक्षायें एक दूसरे के साथ टकराती हैं, और इस कारण ऐसा प्रत्येक समाज **आवश्यकता** द्वारा शासित होता है, जिसका पूरक तथा प्रतीयमान रूप **संयोग** होता है। यहां जो आवश्यकता समस्त संयोगों पर हावी होती है, वह अंततः आर्थिक आवश्यकता ही होती है। और यहीं तथाकथित महापुरुषों की चर्चा आवश्यक हो जाती है। यह बात कि देश विशेष में, काल विशेष में अमुक व्यक्ति सामने आता है, और दूसरा नहीं, निःसंदेह विशुद्ध संयोग है। लेकिन उसे अलग कर दीजिये, तो उसकी जगह दूसरे की मांग होगी और यह दूसरा व्यक्ति पाया जायेगा—वह अच्छा हो या बुरा, लेकिन अंत में वह पाया जरूर जायेगा। नेपोलियन ही, ठीक यह कोर्सिका निवासी ही वह फ़ौजी तानाशाह बना, जिसके आविर्भाव को अपनी ही लड़ाइयों से क्लांत-जर्जर फ़्रांसीसी जनतंत्र ने आवश्यक बना दिया था, यह संयोग की बात थी; परंतु अगर एक नेपोलियन नहीं होता तो इस अभाव की पूर्त्ति दूसरा नेपोलियन करता; इसका प्रमाण यह है कि जिस व्यक्ति की ज़रूरत पड़ी वह पाया भी गया, जैसे सीज़र, आगस्टस, क्रॉमवेल, आदि। अगर मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा की खोज की, तो त्येरी, मिन्ये, गीज़ो, और १८५० तक सभी अंग्रेज़ इतिहासकार इस बात का साक्ष्य हैं कि इस अवधारणा की खोज की जानेवाली थी, और मौर्गन द्वारा इसी अवधारणा की खोज से साबित होता है कि उसका समय आ गया था और उसकी खोज **होनी ही थी।**

यही बात इतिहास की सभी सांयोगिक अथवा सांयोगिक प्रतीत होनेवाली घटनाओं पर लागू होती है। जिस क्षेत्र विशेष का हम अन्वेषण कर रहे होते हैं, वह आर्थिक क्षेत्र से जितना दूर और शुद्ध, अमूर्त्त विचारधारा के क्षेत्र के जितना निकट होता है, उतना ही उसका विकास सांयोगिक प्रतीत होता है, उसकी वक्र-रेखा उतनी ही टेढ़ी-मेढ़ी होती है। यदि आप वक्र-रेखा का औसत अक्ष अंकित करें तो आप देखेंगे कि विचाराधीन काल का तथा क्षेत्र का विस्तार जितना ही अधिक होगा, उतना ही अधिक यह अक्ष आर्थिक विकास के अक्ष के समानांतर होगा।

जर्मनी में सही समझ हासिल करने में सबसे बड़ी रुकावट यह है कि साहित्य में आर्थिक इतिहास की अनुत्तरदायित्वपूर्ण भाव से उपेक्षा की गयी है। स्कूल में इतिहास की जो धारणायें दिमाग़ में बैठा दी जाती हैं उन्हें ज़ेहन से निकाल देना ही कठिन नहीं है, बल्कि ऐसा करने के लिए आवश्यक सामग्री को संचित करना और भी कठिन है। मसलन् बिरला ही कोई मिलेगा, जिसने कम से कम बूढ़े गुस्ताव फ़ॉन गुलीह् को पढ़ा हो, जिनका सामग्री का संचय शुष्क और नीरस तो, है[193] पर इसके बावजूद उसमें राजनीतिक तथ्यों के स्पष्टीकरण के लिए बहुत-सा मसाला है।

बात यह है कि मार्क्स ने 'अठारहवीं ब्रूमेर'* में जो सुंदर दृष्टांत उपस्थित किया है, उससे, मेरे विचार में, आपको अपने प्रश्नों के बारे में पर्याप्त सूचना मिलेगी, ठीक इसी लिए कि यह एक व्यावहारिक दृष्टांत है। मेरा ख़याल है मैं भी 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' (भाग १, अध्याय ६–११, भाग २, अध्याय २–४ तथा भाग ३, अध्याय १ अथवा भूमिका) में और 'फ़ायरबाख़'** के अंतिम अध्याय में भी अधिकांश प्रश्नों की विवेचना कर चुका हूं।

कृपया उपरोक्त हर शब्द पर बहुत ज़्यादा बारीकी से ध्यान न दें, परंतु सामान्य सूत्र को ध्यान में रखें। मुझे खेद है कि मेरे पास अपनी बात उतनी सटीकता के साथ प्रस्तुत करने के लिए समय नहीं है जो प्रकाशन के हेतु आवश्यक है...

अंग्रेज़ी से अनूदित।

व० सोम्बार्ट को एंगेल्स का पत्र

बर्लिन में

लन्दन, ११ मार्च १८९५

महोदय,

पिछले माह की १४ तारीख़ के आपके पत्र का उत्तर देते हुए मैं आपको मार्क्स के सम्बन्ध में अपनी कृति भेजने के लिए धन्यवाद देने की इजाज़त चाहता हूं; मैं उसे «*Archiv*»[194] के एक अंक में, जिसे डॉ० ह० ब्रौन ने मुझे भेजने

* देखें प्रस्तुत संस्करण, खण्ड १।—सं०

** प्रस्तुत खण्ड, पृ० २१३ – २६३।—सं०

की कृपा की थी, बहुत दिलचस्पी के साथ पहले ही पढ़ चुका था, और पहली बार किसी जर्मन विश्वविद्यालय में भी 'पूंजी' के बारे में इतनी समझदारी देखकर मुझे प्रसन्नता हुई। आपने मार्क्स के विचारों को जिन शब्दों में प्रस्तुत किया है, उनसे मैं स्वभावतः पूरी तरह सहमत नहीं हो सकता। विशेष रूप से मूल्य की अवधारणा की परिभाषा, जो आपने पृष्ठ ५७६ और ५७७ पर दी है, मुझे बहुत ही ज़्यादा विस्तीर्ण लगती है–पहले तो मैं उसे ऐतिहासिक रूप से सीमित करके इस बात पर ज़ोर देता कि इसका महत्त्व समाज के आर्थिक विकास की उस अवस्था के लिए है, जिसके अन्तर्गत ही मूल्य ज्ञात रहा है तथा ज्ञात हो सकता था, अर्थात् समाज के उन रूपों के लिए, जिनमें माल विनिमय, यानी माल उत्पादन अस्तित्वमान है। आदिम कम्युनिज़्म में मूल्य अज्ञात था। दूसरे, मुझे ऐसे प्रतीत होता है कि अवधारणा की अधिक सीमित अर्थ में भी व्याख्या की जा सकती थी। परन्तु यह चीज़ हमें विषय से बहुत दूर ले जायेगी। आपका कथन सामान्य रूप से बिल्कुल सही है।

परन्तु पृष्ठ ५८६ में आप मुझे सीधे सम्बोधित करते हैं और जिस विनोद भरे ढंग से आप मेरे सिर पर पिस्तौल तानते हैं, उस पर मुझे हंसी आ जाती है। परन्तु आप को चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है, मैं "जवाबी कार्रवाई" नहीं करूंगा। मार्क्स ने विभिन्न पूंजीवादी प्रतिष्ठानों में उत्पादित $\frac{s}{C} = \frac{s}{c+v}$ के विभिन्न मूल्यों से मुनाफ़े की सामान्य तथा समान दर जिस तार्किक अनुक्रम की सहायता से निकाली, वह पृथक्-पृथक् पूंजीपति की समझ में बिल्कुल नहीं आयेगी। जहां तक उसकी ऐतिहासिक सादृश्यता है, अर्थात् जहां तक वह हमारे मस्तिष्क से बाहर वास्तविक रूप में विद्यमान है, वह अपने को, उदाहरणार्थ, इस तथ्य में अभिव्यक्त करता है कि पूंजीपति "क" द्वारा मुनाफ़े की दर के ऊपर या कुल अतिरिक्त मूल्य के अपने हिस्से के ऊपर उत्पादित अतिरिक्त मूल्य के कुछ भाग पूंजीपति "ख" की जेब में स्थानान्तरित हो जाते हैं जिसके पास अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन नियमतः आम डिविडेंड के नीचे रहता है। परन्तु यह प्रक्रिया वस्तुगत रूप में, वस्तुओं में, अचेतन रूप में होती है। और हम केवल अब यह अनुमान लगा सकते हैं कि इन मामलों की ठीक समझ हासिल करने के लिए कितने काम की आवश्यकता पड़ी होगी। यदि मुनाफ़े की औसत दर निर्धारित करने के लिए पृथक्-पृथक् पूंजीपतियों का सचेत सहयोग आवश्यक रहा होता, यदि पृथक् पूंजीपति इस बात के प्रति सचेत रहता कि वह अतिरिक्त

मूल्य पैदा करता है और कितना पैदा करता है, और यह पता होता कि उसे अक्सर अपने अतिरिक्त मूल्य का एक भाग दूसरे को सौंपना पड़ता है तो अतिरिक्त मूल्य तथा मुनाफ़े के बीच सम्बन्ध आरम्भ से ही काफ़ी स्पष्ट हो गया होता और शायद उसका यदि पेट्टी नहीं तो ऐडम स्मिथ अवश्य वर्णन करते।

मार्क्स के दृष्टिकोण से बड़ी घटनाओं के सिलसिले में आज तक की सारी इतिहास धारा अचेत रूप से प्रवाहित हुई है, अर्थात् ये घटनाएं तथा उनके आगे के परिणाम मानव इच्छा का फल नहीं थे। इतिहास के मामूली अभिनेता या तो कुछ सर्वथा भिन्न प्राप्त करना चाहते थे या फिर उन्होंने जो कुछ प्राप्त किया, उसके सर्वथा भिन्न, अकल्पित परिणाम निकले। यह बात आर्थिक क्षेत्र पर लागू करें तो दिखायी देगा कि प्रत्येक पूंजीपति **अधिकतम** मुनाफ़े के पीछे दौड़ा जा रहा है। पूंजीवादी अर्थशास्त्र को पता चलता है कि इस दौड़ का, जिसमें हरेक **अधिकतम** मुनाफ़े के पीछे भागा जा रहा है, नतीजा मुनाफ़े की **सामान्य** दर, हरेक के लिए मुनाफ़े का लगभग **समान** अनुपात होता है। परन्तु न तो पूंजीपति और न पूंजीवादी अर्थशास्त्री ही यह अनुभव करते हैं कि इस दौड़ का लक्ष्य कुल पूंजी पर परिकलित कुल अतिरिक्त मूल्य का समान आनुपातिक वितरण है।

परन्तु समानीकरण की यह प्रक्रिया वास्तव में कैसे सम्भव हुई? यह बहुत दिलचस्प मुद्दा है जिसके बारे में स्वयं मार्क्स ज़्यादा नहीं कहते। परन्तु मार्क्स का विश्वदृष्टिकोण (Auffassungsweise) जड़सूत्रवाद नहीं है, वह तो एक विधि है। यह दृष्टिकोण बने-बनाये जड़सूत्र प्रस्तुत नहीं करता, अपितु आगे के अनुसंधान का प्रस्थान-बिन्दु, इस अनुसंधान के लिए विधि मुहैया करता है। इसलिए इस बारे में कुछ काम करना पड़ेगा क्योंकि मार्क्स ने अपने पहले मसौदे में इसका विशदीकरण नहीं किया था। इस सिलसिले में सबसे पहले हम पृष्ठ १५३–१५६, खंड ३, भाग १ का उल्लेख कर सकते हैं जो मूल्य की अवधारणा की आपकी अवधारणा के लिए भी महत्त्वपूर्ण हैं और जो सिद्ध करते हैं कि इस अवधारणा में उससे ज़्यादा वास्तविकता है या थी जितना आप बताते हैं। जब माल विनिमय शुरू हुआ था, जब उत्पाद धीरे-धीरे माल में बदलने लगे तो उनका लगभग **उनके मूल्यानुसार** विनिमय होता था। दो वस्तुओं पर ख़र्च किया गया श्रम उनकी परिमाणात्मक तुलना की एकमात्र कसौटी होता था। इस तरह मूल्य का उस समय **प्रत्यक्ष वास्तविक अस्तित्व** था। हमें मालूम है कि विनिमय में मूल्य की प्रत्यक्ष वसूली ख़त्म हो गयी और अब ऐसा नहीं होता। मेरा ख़याल

है कि ग्राप को उन मध्यवर्ती कड़ियों का — कम से कम ग्राम रूपरेखा में — पता लगाने में विशेष कठिनाई नहीं होगी जो प्रत्यक्ष वास्तविक मूल्य से सीधे उत्पादन के पूंजीवादी रूप के मूल्य की ग्रोर पहुंचती हैं ; उत्पादन के पूंजीवादी रूप का यह मूल्य इतना गुप्त है कि हमारे ग्रर्थशास्त्री बड़े मज़े से उसके ग्रस्तित्व से इन्कार कर सकते हैं। इस प्रक्रिया का सच्चे ग्रर्थों में ऐतिहासिक विवेचन, जो निस्सन्देह ग्रामूल ग्रनुसंधान की तो ग्रपेक्षा करता ही है, साथ ही बदले में ज़ोरदार परिणामों की सम्भावना भी प्रस्तुत करता है, 'पूंजी'[195] के लिए बहुत मूल्यवान परिशिष्ट होगा।

ग्रन्त में मैं ग्रापको धन्यवाद देना चाहता हूं कि ग्रापने यह मानकर कि मैं तृतीय खंड को ग्रौर ग्रच्छा बना सकता था, मेरे बारे में बहुत ऊंची राय बनायी है। परन्तु मैं ग्रापसे सहमत नहीं हो सकता ; मेरा यह विश्वास है कि मार्क्स को स्वयं मार्क्स के शब्दों में प्रस्तुत करके मैंने ग्रपना कर्त्तव्य निभाया है, भले ही इस तरह पाठक के लिए ग्रपने दिमाग़ पर कुछ ग्रौर ज़ोर डालने का काम छोड़ दिया गया हो...

ग्रंग्रेज़ी से ग्रनूदित।

टिप्पणियां

1 **'परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति'** – मार्क्सवाद का एक आधारभूत ग्रंथ, जो मानव-विकास की प्रारंभिक अवस्थाओं में मानवजाति के इतिहास का विश्लेषण करता है, आदिम सामुदायिक व्यवस्था के विघटन की तथा निजी स्वामित्व पर आधारित वर्ग-समाज की स्थापना की प्रक्रिया को उद्घाटित करता है, इस वर्ग-समाज के सामान्य लक्षणों की रूपरेखा प्रस्तुत करता है, भिन्न-भिन्न सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थाओं में पारिवारिक संबंधों की विशेषताओं की व्याख्या करता है, राज्य के मूल तथा सारतत्त्व को प्रत्यक्ष करता है और वर्गहीन कम्युनिस्ट समाज की अंतिम विजय के साथ उसके विलोपन की ऐतिहासिक अनिवार्यता को प्रमाणित करता है।

एंगेल्स ने यह पुस्तक १८८४ में मार्च के अंत से लेकर मई के अंत तक दो महीनों में लिखी थी। मार्क्स की पांडुलिपियों को छांटने के सिलसिले में एंगेल्स को ल्यूईस मौर्गन की पुस्तक, 'प्राचीन समाज' का मार्क्स द्वारा तैयार विस्तृत सारांश मिला, जो उन्होंने १८८०–१८८१ में लिखा था। इस में मार्क्स की बहुत-सी आलोचनात्मक टिप्पणियां थीं, उनके अपने विश्लेषण के सूत्र थे तथा अन्य स्रोतों से ली गयी अतिरिक्त सामग्री भी थी। प्रगतिशील अमरीकी विद्वान की रचना के मार्क्स द्वारा प्रस्तुत इस सारांश का अध्ययन कर और यह अनुभव कर कि मौर्गन की पुस्तक उनकी और मार्क्स की इतिहास की भौतिकवादी समझ तथा आदिम समाज के उनके विश्लेषण की पुष्टि करती है, एंगेल्स ने इस विषय पर एक विशेष पुस्तक लिखना आवश्यक समझा। उन्होंने मार्क्स की टिप्पणियों और उनकी प्रस्थापनाओं का तथा मौर्गन की पुस्तक से प्राप्त तथ्य-सामग्री का व्यापक रूप से उपयोग किया। एंगेल्स की दृष्टि में उनकी यह रचना मार्क्स की "अंतिम इच्छा और वसीयत की आंशिक पूर्ति

थी।" पुस्तक लिखते समय एंगेल्स ने बहुत-सी अतिरिक्त सामग्री का इस्तेमाल किया जो उन्हें यूनान और रोम, प्राचीन आयरलैंड, प्राचीन जर्मन लोगों, आदि के इतिहास के अध्ययन से प्राप्त हुई थी।

१८९० में आदिम समाज के बारे में प्रचुर सामग्री एकत्न करने के बाद एंगेल्स ने पुस्तक का नया, चतुर्थ संस्करण निकालने की तैयारी की। इस तैयारी के सिलसिले में अनुसंधान करते हुए उन्होंने आधुनिकतम साहित्य का, विशेषत: रूसी वैज्ञानिक म० म० कोवालेव्स्की की कृतियों का अध्ययन किया और पुस्तक के मूलपाठ में बहुत से परिवर्तन और संशोधन किये तथा काफ़ी नयी सामग्री जोड़ी, ख़ासकर परिवार वाले अध्याय में।

प्रस्तुत संस्करण १८९१ के अंत स्टुटगार्ट में प्रकाशित चौथे संशोधित संस्करण का अनुवाद है। – पृ० ९।

[2] यह **'परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति'** पुस्तक के लिए एंगेल्स द्वारा चौथे संस्करण के लिए लिखी गयी भूमिका है। पुस्तक के निकलने से पहले यह *«Neue Zeit»* पत्रिका (अंक ४१, १८९१) में 'आदिम परिवार के इतिहास के बारे में' शीर्षक से प्रकाशित हुई थी। – पृ० १२।

[3] *«Contemporanul»* ('समकालीन') – समाजवादी प्रवृत्ति रखनेवाली एक रूमानियाई पत्रिका जो यास्सी नगर से १८८१ से लेकर १८९० तक निकलती रही। – पृ० १३।

[4] **मगर** – एक पुराना क़बीला, इस समय पश्चिमी नेपाल में बसी हुई एक जाति – पृ० १९।

[5] एंगेल्स ने संयुक्त राज्य अमरीका और कनाडा की यात्रा अगस्त – सितम्बर १८८८ में की थी। – पृ० १५।

[6] **पुएब्लो** – उत्तरी अमरीका के इंडियन क़बीलों का एक समूह; ये क़बीले, जिनका एक ही इतिहास और एक ही संस्कृति थी, न्यू-मैक्सिको (इस समय संयुक्त राज्य अमरीका का दक्षिण-पश्चिमी भाग तथा उत्तर मैक्सिको) में बसते थे। उन्हें स्पेनी आबादकारों ने pueblo कहना शुरू किया (जिसका अर्थ स्पेनी भाषा में जाति, समुदाय, गांव है)। पुएब्लो लोग बड़े-बड़े पांच-छ: मंज़िला सामुदायिक घरों में रहा करते थे। हर घर छोटी-मोटी गढ़ी जैसा होता था और उसमें लगभग एक हज़ार आदमी – पूरा समुदाय – रहते थे। – पृ० ३१।

[7] मार्क्स का यह पत्र नष्ट हो गया है। एंगेल्स ने कार्ल काउत्स्की के नाम ११ अप्रैल १८८४ के अपने पत्र में मार्क्स के इस पत्र का उल्लेख किया था।–पृ० ४५।

[8] यहां आर० वैगनर द्वारा रचित ऑपेरा 'निबेलुंगेनरिंग' के पाठ की ओर संकेत है। विषय स्कैंडिनेवियाई महाकाव्य 'एड्डा' तथा जर्मन महाकाव्य 'निबेलुंगेनलीड' से लिया गया था।–पृ० ४५।

[9] **'एड्डा'** और **'ओगिस्ड्रेका'**–स्कैंडिनेवियाई जनगण की पुराणकथाओं और वीर-गाथाओं का एक संग्रह।–पृ० ४५।

[10] **"आसा"** और **"वाना"**–स्कैंडिनेवियाई पुराणकथाओं में देवताओं के दो समूह।

'इंगलिंग वीर-गाथा' आइसलैंड के मध्ययुगीन कवि तथा वृत्तकार स्नोरी स्टुरलुसन द्वारा प्राचीन काल से लेकर १२ वीं शताब्दी तक के नार्वेई राजाओं के बारे में लिखी गयी पुस्तक की पहली गाथा।–पृ० ४५।

[11] यहां इशारा आस्ट्रेलिया के अधिकांश आदिवासी क़बीलों में पाये जानेवाले दो विशेष समूहों की ओर है, जिनमें प्रत्येक के पुरुष एक निश्चित समूह की स्त्रियों के साथ विवाह कर सकते थे। हर क़बीले में ऐसे ४–८ समूह होते थे।–पृ० ५०।

[12] Saturnalia (**'शनि-महोत्सव'**)–प्राचीन रोम में फ़सल की कटाई के अवसर पर मनाया जानेवाला वार्षिक शनि-महोत्सव; महोत्सव में लोगों को यौन-संबंध तथा संभोग की पूर्ण स्वतंत्रता होती थी। अब यह शब्द स्वच्छंद रंगरेलियों और बदमस्तियों की व्यंजना के लिए प्रयुक्त होता है।–पृ० ६०।

[13] L. H. Morgan, «*Ancient Society*», London, 1877, p, 465—466 –पृ० ६८।

[14] उपरोक्त पुस्तक, पृष्ठ ४७०।–पृ० ६८।

[15] यहां इशारा म० म० कोवालेव्स्की की पुस्तक 'आदिम क़ानून, भाग १, गोत्र' (मास्को, १८८६) की ओर है। लेखक ने रूस में कुटुंब-समुदाय के बारे में ओर्शान्स्की द्वारा १८७५ में और येफ़ीमेन्को द्वारा १८७८ में संग्रहीत तथ्य-सामग्री दी है।–पृ० ७०।

[16] **यारोस्लाव का 'प्राव्दा'** – प्राचीन रूस की विधि-संहिता, 'रूसी प्राव्दा' के पुराने पाठ में संहिता का पहला भाग। यह संहिता ११वीं और १२वीं शताब्दियों में प्रचलित नियमों के आधार पर तैयार की गयी थी और तत्कालीन समाज के सामाजिक-आर्थिक संबंधों को प्रतिबिंबित करती थी।

डाल्मेशियन क़ानून – ये पालिट्ज़ (डाल्मेशिया का एक भाग) में १५वीं से १७वीं शताब्दियों तक लागू रहे और पालिट्ज़-संविधि के नाम से जाने जाते थे। – पृ० ७०।

[17] Calpullis – स्पेन द्वारा मैक्सिको विजय के समय मैक्सिको के इंडियनों के कुटुंब-समुदाय, जिनके सदस्य एक ही पूर्वज के वंशज होते थे। हर कुटुम्ब-समुदाय के पास अपनी सामूहिक ज़मीन होती थी, जो न तो हस्तान्तरित की जा सकती थी और न वारिसों के बीच बांटी जा सकती थी। – पृ० ७१।

[18] *«Das Ausland»* ('विदेश') – एक जर्मन पत्रिका, जिसका विषय भूगोल, नृवंश-विज्ञान और प्रकृति-विज्ञान था। वह १८२८ से १८९३ तक (१८७३ से स्टुटगार्ट से) प्रकाशित होती रही। – पृ० ७१।

[19] यहां इशारा दीवानी क़ानून की धारा २३० की ओर है। आशय नेपोलियन प्रथम के शासन-काल (१८०४) में स्वीकृत विधि-संहिता (Code civil) से है, जो 'नेपोलियन विधि-संहिता' के नाम से भी ज्ञात है। नेपोलियन की इस संहिता की चर्चा करते हुए एंगेल्स प्रायः केवल Code civil को ही नहीं, वरन् संपूर्ण पूंजीवादी क़ानून की उस पूरी प्रणाली को ध्यान में रखते थे जो नेपोलियन प्रथम के शासन-काल (१८०४–१८१०) में स्वीकृत हुई थी और जिसमें पांच संहिताएं (दीवानी, दीवानी-प्रक्रिया, वाणिज्य, फ़ौजदारी और फ़ौजदारी-विधि शामिल हैं। इन संहिताओं को नेपोलियनी फ़्रांस द्वारा अधिकृत जर्मनी के पश्चिमी और दक्षिण-पश्चिमी प्रदेशों में लागू किया गया था और वे राइन प्रांत में उसे प्रशा में संयोजित किये जाने (१८१५) के बाद भी लागू रहीं। – पृ० ७३।

[20] **स्पार्टियेट** – प्राचीन स्पार्टा के पूर्णाधिकारप्राप्त नागरिक।

हीलोट – प्राचीन स्पार्टा के अधिकारहीन निवासी। ये लोग भूमि के साथ संलग्न थे और स्पार्टा के ज़मींदारों की बेगारी करने के लिए बाध्य थे। – पृ० ७५।

[21] **एरिस्तोफ़ेनस**, 'थेस्मोफ़ोरिया उत्सव में स्त्रियां'। – पृ० ७५।

[22] **हायरोड्यूलें** – प्राचीन यूनान तथा यूनानी उपनिवेशों की देवदासियां। अनेक स्थानों में, जैसे एशिया माइनर तथा कोरिन्थ में ये देवदासियां वेश्याजीवन व्यतीत करती थीं। – पृ० ७८।

[23] **'गुडरुन'** – १३ वीं शताब्दी का जर्मन महाकाव्य। – पृ० ६२।

[24] यहां इशारा १५१६–१५२१ में स्पेनी उपनिवेशकों द्वारा मैक्सिको की विजय की ओर है। – पृ० १०६।

[25] L. H. Morgan, «*Ancient Society*», London, 1877, p. 115. – पृ० १०८।

[26] **"तटस्थ जातियां"** – एक सैनिक संश्रय, जिसे १७ वीं शताब्दी में कुछ इंडियन क़बीलों ने स्थापित किया था। ये क़बीले इरोक्वा लोगों से मिलते-जुलते थे और इरी झील के उत्तरी तट पर रहते थे। फ़्रांसीसी उपनिवेशकों ने उनके लिए इस नाम का प्रयोग इसलिए किया कि ये लोग इरोक्वा और हूरोन क़बीलों के बीच होनेवाली लड़ाइयों में तटस्थ रहे। – पृ० ११४।

[27] यहां इशारा १८७६–१८८७ के काल में ब्रिटिश उपनिवेशकों के ख़िलाफ़ जुलू लोगों के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की ओर है।

सूडान की नुबियाई, अरब तथा अन्य जातियों ने १८८१ से १८८४ तक चलनेवाले राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष में भाग लिया। मुसलमान धर्म प्रचारक मुहम्मद अहमद के नेतृत्व में चलनेवाले उनके विद्रोह की परिणति एक स्वतंत्र केंद्रीकृत राज्य की स्थापना में हुई। ब्रिटिश उपनिवेशकों ने १८६६ में ही जाकर सूडान पर क़ब्ज़ा किया। – पृ० ११४।

[28] यहां इशारा तथाकथित मेटोइकाओं या विदेशियों से है जो ऐतिका राज्य में स्थायी रूप से बस गये थे। वे स्वतंत्र तो थे पर उन्हें एथेनी नागरिकों के पूर्ण अधिकार प्राप्त न थे। इन लोगों का धंधा मुख्यतः दस्तकारी और व्यापार था। उन्हें एक विशेष कर देना पड़ता था तथा विशेषाधिकारप्राप्त नागरिकों में किन्हीं को अपना "संरक्षक" मानना पड़ता था; इन "संरक्षकों" की मारफ़त ही वे शासन निकायों से दरख़ास्त कर सकते थे। – पृ० १३७।

[29] **"बारह पट्टिकाओं वाले क़ानून"** – रोमन विधि-संहिता, जो पैट्रीशियनों के ख़िलाफ़ प्लेबियनों के संघर्ष के फलस्वरूप पांचवीं शताब्दी ई० पू० के मध्य में सूत्रबद्ध की गयी थी। इस संहिता में रोमन समाज का संपत्ति के अनुसार स्तरीकरण, दास-प्रथा के विकास तथा दासस्वामी राज्य की स्थापना का एक

प्रतिबिंब मिलता है। चूंकि यह संहिता बारह पट्टिकाओं पर खुदी हुई थी, इसलिए वह "बारह पट्टिकाओं वाले क़ानून" के नाम से जानी जाती है।– पृ० १४२।

30 **दूसरा प्युनिक युद्ध** (२१८–२०१ ई० पू०) – पश्चिमी भूमध्यसागर के क्षेत्र में प्रभुत्व तथा नये प्रदेशों और ग़ुलामों पर अधिकार के लिए दो सबसे बड़े दासस्वामी राज्यों – रोम और कार्थेज के – बीच हुआ युद्ध। इसकी परिणति कार्थेज की पराजय में हुई। – पृ० १४३।

31 अंग्रेज़ों ने अंततः १२८३ में वेल्स को जीत लिया परंतु फिर भी उसने अपनी स्वायत्तता सुरक्षित रखी। वह १६ वीं शताब्दी के मध्य में ही पूरी तरह इंगलैंड के अधीन हुआ। – पृ० १५४।

32 १८६९–१८७० में एंगेल्स आयरलैंड के इतिहास के बारे में एक ग्रंथ की रचना कर रहे थे, परंतु वह उसे पूरा न कर सके। केल्ट जाति के इतिहास के अध्ययन के सिलसिले में एंगेल्स ने वेल्स के प्राचीन क़ानूनों का भी विश्लेषण किया था। – पृ० १५५।

33 एंगेल्स ने यह अंश «*Ancient Laws and Institutes of Wales*» पुस्तक से उद्धृत किया है। (खंड १, १८४१, पृ० ९३)। – पृ० १५६।

34 एंगेल्स ने स्काटलैंड और आयरलैंड का दौरा सितम्बर १८९१ में किया था। – पृ० १५७।

35 १७४५–१७४६ में स्काटलैंड के पहाड़ी क़बीलों ने इंगलैंड और स्काटलैंड के सामंतों और पूंजीपतियों के ज़ोर-ज़ुल्म और बेदख़लियों से तंग आकर विद्रोह कर दिया। पहाड़ियों ने समाज की परंपरागत गोत्र-व्यवस्था को क़ायम रखने के लिए संघर्ष किया। विद्रोह कुचल दिया गया और स्काटलैंड के पहाड़ी इलाक़ों की गोत्र-व्यवस्था छिन्न-भिन्न कर दी गयी तथा भूमि के गोत्र स्वामित्व के अवशेष मिटा दिये गये। स्काटलैंड के किसान अधिकाधिक संख्या में अपनी ज़मीनों से बेदख़ल किये जाने लगे। गोत्र पंचायतें भंग कर दी गयीं और कई गोत्र रिवाजों पर रोक लगा दी गयी – पृ० १५८।

36 L. H. Morgan, «*Ancient Society*», London, 1877, p. 357—358. – पृ० १५८।

37 **'एलामान्नी क़ानून'** – एलामान्नों के जर्मन क़बायली संघ की विधि-संहिता (छठी शताब्दी का अंत, सातवीं का आरम्भ तथा आठवीं शताब्दी)। ये क़बीले पांचवीं शताब्दी में आजकल के अल्सास, पूर्वी स्विट्ज़रलैंड और दक्षिण-पश्चिमी जर्मनी के इलाक़े में बस गये थे। यहां एंगेल्स का इशारा 'एलामान्नी क़ानून' की ८१वीं (८४वीं) धारा की ओर है। – पृ० १५६।

38 **'हिल्डेब्रांड का गीत'** – एक वीरगाथा, जो आठवीं शताब्दी के प्राचीन जर्मन वीरकाव्य का एक नमूना है, जिसके कुछ अंश ही बचे रह गये हैं। – पृ० १६०।

39 रोम के आधिपत्य के ख़िलाफ़ जर्मन और गाल क़बीलों का विद्रोह ६६–७० में (कुछ सूत्रों के अनुसार ६६–७१ में) हुआ था। सिविलियस के नेतृत्व में यह विद्रोह गालीय तथा रोमन साम्राज्य के अधीन जर्मन क्षेत्रों के एक बड़े भाग में फैल गया और उसने यह ख़तरा पैदा कर दिया कि रोमन साम्राज्य इन इलाक़ों से हाथ धो बैठेगा। परंतु विद्रोहियों की हार हुई और उन्हें रोम के साथ समझौता करने पर विवश होना पड़ा। – पृ० १६३।

40 *«Codex Laureshamensis»* ('लार्श की संहिता') – लार्श मठ के अधिकार-पत्रों का एक संग्रह, जो १२वीं शताब्दी में तैयार किया गया था। यह ८वीं – ६वीं शताब्दियों में किसानी और सामंती भूमि-संपत्ति व्यवस्था के बारे में एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ है। – पृ० १६७।

41 यहां इशारा **जर्मन राष्ट्र के पवित्र रोमन साम्राज्य** की ओर है। यह ६६२ में स्थापित एक मध्ययुगीन साम्राज्य था, जिसमें जर्मनी का प्रदेश और इटली का भी एक भाग शामिल था। बाद में इसमें कुछ फ़्रांसीसी इलाक़े, बोहीमिया, आस्ट्रिया, नीदरलैंड, स्विट्ज़रलैंड तथा अन्य प्रदेश भी शामिल कर लिये गये। साम्राज्य केन्द्रीकृत राज्य न होकर सामंती रियासतों और स्वतंत्र नगरों का, जो सम्राट की सर्वोच्च सत्ता को मानते थे, एक शिथिल संघ था। १८०६ में, जब फ़्रांस के ख़िलाफ़ युद्ध में पराजित होने के बाद, हैब्सबर्ग राजवंश को पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट के पद का परित्याग करना पड़ा, तो यह साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। – पृ० १७६।

42 «Beneficium» ('दान') – वे ज़मीनें जो किसी सेवा के पुरस्कार में दी जाती थीं। पुरस्कार की यह प्रथा फ़्रैंक राज्य में ८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आम तौर पर प्रचलित थी। किसी सेवा के लिए, विशेष रूप से सैनिक सेवा

के लिए, ज़मीनें (जिनके साथ भूदास भी होते थे) बतौर दान के ज़िंदगी भर के लिए बख़्श दी जाती थीं। इस प्रथा ने सामंती वर्ग के, मुख्यतः छोटे और मंझोले सामंतों के आविर्भाव को, किसानों के भूदासों में रूपांतरण को और सामन्ती भृत्य संबंधों तथा सामंती पदसोपान के विकास को बल दिया। बाद में दान में प्राप्त ज़मीनें पुश्तैनी जागीरें बना दी गयीं। —पृ० १७६।

43 Gaugrafen ('ज़िलों के काउंट') — फ्रैंक राज्य में काऊंटियों — ज़िलों — के प्रशासन के लिए नियुक्त शाही अफ़सर, जिन्हें मुक़दमों का फ़ैसला करने का अधिकार दिया गया था। ये लोग टैक्स वसूल करते थे और सैनिक अभियानों में सैनिक टुकड़ियों की कमान भी इनके हाथ में रहती थी। उन्हें अपनी सेवाओं के लिए ज़िले विशेष में वसूल हुई शाही आमदनी का एक-तिहाई भाग दिया जाता था और इनाम में जागीरें भी बख़्शी जाती थीं। विशेष रूप से ८७७ के बाद, जब इस पद को उत्तराधिकार द्वारा हस्तांतरणीय बना दिया गया, ये काउंट धीरे-धीरे शक्तिशाली मौरूसी ज़मींदार बनते गये। —पृ० १८०।

44 Angariae — रोमन साम्राज्य के निवासियों द्वारा की जानेवाली अनिवार्य सेवायें। उन्हें राजकीय कार्यों के लिए घोड़ा, गाड़ी, आदि की सप्लाई करनी पड़ती थी। कालांतर में ये सेवायें वृहत्तर पैमाने पर इस्तेमाल की जाने लगीं और जनता पर बोझ बन गयीं। —पृ० १८१।

45 Commendation (संरक्षण) — किसान का अपने को छोटे ज़मींदार को "रक्षार्थ" तथा छोटे ज़मींदार का अपने को किसी प्रभुताशाली ज़मींदार के हाथों में "रक्षार्थ" सौंपा जाना। यह प्रथा निश्चित नियमों (जैसे सैनिक सेवा अर्पित करना, ठेके की जोत के बदले अपनी ज़मीन हस्तांतरित करना) पर आधारित होती थी। किसानों के लिए, जो अक्सर ज़ोर-ज़बरदस्ती के ज़रिए ऐसा करने के लिए मजबूर किये जाते थे, इसका अर्थ था अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता को खो बैठना; छोटे ज़मींदारों के लिए इसका अर्थ था बलशाली सामंती प्रभुओं का आश्रित हो जाना। सरपरस्ती की प्रथा, जो यूरोप में ८वीं और ९वीं शताब्दियों से ख़ूब प्रचलित हुई, सामंती संबंधों के सुदृढ़ीकरण में सहायक सिद्ध हुई। —पृ० १८२।

46 यहां इशारा ११वीं — १३वीं शताब्दियों के उन सैनिक-उपनिवेशी अभियानों की ओर है जो पश्चिमी यूरोप के बड़े-बड़े सामंत सरदारों तथा इतालवी व्यापारियों ने पूर्व में इस धार्मिक उद्देश्य को लेकर चलाये थे कि यरूशलम

तथा दूसरे "तीर्थ स्थानों" के पवित्र स्मारक मुसलमानों के हाथों से छीन लिये जायें। पूरी दुनिया पर हावी होने के लिए सचेष्ट कैथोलिक चर्च तथा पोप ने इन धर्म-युद्धों को प्रेरित किया और उचित ठहराया, जबकि उनके लिए मुख्य सैनिक शक्ति सामंतों ने प्रस्तुत की। सामंती जुए से छुटकारा पाने के लिये सचेष्ट किसानों ने भी इन धर्म-युद्धों में भाग लिया। धर्म-योद्धा जिन भी देशों से गुज़रे, उनकी मुसलमान तथा ईसाई, दोनों आबादियों को उन्होंने लूटा-मारा। उनकी लूट की लिप्सा के शिकार सीरिया, फ़िलिस्तीन, मिस्र तथा ट्यूनिसिया के मुस्लिम राज्य ही नहीं थे, बल्कि ईसाई मत को माननेवाला बज़नतीनी साम्राज्य भी था। लेकिन पूर्वी भूमध्यसागर के क्षेत्र में उनकी जीतें टिकाऊ न हो सकीं, और मुसलमानों के हाथों से जो प्रदेश निकल गये थे वे शीघ्र ही फिर उनके हाथ में आ गये। – पृ० १८३।

47 **हेस्टिंग्स** – वह स्थान जहां, १४ अक्तूबर १०६६ को नार्मंडी के ड्यूक विलियम ने आंग्ल-सैक्सन राजा हैरोल्ड को हराया था। आंग्ल-सैक्सन सैनिक संगठन में प्राचीन गोत्र-व्यवस्था के अवशेष मौजूद थे और उसके शस्त्रास्त्र भी पुराने-धराने ही थे। इस विजय के फलस्वरूप विलियम इंगलैंड का राजा बन गया और विलियम प्रथम विजेता कहलाया। – पृ० १९०।

48 **डिथमार्शेन** – वर्तमान श्लेज़विग-होल्स्टिन प्रदेश का दक्षिणी-पश्चिमी भाग है। १३ वीं और १६ वीं शताब्दियों के मध्य काल में वह वस्तुतः स्वतंत्रता का उपभोग करता था। इस काल में डिथमार्शेन का समाज स्वशासी किसान समुदायों का, जो पुराने किसान-कुटुंबों पर आधारित थे, एक समूह था। १५५९ में डेन राजा फ़्रेडरिक द्वितीय तथा होल्स्टिन के ड्यूक जोहान और अदोल्फ़ की सेनाओं ने डिथमार्शेन की जनता के प्रतिरोध को चूर कर दिया और यह प्रदेश विजेताओं के बीच बांट दिया गया। फिर भी यहां सामुदायिक व्यवस्था और आंशिक स्वशासन १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक चलता रहा। – पृ० १९९।

49 देखें हेगेल, 'न्याय का दर्शन', अनुच्छेद २५७ तथा ३६०। – पृ० १९९।

50 नेपोलियन प्रथम बोनापार्त का **प्रथम साम्राज्य** फ़्रांस में १८०४ से १८१४ तक क़ायम रहा। नेपोलियन तृतीय का **द्वितीय साम्राज्य** १८५२ से १८७० तक क़ायम रहा। – पृ० २०१।

[51] **युंकरशाही** – पूर्वी प्रशा के सामंती भूस्वामियों का वर्ग है, जिसके प्रतिनिधियों का सेना, समस्त राजकीय और राजनीतिक क्षेत्रों में प्रभुत्व रहा था और जिसके कारण पहले प्रशा और फिर जर्मनी में सैन्यवादी पुलिस नौकरशाही का क़ायम होना संभव हुआ। – पृ० २०२।

[52] एंगेल्स की पुस्तक, '**लुडविग फ़ायरबाख़ और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अंत**' में यह स्पष्ट किया गया है कि मार्क्सवादी विश्वदृष्टिकोण किस प्रकार विकसित हुआ और उसका सारतत्त्व क्या है। उसमें द्वंद्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधारभूत सिद्धांतों की व्यवस्थित रूप से विवेचना की गयी है और मार्क्सवाद तथा मार्क्सवाद के पूर्वगामी दर्शन – जर्मन क्लासिकीय दर्शन के प्रमुख प्रतिनिधि हेगेल और फ़ायरबाख़ के दर्शन – के बीच संबंधों पर प्रकाश डाला गया है।

एंगेल्स दर्शन के समूचे इतिहास में उसकी सर्वप्रमुख विशेषता – दो शिविरों के बीच, भौतिकवाद तथा भाववाद के बीच संघर्ष – को प्रत्यक्ष करते हैं। एंगेल्स ने पहली बार इस पुस्तक में दर्शन के आधारभूत प्रश्न – चिंतन और अस्तित्व, चेतना और प्रकृति के संबंध के प्रश्न – की क्लासिकीय परिभाषा की। दर्शन के इस आधारभूत प्रश्न के प्रति दार्शनिक के दृष्टिकोण से ही इस बात का फ़ैसला होता है कि वह किस दार्शनिक शिविर में है – भाववाद के या भौतिकवाद के।

इस बात पर बल देते हुए कि भौतिकवाद और भाववाद के बीच सामंजस्य स्थापित करने और इस प्रकार एक मध्यवर्ती प्रकार के दर्शन (द्वैतवाद या अज्ञेयवाद) को स्थापित करने के प्रयत्न निस्सार और निरर्थक हैं, एंगेल्स ने अज्ञेयवाद का, वह चाहे जिस रूप में भी प्रगट होता हो, खंडन किया और कहा कि "इसका और अन्य सभी दार्शनिक सनकों का सबसे कारगर खण्डन व्यवहार, यानी प्रयोग और उद्योग द्वारा होता है।" (प्रस्तुत खण्ड, पृष्ठ २२६।)

मार्क्स ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का प्रतिपादन कर दर्शन में जो क्रांति की थी, एंगेल्स ने उसके सारतत्त्व को प्रगट किया। उन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवाद के सारतत्त्व की गहरी छानबीन की, जिसने मानव समाज के इतिहास में क्रियाशील सामान्य नियमों को निर्धारित किया। यह लक्ष्य करते हुए कि आर्थिक संबंध ही ऐतिहासिक प्रक्रिया तथा राजनीतिक व्यवस्था के

चरित्र को और धर्म तथा दर्शन समेत सामाजिक चेतना के सभी रूपों और प्रकारों को निश्चित करते हैं, एंगेल्स ने साथ ही ज़ोर देकर कहा कि विचार-धारात्मक ऊपरी ढांचा सक्रिय भूमिका अदा करता है और स्वतंत्र रूप से विकास करने तथा आर्थिक आधार पर जवाबी असर डालने की क्षमता रखता है।

दार्शनिक प्रवृत्तियों के संघर्ष के समूचे इतिहास, जिसमें वर्गों और पार्टियों का संघर्ष प्रतिबिंबित है, की पृष्ठभूमि में दर्शन की पक्षधरता के सिद्धान्त की अभिपुष्टि करने का बहुत कुछ श्रेय एंगेल्स को है। एंगेल्स की यह कृति सर्वहारा प्रतिबद्धता तथा सिद्धान्तनिष्ठ दार्शनिक चिन्तन का आदर्श है।– पृ० २१०।

53 यहां इशारा का० मार्क्स और फ़्रे० एंगेल्स की पुस्तक 'जर्मन विचारधारा' की ओर है।–पृ० २१०।

54 «*Die Neue Zeit*» ('नया ज़माना')–जर्मन सामाजिक-जनवाद की सैद्धांतिक पत्रिका, जो स्टुटगार्ट में १८८३ से १९२३ तक प्रकाशत होती रही। १८८५ और १८९४ के बीच उसमें एंगेल्स के कई लेख प्रकाशित होते रहे।–पृ० २११।

55 १८३३–१८३४ में हेनरिक हाइने ने अपनी कृतियां, 'रोमानी पंथ' और 'जर्मनी में धर्म तथा दर्शन के इतिहास के बारे में' प्रकाशित कीं, जिनमें उन्होंने यह विचार प्रस्तुत किया कि जर्मनी की दार्शनिक क्रांति, जिसकी परिणति हेगेल के दर्शन में हुई थी, जर्मनी में आसन्न जनवादी क्रांति की भूमिका है।–पृ० २१४।

56 देखें हेगेल की रचना, 'न्याय का दर्शन। भूमिका'।–पृ० २१४।

57 **पुराणपंथी धर्मानुरागी**–१७वीं शताब्दी के अंत तथा १८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रोटेस्टेंटों के बीच धार्मिक-रहस्यवादी प्रवृत्ति जो नीदरलैंड्स और जर्मनी में शुरू हुई थी। पुराणपंथी धर्मानुराग कोई विशेष सम्प्रदाय न था, वरन् वह एक प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति था, जो तर्कबुद्धिवाद तथा ज्ञानोद्दीप्ति दर्शन पर प्रहार करता था।–पृ० २२०।

58 «*Deutsche Jahrbücher für Wissenschaft und Kunst*» ('विज्ञान तथा कला की जर्मन वार्षिकी')–तरुण हेगेलवादियों की साहित्यिक और दार्शनिक

पत्रिका जो लाइप्जिग में जुलाई १८४१ से जनवरी १८४३ तक प्रकाशित होती रही।—पृ० २२०।

59 *«Rheinische Zeitung für Politik Handel und Gewerbe»* ('राजनीति, व्यापार तथा उद्योग के प्रश्न-सम्बन्धी राइनी समाचारपत्र')—एक दैनिक, जो कोलोन से १ जनवरी १८४२ से ३१ मार्च १८४३ तक निकलता रहा। अप्रैल १८४२ के बाद से मार्क्स ने इस पत्र के लिये लेख लिखे और उसी वर्ष अक्तूबर में उसके संपादकमंडल के सदस्य बन गये। एंगेल्स ने भी उसके लिए काम किया था।—पृ० २२१।

60 यहां इशारा म० स्टर्नर की कृति, *«Der Einzige und sein Eigenthum»* ('अहम् और स्वत्व') की ओर है, जो लाइप्जिग में १८४५ में प्रकाशित हुई।—पृ० २२१।

61 यहां नेपच्यून (वरुण) ग्रह का संकेत है जिसका पता जर्मन खगोल-विज्ञानी जोहान गाल्ले ने १८४६ में लगाया था।—पृ० २२६।

62 १८वीं शताब्दी में रसायन विज्ञान में प्रचलित धारणाओं के अनुसार फ़्लोजिस्टन दाह्य पदार्थों का ज्वलन-तत्त्व था जो दहन के समय अलग हो जाता था। विख्यात फ़्रांसीसी रसायन-विज्ञानी लावोइज़िए ने दहन प्रक्रिया की सही व्याख्या करके और यह दिखाकर कि वह दाह्य पदार्थों का आक्सीजन के साथ रासायनिक संयोजन है, इस सिद्धान्त का खण्डन किया।—पृ० २२९।

63 **निरपेक्ष आदेश**—कांट के नीतिशास्त्र में नैतिक कर्त्तव्य की अवधारणा, जो इस सूत्र में अभिव्यक्त है: "इस तरह व्यवहार किया करो कि तुम्हारा निरपेक्ष संकल्प सार्विक क़ानून भी बना रहे"।

कांट के नीतिशास्त्र में नैतिक आचार का सिद्धांत इतिहासेतर एवं वर्गेतर स्वरूप का है।—पृ० २३२।

64 **निर्गुणवाद**—एक धार्मिक-दार्शनिक मत, जो ईश्वर को निर्वैयक्तिक सत्ता और संसार का चिद्स्वरूप आदिकारण मानता है, परंतु प्रकृति और समाज में ईश्वरीय हस्तक्षेप को नहीं मानता।—पृ० २३३।

65 **सादोवा का स्कूलमास्टर**—सादोवा में प्रशियाइयों की विजय (देखें टिप्पणी ११९) के बाद जर्मन पूंजीवादी पत्रकारों द्वारा प्रयुक्त अभिव्यंजना। उसका

प्रयोजन यह बताना है कि प्रशियाई विजय का कारण प्रशा की जन-शिक्षा पद्धति की श्रेष्ठता थी। – पृ० २४१।

66 फ़्रांस में **पुनःस्थापन काल** – बूर्बों राजवंश के दोबारा शासन का काल (१८१४–१८३०)। – पृ० २५३।

67 **निकीया परिषद** – रोमन साम्राज्य के ईसाई बिशपों की पहली सार्वदेशिक परिषद, जो ३२५ में सम्राट कान्सटैन्टाइन प्रथम द्वारा एशिया माइनर के निकीया नगर में बुलायी गयी थी। परिषद ने तथाकथित "धर्म-सूत्र" स्वीकृत किया, जिसे ग्रहण करना सभी ईसाइयों के लिए अनिवार्य बना दिया गया। – पृ० २५६।

68 **आल्बीजांस** (आल्बी नगर पर पड़ा नाम) – १२ वीं और १३ वीं शताब्दियों में दक्षिण फ़्रांस और उत्तर इटली में प्रचलित धार्मिक संप्रदाय। आल्बीजांसों ने ठाठदार कैथोलिक अनुष्ठानों तथा पादरी पद-सोपान के विरुद्ध आन्दोलन चलाया था और साथ ही साथ नगरों की व्यापारी तथा दस्तकारी जनता द्वारा सामन्तवाद के विरोध को धार्मिक रूप में अभिव्यक्त किया था। – पृ० २५६।

69 १४७७ और १५५५ के बीच हालैंड जर्मन राष्ट्र के पवित्र रोमन साम्राज्य (देखें टिप्पणी ४१) का अंग था। रोमन साम्राज्य के विघटन के बाद हालैंड स्पेन के अधीन हो गया। १६ वीं शताब्दी की पूंजीवादी क्रांति के अंत में हालैंड को स्पेनी शासन से मुक्ति मिली और वह एक स्वाधीन पूंजीवादी जनतंत्र बन गया। – पृ० २६०।

70 यहां इशारा इंगलैंड की "गौरवमयी क्रान्ति" की ओर है।

"गौरवमयी क्रांति" – अंग्रेज़ी पूंजीवादी इतिहास में १६८८ में हुआ राज-परिवर्तन इसी नाम से ज्ञात है। इसके परिणामस्वरूप ब्रिटेन में स्टूअर्ट राजवंश को पदच्युत कर दिया गया और १६८९ में विलियम ओरान की रहनुमाई में संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना हुई। नया राजतंत्र सामंती भू-स्वामियों तथा बड़े पूंजीपतियों की सांठ-गांठ पर आधारित था। – पृ० २६०।

71 **लघु जर्मन साम्राज्य** – इस पद का प्रयोग जर्मन साम्राज्य (आस्ट्रिया के बग़ैर) के लिए किया जाता है, जो १८७१ में प्रशा के नेतृत्व में स्थापित हुआ था। – पृ० २६२।

[72] एंगेल्स **'इतिहास में बल-प्रयोग की भूमिका'** शीर्षक से एक पुस्तक प्रकाशित करना चाहते थे। उनका इरादा यह था कि 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' नामक अपनी कृति के दूसरे भाग में 'बल-प्रयोग सिद्धान्त' शीर्षक के अन्तर्गत तीन अध्यायों के संशोधित पाठांतरों तथा चौथे अध्याय के रूप में **'इतिहास में बल-प्रयोग की भूमिका'** शीर्षक लेख को लेकर एक पुस्तक तैयार की जाये। पुस्तक का उद्देश्य बिस्मार्क की नीति का समीक्षात्मक विश्लेषण करना था तथा १८४८ के बाद के जर्मन इतिहास के उदाहरण द्वारा यह प्रदर्शित करना था कि अर्थशास्त्र तथा राजनीति के अन्त:सम्बन्धों पर **'ड्यूहरिंग मत-खण्डन'** में प्रस्तुत सैद्धान्तिक निष्कर्ष सही हैं। अपूर्ण अध्याय में जर्मनी में ठीक १८८८ तक की घटनाओं का विश्लेषण किया गया है।

'इतिहास में बल-प्रयोग की भूमिका' कृति उन विधियों का सटीक निरूपण करती है जिनके ज़रिए जर्मन एकीकरण हासिल किया जा सकता था। वह उन कारणों पर प्रकाश डालती है जिन्होंने प्रशा के नेतृत्व में उसके "ऊपर से" एकीकरण को प्रभावित किया था। एकीकरण के प्रगतिशील स्वरूप को – हालांकि वह उक्त ढंग से हुआ – स्वीकार करते हुए एंगेल्स साथ ही बिस्मार्क की नीतियों की ऐतिहासिक अदूरदर्शिता तथा बोनापार्तवादिता को प्रकाश में लाते हैं। इन नीतियों के फलस्वरूप जर्मनी अन्ततोगत्वा पुलिस राज्य बन गया, युंकरों का शासन मज़बूत हो गया तथा सैन्यवाद का संवर्द्धन हुआ। एंगेल्स जर्मन पूंजीपति वर्ग की, जो अपने हितों की रक्षा करने तथा सामन्ती अवशेषों का अन्तिम रूप से उन्मूलन करने में असमर्थ रहा, अक्षमता तथा कायरता का पर्दाफ़ाश करते हैं। एंगेल्स जर्मनी के सत्तारूढ़ वर्गों की सैन्यवादी विदेश नीति की, जिसका चरम बिन्दु १८७१ में फ़्रांस की लूटमार तथा अल्सास और लोरेन का अधिनहन था, अत्यन्त कटु आलोचना करते हैं। जर्मन साम्राज्य की आन्तरिक स्थिति और वहां वर्ग शक्तियों के संतुलन का विश्लेषण करते हुए, जर्मन साम्राज्य के जन्म से ही उसके अन्दर मौजूद अन्तर्विरोधों तथा उसकी सैन्यवादी तथा आक्रामक आकांक्षाओं का पर्दाफ़ाश करते हुए एंगेल्स यह निष्कर्ष निकालते हैं कि उसका पतन अवश्यम्भावी है। एंगेल्स की रचना स्पष्ट रूप से बताती है कि जर्मनी में केवल एक वर्ग – सर्वहारा वर्ग – समूची जनता के सच्चे राष्ट्रीय हितों के प्रतिनिधि की भूमिका पर अधिकारपूर्वक दावा कर सकता है। – पृ० २६४।

73 फ़्रांस की पराजय के बाद आस्ट्रिया, ब्रिटेन और रूस ने वियेना कांग्रेस में (१८१४–१८१५) साम्राज्यों के पुनःस्थापन के उद्देश्य से और राष्ट्रीय एकीकरण तथा स्वाधीनता के प्रतिकूल यूरोपीय सीमाओं को बदल दिया था। –पृ० २६४।

74 **बुंडेस्टाग** (संघीय संसद) – जर्मन महासंघ का केन्द्रीय निकाय जो ८ जून १८१५ की वियेना कांग्रेस के निर्णयानुसार स्थापित हुआ था तथा जर्मन सामन्त-राजतन्त्रवादी राज्यों का संघ था। उसके अधिवेशन फ़्रैंकफ़ुर्ट-आन-मेन में होते थे। यह निकाय जर्मन सरकारों की प्रतिक्रियावादी नीतियों के क्रियान्वयन का साधन था। १८४८–१८४९ में महासंघ के विघटन के बाद उसका कार्यकलाप रुक गया था। परन्तु १८५० में उसने जर्मन महासंघ की पुनःस्थापना हो जाने पर पुनः अपना कार्य आरम्भ कर दिया। १८६६ के आस्ट्रिया-प्रशा युद्ध के दौरान महासंघ का सदा-सर्वदा के लिए अन्त हो गया। –पृ० २६५।

75 **"पागलपनभरा वर्ष"** («das tolle Jahr») – कुछ प्रतिक्रियावादी जर्मन साहित्यकार तथा इतिहासकार १८४८ के वर्ष को इसी नाम से पुकारते हैं। यह शब्द सबसे पहले लुडविग बेशस्टेइन ने १८३३ में इसी नाम के उपन्यास में १५०९ के एर्फ़ुर्ट दंगों का वर्णन करते हुए उपयोग किया था। –पृ० २६५।

76 यहां इशारा १८४८ में कैलिफ़ोर्निया में तथा १८५१ में आस्ट्रेलिया में सोने की नयी खानों की खोज का विश्व-व्यापार पर पड़े प्रभाव की ओर है। – पृ० २६५।

77 **वार्टबर्ग उत्सव** का आयोजन जर्मन छात्र संस्थाओं (Burschenschaften) ने धर्म-सुधार की ३००वीं जयन्ती तथा १८१३ में लाइप्ज़िग में हुई लड़ाई की चौथी जयन्ती के अवसर पर किया था। उत्सव मेट्टरनिख़ के प्रतिक्रियावादी शासन के विरुद्ध तथा जर्मनी के एकीकरण के पक्ष में छात्र प्रदर्शन में परिणत हो गया। –पृ० २६८।

78 **हैम्बाख़ उत्सव** (Hambach Festive) – बवेरियाई फ़ाल्ज़ में हैम्बाख़ दुर्ग के पास २७ मई १८३२ को आयोजित राजनीतिक प्रदर्शन। उसे जर्मन उदारतावादी तथा आमूल परिवर्तनवादी पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधियों ने किया था। प्रदर्शन में भाग लेनेवालों ने पूंजीवादी स्वातंत्र्यों तथा संवैधानिक सुधारों के नाम पर जर्मन राजाओं के विरुद्ध समस्त जर्मनों की एकता के लिए आह्वान किया था। –पृ० २६८।

[79] **तीसवर्षीय युद्ध** (१६१८–१६४८)—अभिप्राय प्रोटेस्टेन्टों और कैथोलिकों के संघर्ष के कारण यूरोप भर में चलनेवाली लड़ाई से है। जर्मनी इस लड़ाई का मुख्य अखाड़ा, सैनिक लूट-खसोट तथा इस लड़ाई में शरीक देशों की आक्रामक महत्त्वाकांक्षाओं का लक्ष्य भी बना था। १६४८ में वेस्तफ़ेलिया शांति-संधि के संपन्न होने पर लड़ाई समाप्त हुई। संधि ने जर्मनी के राजनीतिक विभाजन को बरक़रार रखा।—पृ० २६६।

[80] **तेशेन संधि**—२४ मई १७७६ को एक ओर आस्ट्रिया तथा दूसरी ओर प्रशा और सैक्सनी के बीच हस्ताक्षरित शान्ति-संधि। उसने बवेरियाई उत्तराधिकार को लेकर चलनेवाली लड़ाई (१७७८–१७७६) का अन्त कर दिया। इस संधि के अनुसार प्रशा तथा आस्ट्रिया ने बवेरिया के कुछ इलाक़ों का अधिनहन किया तथा सैक्सोनी को मुआविज़े के रूप में नक़द धनराशि मिली। रूस ने मध्यस्थ का कार्य किया तथा फ़्रांस के साथ मिलकर वह शान्ति का गारंटीकर्त्ता बन गया।—पृ० २६६।

[81] **शाही प्रतिनिधि समिति**—जर्मन साम्राज्य के राज्यों के प्रतिनिधियों को लेकर स्थापित एक आयोग। उसे शाही संसद ने अक्तूबर १८०१ में चुना था। फ़्रांस तथा रूस (जिन्होंने नेपोलियनीय फ़्रांस के हितार्थ राइन तटवर्ती जर्मनी में क्षेत्रीय प्रश्नों के नियमन पर अक्तूबर १८०१ में एक गुप्त समझौते पर हस्ताक्षर किये थे) के प्रतिनिधियों के दबाव के फलस्वरूप समिति ने लम्बी बहस के बाद २५ फ़रवरी १८०३ को ११२ जर्मन राज्यों का विघटन करने तथा उनके इलाक़ों का एक बहुत बड़ा भाग बवेरिया, वुर्टेम्बर्ग, बाडेन और प्रशा के हवाले करने का निर्णय किया।—पृ० २६६।

[82] यहां संकेत **शाही संसद**—जर्मन राज्यों के प्रतिनिधियों को लेकर बने पवित्र रोमन साम्राज्य का सर्वोच्च निकाय—द्वारा उस निर्णय पर विचार-विमर्श तथा अनुमोदन की ओर है जिसे फ़्रांस और रूस ने अभिप्रेरित किया और जिसमें राइन तटवर्ती जर्मनी में क्षेत्र-संबंधी प्रश्नों का समाधान करने की मांग की गयी थी (देखें टिप्पणी ८१)। १६६३ से शाही संसद के अधिवेशन रेगेन्सबुर्ग में हुए।—पृ० २६६।

[83] **क्रीमियाई युद्ध** (१८५३–१८५६)—मध्य पूर्व में अपना प्रभाव जमाने के प्रयोजन से रूस द्वारा ब्रिटेन, फ़्रांस, तुर्की और सार्डिनिया की सम्मिलित

शक्तियों के ख़िलाफ़ किया जानेवाला युद्ध। इस युद्ध में रूस हार गया और उसे डेन्यूब के मुहाने में अपने कुछ क्षेत्रों को तुर्की के सुपुर्द कर देना पड़ा। इसके अलावा रूस काले सागर में अपना समुद्री बेड़ा रखने के अधिकार से वंचित हो गया था।—पृ० २७०।

84 एंगेल्स यहां रूस तथा फ़्रांस द्वारा ३ मार्च (१९ फ़रवरी) १८५९ को पेरिस में हस्ताक्षरित गुप्त समझौते की ओर इशारा कर रहे हैं जिसके अनुसार रूस ने आस्ट्रिया के विरुद्ध फ़्रांस और सार्डिनिया का युद्ध छिड़ जाने की दशा में सद्भावनापूर्ण तटस्थता की स्थिति अपनाने का वचन दिया। उधर फ़्रांस ने १८५६ की पेरिस शान्ति संधि में काले सागर में रूस की प्रभुता सीमित करनेवाली धाराओं के संशोधन का सवाल उठाने का वचन दिया।—पृ० २७२।

85 यहां आशय लूई बोनापार्त द्वारा २ दिसम्बर १८५१ को किये गये राज-परिवर्तन से है जिसकी बदौलत बोनापार्तवादी द्वितीय साम्राज्य अस्तित्व में आया।—पृ० २७२।

86 एंगेल्स यहां लूई बोनापार्त की जीवनी के इन तथ्यों की ओर इशारा कर रहे हैं: लोकप्रियता प्राप्त करने के प्रयास; विभिन्न विपक्षी पार्टियों का, विशेष रूप से इतालवी कार्बोनारी का विश्वास प्राप्त करने का प्रयास; १८३२ में तुर्गाउ प्रान्त में स्विस नागरिकता ग्रहण की; ३० अक्तूबर १८३६ को दो तोप रेजिमेंटों की मदद से स्ट्रासबुर्ग में विद्रोह करने का यत्न; १८४८ में इंगलैंड में प्रवास के दौरान विशेष कांस्टेबल बना, ब्रिटिश पुलिस के उस सिविलियन रिज़र्व में शामिल हुआ जिसने १० अप्रैल १८४८ के चार्टिस्ट प्रदर्शन को भंग करने में सहायता दी।—पृ० २७२।

87 यहां इशारा ६ फ़रवरी १८०१ को फ़्रांस तथा आस्ट्रिया के बीच सम्पन्न **लुनेविले शान्ति संधि** में फ़्रांस की निश्चित की गयी सीमाओं की ओर है। शान्ति संधि ने पहले तथा द्वितीय गठबन्धनों के विरुद्ध युद्धों के, विशेष रूप से राइन के दक्षिणी तट, बेल्जियम और लक्सेमबर्ग के अधिनहन के फलस्वरूप फ़्रांस की सीमाओं के विस्तार को औपचारिक रूप दिया।—पृ० २७३।

88 यहां इशारा फ़्रांस, ब्रिटेन, आस्ट्रिया, रूस, सार्डिनिया, प्रशा तथा तुर्की के प्रतिनिधियों के पेरिस सम्मेलन की ओर है जो क्रीमियाई युद्ध (१८५३–

१८५६) का अन्त करनेवाली पेरिस शान्ति-संधि पर हस्ताक्षर (३० मार्च १८५६) के साथ समाप्त हुआ। – पृ० २७३।

[89] आस्ट्रिया के ख़िलाफ़ फ़्रांस और पियेमोंट की लड़ाई १८५६ में शुरू हुई। उसे नेपोलियन तृतीय ने इटली को आज़ाद करने के बहाने आरंभ किया, किन्तु वास्तव में वह परायी ज़मीन पर क़ब्ज़ा तथा फ़्रांस में बोनापार्तवादी राज-व्यवस्था मज़बूत करना चाहता था। परन्तु इटली में फैले व्यापक राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन से भयभीत होकर और उसके राजनीतिक विभाजन को क़ायम रखने की ग़रज़ से नेपोलियन तृतीय ने आस्ट्रिया के साथ पृथक् रूप से शांति-संपन्न की। युद्ध के परिणामस्वरूप सैवोय और नाइस फ़्रांस के अधिकार-क्षेत्र में आ गये, लोम्बार्डी को सार्डिनिया से संयोजित किया गया और वेनिस आस्ट्रिया के अधीन बना रहा। – पृ० २७३।

[90] **१७९५ की बाज़ेल शान्ति संधि** प्रशा तथा फ़्रांसीसी जनतंत्र के बीच ५ अप्रैल को हस्ताक्षरित पृथक् संधि थी। प्रशा ने इस तरह प्रथम फ़्रांस विरोधी गठबंधन में अपने साथियों के साथ ग़द्दारी की। – पृ० २७४।

[91] १८५६ में प्रशा के विदेश मंत्री फ़ोन श्लेनिट्ज़ ने आस्ट्रिया के विरुद्ध फ़्रांस तथा पियेमोंट के युद्ध के दौरान प्रशा की विदेश नीति की इस तरह व्याख्या की थी। यह नीति थी तटस्थता की घोषणा न करते हुए युद्धरत पक्षों में से किसी के साथ न होना। – पृ० २७४।

[92] यहां इशारा १८५२ में स्थापित फ़्रांस के बड़े संयुक्त स्टाक बैंक – Société Générale du Crédit Mobilier – की ओर है। सिक्यूरिटियों को लेकर की जानेवाली सट्टेबाजी बैंक की आय का मुख्य स्रोत थी। Crédit Mobilier का द्वितीय साम्राज्य के सरकारी हलक़ों के साथ निकट का संबंध था। १८६७ में इस संस्था का दिवाला निकला और फिर १८७१ में ख़त्म हो गयी। – पृ० २७५।

[93] **राइनी महासंघ** नेपोलियन प्रथम के संरक्षणत्व में दक्षिणी तथा पश्चिमी जर्मनी के राज्यों का जुलाई १८०६ को गठित संघ था। महासंघ ने २० से अधिक राज्यों को ऐक्यबद्ध किया जो वस्तुतः फ़्रांस की जागीरें थे। नेपोलियन की सेना की पराजय के फलस्वरूप महासंघ १८१३ में विघटित हो गया। – पृ० २७५।

94 यहां इशारा मुख्यतया फ़्रांसीसी सीमाओं के समीप स्थित जर्मन महासंघ (देखें टिप्पणी ११३) के दुर्गों की ओर है। इन दुर्गों के गैरीज़न महासंघ में शामिल किये गये बड़े राज्यों के सैनिकों से बनाये गये थे। उनमें अधिकतर आस्ट्रियाई तथा प्रशियाई सैनिक थे।—पृ० २७७।

95 यहां इशारा वियेना में १३ मार्च १८४८ को जन विद्रोह के फलस्वरूप आरम्भ पूंजीवादी-जनवादी क्रान्ति की पराजय के उपरान्त नवम्बर १८४८ में प्रिंस श्वार्ज़ेनबेर्ग द्वारा बनायी गयी प्रतिक्रियावादी सरकार की ओर है।—पृ० २७७।

96 «Realpolitik» ('यथार्थ राजनीति') शब्द बिस्मार्क की नीति के चरित्र-निरूपण के लिए उपयोग में लाया गया। बिस्मार्क के समकालीन लोगों के ख़्याल में यह नीति स्थिति के सावधानीपूर्ण मूल्यांकन पर आधारित थी।—पृ० २७८।

97 यहां इशारा दिसम्बर १७४० में फ़्रेडरिक द्वितीय द्वारा सिलेशिया पर, जो उस समय आस्ट्रिया के क़ब्ज़े में था, किये गये आक्रमण की ओर है।—पृ० २७८।

98 १४ अक्तूबर १८०६ को प्रशियाई सेना एकसाथ दो रण-क्षेत्रों—**येना तथा आवेर्स्टाड्ट**—में फ़्रांसीसियों द्वारा परास्त हुई जिसके फलस्वरूप प्रशियाई राज्य पूरी तरह हार गया।—पृ० २७८।

99 **लैंडवेहर**—प्रशियाई स्थल सेना का एक अंग। उसकी १८१३ में नेपोलियनी सेना के साथ लड़ने के लिए जन स्वयंसेवक दल के रूप में स्थापना हुई थी। स्वयंसेवकों को उनकी आयु के हिसाब से सेना में भर्ती के लिए अथवा गैरीज़न ड्यूटी के लिए इस्तेमाल किया जाता था।—पृ० २८१।

100 «Kulturkampf» ('संस्कृति के लिए संघर्ष')—सुधार क़ानूनों की एक संहिता को पूंजीवादी उदारतावादियों द्वारा दिया गया नाम। बिस्मार्क की सरकार ने इन सुधारों को १९वीं शताब्दी के आठवें दशक में लौकिक संस्कृति के आन्दोलन के नाम पर क्रियान्वित किया। परन्तु नवें दशक में प्रतिक्रियावादी शक्तियों को मज़बूत करने की ग़रज़ से बिस्मार्क ने इन क़ानूनों में से अधिकांश को रद्द कर दिया।—पृ० २८१।

101 **कैंटनलिस्ट-उदारतावादी**—यह नाम एंगेल्स ने उन उदारतावादियों के लिए इस्तेमाल किया था जो जर्मनी को स्विस ढर्रे पर संघात्मक राज्य में, जिसमें स्वशासित कैंटन (प्रान्त) हों, परिवर्तित करने के पक्षधर थे।—पृ० २८१।

[102] यहां इशारा प्रशा में नवम्बर-दिसम्बर १८४८ के राज-परिवर्तन तथा उसके बाद आरम्भ प्रतिक्रियावाद के दौर की ओर है। —पृ० २८२।

[103] *«Der Sozialdemokrat»* ('सामाजिक-जनवादी') जर्मन साप्ताहिक, जर्मनी की सामाजिक-जनवादी पार्टी का केन्द्रीय मुखपत्र जो सितम्बर १८७९ और सितम्बर १८८८ तक ज़ूरिच में और अक्तूबर १८८८ तथा २७ सितम्बर १८९० के बीच लन्दन में प्रकाशित होता रहा। मार्क्स ने, साथ ही एंगेल्स ने भी, जो पत्र के प्रकाशित होते रहने तक लगातार उसके साथ सहयोग करते रहे, उसे सर्वहारा पार्टी लाइन पर चलने और अपनी कुछ खामियों तथा ढुलमुलपन पर क़ाबू पाने में मदद दी। —पृ० २८३।

[104] १८५८ में प्रिंस रीजेंट विल्हेल्म ने मानटेइफ़ेल का मंत्रिमंडल भंग कर दिया तथा नरमपंथी उदारतावादियों को सत्ता की बागडोर सौंपी। पूंजीवादी अख़बारों ने इस नीति को आडम्बरपूर्ण ढंग से **"नया युग"** बताया। वस्तुतः विल्हेल्म का उद्देश्य पूर्णतया प्रशियाई राजतंत्र तथा युंकरों की स्थिति मज़बूत बनाना था। "नये युग" ने बिस्मार्क की, जो सितम्बर १८६२ में सत्तारूढ़ हुआ, तानाशाही के लिए रास्ता तैयार किया। —पृ० २८३।

[105] प्रशियाई सरकार तथा लैंडटाग में पूंजीवादी-उदारतावादी बहुमत के बीच कथित **संवैधानिक संघर्ष** फ़रवरी १८६० में आरम्भ हुआ जब लैंडटाग में बहुमत ने सेना के पुनर्गठन-सम्बन्धी विधेयक का अनुमोदन करने से इन्कार कर दिया, जिसे युद्ध मंत्री फ़ोन रून ने पेश किया था। मार्च १८६२ में जब सदन में उदारतावादी बहुमत ने सैनिक ख़र्चों को फिर से मंज़ूरी देने से इन्कार कर दिया तो सरकार ने लैंडटाग को भंग कर दिया तथा नये चुनाव कराने की घोषणा की। बिस्मार्क के प्रतिक्रान्तिकारी मंत्रिमंडल ने जो १८६२ में सितम्बर के अन्त में स्थापित हुआ था, उसी वर्ष के अक्तूबर में लैंडटाग को फिर भंग कर दिया तथा लैंडटाग की स्वीकृति के बिना धन व्यय करके एक सैनिक सुधार करने लगा। यह संघर्ष कहीं १८६६ में जाकर तय हुआ, जब आस्ट्रिया पर प्रशा की विजय हुई और प्रशियाई पूंजीपति वर्ग ने बिस्मार्क के आगे घुटने टेक दिये थे। —पृ० २८३।

[106] आस्ट्रियाई-बवेरियाई सैनिकों के हेस्सेन रियासत में प्रवेश के उत्तर में प्रशियाई सरकार ने नवम्बर १८५० के आरम्भ में **लामबन्दी** का आदेश दिया तथा

अपने सैनिकों को वहां भेज दिया। ८ नवम्बर को ब्रोंजविले के पास आस्ट्रियाई-बवेरियाई तथा प्रशियाई अग्रिम टुकड़ियों के बीच मामूली मुठभेड़ हुई जिसमें यह प्रकट हो गया कि प्रशा की सैन्य प्रणाली में गम्भीर त्रुटियां हैं तथा उसके शस्त्रास्त्र पुराने पड़ गये हैं। इस चीज़ ने प्रशा को फ़ौजी कार्रवाई ख़त्म करने तथा आस्ट्रिया के आगे घुटने टेकने के लिए विवश किया।—पृ० २८४।

107 **राष्ट्रीय लीग** की स्थापना १५–१६ सितम्बर १८५९ को फ़्रैंकफ़ुर्ट-आन-मेन में पूंजीवादी उदारतावादियों के सम्मेलन में हुई। लीग के संगठनकर्त्ताओं का उद्देश्य था आस्ट्रिया को छोड़कर पूरे जर्मनी को प्रशा के नेतृत्व में एकीकृत करना। उत्तर जर्मन महासंघ स्थापित होने के बाद, ११ नवम्बर १८६७ को लीग ने भंग होने की घोषणा की।—पृ० २८५।

108 लूई बोनापार्त की पुस्तक 'नेपोलियनी विचार' (Napoléon-Louis Bonaparte, *«Des Idées napoléoniennes»* की ओर है जो पेरिस में १८३९ में प्रकाशित हुई थी।—पृ० २८६।

109 ८ फ़रवरी १८६३ को पोलैंड में राष्ट्रीय मुक्ति विद्रोह के दौरान रूस तथा प्रशा ने विद्रोहियों के विरुद्ध अपनी सेनाओं की संयुक्त कार्रवाइयों की व्यवस्था करने सम्बन्धी एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। उस पर हस्ताक्षर करने से पूर्व ही प्रशा ने अपनी सीमाओं की रक्षा व्यवस्था को अधिक सुदृढ़ बना दिया ताकि विद्रोहियों को सीमा के अन्दर घुसने से रोका जा सके।—पृ० २८८।

110 डेनमार्क के राजा फ़्रेडरिक सप्तम की मृत्यु के बाद आस्ट्रिया तथा प्रशा ने १६ जनवरी १८६४ को डेनिश सरकार के पास अल्टीमेटम भेजकर मांग की कि श्लेज़विग के डेनमार्क में सम्मिलन को अपरिवर्तनीय घोषित करनेवाला १८६३ का संविधान रद्द किया जाये। जब डेनमार्क की सरकार ने अल्टीमेटम अस्वीकार कर दिया तो आस्ट्रिया और प्रशा ने फ़ौजी कार्रवाई शुरू की और जुलाई १८६४ तक डेनिश सेना परास्त हो गयी। फ़्रांस तथा रूस युद्ध के दौरान आस्ट्रिया और प्रशा के सम्बन्ध में सद्भावनापूर्ण तटस्थता की स्थिति अपनाते रहे। ३० अक्तूबर १८६४ को वियेना में हस्ताक्षरित शान्ति संधि के अनुसार डचीज़ के इलाक़े और उन हिस्सों पर, जहां ग़ैरजर्मन आबादी की बहुलता थी, आस्ट्रिया तथा प्रशा का संयुक्त स्वामित्व घोषित कर दिया गया और १८६६ में आस्ट्रिया-प्रशा युद्ध के बाद इन सब का प्रशा ने अधिनहन कर डाला।—पृ० २८९।

111 ५ जून (२४ मई) १८५१ को रूस तथा डेनमार्क के प्रतिनिधियों द्वारा हस्ताक्षरित **वारसा उपसंधि** और साथ ही ८ मई १८५२ को रूस, आस्ट्रिया, फ़्रांस, प्रशा तथा स्वीडन द्वारा डेनिश प्रतिनिधियों के साथ हस्ताक्षरित **लन्दन उपसंधि** ने डेनिश ताज के क्षेत्रों की, जिनमें श्लेज़्विग और होल्स्टिन रियासतें भी शामिल थीं, अविभाज्यता का सिद्धान्त प्रतिष्ठापित किया। – पृ० २६०।

112 **मैक्सिको अभियान** – १८६२–१८६७ में फ़्रांस द्वारा सशस्त्र हस्तक्षेप जो शुरू में ब्रिटेन तथा स्पेन के साथ मिलकर किया गया। उसका उद्देश्य मैक्सिको क्रान्ति को कुचलना तथा मैक्सिको को यूरोपीय राज्यों का उपनिवेश बनाना था। मैक्सिकन जनता के वीरत्वपूर्ण मुक्ति संघर्ष के फलस्वरूप फ़्रांसीसी हस्तक्षेपकारी पराजित हो गये तथा १८६७ में मैक्सिको से अपने सैनिकों को वापस बुलाने के लिए विवश हो गये। – पृ० २६०।

113 **जर्मन महासंघ**, जिसे वियेना कांग्रेस ने ८ जून १८१५ को स्थापित किया था, सामन्ती-राजतंत्रीय जर्मन राज्यों का संघ था जिसने जर्मनी के राजनीतिक तथा आर्थिक विभाजन को क़ायम रखा। महासंघ १८६६ के आस्ट्रिया-प्रशा युद्ध के दौरान भंग कर दिया गया था तथा उसकी जगह पर उत्तर जर्मन महासंघ स्थापित हुआ। – पृ० २६२।

114 **"स्फूर्तिदायी मजेदार युद्ध"** – ये शब्द १८५३ में प्रतिक्रियावादी इतिहासकार तथा लेखक हाइनरिख़ लेओ के हैं जिन्हें आगे चलकर सैन्यवादी तथा अन्धराष्ट्रवादी अर्थ में भी इस्तेमाल किया गया। – पृ० २६२।

115 **उत्तर जर्मन महासंघ**, जिसमें १६ राज्य तथा उत्तर और मध्य जर्मनी के ३ मुक्त नगर शामिल थे, १८६७ में बिस्मार्क के सुझाव पर प्रशा के नेतृत्व में गठित हुआ था। इस महासंघ की स्थापना प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के एकीकरण की दिशा में एक प्रमुख पग थी। जनवरी १८७१ में जर्मन साम्राज्य के गठन ने महासंघ का अन्त कर दिया। – पृ० २६२।

116 यहां इशारा १८६६ के आस्ट्रिया-प्रशा युद्ध की ओर है। इसमें सैक्सनी, हैनोवर, बवेरिया, बाडेन, वुर्टेम्बर्ग, हेस्सेन रियासत, हेस्सेन-डार्म्सस्टाड तथा जर्मन महासंघ के अन्य सदस्य आस्ट्रिया की ओर से लड़े। मैक्लेनबर्ग, ओल्डेनबर्ग, अन्य उत्तर जर्मन राज्यों और तीन मुक्त नगरों ने प्रशा का साथ दिया। – पृ० २६३।

[117] १८६६ की वसन्त ऋतु में आस्ट्रिया ने संघीय संसद (देखें टिप्पणी ७४) से शिकायत की कि प्रशा ने श्लेज़विग तथा होल्स्टिन रियासतों पर संयुक्त प्रशासन-सम्बन्धी समझौते का उल्लंघन किया है। आस्ट्रिया द्वारा ज़ोर दिये जाने पर संसद ने प्रशा के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। बिस्मार्क ने संसद के निर्णय का पालन करने से इन्कार कर दिया। युद्ध के दौरान प्रशा की सफलताओं ने संसद को फ़्रैंकफ़ुर्ट-आन-मेन से आग्सबर्ग स्थानान्तरित होने के लिए विवश किया। उसने २४ अगस्त १८६६ को अपने विघटन की घोषणा की। – पृ० २९३।

[118] सितम्बर १८६६ में प्रशियाई सदन ने बिस्मार्क द्वारा प्रस्तुत एक विधेयक स्वीकार किया जिसने संवैधानिक संघर्ष के दौरान (देखें टिप्पणी १०५) धन ख़र्च करने के लिए क़ानूनी अधिकार प्राप्त करने की ज़िम्मेवारी से सरकार को मुक्त कर दिया। – पृ० २९५।

[119] यहां आस्ट्रिया और प्रशिया के बीच की एक निर्णायक लड़ाई की चर्चा है, जो ३ जुलाई १८६६ को **कोनिग्राट्ज़** नगर में (वर्तमान ग्रादेत्स-क्रालोवे, चेकोस्लोवाकिया) **सादोवा** ग्राम के पास हुई थी। इस लड़ाई में आस्ट्रिया की फ़ौज बुरी तरह हार गयी। – पृ० २९५।

[120] **उत्तर जर्मन महासंघ के संविधान** को १७ अप्रैल १८६७ को महासंघ की राइख़स्टाग ने स्वीकृति प्रदान कर दी। उसने महासंघ में प्रशा का वास्तविक प्रभुत्व क़ायम रखा। प्रशा के राजा को महासंघ का अध्यक्ष तथा संघीय सशस्त्र सेनाओं का प्रधान सेनापति घोषित किया गया। उसे विदेशनीति का संचालन करने का भी काम सौंपा गया। सार्वजनिक मताधिकार द्वारा निर्वाचित महासंघीय राइख़स्टाग का विधायी अधिकार क्षेत्र अत्यन्त सीमित था। उस द्वारा स्वीकृत क़ानून प्रतिक्रियावादी महासंघीय कौंसिल की मंज़ूरी तथा अध्यक्ष के अनुमोदन के बाद ही वैध माने जाते थे। महासंघीय संविधान आगे चलकर जर्मन साम्राज्य के संविधान का आधार बन गया।

१८५० के संविधान के अनुसार प्रशा में उच्च सदन क़ायम रहा। उसमें मुख्यतया भू-अभिजातों के प्रतिनिधि होते थे। लैंडटाग का अधिकार-क्षेत्र अत्यन्त सीमित था। वह किसी भी प्रकार की क़ानूनी पहलक़दमी करने के अधिकार से वंचित था। मंत्री राजा द्वारा नियुक्त होते थे और उसके ही प्रति उत्तरदायी होते थे। सरकार को राजद्रोह का मुक़दमा चलाने के लिए विशेष अदालतें नियुक्त करने का अधिकार था। १८७१ में जर्मन साम्राज्य की स्थापना के बाद भी प्रशा में १८५० का संविधान लागू रहा। – पृ० २९५।

[121] «*Manchester Guardian*» – ब्रिटिश पूंजीवादी अख़बार; फ़्रीट्रेडरों का मुखपत्र; आगे चलकर लिबरल पार्टी का अख़बार बन गया। उसकी स्थापना मानचेस्टर में १८२१ को हुई थी। – पृ० २६७।

[122] **सीमाशुल्क संसद** – सीमाशुल्क संघ का संचालन निकाय। १८६६ के युद्ध तथा प्रशा और दक्षिण जर्मन राज्यों के बीच ८ जुलाई १८६७ की संधि के बाद, जिसमें इस निकाय की स्थापना की व्यवस्था की गयी थी, यह निकाय पुनर्गठित किया गया। संसद में उत्तर जर्मन महासंघ के राइख़स्टाग के सदस्य तथा दक्षिण जर्मन राज्यों – बवेरिया, बाडेन, वुर्टेम्बर्ग तथा हेस्सेन – से विशेष रूप में निर्वाचित प्रतिनिधि थे। उसका काम केवल वाणिज्य तथा सीमाशुल्क नीति के समले निपटाना था। बिस्मार्क उसके अधिकारक्षेत्र के अन्तर्गत राजनीतिक समलों को भी लाना चाहता था। परन्तु दक्षिण जर्मन प्रतिनिधियों ने उसका कड़ा विरोध किया। – पृ० २६७।

[123] मेन नदी उत्तर जर्मन महासंघ तथा दक्षिण जर्मन राज्यों के बीच सीमा-रेखा थी। – पृ० २६७।

[124] आस्ट्रिया के साथ ३ अक्तूबर १८६६ को हस्ताक्षरित शान्ति-संधि के अनुसार वेनिस इटली को, जिसने आस्ट्रिया-प्रशा युद्ध में प्रशा का साथ दिया था, लौटा दिया गया जबकि दक्षिणी टिरोल और ट्रीस्ट के अधिनहन के उसके दावों की पूर्ति नहीं की गयी। – पृ० २६६।

[125] यहां इशारा आस्ट्रिया के चांसलर मेट्टरनिख़ के इन शब्दों की ओर है, "इटली एक भौगोलिक अवधारणा है", जिनका उपयोग उसने ६ अगस्त १८४७ को पेरिस स्थित राजदूत काउंट अप्पोन्यी को भेजे गये एक तार में किया था। इसका उपयोग उसने आगे चलकर जर्मनी के बारे में भी किया। – पृ० २६६।

[126] लक्सेमबर्ग के सवाल पर आस्ट्रिया, रूस, प्रशा, फ़्रांस, इटली, नीदरलैंड्स तथा लक्सेमबर्ग के राजनयिक प्रतिनिधियों की **लन्दन कांफ़्रेंस** ७–११ मई १८६७ को हुई थी। ११ मई को हस्ताक्षरित संधि के अनुसार लक्सेमबर्ग रियासत को (ड्यूक की उपाधि पहले की ही तरह नीदरलैंड्स के राजा के पास स्थायी रूप से रहने दी गयी) तटस्थ राज्य घोषित कर दिया गया। प्रशा को लक्सेमबर्ग दुर्ग से अपनी गैरीज़न तुरन्त हटाने के लिए बाधित किया गया तथा नेपोलियन तृतीय को लक्सेमबर्ग के फ़्रांस में मिलाये जाने के दावे का परित्याग करना पड़ा। – पृ० २६६।

[127] "**बदमाशों का गिरोह**" – आरम्भ में १८ वीं शताब्दी के आठवें दशक में येना यूनिवर्सिटी में एक छात्र संस्था का नाम था। यह संस्था अपने सदस्यों के उपद्रवों के लिए बदनाम हो गयी थी। बाद में यह नाम अपराधियों तथा संदिग्ध तत्त्वों वाले किसी भी समूह के लिए इस्तेमाल होने लगा। – पृ० ३०१।

[128] **स्पीख़र्न** (लोरेन) और **वोर्थ** (अल्सास) की लड़ाइयों में प्रशियाई सैनिकों ने ६ अगस्त १८७० को फ़्रांसीसियों को परास्त कर दिया। फ़्रांस-प्रशा युद्ध की एक सबसे बड़ी मुठभेड़ (**सेदान** के क़रीब) के फलस्वरूप २ सितम्बर १८७० को फ़्रांसीसी सेना ने आत्म-समर्पण कर दिया। – पृ० ३०२।

[129] ४ सितम्बर १८७० को जनसाधारण के क्रांतिकारी उभार के फलस्वरूप द्वितीय साम्राज्य ध्वस्त हुआ, फ़्रांस जनतंत्र घोषित किया गया और एक अस्थायी सरकार क़ायम हुई जिसमें नरमपंथी जनतंत्रवादियों के अलावा राजतंत्रवादी भी शामिल हो गये। पेरिस के सैनिक गवर्नर त्रोशू और उसके वास्तविक कर्णधार एवं उत्प्रेरक थियेर की अगुआई में नयी सरकार ने राजद्रोह तथा बाह्य शत्रु के साथ विश्वासघातपूर्ण साज़िश का रास्ता अपनाया था। – पृ० ३०२।

[130] **फ़्रैंक तिरयुर** – फ़्रांसीसी छापेमारों को दिया गया नाम, जिन्होंने १८७०–१८७१ के फ़्रांस-प्रशा युद्ध में प्रशियाइयों के विरुद्ध संघर्ष में सक्रियतापूर्वक भाग लिया था। – पृ० ३०३।

[131] **लैंडस्ट्रूम अध्यादेश** – २१ अप्रैल १८१३ को प्रशा में स्वीकृत क़ानून जिसके अनुसार नेपोलियन की सेना के पृष्ठभाग में तथा आजू-बाजू में छापामार लड़ाई के तरीक़ों का उपयोग करने के वास्ते स्वयंसेवक दल (फ़्रैंक तिरयुर) क़ायम करने की व्यवस्था की गयी थी। – पृ० ३०३।

[132] *«Kölnische Zeitung»* ('कोलोन का समाचारपत्र') – जर्मन दैनिक जो १८०२ से कोलोन से निकलना शुरू हुआ। १८४८–१८४९ की क्रांति के दौरान और तत्पश्चात् प्रतिक्रियावाद के काल में इस पत्र ने प्रशा के उदारतावादी पूंजीपति वर्ग की कायरतापूर्ण तथा विश्वासघातपूर्ण नीति को प्रतिबिंबित किया। १९ वीं शताब्दी की अंतिम तिहाई में वह राष्ट्रीय-उदारतावादी पार्टी के साथ था। – पृ० ३०३।

[133] १६ मार्च को बर्लिन के विद्रोहियों ने प्रशा के राजा फ़्रेडरिक-विल्हेल्म चतुर्थ को महल की बाल्कनी में सब के सामने प्रकट होने तथा उन लोगों के शवों के आगे शीश नवाने के लिए विवश किया जो १८ मार्च, १८४८ के जन-विद्रोह में खेत रहे थे। – पृ० ३०५।

[134] २८ जनवरी १८७१ को "राष्ट्रीय रक्षा" की फ़्रांसीसी सरकार ने, जो ४ सितम्बर १८७० की क्रांति की बदौलत बनी थी, बिस्मार्क के साथ युद्ध-विराम और पेरिस के आत्म-समर्पण समझौते पर हस्ताक्षर किये। शांति-संधि पर फ़्रैंकफ़ुर्ट में १० मई १८७१ को हस्ताक्षर हुए। – पृ० ३०५।

[135] स्ट्रासबुर्ग पर, जो जर्मन साम्राज्य का एक नगर था, ३० सितम्बर १६८१ को फ़्रांसीसी सैनिकों ने लूई चौदहवें के आदेश पर क़ब्ज़ा कर डाला था। नगर की कैथोलिक पार्टी ने बिशप फ़ुर्स्टेनबर्ग के नेतृत्व में फ़्रांस द्वारा इस क्षेत्र के अधिनहन का स्वागत किया तथा फ़्रांसीसियों का प्रतिरोध न होने देने में मदद दी। – पृ० ३०६।

[136] १६७६–१६८० में लूई चौदहवें द्वारा स्थापित **एकीकरण सदनों** को पड़ोसी राज्यों के भू-क्षेत्रों पर फ़्रांस के दावों का औचित्य ठहराने के लिए क़ानूनी तथा ऐतिहासिक आधार तैयार करने का काम सौंपा गया। कालान्तर में उन पर फ़्रांसीसी सेना ने क़ब्ज़ा कर लिया था। – पृ० ३०६।

[137] **कार्टेल** – दो कंज़रवेटिव पार्टियों ("कंज़रवेटिव" तथा "स्वतंत्र कंज़रवेटिव") तथा राष्ट्रीय उदारतावादियों का गुट जो बिस्मार्क द्वारा जनवरी १८८७ में राइख़स्टाग भंग कर दिये जाने के बाद स्थापित हुआ था। कार्टेल फ़रवरी १८८७ के चुनावों में विजयी हुआ और राइख़स्टाग में उसकी प्रभुत्वपूर्ण स्थिति (२२० सीटें) थी। इस गुट पर निर्भर करते हुए बिस्मार्क ने युंकरों तथा बड़े पूंजीपतियों के हित में अनेक प्रतिक्रियावादी क़ानून पास कराये। कार्टेल के सहभागियों के बीच अन्तर्विरोधों के तीक्ष्ण बनने तथा १८९० के चुनावों में कार्टेल की पराजय (उसे केवल १३२ सीटें मिलीं) के फलस्वरूप वह विघटित हो गया। – पृ० ३१३।

[138] एंगेल्स यहां १८ जनवरी १८७१ को वेर्साई में प्रशियाई राजा विल्हेल्म प्रथम को जर्मन सम्राट घोषित किये जाने की ओर इशारा कर रहे हैं। – पृ० ३१३।

[139] यहां चर्चा जर्मनी के हित में फ़्रांस द्वारा उस युद्ध-सम्बन्धी हरजाने के भुगतान

की है, जिसे १० मई १८७१ को फ्रैंकफुर्ट शांति-संधि में निश्चित किया गया था।—पृ० ३१६।

[140] आशय १८७३ के विश्व आर्थिक संकट से है। जर्मनी में वह मई १८७३ में "भीषण मन्दी" में प्रकट हुआ, जिसने आगे चलकर दीर्घकालीन संकट का रूप ले लिया और आठवें दशक के अंत तक जारी रहा।—पृ० ३१६।

[141] **प्रगतिवादी**—जून १८६१ में स्थापित प्रशियाई पूंजीवादी पार्टी के सदस्य। प्रगतिवादी पार्टी प्रशा के नेतृत्व में जर्मन एकीकरण के पक्ष में थी तथा उसने अखिल जर्मन संसद बुलाने तथा प्रतिनिधि सदन के प्रति उत्तरदायी उदारतावादी मंत्रिमंडल की स्थापना करने की मांग की।—पृ० ३१७।

[142] २२–२७ मई १८७५ को हुई **गोथा-कांग्रेस** में जर्मन मज़दूर आंदोलन की दोनों धारायें—सामाजिक-जनवादी मजदूर पार्टी (आयज़ेनाख़पंथी), जिसके नेता अगस्त बेबेल और विल्हेल्म लीब्कनेख़्त थे, और लासालपंथी आम जर्मन मज़दूर संघ—एक हो गयीं और उन्हें मिलाकर जर्मनी की समाजवादी मजदूर पार्टी की स्थापना की गयी। इस प्रकार जर्मन मज़दूर वर्ग की फूट का अंत हुआ।—पृ० ३१७।

[143] यहां इशारा बवारिया तथा वुर्टेम्बर्ग के उन विशेषाधिकारों की ओर है जो उन्हें उत्तर जर्मन महासंघ में मिलाने सम्बन्धी संधियों (नवम्बर १८७०) तथा जर्मन साम्राज्य के संविधान में निरूपित किये गये थे। बवेरिया तथा वुर्टेम्बर्ग ने ब्रांडी तथा बियर पर विशेष कर लगाने तथा डाक-तार व्यवस्था का स्वतंत्र रूप से प्रशासन करने का अधिकार अपने पास रखा। महासंघीय परिषद में बवारिया, वुर्टेम्बर्ग तथा सैक्सोनी के प्रतिनिधियों को लेकर विदेश नीति-सम्बन्धी एक विशेष आयोग बनाया गया जिसे वीटो का अधिकार प्राप्त था।—पृ० ३२०।

[144] **शोफ़ेन अदालतें**—जर्मन साम्राज्य के निचले स्तर की अदालतें जो १८४८ की क्रान्ति के बाद अनेकानेक जर्मन राज्यों में तथा १८७१ से पूरे जर्मनी में स्थापित की गयी थीं। उस समय इस अदालत में एक शाही जज तथा दो शोफ़ेन होते थे। जूरी के विपरीत इन से अभियुक्त के अपराध का फ़ैसला करने की ही नहीं, वरन् जज के साथ मिलकर सज़ा देने की भी अपेक्षा की जाती थी। शोफ़ेन पद पर नियुक्ति के लिए आवास तथा सम्पत्ति-संबंधी शर्तें होती थीं।—पृ० ३२५।

[145] यहां इशारा १८७२ के **प्रशियाई प्रशासनिक सुधार** की ओर है। उसने देहाती क्षेत्रों में मौरूसी सामन्ती शासन का उन्मूलन कर दिया तथा स्थानीय स्वशासन के कुछ तत्त्व लागू किये। परन्तु व्यवहारतः युंकर भू-स्वामियों ने उन पदों को, जिनके लिए या तो चुनाव होते थे अथवा जिन पर नियुक्तियां की जाती थीं, अपने पास रखते हुए अथवा इन पर अपने पिट्ठुओं के ज़रिए नियंत्रण क़ायम रखते हुए ज़िलों में अपनी सत्ता को बरक़रार रखा।–पृ० ३२५।

[146] यहां इशारा १८८८ के **ब्रिटेन में स्थानीय प्रशासनिक सुधार** की ओर है। इस सुधार के अनुसार शेरिफ़ का कामकाज काउंटियों में निर्वाचित परिषदों को सौंप दिया गया जिन्होंने कर-वसूली, स्थानीय बजट, आदि का काम अपने हाथ में ले लिया। मताधिकार प्राप्त लोग तथा तीस वर्ष से ऊपर की स्त्रियां काउंटी परिषदें चुनती थीं।–पृ० ३२६।

[147] **हीलोट**–देखें टिप्पणी २०। एंगेल्स ने खेत मज़दूरों की अधिकारहीन दशा को देखते हुए उन्हें "जर्मनी के हीलोट" कहा था।–पृ० ३२६।

[148] Ultramontanism — ('पोप-सर्वाधिपत्यवाद')–कैथोलिक सम्प्रदाय में एक घोर प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति। इस प्रवृत्ति के लोग तमाम देशों के धार्मिक तथा सांसारिक मामलों पर पोप के असीमित प्रभाव के पक्षधर थे। पोप-सर्वाधिपत्यवादियों की विजय के फलस्वरूप १८७० में वैटिकन ने पोप के "अमोघत्व" का जड़सूत्र प्रचलित किया।–पृ० ३२७।

[149] पोप के क्षेत्र में २ अक्तूबर १८७० के जनमतसंग्रह के बाद उसे इतालवी राज में मिला दिया गया। इससे देश का राजनीतिक एकीकरण पूर्ण हो गया। वैटिकन तथा लाटेरन महलों तथा अपने ग्राम्य-आवास को छोड़कर बाक़ी सब इलाक़ों में पोप को सारे सांसारिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया। इसके उत्तर में पोप ने अपने को "वैटिकन बन्दी" घोषित किया। पोप और इतालवी सरकार के बीच संघर्ष १९२९ में जाकर ही समाप्त हुआ।–पृ० ३२७।

[150] **वेल्फ़**–हैनोवर के प्रशा में मिलाये जाने के बाद १८६६ में स्थापित एक हैनोवर पार्टी (यह नाम हैनोवर राजाओं की प्राचीन वंशावली के नाम पर पड़ा)। पार्टी का उद्देश्य हैनोवर के शाही परिवार के अधिकारों तथा जर्मन साम्राज्य में हैनोवर की स्वायत्तता की पुनस्स्थापना करना था। यह पार्टी

मुख्यतया विशिष्टतावादी तथा प्रशा विरोधी भावनाओं से प्रेरित होकर ही केन्द्र की ओर अभिमुख थी। – पृ० ३२८।

151 '**१८६१ के सामाजिक-जनवादी कार्यक्रम के मसौदे की एक समीक्षा**' अवसरवाद के विरुद्ध तथा जर्मन सामाजिक-जनवादियों के क्रान्तिकारी मार्क्सवादी कार्यक्रम के पक्ष में एंगेल्स के अडिग संघर्ष का उदाहरण है। यह रचना लिखने का प्रत्यक्ष कारण पार्टी कार्यकारिणी द्वारा तैयार कार्यक्रम का मसौदा था जिसे एंगेल्स के पास भेजा गया। नया कार्यक्रम एर्फ़ुर्ट कांग्रेस में पास होना था तथा उसे १८७५ के गोथा-कार्यक्रम का स्थान लेना था। एंगेल्स ने मसविदे के उस भाग की तीव्र आलोचना की जिसमें राजनीतिक मांगें पेश की गयी थीं। उसमें पूंजीवाद के समाजवाद में शान्तिपूर्ण ढंग से विकसित होने की सम्भावना के अवसरवादी विचार को निरूपित करने का प्रयत्न किया गया था। मसौदे की त्रुटियों की आलोचना करते हुए एंगेल्स इस रचना में नाना मार्क्सवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं जो सर्वहारा आन्दोलन के आर्थिक तथा राजनीतिक कार्यभारों तथा लक्ष्यों, राजकीय प्रणाली के जनवादी रूपान्तरण के लिए संघर्ष के महत्त्व, पूंजीवाद से समाजवाद में संक्रमण के विभिन्न मार्गों, सर्वहारा राज्य तथा सर्वहारा अधिनायकत्व के बारे में हैं। एंगेल्स की आलोचनात्मक टीकाओं और साथ ही मार्क्स की रचना 'गोथा कार्यक्रम की आलोचना', (देखें प्रस्तुत संस्करण, खण्ड ३, भाग १) जो उस समय तक एंगेल्स द्वारा ज़ोर दिये जाने पर प्रकाशित हो चुकी थी, का कार्यक्रम के मसविदे पर आगे बहस तथा विशदीकरण पर बहुत प्रभाव पड़ा।

जर्मनी की **सामाजिक-जनवादी पार्टी की एर्फ़ुर्ट में १४ से २१ अक्तूबर १८६१ तक हुई कांग्रेस** में स्वीकृत कार्यक्रम गोथा-कार्यक्रम की तुलना में आगे की ओर एक प्रमुख पग था। उसे सुधारवादी लासालपंथी जड़सूत्रों से मुक्त कर दिया गया था तथा राजनीतिक और आर्थिक मांगों का अधिक स्पष्टतापूर्वक विशदीकरण किया गया। कार्यक्रम ने पूंजीवाद के अवश्यम्भावी विनाश तथा उसके स्थान पर समाजवाद की प्रतिष्ठापना-सम्बन्धी विचार की वैज्ञानिक ढंग से अभिपुष्टि की; उसने स्पष्टतापूर्वक यह प्रदर्शित किया कि समाज के समाजवादी रूपान्तरण के लिए सर्वहारा को राजनीतिक सत्ता प्राप्त करनी चाहिए।

साथ ही एर्फ़ुर्ट-कार्यक्रम में कुछ गम्भीर दोष भी थे। सबसे महत्त्वपूर्ण दोष यह था कि कार्यक्रम में समाज के समाजवादी रूपान्तरण के साधन के

रूप में सर्वहारा अधिनायकत्व के बारे में कोई प्रस्थापना नहीं थी। इस तरह कार्यक्रम का अन्तिम मूलपाठ तैयार करते समय एंगेल्स की सबसे महत्त्वपूर्ण टीका की उपेक्षा कर दी गयी थी।

एंगेल्स की '१८९१ के सामाजिक-जनवादी कार्यक्रम के मसौदे की एक समीक्षा' नामक रचना को जर्मन सामाजिक-जनवादियों के नेताओं ने एक लम्बे अर्से तक प्रकाशित नहीं किया था। यह रचना १९०१ में जाकर ही «*Neue Zeit*» में प्रकाशित हुई।—पृ० ३२९।

152 यहां इशारा मई १८७५ में स्वीकृत जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी के गोथा-कार्यक्रम की ओर है। 'गोथा-कार्यक्रम की आलोचना' नामक अपनी कृति में मार्क्स और एंगेल्स ने इस कार्यक्रम की कटु आलोचना की थी।—पृ० ३२९।

153 **समाजवाद विरोधी क़ानून** २१ अक्तूबर १८७८ को लागू किया गया था। उसने सामाजिक-जनवादी पार्टी के तमाम संगठनों, मज़दूरों के जन-संगठनों तथा मज़दूरों के अख़बारों पर पाबन्दी लगा दी थी। इस क़ानून के बल पर समाजवादी साहित्य ज़ब्त कर लिया गया तथा सामाजिक-जनवादियों का दमन किया गया। मज़दूरों के जन-आन्दोलन के फलस्वरूप यह क़ानून १ अक्तूबर १८९० को रद्द कर दिया गया।—पृ० ३३०।

154 एंगेल्स ने १८७१ में जर्मन साम्राज्य में शामिल किये गये दो बौने "सार्वभौम" राज्यों को—रेइस-ग्रेइज़ और रेइस-ग्रेइज़-श्लेइज़-लोबेनस्टेइन-एबेर्सडोर्फ़ जो रेइज़ ड्यूकों के वरिष्ठ तथा कनिष्ठ कुलों की जागीरें थे—व्यंगपूर्ण ढंग से एक ही नाम दिया है।—पृ० ३३५।

155 **मानचेस्टरवाद**—आर्थिक चिन्तन की एक प्रवृत्ति जो औद्योगिक पूंजीपति वर्ग के हित व्यक्त करती थी। इस प्रवृत्ति के समर्थक—फ़्रीट्रेडर—मुक्त व्यापार के पक्ष में थे तथा अर्थव्यवस्था में राज्य के किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप के विरोधी थे। इनकी गतिविधियों का केन्द्र, जिसका संचालन कावडेन तथा ब्राइट नामक दो टेक्सटाइल उद्योगपति कर रहे थे, मानचेस्टर था। १९ वीं शताब्दी के सातवें दशक में फ़्रीट्रेडरों ने लिबरल पार्टी के वामपक्ष का गठन किया।—पृ० ३३६।

156 यहां इशारा नेपोलियन बोनापार्त के अधिनायकत्व की ओर है जिसने १७९९ में १८ वीं ब्रूमेर (९ नवम्बर) को बलात् सत्ता परिवर्तन के फलस्वरूप अपने

को प्रथम कौंसुल घोषित किया। इस हुकूमत ने १० अगस्त १७९२ को स्थापित जनतंत्रीय प्रणाली का स्थान ग्रहण कर लिया। १८०४ में फ़्रांस को साम्राज्य और नेपोलियन को उसका सम्राट घोषित कर दिया गया।—पृ० ३३८।

157 फ़्रांस में **प्रथम जनतंत्र** १७९२ से १७९९ तक क़ायम रहा।—पृ० ३३८।

158 एंगेल्स यहां फ़्रांसीसी मज़दूर पार्टी द्वारा नवम्बर १८८० को हाव्र कांग्रेस में स्वीकृत कार्यक्रम की ओर इशारा कर रहे हैं। एक फ़्रांसीसी समाजवादी नेता जूल गेद मई १८८० में लन्दन आये थे तथा मार्क्स, एंगेल्स और लाफ़ार्ग के साथ मिलकर उन्होंने कार्यक्रम का मसविदा तैयार किया था। कार्यक्रम की सैद्धान्तिक प्रस्तावना मार्क्स ने गेद को लिखायी थी।—पृ० ३४०।

159 स्पेन की समाजवादी मज़दूर पार्टी का कार्यक्रम १८८८ में हुई बार्सेलोना की पार्टी कांग्रेस में स्वीकृत हुआ।—पृ० ३४०।

160 यहां इशारा इंगलैंड की संसद द्वारा जून १८४६ में अनाज क़ानून रद्द किये जाने की ओर है। कथित **अनाज क़ानून**, जिनका उद्देश्य विदेशों से अनाज के आयात को सीमित करना या रोक देना था, बड़े जमींदारों के हितार्थ लागू किये गये थे। १८४६ के विधेयक के पास किये जाने का अर्थ था मुक्त व्यापार के लिए अनाज क़ानून के विरुद्ध लड़नेवाले औद्योगिक पूंजीपति वर्ग की विजय।—पृ० ३४४।

161 जिंस मज़दूरी प्रणाली उन्मूलन क़ानून १८३१ में स्वीकृत हुआ था। परन्तु अनेक कारख़ानेदार उसका उल्लंघन करते रहे।

केवल किशोरों तथा स्त्रियों पर लागू **दस घंटे के कार्य दिवस का विधेयक** ब्रिटिश संसद द्वारा ८ जून १८४७ को स्वीकृत हुआ था।—पृ० ३४५।

162 **"लिटिल आयरलैंड"**—मानचेस्टर का एक दक्षिणी सीमावर्ती भाग जहां मुख्यतया आयरिश मज़दूर रहते थे।—३४६।

163 **"सेवन डायल्स"**—लन्दन के केन्द्रीय भाग में मज़दूर मुहल्ला।—पृ० ३४६।

[164] **कुटीर प्रणाली** के अनुसार कारख़ानेदार बहुत कड़ी शर्तों पर मज़दूरों को रहने के लिए जगह देते थे। इसका भाड़ा उनकी मजूरी से काट लिया जाता था। – पृ० ३४७।

[165] यहां इशारा २२ जनवरी और २६ फ़रवरी १८८६ के बीच पेनसिल्वानिया (संयुक्त राज्य अमरीका) में दस हज़ार से ज्यादा मज़दूरों द्वारा की गयी हड़ताल की ओर है। धमन भट्ठियों तथा कोक भट्ठियों के मज़दूरों ने अधिक मजूरी तथा कामकाज की बेहतर अवस्थाओं की मांग की तथा वे अपनी कुछ मांगें मनवाने में सफल रहे। – पृ० ३४७।

[166] «*The Commonweal*» – १८८५ से १८९१ तक तथा १८९३ से १८९४ तक लन्दन में प्रकाशित होनेवाला अंग्रेज़ी साप्ताहिक। वह समाजवादी लीग का मुखपत्र था। १८८५ तथा १८८६ में एंगेल्स ने इस पत्रिका के लिए कई लेख लिखे। – पृ० ३४९।

[167] **पीपुल्स चार्टर** – यह चार्टर, जिसमें चार्टिस्टों की मांगें सूत्रबद्ध थीं, ८ मई १८३८ को संसद में पेश किये जानेवाले एक विधेयक के रूप में प्रकाशित किया गया था। उसमें छः धारायें थीं: सार्विक मताधिकार (२१ वर्ष से ऊपर की अवस्था के पुरुषों के लिये), संसद के लिए वार्षिक चुनाव, गुप्त मतदान, समान निर्वाचन क्षेत्र, संसद के चुनाव में खड़े होनेवाले उम्मीदवारों के लिये संपत्ति की शर्तों का अंत और संसद के सदस्यों के लिये तनख़ाहें। चार्टिस्टों ने संसद को इस आशय की तीन अर्ज़ियां दीं परंतु उन्हें १८३९, १८४२ तथा १८४९ में ठुकरा दिया गया। – पृ० ३४९।

[168] चार्टिस्टों ने पीपुल्स चार्टर स्वीकृत करवाने के विचार से संसद को अर्ज़ी देने के लिये लंदन में १० अप्रैल १८४८ को जो जन-प्रदर्शन संगठित करने की योजना बनायी थी वह संगठनकर्त्ताओं के असमंजस और दुविधा के कारण विफल हो गया। इस से फ़ायदा उठाकर प्रतिक्रियावादियों ने मज़दूरों पर हमला बोल दिया और चार्टिस्टों का दमन करना शुरू किया। – पृ० ३५०।

[169] इशारा इंगलैंड में चुनाव क़ानून में सुधार के लिये होनेवाले आंदोलन की ओर है। १८३१ में हाउस ऑफ़ कामन्स ने इस सुधार को स्वीकार कर लिया और जून १८३२ में हाउस ऑफ़ लार्ड्स ने उसका अन्तिम रूप से अनुमोदन किया।

इस सुधार ने संसद का द्वार औद्योगिक पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधियों के लिये खोल दिया। परन्तु सर्वहारा तथा निम्नपूंजीपति वर्ग, जो सुधार आंदोलन की मुख्य शक्ति थे, उदारतावादी पूंजीपति वर्ग द्वारा ठगे गये और निर्वाचन अधिकारों से वंचित ही रहे।–पृ० ३५०।

[170] १८६७ में व्यापक मज़दूर आन्दोलन के दबाव के कारण इंगलैंड में **द्वितीय संसदीय सुधार** किया गया था। प्रथम इंटरनेशनल की जनरल कौंसिल ने सुधार आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया। सुधार के परिणामस्वरूप इंगलैंड में निर्वाचनकर्त्ताओं की संख्या दुगनी से ज़्यादा बढ़ी। कुशलताप्राप्त मज़दूरों के काफ़ी बड़े भाग को भी चुनाव अधिकार मिल गया।–पृ० ३५१।

[171] १८८४ में ब्रिटेन में देहाती इलाक़ों में जन-आन्दोलन के दबाव के फलस्वरूप **तृतीय संसदीय सुधार** किया गया। इसके फलस्वरूप देहाती इलाक़ों को भी उन्हीं शर्तों पर मताधिकार दे दिये गये जो शहरी आबादी को १८६७ में उपलब्ध करा दिये गये थे (देखें टिप्पणी १७०)। सुधार के बाद भी आबादी के व्यापक स्तर, ख़ास तौर पर देहात के सर्वहारा, शहरी ग़रीब लोग तथा नारियां मताधिकार से वंचित रहे।–पृ० ३५१।

[172] **वैज्ञानिक विकास-सम्बन्धी ब्रिटिश एसोसियेशन** की स्थापना १८३१ में हुई थी और वह अब भी काम कर रही है। एसोसियेशन की वार्षिक बैठकों की सामग्री उसकी कार्रवाई के रूप में प्रकाशित की जाती है।–पृ० ३५५।

[173] एंगेल्स ने यह लेख इतालवी मेहनतकश जनता की समाजवादी पार्टी के नेता कुलिशोवा तथा तुराती के अनुरोध पर लिखा था। एंगेल्स से इस बारे में अपना मत प्रकट करने के लिए कहा गया था कि जब देश की मेहनतकश जनता का आन्दोलन अत्यन्त व्यापक स्वरूप ग्रहण कर रहा हो, तब पार्टी को किस तरह की कार्यनीति अपनानी चाहिए। इटली में परिपक्व हो रही क्रान्ति के पूंजीवादी स्वरूप पर ज़ोर देते हुए एंगेल्स उस कार्यनीति की रूपरेखा निर्धारित करते हैं जिसे समाजवादियों को क्रान्ति में सर्वहारा की सक्रिय शिरकत सुनिश्चित करने तथा उसकी वर्ग स्वतंत्रता बनाये रखने के लिए अपनाना चाहिए।–पृ० ३६०।

[174] "**धर्मान्तरित**" जनतंत्रवादी – इतालवी आमूल परिवर्तनवादियों को, जिनके नेता फ़० कावालोटी थे, दिया गया नाम। निम्न तथा मध्यम पूंजीपति वर्ग

के हित व्यक्त करनेवाले ग्रामूल परिवर्तनवादियों ने जनवादी रुख़ अपनाया तथा कई मामलों में समाजवादियों के साथ सहयोग किया। – पृ० ३६१।

[175] *«La Réforme»* ('सुधार') – फ़्रांसीसी दैनिक, निम्न-पूंजीवादी जनवादी जनतंत्रवादियों तथा निम्न-पूंजीवादी समाजवादियों का मुखपत्र। १८४३ से १८५० तक पेरिस से प्रकाशित होता रहा। अक्तूबर १८४७ से जनवरी १८४८ तक इस अख़बार में एंगेल्स के कई लेख छपे थे। – पृ० ३६४।

[176] यहां इशारा २४ फ़रवरी १८४८ को स्थापित फ़्रांसीसी जनतंत्र की अस्थायी सरकार में निम्न-पूंजीवादी जनवादियों – लेद्रू-रोलें और फ़्लोकोन, निम्न-पूंजीवादी समाजवादी लूई ब्लां और साथ ही गुप्त क्रान्तिकारी संस्थाओं में भाग लेनेवाले मिस्तरी अल्बेर – की शिरकत की ओर है। – पृ० ३६४।

[177] एंगेल्स की रचना '**फ़्रांस और जर्मनी में किसानों का सवाल**' कृषक समस्या के बारे में एक महत्त्वपूर्ण मार्क्सवादी कृति है। इसे लिखने का प्रत्यक्ष कारण यह था कि फ़ोल्मर और अन्य अवसरवादियों ने १८९४ में जर्मन सामाजिक-जनवादियों की फ़्रैंकफ़ुर्ट कांग्रेस में कृषि कार्यक्रम पर हुई बहस का इस्तेमाल कर धनी किसानों के समाजवादी रूपान्तरण के अपने मार्क्सवाद विरोधी "सिद्धान्त" को कार्यक्रम में शामिल करने का प्रयत्न किया था। एक दूसरा कारण यह था कि एंगेल्स फ़्रांसीसी समाजवादियों की ग़लतियों को सुधारना चाहते थे। फ़्रांसीसी समाजवादियों ने मार्सेई में १८९२ में स्वीकृत तथा १८९४ में नांट में परिवर्द्धित अपने कृषि कार्यक्रम में मार्क्सवाद से विचलित होकर अवसरवाद को रियायतें दी थीं। – पृ० ३६५।

[178] *«Sozialdemokrat»* — (सामाजिक-जनवादी) – जर्मनी की सामाजिक-जनवादी पार्टी का साप्ताहिक जो बर्लिन में १८९४ से १८९५ तक छपता रहा।

लाफ़ार्ग की 'कृषक स्वामित्व तथा आर्थिक प्रगति' शीर्षक रिपोर्ट, जिसकी एंगेल्स ने चर्चा की है, उक्त पत्र में १८ अक्तूबर १८९४ को परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित हुई थी। – पृ० ३८५।

[179] एंगेल्स ने यहां मध्ययुगीन जर्मन राष्ट्र के पवित्र रोमन साम्राज्य (देखें टिप्पणी ४१) के नाम का उल्था करते हुए इस बात पर जोर दिया है कि जर्मनी का एकीकरण प्रशा के नेतृत्व में सम्पन्न हुआ और उसके साथ-साथ सभी जर्मन राज्यों का प्रशाकरण हुआ। – पृ० ३८८।

[180] यहां आशय प० लावरोव कृत 'समाजवाद और अस्तित्व के लिए संघर्ष' लेख से है, जो 'व्येर्योद!' ('आगे बढ़ो!') पत्र के अंक १७ में १५ अक्तूबर १८७५ को लेखक के नाम के बिना छपा था।–पृ० ३९०।

[181] *«Über Land und Meer»* ('स्थल पर तथा सागर में')–सचित्र जर्मन साप्ताहिक जो १८५८ से १९२३ तक स्टुटगार्ट में प्रकाशित होता रहा। –पृ० ३९१।

[182] १८७७ में गोथा-कांग्रेस में ड्यूहरिंग के समर्थकों के क्रोधपूर्ण उद्गारों की ओर इशारा करते हुए ब्लास ने ३० अक्तूबर–६ नवम्बर १८७७ की अपनी चिट्ठी में मार्क्स से पूछा कि क्या वह तथा एंगेल्स जर्मनी के पार्टी साथियों से नाराज़ हैं। यह बताते हुए कि जर्मन मज़दूर मार्क्स तथा एंगेल्स के लेखों की ओर पहले से कहीं अधिक ध्यान दे रहे हैं, ब्लास ने लिखा कि सामाजिक-जनवादियों के प्रचारात्मक आन्दोलन की बदौलत मार्क्स तथा एंगेल्स इतने लोकप्रिय हो गये हैं कि वे स्वयं इसकी कल्पना तक नहीं कर सकते।–पृ० ३९४।

[183] **श्रम-सूरमा संस्था**–यह संस्था अमरीकी मज़दूरों द्वारा फ़िलडेल्फ़िया में १८६९ में स्थापित की गयी थी। १८७८ तक वह गुप्त रूप में काम करनेवाली सोसायटी बनी रही। इसमें मुख्यतया नीग्रो लोगों समेत ग़ैरहुनरमन्द मज़दूर थे। उसका उद्देश्य सहकारी संस्थाओं की स्थापना करना तथा पारस्परिक सहायता संगठित करना था। उसके नेता वस्तुतः राजनीतिक संघर्ष में मज़दूरों की शिरकत के विरुद्ध थे तथा वर्ग मेल-मिलाप की वकालत करते थे। १८८६ में उन्होंने राष्ट्रव्यापी हड़ताल का विरोध किया तथा अपने सदस्यों को उसमें भाग लेने से मना कर दिया। परन्तु संस्था के साधारण सदस्यों ने इन हिदायतों की उपेक्षा कर दी। उसके बाद इस संस्था का मेहनतकश जनसाधारण पर प्रभाव घटता गया तथा पिछली शताब्दी के अन्तिम दशक में वह ख़त्म हो गयी।–पृ० ३९७।

[184] *«Deutsche Worte»* ('जर्मन शब्द')–आस्ट्रियाई आर्थिक तथा सामाजिक-राजनीतिक पत्रिका जो वियेना में १८८१ और १९०४ के बीच प्रकाशित होती रही।

एम० विर्थ का लेख 'हेगेल के सम्बन्ध में झूठ तथा समकालीन जर्मनी में उन पर ज़ुल्म', पत्रिका के अंक ५ (१८९०) में प्रकाशित हुआ था।–पृ० ३९८।

185 यहां इशारा लाइप्ज़िग में १८९० में प्रकाशित बार्थ की पुस्तक «*Die Geschichtsphilosophie Hegels und Hegelianer bis auf Marx und Hartmann*» (मार्क्स तथा हार्टमन तक हेगेल और हेगेलवादियों का इतिहास दर्शन) की ओर है।– पृ० ३९८।

186 «*Berliner Volks-Tribüne*» ('बर्लिन जन-मंच') – सामाजिक-जनवादियों का साप्ताहिक मुखपत्र जो "तरुणों" के अर्द्ध-अराजकतावादी दल की ओर उन्मुख हुआ। वह १८८७ से लेकर १८९२ तक प्रकाशित होता रहा।

"श्रम की पूर्ण उपज – सब के लिए" शीर्षक विचार सामग्री अखबार में १४ जून और १२ जुलाई १८८० के बीच प्रकाशित होती रही। – पृ० ३९९।

187 एंगेल्स के नाम १६ अगस्त १८९० को लिखे अपने पत्र में बयोनिग्क ने, जो समाजवाद के विषय पर एक व्याख्यान करना चाहते थे, उनसे इस प्रश्न का उत्तर देने का अनुरोध किया कि समाज के विभिन्न वर्गों की शिक्षा, चेतना आदि के स्तर में विद्यमान अंतर को देखते हुए समाजवादी रूपांतरण कितना बुद्धिसंगत और संभव हैं। – पृ० ४०१।

188 मेहरिंग का लेख 'ऐतिहासिक भौतिकवाद के सम्बन्ध में' १८९३ में उनकी पुस्तक 'लेसिंग कथा' में परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित हुआ था। – पृ० ४१३।

189 **ब्रनदनबर्ग** – प्रशा का एक प्रांत और उसका ऐतिहासिक केन्द्र है। – पृ० ४१७।

190 यहां इशारा न० फ़० दानिएलसन की 'हमारी सुधारोत्तर सामाजिक अर्थ-व्यवस्था की रूपरेखाएं' शीर्षक पुस्तक की ओर है, जो सेंट पीटर्सबर्ग में १८९३ में प्रकाशित हुई थी। एंगेल्स ने "रूपरेखाएं" शब्द को रूसी में (Очерки) लिखा था। – पृ० ४१९।

191 «*Sozialpolitisches Centralblatt*» ('सामाजिक-राजनीतिक केन्द्रीय मुखपत्र') – सामाजिक-जनवादी प्रवृत्ति का साप्ताहिक। बर्लिन में १८९२ से १८९५ तक प्रकाशित होता रहा। प० स्त्रूवे का लेख 'रूस में पूंजीवादी विकास का मूल्यांकन' १८९३ के अंक १ में प्रकाशित हुआ था। – पृ० ४१९।

[192] यह चिट्ठी *«Der sozialistische Akademiker»* ('समाजवादी विद्वान') के अंक २० (१८६५) में स्ट्राकेंनबर्ग द्वारा यह बताये बिना प्रकाशित की गयी थी कि वह किसके नाम थी। फलस्वरूप पुराने संस्करणों में स्ट्राकेंनबर्ग को ही ग़लती से पत्र पानेवाला समझा गया। – पृ० ४२२।

[193] आशय जी० गुलीह की कई खण्डों वाली रचना – *«Geschichtliche Darstellung des Handels, der Gewerbe und des Ackerbaus der bedeutendsten handeltreibenden Staaten unserer Zeit»* ('हमारे युग के सबसे महत्त्वपूर्ण वाणिज्यिक राज्यों के व्यापार, उद्योग तथा कृषि का ऐतिहासिक वृत्तान्त') से है जिसका प्रकाशन येना में १८३० तथा १८४५ के बीच हुआ था। – पृ० ४२५।

[194] यहां इशारा सोम्बार्ट के लेख *«Zur Kritik des ökonomischen Systems von Karl Marx»* ('कार्ल मार्क्स की आर्थिक प्रणाली की आलोचना') की ओर है जो *«Archiv für sociale Gesetzgebung und Statistik»* ('सामाजिक क़ानून तथा सांख्यिकी-सम्बन्धी प्रश्नों का अभिलेख') नामक पत्रिका (खण्ड ७, १८६४) में प्रकाशित हुआ था। – पृ० ४२५।

[195] एंगेल्स ने मई १८६५ में '"पूंजी" के तीसरे खंड का परिशिष्ट' – 'मूल्य का नियम तथा मुनाफ़े की दर' तथा 'स्टाक-एक्सचेंज' शीर्षक रचनाएं – लिखा था। – पृ० ४२८।

नाम-निर्देशिका

अ

अगस्टेनबर्ग, फ़्रेडरिक (१८२९–१८८०) – श्लेजविग-होल्स्टिन-ज़ोनदेनबर्ग-अगस्टेनबर्ग के प्रिंस, १८६३ से श्लेजविग-होल्स्टिन के ड्यूक (फ़्रेडरिक सातवें के नाम से)। – २६०।

अनेक्सांद्रिदास (छठी शताब्दी ई० पू०) – ५६० ई० पू० से स्पार्टा के राजा, एरिस्तोनस के साथ मिलकर शासन किया। – ७४।

अरस्तू (३८४–३२२ ई० पू०) – प्राचीन काल के महान चिंतक, दास स्वामियों के वर्ग की विचारधारा के निरूपक, जो भौतिकवाद तथा भाववाद के बीच डांवांडोल थे। – १२६।

अर्दाशीर – अकेमेनियाई राजवंश के तीन प्राचीन फ़ारसी राजाओं का नाम। – १५०।

अलेक्सान्द्र द्वितीय (१८१८–१८८१) – रूस के सम्राट (१८५५–१८८१)। – २८८, २६२।

अलेक्सान्द्र प्रथम (१७७७–१८२५) – रूस के सम्राट (१८०१–१८२५)। – २६४, ३०४।

आ

आगासिज़ (Agassiz), जां लूई रोदोल्फ़ (१८०७–१८७३) – स्विस प्राणि-विज्ञानी, भूविज्ञानी, प्रलयों तथा दिव्य सृष्टि के भाववादी सिद्धान्त के प्रतिपादक। – ६१।

आर्नड्ट(Arndt), एर्न्स्ट मॉरिट्ज़ (१७६६–१८६०) – जर्मन लेखक, इतिहासकार

तथा भाषा-विज्ञानी; उनकी रचनाओं में राष्ट्रवादिता का पुट होता था।–२६८, २६९।

इ

इम थर्न (Im Thurn), एवेरार्ड फ़र्दीनांद (१८५२–१९३२)–अंग्रेज़ औपनिवेशिक अधिकारी, भूगोलज्ञ तथा मानव-शास्त्रवेत्ता।–२२३।

इर्मिनोन (Irminon) (मृत्यु अनुमानतः ८२६)–सेंट-जर्मे-द-प्रे मठ के मठाधीश (८१२–८१७)।–१८१।

ई

ईस्खिलस (५२५–४५६ ई० पू०)–प्राचीन यूनान के विख्यात नाटककार, क्लासिकीय दुःखांत नाटकों के रचयिता।–१५, १६, ७३, १२३।

उ

उलफ़िला (अनुमानतः ३११–३८३)–पश्चिमी गॉथ ईसाई नेता जिन्होंने गॉथों को ईसाई बनाया, गॉथ भाषा की वर्णमाला तैयार की तथा बाइबिल का गॉथ भाषा में अनुवाद किया।–१५०।

ए

एंगेल्स (Engels), फ़्रेडरिक (१८२०–१८९५)।–९–१३, २५, २७, ७७, ८३, १२७, १५५, १५७, २१२, २२२, २४४, २४६, २७५, २८०, २८१, ३३०, ३३२–३३४, ३३८–३४१, ३४४, ३४६–३४९, ३५५–३५८, ३६३, ३६४, ३७७, ३८५, ३८७, ३८८, ३९०–३९९, ४०१, ४०२, ४०४, ४०५, ४०८, ४१३, ४१४, ४१५–४२०, ४२५–४२८।

एनाक्रियोन (छठी शताब्दी ई० पू० का उत्तरार्द्ध)–यूनानी कवि।–९०।

एप्पियस क्लौदियस (मृत्यु अनुमानतः ४४८ ई० पू०)–रोम के राजनीतिज्ञ, दशाधिप समिति, जिसने "बारह पट्टिकाओं" के क़ानून जारी किये थे, के सदस्यों में एक।–१४३।

एप्पियन (पहली शताब्दी के अन्त से–दूसरी शताब्दी का आठवां दशक)–प्राचीन यूनानी इतिहासकार।–२५७।

एम्मियानस मार्सेलिनस (अनुमानतः ३३२ से ४००) – रोम के इतिहासकार, 'इतिहास' के रचयिता। – ८२, १०६।

एरिस्तीदीज़ (अनुमानतः ५४० से ४६७ ई० पू०) – प्राचीन यूनान के राजनीतिज्ञ तथा सेनापति। – १३६।

एरिस्तोफ़ेनस (अनुमानतः ४४६–३८५ ई० पू०) – प्राचीन यूनान के नाटककार, राजनीतिक प्रहसनों के रचयिता। – ७५।

एरिस्तोनस (छठी शताब्दी ई० पू०) – स्पार्टा के राजा (५७४–५२० ई० पू०), अनेक्सांद्रिदास के साथ मिलकर शासन किया। – ७४।

एशनबाख़ – देखें **वोल्फ़ाम फ़ोन एशनबाख़**।

एस्पिनास (Espinas), अल्फ़ेड विक्तोर (१८४४–१९२२) – फ़्रांस के पूंजीवादी दार्शनिक तथा समाजशास्त्री, विकासवादी सिद्धान्त के समर्थक। – ४०, ४१।

ओ

ओडोआसर (अनुमानतः ४३४–४९३) – जर्मन सैन्य दलों के एक नेता; ४७६ में रोमन सम्राट का तख़्ता उलटकर इटली के पहले "बर्बर" राज्य के राजा बन गये। – १७०।

ओर्सिनी (Orsini), फ़ेलिसे (१८१९–१८५८) – इतालवी क्रान्तिकारी, पूंजीवादी जनवादी, जनतंत्रवादी; इटली की राष्ट्रीय मुक्ति तथा एकीकरण में प्रमुख भूमिका अदा की; नेपोलियन तृतीय की हत्या का प्रयत्न करने के आरोप में फांसी दी गयी। – ४२४।

औ

औगस्तस (६३ ई० पू० – १४) – रोमन सम्राट (२७ ई० पू० – १४)। – १४२, १४४, १७२, ४२४।

क

कवूर (Cavour), कामिलो बेंसो, काउंट (१८१०–१८६१) – इटली के राजनेता, सार्डिनियाई सरकार के प्रधान (१८५२–१८५९ और १८६०–१८६१); सैवोय राजवंश की छत्रछाया में इटली का "ऊपर से" एकीकरण करने की

नीति का अनुसरण किया तथा इसमें नेपोलियन तृतीय से समर्थन पाने की आशा की; १८६१ में संयुक्त इटली की पहली सरकार के प्रधान।–२७५।

कांट (Kant), इमैनुएल (१७२४–१८०४)–क्लासिकीय जर्मन दर्शन के जन्मदाता, भाववादी।–२१५, २२६, २२७, २२९, २३२, २४२, ४११, ४१५।

काउत्स्की (Kautsky), कार्ल (१८५४–१९३८)–जर्मनी के सामाजिक-जनवादी, पत्रकार, *«Neue Zeit»* के संपादक (१८८३–१९१७); १९वीं शताब्दी के नवें दशक में मार्क्सवादी, परन्तु बाद में अवसरवादियों के ख़ेमे में चले गये और जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी तथा दूसरे इंटरनेशनल में मध्यमार्ग के सिद्धान्तकार बन गये।–३९५।

कानिट्ज़ (Kanitz), हैंस विल्हेल्म अलेक्जेंडर, काउंट (१८४१–१९१३)–जर्मन राजनीतिज्ञ, कंज़रवेटिव पार्टी के एक नेता, प्रशियाई विधान-सभा तथा जर्मन राइख़स्टाग के सदस्य।–३७५।

काप्रिवी (Caprivi), लेव काउंट (१८३१–१८९९)–जर्मन राजनेता तथा जनरल, जर्मन साम्राज्य के चांसलर (१८९०–१८९४)।–३४०।

काबडेन (Cobden), रिचार्ड (१८०४–१८६५)–अंग्रेज कारख़ानेदार तथा पूंजीवादी राजनीतिज्ञ, फ़्रीट्रेडरों का नेता तथा अनाज क़ानून विरोधी लीग का संस्थापक, संसद सदस्य।–३३६।

काम्पहाउज़ेन (Camphausen), लुडोल्फ़ (१८०३–१८९०)–जर्मन बैंकपति; राइनी उदारतावादी पूंजीपतियों के एक नेता; प्रशा के मंत्री-प्रेज़ीडेन्ट (मार्च–जून १८४८)।–२८१।

कार्ल आर्कड्यूक–देखें **कार्ल लुडविग जोहान**।

कार्ल बहादुर (Charles the Bold) (१४३३–१४७७)–बारगण्डी के ड्यूक (१४६७–१४७७)।–४१७।

कार्ल लुडविग जोहान (१७७१–१८४७)–आस्ट्रिया के आर्कड्यूक, फ़ील्ड मार्शल, फ़्रांस के विरुद्ध युद्धों में प्रधान सेनापति (१७९६, १७९९, १८०५ तथा १८०९), युद्ध मंत्री (१८०५–१८०९)।–३०७।

काल्विन (Calvin), जान (१५०९–१५६४)–धर्म-सुधार आंदोलन के नेता, प्रोटेस्टेंट मत की एक अलग शाखा–काल्विनपंथ–के संस्थापक। पूंजी के

प्राथमिक संचय के युग में यह नया पंथ पूंजीपति वर्ग के हितों की अभिव्यक्ति करता था। – ६४, २६०, ४१५।

कावालोत्ती (Cavallotti), फ़ेलिस (१८४२–१८६८) – इतालवी राजनेता तथा पत्रकार, इटली के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन में भाग लिया, पूंजीवादी आमूल परिवर्तनवादियों के नेता। – ३६१।

कुलांज, दे – देखें **फ़ुस्तेल दे कुलांज**, नूमा देनी।

कुविए (Cuvier), जार्ज (१७६९–१८३२) – फ़्रांसीसी प्रकृति-विज्ञानी; प्रलय-संबंधी अवैज्ञानिक भाववादी सिद्धान्त के प्रणेता। – ३७।

कूनोव (Cunow), हेनरिक विल्हेल्म कार्ल (१८६२–१९३६) – जर्मन सामाजिक-जनवादी, इतिहासकार, समाजशास्त्री तथा नृवंश-विज्ञानी; १९वीं शताब्दी के नवें तथा दसवें दशक में मार्क्सवादी, बाद में संशोधनवादी। – ७१।

केली-विश्नेवेट्स्की (Kelley-Wischnewetzky), फ़्लोरेंस (१८५९–१९३२) – अमरीकी अनुवादक, रूसी समाजवादी उत्प्रवासी ल० विश्नेवेट्स्की की पत्नी; समाजवादी, बाद में पूंजीवादी सुधारवादी। – ३४३, ३९६–३९८।

के (Kaye), जॉन विलियम (१८१४–१८७६) – अंग्रेज औपनिवेशिक अधिकारी, भारतीय इतिहास तथा भारतीय जातियों के विषय में अनेक ग्रंथों के तथा अफ़ग़ानिस्तान और भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक युद्धों के इतिहास के भी रचयिता। – ४९।

कोपेर्निक (Kopernik), निकोलाई (१४७३–१५४३) – महान पोलिश ज्योतिर्विज्ञानी, ब्रह्मांड के सौरकेन्द्रवाद के सिद्धान्त के जन्मदाता। – २२६।

कोवालेव्स्की, मक्सिम मक्सिमोविच (१८५१–१९१६) – रूसी समाजशास्त्री, इतिहासकार तथा राजनीतिज्ञ, पूंजीवादी उदारतावादी, आदिम सामुदायिक व्यवस्था के इतिहास के बारे में कई पुस्तकों के रचयिता। – ६७, ६९, ७०, ७१, १५४, १५९, १६६।

कौप्प (Kopp), हर्मन फ़्रांज़ मोरिस (१८१७–१८९२) – जर्मन रसायन-विज्ञानी। – २३६।

क्रॉमवेल (Cromwell), ऑलिवर (१५९९–१६५८) – १७ वीं शताब्दी की अंग्रेज़ पूंजीवादी क्रान्ति में पूंजीपति वर्ग तथा प्रगतिशील कुलीनों के नेता, १६५३ से इंगलैंड, स्कॉटलैंड तथा आयरलैंड के लार्ड-प्रोटेक्टर। – ४२४।

क्राफ़ोर्ड (Crawford), एमिले (१८३१–१९१५) – अंग्रेज़ पत्रकार, पेरिस स्थित अंग्रेज़ सम्वाददात्री। – २९७।

क्रिश्चियन, ग्लक्सबर्ग के ड्यूक (१८१८–१९०६) – १८५२ से डेनमार्क के युवराज, १८६३ से १९०६ तक क्रिश्चियन नवम्, डेनमार्क के राजा। – २६५।

क्रुप्प (Krupp), फ़्रेडरिक अल्फ़्रेड (१८५४–१९०२) – जर्मन उद्योगपति, जर्मनी के इस्पात तथा आयुध उद्योगों के सम्राट। – ३८८।

क्लाइस्थीनीज़ – एथेंस के राजनीतिज्ञ; ५१०–५०७ ई० पू० में उन सुधारों को सम्पन्न किया, जिनका उद्देश्य गोत्र-व्यवस्था के अवशेषों को मिटाना तथा दास-स्वामित्व के आधार पर जनवाद की स्थापना करना था। – १३७।

क्लाप्का (Klapka), गेओर्ग (१८२०–१८९२) – हंगेरियाई जनरल, १८४८–१८४९ में एक हंगेरियाई क्रान्तिकारी सेना का नेतृत्व किया, क्रान्ति का दमन हो जाने पर विदेश चले गये, १८६६ में आस्ट्रिया और प्रशा के बीच युद्ध में प्रशियाई सरकार द्वारा तैयार किये गये हंगेरियाई सैन्यदल के कमांडर। – २९३।

क्लौदिया – रोम के पैट्रीशियनों का एक घराना। – १४२।

क्विंटीलिया – रोम के पैट्रीशियनों का एक कुलनाम। – १४२।

ग

गायस (दूसरी शताब्दी) – रोम के क़ानूनवेत्ता, रोमन क़ानून के एक प्रमुख संकलनकर्त्ता। – ६८।

गाल्ले (Galle), जोहान गोत्तफ़्रीद (१८१२–१९१०) – जर्मन ज्योति-विज्ञानी, १८४६ में लेवेर्ये की गणनाओं के आधार पर नेप्च्यून ग्रह का पता लगाया। – २२६।

गीज़ो (Guizot), फ़्रांसुआ पियेर गिल्योम (१७८७–१८७४) – फ़्रांसीसी पूंजीवादी इतिहासकार तथा राजनीतिज्ञ; १८४० से १८४८ तक फ़्रांस की गृह तथा विदेश नीति के वास्तविक सूत्रधार। – २५३, ४२४।

गुलीह (Gülich), गुस्ताव (१७९१–१८४७) – जर्मन पूंजीवादी अर्थशास्त्री तथा इतिहासकार, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के इतिहास से संबंधित कृतियों के रचयिता। – ४२५।

ग्रून (Grün), कार्ल (१८१७–१८८७) – जर्मनी के निम्न-पूंजीवादी पत्रकार; पांचवें दशक के मध्य भाग में "सच्चे समाजवाद" के एक मुख्य प्रतिनिधि। – २२२।

गेटे (Goethe), जोहान वोल्फ़गांग (१७४९–१८३२) – जर्मनी के महाकवि तथा विचारक। – ४६, २१५, २१८, २३०, ३१२।

गैरीबाल्डी (Garibaldi), गिउसिपे (१८०७–१८८२) – इतालवी क्रान्तिकारी तथा जनवादी, इटली में राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के नेता। – २७४, ३०९।

गोल्ड (Gould), जे (१८३६–१८९२) – अमरीकी करोड़पति, रेल-उद्योगपति, वित्तप्रबंधक। – २८६, ४०७।

गोल्डेनबर्ग, इओसिफ़ पेत्रोविच (उपनाम **मेश्कोव्स्की**) (१८७३–१९२२) – रूसी सामाजिक-जनवादी, १८९० में अध्ययनार्थ विदेश गये; १९०३ में रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस के बाद बोल्शेविक बन गये; प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान प्रतिरक्षावादी स्थिति अपनायी; १९२० में फिर बोल्शेविकों के साथ हो गये। – ४१९।

गोवोने (Govone), गिउसिपे (१८२५–१८७२) – इतालवी जनरल तथा राजनेता; अप्रैल १८६६ में बिस्मार्क के साथ समझौता वार्ता की, १८६९–१८७० में युद्ध मंत्री। – २९२, २९४।

ग्रिम (Grimm), जैकब (१७८५–१८६३) – प्रसिद्ध जर्मन भाषा-विज्ञानी; जर्मन भाषा के इतिहास से और क़ानून, पुराण तथा साहित्य से भी संबंधित कृतियों के रचयिता। – १६०।

ग्रेगरी, तूर्स के (गेओर्ग फ़्लोरेंस) (अनुमानतः ५४०–५९४) – ईसाई पादरी, धर्मशास्त्री और इतिहासकार; ५७३ से तूर्स के बिशप; 'फ़्रैंक जन का इतिहास' तथा 'चमत्कार सप्तक' नामक पुस्तकों के रचयिता। – १६४।

ग्रोट (Grote), जार्ज (१७९४–१८७१) – अंग्रेज़ पूंजीवादी इतिहासकार, बृहद्ग्रंथ 'यूनान का इतिहास' के रचयिता। – ११७–१२१।

ग्लैडस्टन (Gladstone), विलियम एवर्ट (१८०९–१८९८)—अंग्रेज राजनीतिज्ञ, १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिबरल पार्टी के एक नेता, वित्तमंत्री (१८५२–१८५५ तथा १८५९–१८६६) तथा प्रधानमंत्री (१८६८–१८७४; १८८०–१८८५; १८८६, १८९२–१८९४)।—१२४, ३५९।

च

चार्ल्स महान (अनुमानतः ७४२–८१४)—फ्रैंक राजा (७६८–८००) और सम्राट (८००–८१४)।—१८०–१८२।

चेख (Tschech), हैनरिक लुडविग (१७८९–१८४४)—प्रशियाई अधिकारी, १८३२–१८४१ में श्टर्कोव नगर (प्रशा) के मेयर, जनवादी; फ्रेडरिक-विल्हेल्म चतुर्थ की हत्या के प्रयत्न के लिए मौत की सज़ा दी गई।—२८२।

ज

जार्ज (George), हेनरी (१८३९–१८९७)—अमरीकी पत्रकार तथा पूंजीवादी अर्थशास्त्री, पूंजीवाद के अन्तर्गत तमाम सामाजिक अन्तर्विरोधों को हल करने के लिए पूंजीवादी राज्य द्वारा भूमि के राष्ट्रीयकरण के विचार का प्रतिपादन किया; अमरीकी मज़दूर आन्दोलन को पूंजीवादी सुधारवाद के रास्ते पर ले जाने का प्रयास किया।—३९६, ३९७, ३९८।

जिफ़ेन (Giffen), रॉबर्ट (१८३७–१९१०)—अंग्रेज़ पूंजीवादी अर्थशास्त्री और सांख्यिकीविद, वित्तीय मामलों के विशेषज्ञ, व्यापार मन्त्रालय के सांख्यिकी विभाग के अध्यक्ष (१८७६–१८९७)।—३५३, ३७८।

जिरो-त्यूलों (Jiraud—Teulon), अलेक्सिस (जन्म १८३९)—जेनेवा में इतिहास के प्रोफ़ेसर, आदिम समाज के इतिहास से संबंधित कई पुस्तकों के रचयिता।—२३, २६, ४०, ४१, ४२, ७२।

जुगेनहाइम (Sugenheim), सेमुएल (१८११–१८७७)—जर्मन पूंजीवादी इतिहासकार।—६२।

जुलिया—रोम के पैट्रीशियनों का एक कुलनाम।—१५९।

जेटबर (Soetbeer), गेओर्ग अदोल्फ़ (१८१४–१८९२)—जर्मनी के पूंजीवादी अर्थशास्त्री तथा सांख्यिकीविद्।—३२३, ४०७।

जोज़ेफ़ द्वितीय (१७४१–१७६०) – तथाकथित पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट (१७६५–१७६०)। – २७६।

ट

टाइबीरियस (४२ ई० पू० – ३७) – रोम के सम्राट (१४–३७)। – १५०।

टाइलर (Tylor), एडुअर्ड बर्नेट (१८३२–१६१७) – विख्यात अंग्रेज़ नृवंश-विज्ञानी, संस्कृति तथा नृवंश-विज्ञान के इतिहास की विकासवादी शाखा के संस्थापक। – १४।

टारक्वीनियस सुपर्बस (५३४ से अनुमानतः ५०६ ई० पू०) – पुराने रोम का पुराणचर्चित राजा; कहा जाता है कि जन विद्रोह के फलस्वरूप यह राजा रोम से निकाल दिया गया और वहां जनतंत्रीय व्यवस्था स्थापित की गयी। – १५१, १५३।

ट्रायर (Trier), गेर्सन (जन्म १८५१) – डेनमार्क के सामाजिक-जनवादी, सामाजिक-जनवादी पार्टी के क्रान्तिकारी अल्पमत के एक नेता; पार्टी के अवसरवादी पक्ष के ख़िलाफ़ संघर्ष चलाया; एंगेल्स की कृतियों का डेनिश भाषा में अनुवाद किया। – १३।

ड

डायोनीसियस हैलीकरनासियाई (प्रथम शताब्दी ई० पू० – प्रथम शताब्दी) – प्राचीन यूनान के इतिहासकार तथा अलंकारशास्त्री, 'प्राचीन रोम का इतिहास' के रचयिता। – १२३।

डार्विन (Darwin), चार्ल्स रॉबर्ट (१८०६–१८८२) – महान अंग्रेज़ प्रकृति-विज्ञानी, विकासवादी जीव-विज्ञान के प्रवर्त्तक। – २४, २३१, २४८, ३६०, ३६१।

डिकिआरकीज़ (चौथी शताब्दी ई० पू०) – यूनानी विद्वान, अरस्तू के शिष्य, इतिहास, राजनीति, दर्शन, भूगोल, आदि विषयों पर अनेक ग्रंथों के रचयिता। – ११८।

डीयेट्ज़गेन (Dietzgen), जोज़ेफ़ (१८२८–१८८८) – जर्मन सामाजिक-जनवादी, दार्शनिक, जो बिना किसी शिक्षा-दीक्षा के, स्वतः द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के आधारभूत सिद्धांतों तक पहुंच गये थे; पेशे से चर्मकार। – २४६।

डेनियलसन, निकोलाई फ़ांत्सेविच (उपनाम **निकोलाई – ग्रन**) (१८४४–१९१८) – रूसी अर्थशास्त्री तथा लेखक, १९ वीं शताब्दी के नवें तथा दसवें दशक के नरोद्‌निक आन्दोलन के सिद्धान्तकार; मार्क्स की 'पूंजी' का रूसी में अनुवाद किया तथा मार्क्स और एंगेल्स से पत्र-व्यवहार करते रहे। – ४१९–४२२।

डेमोस्थनीज़ (३८४–३२२ ई० पू०) – प्राचीन यूनान के विख्यात वक्ता तथा राजनीतिज्ञ। – ११७।

त

तासितुस, (पुब्लियस कार्नेलियस तासितुस) (अनुमानतः ५५–१२०) – विख्यात रोमन इतिहासकार, 'जेर्मानिया', 'इतिहास' तथा 'इतिवृत्त' नामक ग्रंथों के रचयिता। – ११, २२, ३३, ३४, ८०, १०९, १६१–१७१।

तोरिचेली (Torricelli), इवांजेलिस्ता (१६०८–१६४७) – इटली के विख्यात भौतिकीविद और गणितज्ञ। – ४२३।

त्येरी (Thierry), ओग्युस्तेन (१७९५–१८५६) – फ़्रांस के पूंजीवादी उदारतावादी इतिहासकार। – २५३, ४२४।

थ

थियेर (Thiers), अदोल्फ़ (१७९७–१८७७) – फ़्रांस का पूंजीवादी इतिहासकार तथा राजनीतिज्ञ, मंत्री परिषद का अध्यक्ष (१८७१) आर्लियानिस्ट, जनतंत्र का राष्ट्रपति (१८७१–१८७३), पेरिस कम्यून का हत्यारा। – २५३, ३०४, ३१३।

थियोडोरिक – दो पश्चिमी गॉथ राजाओं का नाम – थियोडोरिक प्रथम (शासन काल अनुमानतः ४१८–४५१) तथा थियोडोरिक द्वितीय का (शासन काल अनुमानतः ४५३–४६६) और एक पूर्वी गॉथ राजा, थियोडोरिक का (४७४–५२६) । – १५०।

थियोक्रिटस (तीसरी शताब्दी ई० पू०) – प्राचीन यूनानी कवि। – ९०।

थीले (Thile), कार्ल हेर्मान फ़ोन (१८१२–१८८९) – प्रशियाई राजनयिक, प्रशा (१८६२–१८७१) तथा जर्मन साम्राज्य (१८७१–१८७३) के उपविदेश मंत्री। – ३००।

थ्युसीडिडीज़ (अनुमानतः ४६०–३९५ ई० पू०)–प्राचीन यूनान के प्रसिद्ध इतिहासकार, 'पेलोपोनेसियाई युद्ध का इतिहास' के रचयिता।–१२६।

द

दिओदोरस सिसिलियाई (अनुमानतः ८०–२९ ई० पू०)–प्राचीन यूनान के इतिहासकार, विश्व इतिहास-संबंधी कृति 'ऐतिहासिक पुस्तकालय' के रचयिता। –१६१, १७२।

दिदेरो (Diderot), देनी (१७१३–१७८४)–फ़्रांस के महान दार्शनिक, यांत्रिक भौतिकवादी, निरीश्वरवादी, फ़्रांस के क्रांतिकारी पूंजीपति वर्ग के एक सिद्धांतकार, ज्ञान-प्रसारक, विश्वकोशवादियों के प्रधान।–२३३।

दीत्स (Diets), जोहान हेनरिक विल्हेल्म (१८४३–१९२२)–जर्मन सामाजिक-जनवादी, एक सामाजिक-जनवादी प्रकाशन गृह के संस्थापक, १८८१ से राइख़स्टाग के सदस्य।–१२।

देकार्त (Descartes), रेने (१५९६–१६५०)–फ़्रांस के महान द्वैतवादी दार्शनिक, गणितज्ञ तथा प्रकृति विज्ञानी।–२२६, २२९, ३९८।

द्यूरो दे ला माल (Dureau de la Malle), अदोल्फ़ जूल सेज़ार ओग्यूस्त (१७७७–१८५७)–फ़्रांसीसी कवि तथा इतिहासकार।–१५२।

न

नादेज्दे (Nadejde), इओन (१८५४–१९२८)–रूमानिया के पत्रकार तथा दुभाषिया, सामाजिक-जनवादी, १९ वीं शताब्दी के अंतिम दशक में अवसरवादी बन गये।–१३।

निकोलाई प्रथम (१७९६–१८५५)–रूसी सम्राट (१८२५–१८५५)।–२६९, २७१, २८९।

निबूहर (Niebuhr), बार्थोल्ड गेओर्ग (१७७६–१८३१)–जर्मन पूंजीवादी इतिहासकार, प्राचीन काल के इतिहास से संबंधित अनेक ग्रंथों के रचयिता। –११८, १२०, १४९, १९९।

नियार्कस (अनुमानतः ३६०–३१२ ई० पू०) – मेसीडोनिया के नौसेनापति, जिन्होंने मेसीडोनियाई बेड़े के भारत से मेसोपोटामिया तक के अभियान (३६०–३२४ ई० पू०) का वर्णन किया है। – ७०।

नेपोलियन तृतीय (लूई नेपोलियन बोनापार्त) (१८०८–१८७३) – नेपोलियन प्रथम के भतीजे, द्वितीय जनतंत्र के राष्ट्रपति (१८४८–१८५१), फ़्रांसीसी सम्राट (१८५२–१८७०)। – २७०–२७६, २८६–२८८, २९१, २९२, २९४, २९७–३०३, ३०९, ३१३, ३५२।

नेपोलियन प्रथम, बोनापार्त (१७६९–१८२१) – फ़्रांस के सम्राट (१८०४–१८१४ तथा १८१५)। – ७३, ७९, २०१, २३५, २६४, २६९, २७४, २७८, ३२४, ३६६, ४१०, ४२४।

प

पर्सियस (२१२–१६६ ई० पू०) – मेसीडोनिया के राजा (१७९–१६८ ई० पू०)। – १७२।

पाउडरली (Powderly), टेरेंस विंसेंट (१८४९–१९२४) – १९वीं शताब्दी के आठवें और दसवें दशक में अमरीकी मज़दूर आन्दोलन का एक अवसरवादी नेता; 'आर्डर आफ़ द नाइट्स आफ़ लेबर' के प्रधान (१८७९–१८९३) के रूप में क्रान्तिकारी सर्वहारा आन्दोलन का विरोध किया तथा पूंजीपति वर्ग के साथ मेल-मिलाप की वकालत की; १८९६ में रिपब्लिकन पार्टी में सम्मिलित। – ३९७।

पामर्स्टन (Palmerston), हेनरी जॉन **टेम्प्ल**, वाईस्काउंट (१७८४–१८६५) – ब्रिटेन के टोरी दल के राजनीतिज्ञ; १८३० से ह्विग दल के नेता; विदेशमंत्री (१८३०–१८३४, १८३५–१८४१ तथा १८४६–१८५१), गृहमंत्री (१८५२–१८५५) तथा प्रधानमंत्री (१८५५–१८५८ तथा १८५९–१८६५)। – २७१, २८९।

पालग्रेव (Palgrave), राबर्ट हैरी इंगलिस (१८२७–१९१९) – अंग्रेज़ बैंकपति तथा अर्थशास्त्री, १८७७ से लेकर १८८३ तक «*Economist*» पत्रिका के प्रकाशक। – ३५५।

पिसिस्त्रेतस (अनुमानतः ६००–५२७ ई० पू०) – एथेन्स के राजा (अन्तराल सहित ५६०–५२७ ई० पू०)। – १४०।

पुटकामेर (Puttkamer), राबर्ट विक्टर (१८२८–१९००) – प्रशियाई प्रतिक्रियावादी राजनेता, गृहमंत्री (१८८१–१८८८)। – २८३।

पेटी (Petty), विलियम (१६२३–१६८७) – प्रख्यात अंग्रेज़ अर्थशास्त्री तथा सांख्यिकीविद, इंगलैंड में क्लासिकीय पूंजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के संस्थापक। – ४२७।

प्रूदों (Proudhon), पियेर जोज़ेफ़ (१८०९–१८६५) – फ़्रांसीसी पत्रकार, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, निम्न-पूंजीवादी विचारधारा के निरूपक तथा अराजकतावाद के एक प्रवर्त्तक। – २४३।

प्रोकोपियस सीज़ेरियाई (पांचवीं शताब्दी के अंत से अनुमानतः ५६२ तक) – बज़नतीनी इतिहासकार, 'फ़ारसियों, वैंडलों तथा गॉथों के साथ जस्टिनियन के युद्धों का इतिहास' नामक ८ खण्डों वाली पुस्तक के रचयिता। – ८२।

प्लिनी (गायस प्लिनी सेकेन्डस) (२३–७९) – रोम के वैज्ञानिक, ३७ खण्डों की पुस्तक, 'प्रकृति इतिहास' के रचयिता। – १६८, २७२।

प्लुटार्क (अनुमानतः ४६–१२५) – प्राचीन यूनान के लेखक तथा भाववादी दार्शनिक। – ७४।

फ़

फ़र्दीनांद पंचम, कैथोलिक (१४५२–१५१६) – कैस्टील के राजा (१४७४–१५०४) और गवर्नर (१५०७–१५१६), फ़र्दीनांद द्वितीय के नाम से आरागों प्रदेश के राजा (१४७९–१५१६)। – ६२।

फ़ाइसन (Fison), लौरिमेर (१८३२–१९०७) – ब्रिटेन के नृवंश-विज्ञानी, आस्ट्रेलिया की जातियों के मामले में विशेषज्ञ; मिशनरी, आस्ट्रेलिया तथा फ़िजी के क़बीलों के बारे में कई पुस्तकों के रचयिता। – ५२, ५४।

फ़ायरबाख़ (Feuerbach), लुडविग (१८०४–१८७२) – मार्क्स से पहले के महान जर्मन भौतिकवादी दार्शनिक। – २१०, २११, २१३, २२२–२२३, २२६–२२८, २३०–२४३, ४१२।

फ़िख़्ते (Fichte), जोहान गोत्तलिब (१७६२–१८१४) – क्लासिकीय जर्मन दर्शन के प्रतिनिधि, आत्मनिष्ठवादी भाववादी। – ४१५।

फ़िलिप द्वितीय अगस्त (११६५–१२२३) – फ़्रांस के राजा (११८०–१२२३)। – ४१५।

फ़ेबियन – रोम के पैट्रीशियनों का एक कुलनाम। – १४६।

फ़ोग्ट (Vogt), कार्ल (१८१७–१८६५) – जर्मन प्रकृतिविद, कुत्सित भौतिकवादी, निम्न-पूंजीवादी जनवादी ; जर्मनी में १८४८–१८४६ की क्रान्ति में भाग लिया ; छठे तथा सातवें दशक में उत्प्रवास के दौरान लूई बोनापार्त के वेतनभोगी एजेंट। – २२८, ३६०।

फ़ांज़-जोज़ेफ़ प्रथम (Franz I), (१८३०–१६१६) – आस्ट्रियाई सम्राट (१८४८–१६१६)। – २७८।

फ़ांज़ प्रथम (१७६८–१८३५) – आस्ट्रियाई सम्राट (१८०४–१८३५)। – २७६।

फ़ीमैन (Freeman), एडुअर्ड अगस्टस (१८२३–१८६२) – अंग्रेज़ पूंजीवादी इतिहासकार, उदारतावादी, आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर। – ११।

फ़ूरिये (Fourier), शार्ल (१७७२–१८३७) – फ़ांस के महान कल्पनावादी समाजवादी। – २६, ८४, १८४, २०८।

फ़ूस्तेल दे कुलांज (Fustel de Coulanges), नूमा देनी (१८३०–१८८६) – फ़ांसीसी पूंजीवादी इतिहासकार, 'प्राचीन नागरिक समुदाय' नामक पुस्तक के रचयिता। – १२१।

फ़ूल्द (Fould), अशील (१८००–१८६७) – फ़ांसीसी बैंकर, आर्लियानिस्ट, बाद में बोनापार्तपंथी, १८४६–१८६७ के दौरान कई बार वित्तमंत्री बने। – २८०।

फ़ेडरिक द्वितीय "महान" (१७१२–१७८६) – प्रशा का राजा (१७४०–१७८६)। – २६६, २७८, २८६, ३८६।

फ़ेडरिक-विल्हेल्म (१६२०–१६८८) – ब्रनदनबर्ग के एलेक्टर (१६४०–१६८८)। – २८६, ४१६।

फ़ेडरिक-विल्हेल्म चतुर्थ (१७६५–१८६१) – प्रशा के राजा (१८४०–१८६१)। – २२०, ३०५।

फ़ेडरिक-विल्हेल्म तृतीय (१७७०–१८४०) – प्रशा के राजा (१७६७–१८४०)। – २१४, २१८, २७६, २८४।

फ़ेडरिक सप्तम (१८०८–१८६३) – डेनमार्क के राजा (१८४८–१८६३)। – २८६।

फ़्लोकोन (Flokon), फ़र्दीनांद (१८००–१८६६) – फ़ांसीसी राजनीतिज्ञ, निम्न-

पूंजीवादी जनवादी, «*Réforme*» अख़बार के एक सम्पादक, १८४८ में अस्थायी सरकार के सदस्य। – ३६४।

ब

बकूनिन, मिख़ाईल अलेक्सान्द्रोविच (१८१४–१८७६) – रूसी जनवादी, पत्रकार, जर्मनी की १८४८–१८४९ की क्रान्ति में भाग लिया; अराजकतावाद के एक सिद्धान्तकार; पहले इंटरनेशनल में मार्क्सवाद के कट्टर विरोधी; १८७२ में हेग कांग्रेस में अपनी फूट डालनेवाली नीति के कारण इंटरनेशनल से निकाल दिये गये। – २२१, २४३।

बयोनिग्क (Boenigk), ओटो फ़ोन – जर्मन सार्वजनिक नेता, जिन्होंने ब्रेस्लाव्ल यूनिवर्सिटी में समाजवाद के बारे में व्याख्यान दिये। – ४०१–४०३।

बर्न्स (Burns), जान (१८५८–१९४३) – ब्रिटेन के मज़दूर आन्दोलन की एक प्रमुख हस्ती; १९ वीं शताब्दी के नवें दशक में नयी ट्रेड यूनियनों के नेताओं में से एक; अन्तिम दशक में लिबरल ट्रेड यूनियनवाद की स्थिति अपनायी तथा समाजवादी आन्दोलन का विरोध किया। – ३५८।

बर्न्सटीन (Bernstein), एडुअर्ड (१८५०–१९३२) – जर्मन सामाजिक-जनवादी, पत्रकार, «*Sozialdemocrat*» समाचारपत्र के संपादक (१८८१–१८९०); १८८९ और १८९३ की अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी मज़दूर कांग्रेसों में प्रतिनिधि; एंगेल्स की मृत्यु के पश्चात् सुधारवादी दृष्टिकोण से मार्क्सवाद के संशोधन की खुल्लमखुल्ला हिमायत की। – ४१३।

बाख़ोफ़ेन (Bachofen), जोहान जैकब (१८१५–१८८७) – स्विट्ज़रलैंड के मशहूर इतिहासकार और क़ानूनवेत्ता, 'मातृ-सत्ता' पुस्तक के रचयिता। – १२, १४–१७, १९, २२, २५, ३८, ३९, ४९, ५०, ५८–६२, ६६, ९६।

बायले (Bayle), पियरे (१६४७–१७०६) – फ़्रांस के संशयवादी दार्शनिक। – २६०।

बार्थ (Barth), पॉल (१८५८–१९२२) – जर्मनी के पूंजीवादी दार्शनिक और समाजशास्त्री, लाइप्ज़िग यूनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर। – ३९८, ४००, ४१४, ४१६।

बावेर (Bauer), ब्रूनो (१८०९–१८८२) – जर्मनी के भाववादी दार्शनिक, विख्यात तरुण हेगेलवादी, पूंजीवादी आमूल परिवर्तनवादी; १८६६ के बाद राष्ट्रीय-उदारतावादी। – २२१, २२२, २२३, २४३, ४१२।

बिस्मार्क (Bismark), ओटो, प्रिंस (१८१५–१८९८) – प्रशा तथा जर्मनी के राजनीतिज्ञ तथा कूटनीतिज्ञ, प्रशा के ज़मींदारों के हितों के पक्षधर, प्रशा के मिनिस्टर-प्रेज़िडेंट (१८६२–१८७१), जर्मन साम्राज्य के चांसलेर (१८७१–१८९०)। – ७४, २०१, २०२, २७५, २८५–२९९, ३०१–३०५, ३०९–३२३, ३२६–३२७, ३५२, ४१६।

बीर (Byr), राबर्ट (**बायेर**, कार्ल राबर्ट का उपनाम) (१८३५–१९०२) – जर्मन उपन्यासकार। – ३९१।

बुख़नर (Büchner), लुडविग (१८२४–१८९९) – जर्मन पूंजीवादी शरीरक्रिया-विज्ञानी तथा दार्शनिक, कुत्सित भौतिकवाद के प्रतिनिधि। – २२८, २३०, ३९०।

बुग्गे (Bugge), सोफ़ुस (१८३३–१९०७) – नार्वे के भाषा-विज्ञानी, प्राचीन स्कैंडिनेवियाई साहित्य तथा पुराण-संबंधी कृतियों के रचयिता। – १६२।

बूर्बाकी (Bourbaki), शार्ल (१८१६–१८९७) – फ़्रांसीसी जनरल, १८७०–१८७१ के फ़्रांस-प्रशा युद्ध में गार्ड्स, १८ वें कोर और फिर पूर्वी सेना के कमांडर। – ३०४।

बूर्बों – फ़्रांस का राजवंश (१५८९–१७९२, १८१४–१८१५ तथा १८१५–१८३०)। – २५३।

बेकर (Becker), विल्हेल्म अदोल्फ़ (१७९६–१८४६) – जर्मन इतिहासकार, प्राचीन इतिहास-संबंधी ग्रंथों के रचयिता। – ११८।

बेनेदेत्ती (Benedetti), विंसेंटे (१८१७–१९००) – फ़्रांसीसी राजनयिक, १८६४ से १८७० तक बर्लिन में राजदूत। – ३००, ३०१।

बेडे, श्रद्धेय (Bede, the Venerable) (अनुमानतः ६७३–७३५) – अंग्रेज़-सैक्सन भिक्षु पादरी, विद्वान तथा इतिहासकार। – १५९।

बेबेल (Bebel), अगस्त (१८४०–१९१३) – जर्मन तथा अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर आन्दोलन के एक प्रसिद्ध नेता, १८६७ से जर्मन मज़दूर संघों की लीग के नेता, पहले इंटरनेशनल के सदस्य, १८६७ से राइख़स्टाग के सदस्य, जर्मन सामाजिक-जनवाद के संस्थापकों में से एक, मार्क्स तथा एंगेल्स के मित्र तथा सहकर्मी, दूसरे इंटरनेशनल के प्रमुख नेता। – २९६।

बेर्टलो (Berthelot), पियेर एजेन मार्सेलिन (१८२७–१९०७) – फ़्रांस के विख्यात रसायन-विज्ञानी, पूंजीवादी राजनीतिज्ञ। – २३६।

बेंक्रोफ़्ट (Bancroft), ह्यूबर्ट होवे (१८३२–१९१८) – अमरीका के पूंजीवादी इतिहासकार, इतिहास तथा नृवंश-विज्ञानी-संबंधी अनेक ग्रंथों के रचयिता। – ४३, ५९, ६२, १८६।

बैंग (Bang), अन्तोन क्रिश्चियन (१८४०–१९१३) – नार्वे के एक धर्मशास्त्री, स्कैंडिनेवियाई पुराण के बारे में तथा नार्वे में ईसाई धर्म के इतिहास के बारे में अनेक ग्रंथों के रचयिता। – १६२।

बोन्ये (Bonnier), शार्ल (जन्म १८६३) – फ़्रांसीसी समाजवादी, पत्रकार। – ४५।

बोरगियस (Borgius), डब्ल्यू०। – ४२२ – ४२५।

ब्राइट (Bright), जॉन (१८११–१८८९) – अंग्रेज़ उद्योगपति, फ़्रीट्रेडर, अनाज क़ानून विरोधी लीग के संस्थापकों में से एक; १९ वीं शताब्दी के सातवें दशक के अन्त में लिबरल पार्टी के एक नेता, अनेक लिबरल मंत्रिमंडलों में मंत्री। – ३३६, ३४९।

ब्राडहर्स्ट (Broadhurst), हेनरी (१८४०–१९११) – अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ, ट्रेड यूनियन नेता; सुधारवादी, १८७५–१८९० में ट्रेड यूनियन कांग्रेस की संसदीय समिति के सदस्य, लिबरल पार्टी के संसद सदस्य। – ३५८।

ब्रेंतानो (Brentano), लूइयो (१८४४–१९३१) – जर्मनी के कुत्सित पूंजीवादी अर्थशास्त्र के एक प्रतिनिधि, काथेडर-समाजवाद के एक प्रमुख प्रतिनिधि। – ३५३।

ब्रौन (Braun), हाइनरिख़ (१८५४–१९२७) – जर्मन सामाजिक-जनवादी, सुधारवादी; पत्रकार, कई पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक। – ४२५।

ब्लां (Blanc), लूई (१८११–१८८२) – फ़्रांस के निम्न-पूंजीवादी समाजवादी, इतिहासकार; १८४८ में अस्थायी सरकार के सदस्य तथा लक्सेमबर्ग आयोग के अध्यक्ष; अगस्त १८४८ से लंदन में निम्न-पूंजीवादी उत्प्रवासियों के एक नेता। – २३६, ३६४।

ब्लाइखरोडर (Bleichröder), गेर्सन (१८२२–१८९३) – जर्मन थैलीशाह, बिस्मार्क के निजी बैंकर, वित्तीय मामलों में उनके ग़ैरसरकारी सलाहकार और कई सट्टेबाज़ी भरी तिकड़मों में उनके वकील। – २०२, २८७, २९२।

ब्लाख (Bloch), जोज़ेफ़ – «*Sozialistische Monatshefte*» पत्रिका के संपादक। – ४०२ – ४०५।

ब्लास (Blos), विल्हेल्म (१८४९–१९२७) – जर्मन सामाजिक-जनवादी, पत्रकार तथा इतिहासकार; १८७२–१८७४ में «*Volksstaat*» पत्र के एक संपादक; राइख़स्टाग के सदस्य; पहले विश्वयुद्ध के दौरान सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी दृष्टिकोण ग्रहण किया। – ३९४।

म

माइकेल (Miquel), जोहानेस (१८२८–१९०१) – जर्मन राजनीतिज्ञ, १९ वीं शताब्दी के पांचवें दशक में कम्युनिस्ट लीग के सदस्य; बाद में राष्ट्रवादी-उदारतावादी; अन्तिम दशक में प्रशा के वित्तमंत्री। – ३३६।

माइल्डे (Milde), कार्ल अगस्त (१८०५–१८६१) – सिलेशिया के बड़े उद्योग-पति; मई तथा जून १८४८ में प्रशियाई राष्ट्रीय सभा के दक्षिणपक्ष के सदस्य। – २८१।

माइस्सनर (Meissner), ओटो कार्ल (१८१९–१९०२) – हैम्बर्ग के प्रकाशक। 'पूंजी' तथा मार्क्स और एंगेल्स की अन्य कई रचनाओं को प्रकाशित किया। – २४६।

मान्तेस्क्यू (Montesquieu), शार्ल (१६८९–१७५५) – महान फ़्रांसीसी पूंजीवादी समाजशास्त्री, अर्थ शास्त्री तथा लेखक, १८ वीं शताब्दी के पूंजीवादी ज्ञान-प्रसार के प्रतिनिधि, संवैधानिक राजतंत्र के सिद्धांतकार। – ४१५।

मानटेइफ़ेल (Manteuffel), ओटो थियोडोर, बैरन (१८०५–१८८२) – प्रशियाई राजनीतिज्ञ, गृहमंत्री (१८४८–१८५०), मंत्री-प्रेज़ीडेंट (१८५०–१८५८)। – २८३, ३२१।

मार्क्स (Marx), कार्ल (१८१८–१८८३)। – ९, ४५, ७७, ८१, २१०, २११, २२२, २४३–२४४, २७५, ३१०, ३४७, ३४८, ३५२, ३८७, ३९४, ३९८ – ४००, ४०४, ४०५, ४१२ – ४१४, ४२४–४२८।

मार्टिन्येटी (Martignetti), पस्क्वाले – इटली के समाजवादी, जिन्होंने मार्क्स और एंगेल्स की कृतियों का इतालवी भाषा में अनुवाद किया। – १३।

मारेर (Maurer), गेओर्ग लुडविग (१७६०–१८७२) – जर्मनी के प्रसिद्ध पूंजीवादी इतिहासकार, प्राचीन तथा मध्ययुगीन जर्मनी की समाज व्यवस्था का अध्ययन किया। – ११२, १६३, १६६, ४००।

माल्थस (Malthus), टामस राबर्ट (१७६६–१८३४) – अंग्रेज़ पादरी तथा अर्थशास्त्री ; जनसंख्या के मानवद्रोही सिद्धांत के प्रतिपादक। – ३६१।

मिन्ये (Mignet), फ़्रांसुआ ओग्यूस्त मारी (१७६६–१८८४) – फ़्रांस के पूंजीवादी-उदारतावादी इतिहासकार जो पूंजीवादी समाज के इतिहास में वर्ग-संघर्ष की भूमिका की समझ के अत्यंत निकट आ गये थे। – २५३, ४२४।

मेट्टरनिख़ (Metternich), क्लीमेंस, प्रिंस (१७७३–१८५६) – आस्ट्रिया के प्रतिक्रियावादी राजनेता, विदेशमंत्री (१८०६–१८२१), चांसलर (१८२१–१८४८), पवित्र संघ के एक संगठनकर्त्ता। – २७६, २६६।

मेन (Maine), हेनरी जेम्स साम्नर (१८२२–१८८८) – अंग्रेज़ क़ानूनवेत्ता तथा 'प्राचीन क़ानून', आदि पुस्तकों के लेखक। – ६३।

मेहरिंग (Mehring), फ़्रांज़ (१८४६–१६१६) – जर्मनी के मज़दूर आंदोलन के जाने-माने नेता, इतिहासकार, पत्रकार ; १६ वीं शताब्दी के नवें दशक में मार्क्सवादी बन गये ; जर्मनी के इतिहास तथा जर्मन सामाजिक-जनवाद के बारे में अनेक ग्रंथों की रचना की तथा मार्क्स की जीवनी लिखी ; *«Die Neue Zeit»* के एक सम्पादक ; जर्मनी के सामाजिक-जनवादी आंदोलन के वामपक्ष के नेता तथा सिद्धान्तकार ; जर्मनी की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना में प्रमुख भाग लिया। – ४१३ – ४१८।

मैक-लेनन (McLennan), जॉन फ़रग्यूसन (१८२७–१८८१) – स्कॉटलैंड के पूंजीवादी क़ानूनवेत्ता तथा इतिहासकार, विवाह तथा परिवार के इतिहास के विषय में अनेक पुस्तकों के रचयिता। – १२, १७ – २६, ३६, ५७, ७२, १०१, १५४।

मोम्मसेन (Mommsen), थियोडोर (१८१७–१९०३) – जर्मनी के पूंजीवादी इतिहासकार, प्राचीन रोम के इतिहास के बारे में कई ग्रंथों के रचयिता। ११८, १४४–१४७, १४९, १५०।

मोलियेर (Molière), जान बतिस्त (वास्तविक नाम **पोकलें**) (१६२२–१६७३) – महान फ़्रांसीसी नाटककार। – १६६।

मोलेशात (Moleschott), जैकोब (१८२२–१८९३) – पूंजीवादी शरीरविज्ञान-शास्त्री तथा दार्शनिक, कुत्सित भौतिकवाद के प्रतिनिधि; जर्मनी, स्विट्ज़रलैंड तथा इटली के विद्यालयों में अध्ययापनकार्य किया। – २२८, ३८६, ३९०।

मोर्नी (Morny), शार्ल ओग्यूस्त लूई जोज़ेफ़, काउंट दे (१८११–१८६५) – फ़्रांसीसी राजनीतिज्ञ, बोनापार्तपंथी, नेपोलियन तृतीय के सौतेले भाई, २ दिसम्बर, १८५१ के राज-परिवर्तन के एक संगठनकर्त्ता। – २८७।

मोसकस – द्वितीय शताब्दी ई० पू० के मध्य भाग का यूनानी कवि। – ९०।

मौर्गन (Morgan), ल्यूईस हेनरी (१८१८–१८८१) – विख्यात अमरीकी विज्ञानी, आदिम समाज के इतिहासकार, स्वतःस्फूर्त भौतिकवादी। – ९–१२, १९, २१–२८, ३०, ३४, ३५, ३७–३९, ४४, ४६, ४७, ५१, ५६, ७८, ९८–१०१, १०४, ११२, ११९, १२०, १२४, १२६, १२८, १३८, १४८, १४९, १५८, १६५, १८५, २०८, २०९, ४२४।

य

यारोस्लाव दानिशमंद (Yaroslav the Wise) (९७८–१०५४) – कीयेव के राजा (१०१९–१०५४)। – ७०।

यूरिपिडीज़ (अनुमानतः ४८०–४०६ ई० पू०) – प्राचीन यूनान के विख्यात नाटककार, क्लासिकीय दुःखांत नाटकों के रचयिता। – ७५।

र

रसेल (Russell), जान (१७९२–१८७८) – ब्रिटिश राजनेता, ह्विग नेता, प्रधानमंत्री (१८४६–१८५२ तथा १८६५–१८६६)। – २८९।

राइट (Wright), आर्थर (१८०३–१८७५) – अमरीकी मिशनरी, जो १८३१–

१८७५ के काल में अमरीकी इंडियनों के बीच रहे; उनकी भाषा के कोश के संकलनकर्त्ता। – ५८।

राथशिल्ड वंश – बैंकपतियों का वंश जिसके यूरोप के कई देशों में बैंक थे। – ३४६।

रावे (Ravé), आंरी – फ़्रांसीसी पत्रकार, एंगेल्स की पुस्तकों का फ़्रांसीसी भाषा में अनुवाद किया। – १३।

रासीं (Racine), जां (१६३९–१६९९) – फ़्रांस के क्लासिकी नाटककार। – ३१२।

रिचार्ड प्रथम "शेर-दिल" (११५७–११९९) – इंगलैंड के राजा (११८९–११९९)। – ४१५।

रिशेले (Richelieu), आर्मांद जां **दु प्लेसिस**, दुक दे (१५८५–१६४२) – निरंकुशतावाद के ज़माने के महान फ़्रांसीसी राजनेता, कार्डिनल। – ३०५, ३०६।

रूसो (Rousseau), जान जाक (१७१२–१७७८) – फ़्रांस के विख्यात ज्ञान-प्रसारक, जनवादी, निम्न-पूंजीवादी विचारधारा के निरूपक, निर्गुणवादी दार्शनिक। – २३३, ४१५।

रेनां (Renan), एर्न्स्ट (१८२३–१८९२) – फ़्रांस के भाषा-विज्ञानी तथा ईसाई धर्म के इतिहासकार, भाववादी दार्शनिक। – २४३।

रोटेक (Rotteck), कार्ल (१७७५–१८४०) – जर्मन पूंजीवादी इतिहासकार तथा राजनीतिज्ञ, उदारतावादी। – २८१।

राबेसपियेर (Robespierre), मैक्सिमिलियन (१७५८–१७९४) – १८ वीं शताब्दी के अंत में हुई फ़्रांसीसी पूंजीवादी क्रांति के प्रमुख नेता, जैकोबिन पार्टी के नेता, क्रान्तिकारी सरकार के अध्यक्ष (१७९३–१७९४)। – २३७।

ल

लक्सेमबर्ग – चेक राजवंश (१३१०–१४३७), हंगेरियाई राजवंश (१३८७–१४३७) तथा पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राटों का राजवंश (अन्तरालों सहित १३०८–१४३७)। – २९८।

लफ़ार्ग (Lafargue), पाल (१८४२–१९११) – अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर आन्दोलन की एक प्रमुख हस्ती, मार्क्सवाद के प्रचारक, इंटरनेशनल की जनरल कौंसिल

के सदस्य, स्पेन की ओर से सचिव (१८६६–१८६६); फ़्रांस में (१८६६–१८७०) और स्पेन तथा पुर्तगाल में (१८७१–१८७२) इंटरनेशनल की शाखाएं संगठित करने में सक्रिय भाग लिया; हेग कांग्रेस में प्रतिनिधि (१८७२); फ़्रांस में मजदूर पार्टी के संस्थापकों में से एक; मार्क्स तथा एंगेल्स के शिष्य तथा सहयोगी।–३८५।

लांगस (दूसरी शताब्दी का अंत–तीसरी का आरंभ)–प्राचीन यूनान के लेखक।–९०।

लांगे (Lange), क्रिस्टियन कोनराद लुडविग (१८२५–१८८५)–जर्मन भाषाशास्त्री, प्राचीन रोम के इतिहास के बारे में अनेक ग्रंथों के रचयिता।–१४८।

लाक (Locke), जॉन (१६३२–१७०४)–महान अंग्रेज़ द्वैतवादी दार्शनिक, इंद्रियार्थवादी।–४११।

लामार्क (Lamarck), जान बतिस्त पियेर अन्तुआन (१७४४–१८२९)–महान फ़्रांसीसी प्रकृति-विज्ञानी, जीव-विज्ञान में विकासवाद के प्रथम प्रतिपादक, डार्विन के पूर्वगामी।–२३०।

लावरोव, प्योत्र लावरोविच (१८२३–१९००)–रूसी समाजशास्त्री और पत्रकार; नरोद्वादी सिद्धान्तकार, सारसंग्रहवादी दार्शनिक; इंटरनेशनल के सदस्य; पेरिस कम्यून में भाग लिया; अनेक नरोद्वादी पत्रिकाओं का सम्पादन किया।–३९०–३९४।

लासाल (Lassalle), फ़र्दीनांद (१८२५–१८६४)–जर्मन निम्न-पूंजीवादी पत्रकार, न्यायविद; १८४८–१८४९ में राइन प्रांत में जनवादी आन्दोलन में भाग लिया; सातवें दशक के आरम्भ में मज़दूर आन्दोलन में भाग लेने लगे; आम जर्मन मज़दूर संघ के संस्थापकों में से एक (१८६३); "ऊपर से", प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के एकीकरण की नीति के समर्थक; जर्मन मज़दूर आन्दोलन में अवसरवादी प्रवृत्ति के प्रणेता।–२०६, २०७, ३९४।

लिवी, तीतस (५९ ई० पू०–१७)–रोम के इतिहासकार, 'अपनी स्थापना काल से रोम का इतिहास' के रचयिता।–१४५, १४८।

लिबिग (Liebig), जुस्टुस (१८०३–१८७३)–चोटी के जर्मन वैज्ञानिक, कृषि रसायनशास्त्र के जन्मदाताओं में से एक।–३९०।

लीब्कनेख़्त (Liebknecht), विल्हेल्म (१८२६–१६००) – जर्मन तथा अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर आन्दोलन के नेता; १८४८–१८४६ की क्रान्ति में भाग लिया; कम्युनिस्ट लीग तथा पहले इन्टरनेशनल के सदस्य; जर्मन सामाजिक-जनवाद के एक संस्थापक तथा नेता; मार्क्स और एंगेल्स के मित्र तथा सहकर्मी। – २६६, ३३५।

लूई चौदहवें (१६३८–१७१५) – फ़्रांस के राजा (१६४३–१७१५)। – २६०, ३०६।

लूई बोनापार्त – देखिये नेपोलियन तृतीय।

लूई नेपोलियन – देखिये नेपोलियन तृतीय।

लूई फ़िलिप (१७७३–१८५०) – आर्लियां के ड्यूक, फ़्रांस के राजा (१८३०–१८४८)। – ३३७।

लूकियन (अनुमानतः १२०–१८०) – प्राचीन यूनान के लेखक, निरीश्वरवादी। – ४५।

लूथर (Luther), मार्टिन (१४८३–१५४६) – धर्म-सुधार आंदोलन के प्रसिद्ध नेता, जर्मनी में प्रोटेस्टेंट (लूथरपंथ) के प्रवर्त्तक; जर्मनी के बर्गरों के विचारधारा के निरूपक। – ६४, २६०, ४१५।

लेतूर्नो (Letourneau), शार्ल जान मारी (१८३१–१६०२) – फ़्रांस के पूंजीवादी समाजशास्त्री तथा नृवं-विज्ञानी। – ३६, ४०, ४३।

लेथम (Latham), रॉबर्ट गार्डन (१८१२–१८८८) – ब्रिटेन के भाषा-विज्ञानी तथा नृवंश-विज्ञानी। – १६।

लेद्रू-रोलें (Ledru-Rollin), अलेक्सांद्र ओग्यूस्त (१८०७–१८७४) – फ़्रांसीसी पत्रकार, निम्न-पूंजीवादी जनवादियों के एक नेता, «*Réforme*» समाचारपत्र के संपादक, संविधान सभा तथा विधान सभा में पर्वत-दल के नेता, बाद में उत्प्रवासी। – ३६४।

लेब्बोक (Lubbock), जॉन (१८३४–१६१३) – ब्रिटेन के जीव-विज्ञानी, डार्विन के अनुयायी, नृवंश-विज्ञानी तथा पुरातत्त्वविद, आदिम समाज के बारे में अनेक पुस्तकों के रचयिता। – २१ – २३।

लेवी (Levi), लियों (१८२१–१८८८) – ब्रिटिश पूंजीवादी अर्थशास्त्री; सांख्यिकीविद तथा क़ानूनवेत्ता। – ३५३।

लेवेर्ये (Le-Verrier), उर्बें जान जोज़ेफ़ (१८११–१८७७) – विख्यात फ़्रांसीसी ज्योतिर्विज्ञानी तथा गणितज्ञ। – २२६।

ल्युतप्रांद (Liutprand), (अनुमानतः ६२२–६७२) – मध्य युग के इतिहासकार और बिशप, 'परिशोध' शीर्षक पुस्तक के लेखक। – १७६।

व

वाक्समुथ (Wachsmuth), एर्न्स्ट विल्हेल्म गोत्लिब (१७८४–१८६६) – जर्मनी के पूंजीवादी इतिहासकार, प्राचीन युग तथा यूरोपीय इतिहास-संबंधी अनेक ग्रंथों के रचयिता। – ७५, ४१६।

वाटसन (Watson), जॉन फ़ोर्बेस (१८२७–१८९२) – अंग्रेज़ चिकित्सक, औपनिवेशिक अधिकारी। लंदन में भारतीय संग्रहालय के निर्देशक (१८५८–१८७९), भारत के बारे में अनेक पुस्तकों के रचयिता। – ४९।

वाण्डरबिल्ट – अमरीकी उद्योगपतियों तथा थैलीशाहों का एक घराना। – २८६, ३४६, ४०७।

वारस, पुब्लिय क्विंटीलियस वारस (अनुमानतः ५३ ई० पू० – ९) – रोम के सार्वजनिक नेता तथा सेनानायक, जेर्मानिया के गवर्नर (७–९); ट्यूटोबुर्ग जंगल में विद्रोही जर्मन क़बीलों के साथ लड़ाई में मारे गये। – १४२।

वाल्डेरसी (Waldersee), फ़्रेडरिक गुस्टाव, काउंट (१७९५–१८६४) – प्रशियाई जनरल तथा सैनिक विषयों के लेखक, युद्ध मंत्री (१८५४–१८५८)। – २८४।

वाल्तेयर (Voltaire), फ़्रांसुआ मारी (वास्तविक नाम अरुए) (१६९४–१७७८) – महान फ़्रांसीसी ज्ञान-प्रसारक, निर्गुणवादी दार्शनिक, व्यंग्य लेखक तथा इतिहासकार। – २३३, २६०।

वोल्फ़ाम फ़ोन एशनबाख़ (अनुमानतः ११७०–१२२०) – मध्ययुग के जर्मन कवि। – ८२।

विर्थ (Wirth), मोरिस (जन्म १८४९ – मृत्यु १९१६ के पश्चात्) – जर्मन पत्रकार तथा अर्थशास्त्री। – ३९८, ३९९।

विल्सन (Wilson), जोसेफ़ चावेलोक (१८५८–१९२९)–ब्रिटिश ट्रेड यूनियन आन्दोलन में एक प्रमुख हस्ती; संसद सदस्य; पूंजीपति वर्ग के साथ मेल-मिलाप की वकालत करते थे।–३५८।

विल्हेल्म तृतीय (१८१७–१८९०)–नीदरलैंड के राजा (१८४९–१८९०)।–२९८।

विल्हेल्म प्रथम (१७९७–१८८८)–प्रशा के प्रिंस, प्रिंस-रीजेंट (१८५८–१८६१), प्रशा के राजा (१८६१–१८८८), जर्मनी के सम्राट (१८७१–१८८८)।–२७८, २८३, ३०५, ४१६।

वेट्ज़ (Waitz), गेओर्ग (१८१३–१८८६)–जर्मनी के पूंजीवादी इतिहासकार, जर्मनी के मध्ययुगीन इतिहास के बारे में कई पुस्तकों के रचयिता।–१६६।

वेस्टरमार्क (Westermarck), एडवर्ड अलेक्ज़ेंडर (१८६२–१९३९)–फ़िनलैंड के पूंजीवादी मानवजाति-विज्ञानी तथा समाजशास्त्री।–४०, ४२, ४४, ५९, ६०।

वेलिंगटन (Wellington), आर्थर **वेलेज़ली**, ड्यूक (१७६९–१८५२)–अंग्रेज़ जनरल, टोरी राजनेता, प्रधानमंत्री (१८२८–१८३०), विदेश मंत्री (१८३४–१८३५); १८०८–१८१४ तथा १८१५ में नेपोलियनीय युद्धों में ब्रिटिश सेना का नेतृत्व किया।–३०४।

वेल्कर (Welcker), कार्ल थियोडोर (१७९०–१८६९)–जर्मन क़ानूनवेत्ता, १८४८–१८४९ में फ़्रैंकफ़ुर्ट राष्ट्रीय सभा के सदस्य, दक्षिणपंथी केन्द्र के साथ थे।–२८१।

वैगनर (Wagner), रिहर्ड (१८१३–१८८३)–महान जर्मन संगीतकार।–४५, ४६।

वेलेडा (पहली शताब्दी)–ब्रुक्टेरिया नामक जर्मन क़बीले की पुजारिन तथा ईशदूतिका; रोम के आधिपत्य के ख़िलाफ़ विद्रोह में सक्रिय भाग लिया (६९–७० या ६९–७१)।–१६३।

श

शिलर (Schiller), फ़्रेडरिक (१७५९–१८०५)–महान जर्मन लेखक।–२३२।

शेमान (Schömann), गेओर्ग फ़्रेडरिक (१७९३–१८७९)–जर्मन भाषाशास्त्री तथा इतिहासकार, प्राचीन यूनान के इतिहास के बारे में कई कृतियों के रचयिता।–७४, १२३।

श्मिद्त (Schmidt), कोनराद (१८६३–१९३२) – जर्मन अर्थशास्त्री तथा दार्शनिक, संशोधनवाद को जन्म देनेवाली कई कृतियों की रचना की। – ३९८–४००, ४०५–४१३।

श्लोसेर (Schlosser), फ़्रेडरिक क्रिस्टोफ़ (१७७६–१८६१) – जर्मन पूंजीवादी इतिहासकार, उदारतावादी, जर्मन इतिहासशास्त्र के हाइडेलबर्ग पंथ के नेता। – २८०।

स

सर्वियस टुल्लियस (५७८–५३४ ई० पू०) – प्राचीन रोम के पुराणचर्चित राजा। – १५२।

सालवियेनस (अनुमानतः ३९०–४८४) – मार्सेई के ईसाई पादरी तथा लेखक, 'देव-संचालन' नामक पुस्तक के रचयिता। – १७७, १८१।

सिकन्दर महान (३५६–३२३ ई० पू०) – प्राचीन काल का एक महान सेनानायक तथा राजनेता। – ७०।

सिविलियस, जूलियस (प्रथम शताब्दी) – जर्मन बटाविया क़बीले के नेता जिन्होंने रोम के शासन के ख़िलाफ़ जर्मन तथा गाल क़बीलों के विद्रोह (६६–७० या ६९–७१) का नेतृत्व किया। – १६३।

सीज़र, (गायस जूलियस सीज़र) (अनुमानतः १००–४४ ई० पू०) – विख्यात रोमन सेनानायक तथा राजनीतिज्ञ। – २२, ३४, ४९, १०७, १५६, १५९, १६५, १६६, १६७, १७०, १७१, ४२४।

सीबेल (Sybel), हाइनरिख़ फ़ोन (१८१७–१८९५) – जर्मन पूंजीवादी इतिहासकार तथा राजनीतिज्ञ; १८६७ से राष्ट्रीय-उदारतावादी। – २९०।

सुरीता (Zurita), अलोंसो – १६ वीं शताब्दी के मध्य में मध्य अमरीका में रहनेवाले स्पेनी अधिकारी। – ७१।

सेइदलिट्ज़ (Seidlitz), गेओर्ग – जर्मन प्रकृति विज्ञानी, डार्विनपंथी, 'डार्विन का सिद्धान्त' नामक पुस्तक के लेखक। – ३९१।

सोम्बार्ट (Sombart), वाग्नेर (१८६३–१९४१) – जर्मन कुत्सित अर्थशास्त्री, आरम्भ में कैथेडर-समाजवादी, आगे चलकर जर्मन साम्राज्यवाद के सिद्धान्तकार; जीवन के अन्तिम दिनों में फ़ासिज़्म के पक्षधर। – ४२५–४२८।

सोलन (अनुमानत: ६३८–५५८ ई० पू०) – प्राचीन एथेन्स के विख्यात विधि-निर्माता ; आम जनता के दबाव से कई ऐसे सुधार किये जो अभिजात वर्ग के खिलाफ़ निदेशित थे। – ११६, १३०, १३४–१३६, १५२, २०६, ४२१।

सोस्सुरे (Saussure), आंरी दे (१८२६–१६०५) – स्विट्ज़रलैंड के प्राणिशास्त्री। –४०।

स्टर्नर (Stirner), माक्स (कास्पर **श्मिद्त** का साहित्यिक उपनाम (१८०६–१८५६) – जर्मन दार्शनिक, तरुण हेगेलवादी, पूंजीवादी व्यक्तिवाद और अराजकतावाद के सिद्धांत के निरूपकों में से एक। – २२१, २४३।

स्टुम (Stumm), कार्ल (१८३६–१६०१) – मशहूर जर्मन उद्योगपति, रूढ़िवादी, मज़दूर आन्दोलन के कट्टर दुश्मन। – ३८८।

स्ट्रॉस (Strauß), डेविड फ़्रेडरिक (१८०८–१८७४) – जर्मन दार्शनिक तथा पत्रकार, प्रमुख तरुण हेगेलवादी ; १८६६ के बाद राष्ट्रीय-उदारतावादी। – २२१, २२३, २४३।

स्कॉट (Scott), वाल्टर (१७७१–१८३२) – विख्यात अंग्रेज उपन्यासकार। – १५८।

स्टार्के (Starcke), कार्ल निकोलाई (१८५८–१६२६) – डेनमार्क के पूंजीवादी दार्शनिक तथा समाजशास्त्री। – २११, २१३, २२७, २३२–२३४, २३८, २४०।

स्टोएकर (Stoecker), एडोल्फ़ (१८३५–१६०६) – जर्मन पादरी तथा प्रतिक्रियावादी राजनीतिज्ञ तथा क्रिश्चियन-सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के संस्थापक (१८७८) तथा नेता, समाजवादी मज़दूर आन्दोलन के कट्टर शत्रु तथा यहूदी-विरोध के प्रचारक। – ३२५।

स्मिथ (Smith), ऐडम (१७२३–१७६०) – अंग्रेज़ अर्थशास्त्री, क्लासिकीय पूंजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के एक प्रमुख प्रतिनिधि। – ४१५, ४२७।

स्त्रूवे, प्योत्र बेर्नगार्दोविच (१८७०–१६४४) – रूसी पूंजीवादी अर्थशास्त्री तथा पत्रकार, "क़ानूनी मार्क्सवादी"; आगे चलकर कैडेट नेता ; श्वेत उत्प्रवासी। – ४१६।

ह

हॉब्स (Hobbes), टामस (१५८८–१६७६) – विख्यात अंग्रेज़ दार्शनिक, यांत्रिक भौतिकवाद के प्रतिनिधि। – २२६, ३६१, ४११।

हाइने (Heine), हेनरिक (१७९७–१८५६) – जर्मन क्रान्तिकारी महाकवि। – २१४, ३०८, ३९४।

हाउसेर (Häusser), लुडविग (१८१८–१८६७) – जर्मन पूंजीवादी इतिहासकार, राजनीतिज्ञ, हाइडेलबर्ग विश्वविद्यालय में उदारतावादी प्रवृत्ति के प्रोफ़ेसर। – २८०।

हान्सेमान (Hansemann), डेविड (१७९०–१८६४) – जर्मनी के बड़े पूंजीपति, राइनी उदारतावादी पूंजीपति वर्ग के नेता, मार्च-सितम्बर १८४८ में प्रशा के वित्तमंत्री। – २८१।

हाफ़मैन फ़ॉन फ़ालेर्स्लेबेन (Hoffman von Fallersleben), अगस्त हाइनरिक (१७९८–१८७४) – जर्मन पूंजीवादी कवि तथा भाषाशास्त्री। – २६९।

हार्डी (Hardie), जेम्स केइर (१८५६–१९१५) – अंग्रेज मजदूर आन्दोलन की एक प्रमुख हस्ती; सुधारवादी, स्काटिश लेबर पार्टी के संस्थापक तथा नेता (१८८८ से) तथा इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी के नेता (१८९३ से), लेबर पार्टी के सक्रिय सदस्य। – ३५८।

हिंकेल (Hinkel), कार्ल (१७९४–१८१७) – जर्मन छात्र, जर्मनी के एकीकरण के लिए विपक्षी छात्र आन्दोलन में भाग लिया। – २६८।

हुशके (Huschke), गेओर्ग फ़िलिप एडुअर्ड (१८०१–१८८६) – जर्मन पूंजीवादी क़ानूनवेत्ता, रोमन क़ानून-सम्बन्धी अनेक पुस्तकों के रचयिता। – १४८।

हेगेल (Hegel), गेओर्ग विल्हेल्म फ़्रेडरिक (१७७०–१८३१) – क्लासिकीय जर्मन दर्शन के महानतम प्रतिनिधि, वस्तुपरक भाववादी। – १९९, २१०, २१४, २१५, २१७–२२०, २२३, २२५–२२७, २२९, २३०, २३१, २३८, २३९, २४४–२४७, २४९, २५१, २५२, २५४, ४११, ४१३, ४१५।

हेनरी चतुर्थ (१५५३–१६१०) – फ़्रांस के राजा (१५८९–१६१०)। – ३०५।

हेरोड (Herod) (७३–४ ई० पू०) – जूडिया का राजा (४०–४ ई० पू०)। – १५०।

हेरोडोटस (अनुमानत: ४८४–४२५ ई० पू०) – प्राचीन यूनान के इतिहासकार। – ४९, ७५।

हेर्विनस (Gervinus), गेओर्ग गोट्टफ़्रिड (१८०५–१८७१) – जर्मन पूंजीवादी इतिहासकार, उदारतावादी, १८४८ में फ़्रैंकफ़ुर्ट राष्ट्रीय सभा के सदस्य। – २८०।

हेल्वाल्ड (Hellwald), फ़्रेडरिक अंतोन हेल्लर (१८४२–१८९२) – आस्ट्रियाई नृवंश-विज्ञानी, भूगोलज्ञ तथा इतिहासकार। – ३९१।

होमर – प्राचीन यूनान के पुराण चर्चित महाकवि, 'इलियाड' तथा 'ओडीसी' नामक महाकाव्यों के रचयिता। – ३४, ७३, ७४, १२१–१२५।

होहेनजालर्न – ब्रनदनबर्ग राजाओं (१४१५–१७०१), प्रशा के राजाओं (१७०१–१६१८) और जर्मन सम्राटों (१८७१–१६१८) का राजवंश। – २७५।

होहेनजालर्न (Hohenzollern), लियोपोल्ड प्रिंस (१८३५–१६०५) – होहेनजालर्न राजवंश के राजकुमार, १८७० में स्पेनी सिंहासन के दावेदार, १८८५ से ग्रांड ड्यूक। – ३००, ३०१।

होहेन्स्टाउफ़ेन – पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राटों का राजवंश (११३८–१२५४)। – २६८।

हौविट (Howitt), अल्फ़्रेड विलियम (१८३०–१६०८) – ब्रिटेन के नृवंश-विज्ञानी, आस्ट्रेलिया की जातियों के विषय में विशेषज्ञ, आस्ट्रेलिया में औपनिवेशिक अधिकारी (१८६२–१६०१), आस्ट्रेलियाई क़बीलो के बारे में कई ग्रंथों के रचयिता। – ५४।

ह्यूजलर (Heusler), एंड्रीयस (१८३४–१६२१) – स्विट्ज़रलैंड के पूंजीवादी क़ानूनवेत्ता, स्विस तथा जर्मन क़ानून के बारे में कई पुस्तकों के रचयिता। –७०।

ह्यूम (Hume), डेविड (१७११–१७७६) – ब्रिटेन के दार्शनिक, आत्मनिष्ठवादी भाववादी, अज्ञेयवादी; पूंजीवादी इतिहासकार तथा अर्थशास्त्री। – २२६।

साहित्यिक और पौराणिक पात्रों की सूची

अ

अर्गोनाट्स (यूनानी पुराण) – नाग-रक्षित स्वर्ण मेषलोम के लिए 'अर्गो' नामक जलपोत में कोलचिस की यात्रा करनेवाले पौराणिक वीर। – १६२।

अनाइतिस (प्राचीन ईरानी पुराण में जल तथा उर्वरता की देवी अनाहिता का यूनानी नाम) – इस देवी की पूजा आर्मीनिया में प्रचलित थी, जहां उसे एशिया माइनर की उर्वरता देवी से अभिन्न माना गया। – ६०, ७८।

आ

आल्थिया (यूनानी पुराण) – राजा थेस्तियस की बेटी, मोलियागेर की मां। – १६१।

इ

इतियोक्लीज़ (यूनानी पुराण) – थीबीस के राजा ईडीपस का एक बेटा, जिसने सत्ता के लिए संघर्ष में अपने भाई को मार डाला और ख़ुद इस लड़ाई में मारा गया; यह कथा ईस्खिलस के दुःखान्त नाटक 'थीबीस के विरुद्ध सात' का आधार बनी। – १२३।

इब्राहीम (इंजील) – यहूदी कुलपति। – ६४।

इमुएयस – होमर के काव्य 'ओडीसी' का नायक, इथाका के राजा का चरवाहा, जो अपने स्वामी की अंतहीन यात्राओं के दौरान उसके प्रति वफ़ादार बना रहा। – १२५।

ऊ

ऊटा, नार्वेइयाई – प्राचीन जर्मन वीर-काव्य तथा १३ वीं शताब्दी के जर्मन काव्य 'गुडरुन' की एक नायिका। – ९२।

ए

एकिलीज़ (यूनानी पुराण) – त्रोय की घेराबंदी करनेवाले वीरों में सबसे साहसी वीर; होमर के महाकाव्य 'इलियाड' का नायक; एकिलीज़ की दाहिनी एड़ी – उसके शरीर के एकमात्र भेद्य अंग – में तीर लगने से उसे प्राणघातक चोट पहुंची। – ७३, १२५।

एगामेम्नोन (यूनानी पुराण) – एर्गोलिस का राजा, होमर के महाकाव्य 'इलियाड' का नायक, त्रोय युद्ध के समय यूनानियों का नेता, ईस्खिलस के नाटक 'एगामेम्नोन' का नायक। – १५, ७३, १२१, १२५, १३५।

एगीस्थस (यूनानी पुराण) – क्लितेम्नेस्त्रा का प्रेमी, एगामेम्नोन की हत्या में शरीक; ईस्खिलस के दुःखान्त नाटक 'एगामेम्नोन' तथा 'कोएफ़ोरो' ('ओरेस्तिया' नामक नाटकत्रय का पहला तथा दूसरा भाग) का नायक। – १५।

एटज़ेल – प्राचीन जर्मन वीर-काव्य 'नीबेलुंगेनलीड' का नायक; हूणों का राजा। – ९२।

एथेना पोलास (यूनानी पुराण) – एक प्रधान देवी, युद्ध की देवी, बुद्धि और प्रज्ञा की साक्षात् मूर्ति, एथेन्स राज्य की संरक्षिका देवी। – १५, १६।

एपोलो (यूनानी पुराण) – प्रकाश तथा सूर्य देवता, कलारक्षक। – १५।

एफ़्रोडाइट (यूनानी पुराण) – प्रेम तथा सौंदर्य की देवी। – ७८।

एरिनी (यूनानी पुराण) – प्रतिशोध की देवी; ईस्खिलस के नाटक 'कोएफ़ोरो' तथा 'यूमेनिडेस' (नाटकत्रय 'ओरेस्तिया' का दूसरा तथा तीसरा भाग) की नायिका। – १५, १६।

ओ

ओडीसियस–होमर के महाकाव्य 'इलियाड' और 'ओडीसी' का एक नायक, इथाका का पुराण-चर्चित राजा, जो त्रोय युद्ध में यूनानी सेना का एक नेता था और अपनी वीरता, कौशल तथा वक्तृत्व शक्ति के लिए विख्यात था।–१२५।

ओरेस्टस (यूनानी पुराण)–एगामेम्नोन तथा क्लितेम्नेस्त्रा का पुत्र, जिसने अपनी मां और एगीस्थस से अपने पिता की हत्या का बदला लिया। ईस्खिलस के नाटक, 'कोएफ़ोरो' और 'यूमेनिडेस' (नाटकत्रय 'ओरेस्तिया' का दूसरा तथा तीसरा भाग) का नायक।–१५, १६।

क

कसांड्रा (यूनानी पुराण)–त्रोय के राजा प्रियम की कन्या, ईशदूतिका, जिसे त्रोय के ऊपर विजय के बाद एगामेम्नोन दासी के रूप में अपने साथ लेता गया; ईस्खिलस के नाटक 'एगामेम्नोन' की एक नायिका।–७३।

क्लितेम्नेस्त्रा (यूनानी पुराण)–एगामेम्नोन की पत्नी, जिसने त्रोय युद्ध से अपने पति के लौट आने पर उसको मार डाला; ईस्खिलस के नाटक 'ओरेस्तिया' की नायिका।–१५।

क्राइमहिल्ड–प्राचीन जर्मन वीर-काव्य 'नीबेलुंगेनलीड' की नायिका, बार्गण्डी के राजा गुंथर की बहन; सिगफ़्राइड की मृत्यु के पश्चात् हूण राजा एटज़ेल की पत्नी।–९१, ९२।

क्लियोपैट्रा (यूनानी पुराण)–उत्तरी पवन-देव बोरियस की पुत्री।–१६२।

क्लोए–प्राचीन यूनान (दूसरी–तीसरी शताब्दी) में लांगस के 'डाफ़निस और क्लोए' नामक उपन्यास की नायिका, प्रेमाविष्ट गड़ेरियन।–९०।

ग

गुंथर–प्राचीन जर्मन वीर-काव्य तथा मध्ययुगीन जर्मन काव्य 'निबेलुंगेनलीड' का नायक, बार्गण्डी का राजा।–९१, ९२।

गुडरुन (कुडरुन) – प्राचीन जर्मन वीर-काव्य तथा १३ वीं शताब्दी के जर्मन काव्य 'गुडरुन' की नायिका; हेगेलिन्गन के राजा हेटेल तथा आयलैंड की हिल्डा की बेटी, हेरविग (ज़ीलैंड के राजा) की दुलहन; हार्टमुट (नार्मंडी के राजा) ने उसे चुरा लिया और उसके साथ विवाह करने से इनकार करने के कारण उसे १३ वर्ष कारागार में रखा; अन्त में हेरविग के हाथों मुक्ति पाकर गुडरुन ने उसके साथ विवाह कर लिया। – ६२।

गैनीमीड (यूनानी पुराण) – ख़ूबसूरत नौजवान, जिसे चुराकर देवगण ओलिम्पस पर्वत ले आये, जहां वह ज़ीयस देवता का प्रेमी और साक़ी बन गया। – ७६।

ज

जार्ज दांदीं – मोलियेर के नाटक 'जार्ज दांदीं' का पात्र; एक धनी पर मूर्ख किसान, जो कुलीन लेकिन निर्धन स्त्री से विवाह करता है और उसके द्वारा बेवक़ूफ़ बनाया जाता है। – १६६।

ज़ीयस (यूनानी पुराण) – देवताओं का राजा। – १२५, २१८।

ट

टेलेमाकस – होमर के महाकाव्य 'ओडीसी' का नायक, ओडीसियस (इथाका के राजा) का पुत्र। – ७३।

ड

डान क्विक्ज़ोट – सेर्वान्टेस के इसी नाम के उपन्यास का पात्र। – ३१६।

डाफ़निस – प्राचीन यूनान में लांगस (दूसरी–तीसरी शताब्दी) के 'डाफ़निस और क्लोए' नामक नाटक का नायक, जिसमें हमें प्रेमाविष्ट गड़रिये का चित्र मिलता है। – ६०।

डेमोडोकस – होमर के महाकाव्य 'ओडीसी' का एक पात्र; एल्किनूस (फ़ेशियनों के पुराणचर्चित राजा) के राजदरबार का अंधा गवैया। – १२५।

ड्रोस्टे फ़िशेरिंग – व्यंग्यप्रधान जर्मन लोकगीत का एक पात्र। – २८२।

त

तेलामोन (यूनानी पुराण) – त्रोय युद्ध में भाग लेनेवाला एक वीर। – ७४।

त्यूक्रोस – होमर के 'इलियाड' का एक पात्र, त्रोय युद्ध में भाग लेनेवाला वीर। – ७४।

थ

थीसियस (यूनानी पुराण) – पुराण कथा के अनुसार एथेंस का राजा जिसने एथेंस की बुनियाद डाली थी, प्रमुख वीरों में एक। – १२९, ३०६।

थेस्टियस (यूनानी पुराण) – एथोलिया में प्ल्यूरोन का पुराणचर्चित राजा। – १६१।

न

नेस्टर (यूनानी पुराण) – त्रोय युद्ध में भाग लेनेवाले यूनानी वीरों में सबसे बड़ा और बुद्धिमान। – १२१।

न्योर्द्र (स्कैंडिनेवियाई पुराण) – उर्वरता का देवता, प्राचीन स्कैंडिनेविया के वीर-काव्य 'प्राचीन एड्डा' का नायक। – ४५।

प

पोलीनाइसीज़ (यूनानी पुराण) – थीबीस के राजा ईडीपस का एक पुत्र; सत्ता के लिए संघर्ष में उसने अपने भाई एतिओक्लस को मार डाला और इस लड़ाई में ख़ुद भी मारा गया; यह कथा ईस्खिलस के नाटक 'थीबीस के विरुद्ध सात' का आधार बनी। – १२३।

फ

फ़िनियस (यूनानी पुराण) – अंधा पैग़म्बर; अपनी दूसरी पत्नी के भड़कावे में आकर उसने अपनी पहली पत्नी के बच्चों को, विशेषतः क्लियोपैट्रा (बोरियस की लड़की) के बच्चों को यन्त्रणा दी, जिसके लिए देवताओं ने उसे दंड दिया। – १६२।

फ़्रिया (स्कैंडिनेवियाई पुराण) – प्रेम तथा उर्वरता की देवी, प्राचीन स्कैंडिनेवियाई वीर-काव्य 'प्राचीन एड्डा' की नायिका, अपने भाई, फ़ैर देवता की पत्नी। – ४५।

ब

बोरियेड (यूनानी पुराण) – उत्तरी पवन-देव, बोरियस तथा एथेन्स की महारानी ओरीथिया की संतान। – १६२।

ब्रुनहिल्ड – प्राचीन जर्मन वीर-काव्य 'नीबेलुंगेनलीड' तथा जर्मन मध्ययुगीन काव्य की नायिका, आइसलैंड की रानी, बाद में बार्गण्डी के राजा गुंथर की पत्नी। – ६२।

म

मिलिटा – बैबिलोनिया की पुराण कथाओं में प्रेम तथा उर्वरता की देवी; देवी इश्तार का यूनानी नाम। – ६०।

मीलियाग्रेर (यूनानी पुराण) – कैलीडन के पुराण-चर्चित राजा ईनियस तथा अपनी मां के भाइयों का वध करनेवाली आल्थिया का पुत्र। – १६१।

मुलिओस – होमर के महाकाव्य 'ओडीसी' का पात्र। – १२५।

मूसा (इंजील) – पैग़म्बर, क़ानून बनानेवाले, जिन्होंने यहूदियों को मिस्रियों की क़ैद से रिहा किया और उनके लिए क़ानून बनाये। – १३, ६४।

मेफ़िस्टोफ़ीलीस – गेटे के दुःखान्त नाटक 'फ़ाउस्ट' का पात्र। – ४५, २१५।

र

राडामांथुस (यूनानी पुराण) – बुद्धिमान तथा सच्चा न्यायाधीश। – २४२।

रोमुलस – पुराण कथाओं के अनुसार प्राचीन रोम का संस्थापक और पहला राजा। – १४३, १४६।

ल

लोकी (स्कैंडिनेवियाई पुराण) – दुष्ट राक्षस, अगियाबैताल, प्राचीन स्कैंडिनेवियाई वीर-काव्य 'प्राचीन एड्डा' का नायक। – ४५, १६१।

स

सिगफ़्राइड, मोरलैंड का—प्राचीन जर्मन वीर-काव्य तथा १३ वीं शताब्दी के मध्ययुगीन जर्मन काव्य 'गुडरुन' का नायक; गुडरुन का मंगेतर जिसे तिरस्कृत कर दिया गया था।—९२।

सिगफ़्राइड—प्राचीन जर्मन वीर-काव्य तथा मध्ययुगीन जर्मन काव्य 'नीबेलुंगेनलीड' का नायक।—९१।

सिगबांट, आयलैंड का—प्राचीन जर्मन वीर-काव्य तथा १३ वीं शताब्दी के मध्ययुगीन जर्मन काव्य 'गुडरुन' का नायक, आयलैंड का राजा।—९२।

सिफ़—(स्कैंडिनेवियाई पुराण)—थोर (मेघराज) देवता की पत्नी, प्राचीन स्कैंडिनेवियाई वीर-काव्य 'प्राचीन एड्डा' की एक नायिका।—१६०।

ह

हरकुलीज़ (यूनानी पुराण)—लोकप्रिय वीर नायक, जो अपने पौरुष तथा अतिमानवीय पराक्रम के लिए प्रसिद्ध है।—१६२।

हेकेटा (यूनानी पुराण)—चन्द्रकिरणों की देवी, जिसके तीन सिर और तीन शरीर थे, पाताल लोक के पिशाचों और राक्षसों की स्वामिनी, अनिष्ट और जादू-टोने की देवी।—१२१।

हाडुब्रांड—प्राचीन जर्मन वीर-काव्य 'हिल्डेब्रांड का गीत' का पात्र, कथा-नायक हिल्डेब्रांड का पुत्र।—१६०।

हार्टमुट—प्राचीन जर्मन वीर-काव्य तथा १३ वीं शताब्दी के जर्मन काव्य 'गुडरुन' का पात्र, नर्मनी के राजा का पुत्र, गुडरुन के तिरस्कृत मंगेतरों में एक।—९२।

हिल्डा—प्राचीन जर्मन वीर-काव्य तथा १३ वीं शताब्दी की जर्मन गाथा 'गुडरुन' की पात्र, आयरलैंड के राजा की बेटी, हेगेलिन्गेन के राजा हेटेल की पत्नी।—९२।

हिल्डेब्रांड—प्राचीन जर्मन वीर-काव्य, 'हिल्डेब्रांड का गीत' का प्रधान नायक।—१६०।

हेटेल—प्राचीन जर्मन वीर-काव्य तथा १३ वीं शताब्दी की जर्मन गाथा 'गुडरुन' का नायक, हेगेलिन्गेन का राजा।—९२।

हेरविग—प्राचीन जर्मन वीर-काव्य और १३ वीं शताब्दी के जर्मन काव्य 'गुडरुन' का पात्र, ज़ीलैंड का राजा, गुडरुन का मंगेतर और फिर पति।—९२।

पाठकों से

प्रगति प्रकाशन इस पुस्तक के अनुवाद और डिज़ाइन के बारे में आपके विचार जानकर आपका अनुगृहीत होगा। आपके अन्य सुझाव प्राप्त करके भी हमें बड़ी प्रसन्नता होगी। कृपया हमें इस पते पर लिखिये :

प्रगति प्रकाशन,
२१, ज़ूबोव्स्की बुलवार,
मास्को, सोवियत संघ।